ānanda VĀRTĀ

HINDI & ENGLISH

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Vol. XV. May, 1967 No. 1

Ananda Varta

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teaching of Mata Anandamayee and with other religio-philosophical topics

*

BOARD OF EDITORS

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M. A., D. Litt.
Padma Vibhushan
Kumari Lalita Pathak, M. A.
Kumari Padma Misra, M.A., Ph.D, Acharya
Kumari Bithika Mukerji, M. A., D. Phil.
Brahmacharini Atmananda.
Sri Sailesh Brahmachari.
Sri Amulya Kumar Dutta Gupta, M. A. B. L,
Sri K. Bose,—*Managing Editor.*

*

• *ANNUAL SUBSCRIPTION* •

India—(Postage free) Rs. 6/- only
Foreign—(By Sea Mail) Rs. 9/- or 15 shillings or $ 2·00
" (By Airmail)—Rs. 22/- or £ 1-10-0 (Europe etc.)
" " —Rs. 35/- or $ 5.50 (North & South America)

ĀNANDA VĀRTĀ

GENERAL RULES

1. The magazine is published in three separate editions—(1) Hindi-English (2) Bengali-English (3) English—in the months of May, August, November and February. The year begins from May.

2. Subscriptions are always payable in advance. Foreign subscriptions may be sent either by International Money orders or Postal orders.

3. Subscriptions to be sent to :—

The General Secretary, Shree Shree Anandamayee Sangha,
Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

4. All correspondence regarding 'Ananda Varta' should mention without fail the subscription number and be addressed to :—

The Managing Editor, "Ananda Varta", Shree Shree Ma
Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

5. Complaints about non-receipt of the magazine should be sent *within the month of publication.*

6. Any change of address should be intimated to the Managing Editor at the earliest possible opportunity.

7. Subscribers are requested not to dishonour any issue of the magazine sent by V. P. P., as this entails a loss to the Ashram fund. They may kindly inform us *beforehand* if they desire to discontinue subscribing to the magazine.

Published by Shri K. Bose, for
Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi.
Printed at the Indian Press (Pvt.) Ltd., Varanasi Branch VARANASI.

CONTENTS

Hindi Section

1—मातृ-वाणी 1

2– श्री श्री माँ आनन्दमयी प्रसंग—श्री अमूल्य कुमार दत्त गुप्त, एम० ए०, बी० एल० ... 3

3—मातृ-सत्संग—स्वामी भागवतानन्द गिरि ... 8

4—कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा– श्री "दत्त" ... 21

5—वृन्दावन आश्रम में युगल मूर्ति की स्थापना —स्वामी नारायणानन्दतीर्थ ... 31

CONTENTS

English Section

1. Matri Vani 1

2. The Sad-Guru—M. M. Varma 3

3. From the Diary of a European —Melita Maschmann ... 7

4. Ma Anandamayi in Madras and Tiruvannamalai —S. S. Cohen 15

5. Reminiscences—Brahma Datta Dikshit ... 28

6. From an Indian Journey — Astrid Setterwall Angstrom ... 32

7. Old Diary Leaves—Atmananda ... 37

8. Matri Lila 45

Ananda Vārtā

"अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपनेमें आप।"

VOL. XV] MAY, 1967 [NO. 1

—मातृ-वाणी—

जिससे भजन हो, वह काम ही करना। समय जिससे वृथा नष्ट न होय। चेष्टा करने से सभी कुछ हो जाता है! मन लगाने के लिए अपने अन्दर चेष्टा करना। खाना पीना करके सो कर तो सभी कितने ही जन्म काट चुके हो।

× × × × ×

जैसा कर्म, वैसा फल। फिर भगवत् चिन्ता से भय दूर हो जाता है। चाहे सत्संग में हो या एकान्त में हो, जैसे ही हो, पुकारना ही पड़ेगा, नहीं तो आवरण से छुट्टी नहीं, भगवान को क्या कभी घूस दी जाती है? धोखा देने से तुम स्वयं ही धोखा खाओगे।

× × × × ×

पत्थर देखने से विग्रह नहीं, और विग्रह देखो तो पत्थर नहीं। भगवत् विग्रह भावना जहाँ रखोगे, वह भगवान ही। जैसे कहते हैं न, सभी भगवान का विग्रह। यदि भगवत् विग्रह कहा जाय, तो उसे प्रत्यक्ष करने की चेष्टा करना भी उचित। पत्थर बुद्धि रहने से दुर्बुद्धि–भगवत् बुद्धि नहीं हुई। दुनिया के विषय रस में जो बुद्धि-विषय बुद्धि, इसका तो परिवर्तन ही रूप है। नित्य रूप नहीं, अनित्य रूप। किन्तु जहाँ एकमात्र भगवत् प्रकाश, वहाँ अनित्य की बात नहीं। तुम्हारी दृष्टि सृष्टि के बीच में नित्य नहीं–परिवर्तनशील–यही जगत बुद्धि। इससे क्या प्रकाश होता है? नाश। जो नाश होता है, वहाँ स्वप्रकाश नहीं। वहाँ स्वयं स्वरूप कहाँ। वहाँ तो नाश का नाश नहीं होता। नाश का नाश होना चाहिए।

× × × × ×

विषय वासना में मन रहने से, उसका स्वभाव ही है। मन को विकल करना, इसलिए चेष्टा। जब तक ध्यान में, जप में मन न लगे, तब तक ध्यान जप की चेष्टा करते जाना। परिमित निद्रा भोजन इत्यादि का प्रयोजन है। देखो, जब कहीं की यात्रा करते हो, जितना प्रयोजन है, मात्र उतना ही साथ लेते हो। घर से सब कुछ तो और लेते नहीं। इसलिए भगवत् पथ पर यात्रा करते समय, भगवन्मुखी अनुकूलता के लिए आहार निद्रा का जितना प्रयोजन, उतना ही लेना, जैसे कहते हैं न "जैसा खाता है, वैसा ही मन होगा।" इसी लिए मन को बाहर की ओर खींच लेता है, अन्तर्मुखी नहीं होने देता।"

श्री श्री माँ आनन्दमयी प्रसंग

पञ्चम खण्ड

श्री अमूल्य कुमार दत्त गुप्त, एम० ए०, बी० एल्०

हेनरी पेतित (Henri Petit) का झूसी में आगमन

आज शरीर ठीक है इसलिए शाम को पाठ में उपस्थित हुआ। वहाँ एक साहब को भी मौजूद देखा, सुना उनका नाम हेनरी पेतित है—फ्रांसदेशीय, ये अबिसिनिया के सम्राट् के प्राइवेट सेक्रेटरी हैं, उम्र ५५ साल, चिरकुमार। ये लगभग १६ साल से दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते आ रहे हैं, स्वामी विवेकानन्द के ग्रन्थ इन्हें अत्यन्त प्रिय हैं, भारत के आध्यात्मिक जीवन से परिचित होने का खूब ही आग्रह है इसलिए नौकरी छोड़कर ये भारतवर्ष आने के लिए बड़े व्यस्त हो गए; किन्तु सम्राट् इनको छोड़ने को राजी नहीं होते। इधर अबिसिनिया का एक legation दिल्ली में खुलने की बात चल रही थी। सम्राट् ने हेनरी पेतित को इस legation से युक्त रहने की सलाह देकर, उन्हें ८, ९ महीने पहले दिल्ली भेज दिया। मि० पेतित खूब आग्रह के साथ भारतवर्ष आए। श्री अरविन्द का इस समय जगत्व्यापी नाम, इसलिए वे प्रथम श्री अरविन्द के आश्रम में गए और वहाँ लगभग एक मास रहे। वहाँ उन्होंने श्री श्री माँ की प्रार्थना सभा में भी योग दिया था। किन्तु आध्यात्मिक कोई अनुभूति लाभ वे नहीं कर पाए। श्री अरविन्द के आश्रम से वे रमणमहर्षि के आश्रम गए और वहाँ भी कुछ दिन रहे। इसके बाद वे काशीधाम आए। यहाँ श्री श्री माँ के भक्त टॉमसन साहब से उनकी बातचीत हुई। इन्होंने टॉमसन साहब से कहा कि वे जिस आध्यात्मिक अनुभूति के लिए भारतवर्ष आए थे वह विफल हो गई। कहीं भी उन्हें उस अनुभूति का सन्धान नहीं मिला। सब जगह ही शुष्क ज्ञान की आलोचना मात्र वे देख पाए। इसलिए भारतवर्ष में और रुकने का वे कोई प्रयोजन नहीं देखते। एक दिन बाद ही वे अदीस अबाबा लौट जायँगे। टॉमसन साहब उनसे बोले, ‘तुम यहाँ से जाने के पहले, एक बार यहाँ की आनन्दमयी माँ को देखते जाओ।” यह कह कर वे मि० पेतित को लेकर काशी के आश्रम में आए। श्री श्री माँ उस समय काशी में ही थीं। माँ के पास उस समय काफी भीड़ थी। पेतित साहब माँ के पास नहीं जा पाए। दूर से ही देखने लगे श्री श्री माँ को। देखने के साथ ही साथ उनके अन्तस्तल से एक भाव का उत्स बरबस उठने लगा। दोनों आँखों से आँसू बहने लगे। वे स्तब्ध होकर अनेक क्षण वहीं बैठे

रहे। एक ही दिन बाद उनके भारतवर्ष छोड़ने की बात थी पर श्री श्री माँ के साथ साक्षात् होने के बाद वे ६, ७ दिन काशी में रह गए। इसी समय श्री श्री माँ की भक्त श्रीमती ब्लांका (आत्मानन्द) से उनका परिचय हुआ। पेतित साहब जब अबिसिनिया लौट गए तो उनके जीवन का एक नवीन अध्याय आरम्भ हुआ। वहाँ भी वे श्री श्री माँ का साक्षात् पाने लगे। यह साक्षात् स्वप्न में नहीं—जाग्रत अवस्था में ही वे दर्शन पाने लगे और अनवरत उनकी आँखों से आँसू पड़ने लगे। पेतित साहब कहते, "मेरी जब यह अवस्था हुई तो बाद में लोग मुझे कहीं पागल न समझने लगें—यह सोच कर मैं सर्वदा रङ्गीन चश्मा पहने रहता था।" इस बार वे ५ मास की छुट्टी लेकर भारतवर्ष आए हैं। यदि इस बीच में दिल्ली में अबिसिनिया का कोई legation खुल गया, तो वे उससे युक्त हो जायँगे—ऐसा न हुआ तो भारत में ही रह जायँगे। वे कहते थे "मैं धनी नहीं, दरिद्र भी नहीं। मैं श्री श्री माँ के चरणों का दास हूँ। माँ मुझसे जैसे चलने को कहेंगी, मैं वैसे ही चलूँगा।" पेतित साहब सौम्यदर्शन हैं और उनका सदानन्द भाव है। सुना है इन्हें सात भाषाएँ आती हैं। अंग्रेजी पढ़ और समझ लेते हैं पर अंग्रेजी में भाव प्रकाश करने में कुछ कष्ट होता है।

गिरीन दादा को पेतित साहब को देखने सुनने का भार दिया गया। गिरीन दादा असङ्ग जीवन यापन करना पसन्द करते हुए भी खूब रसिक हैं। वे भी विलायत हो आए हुए डाक्टर हैं। आजकल संसार छोड़कर श्री श्री माँ के निर्देशानुसार साधन भजन कर रहे हैं। गिरीन दादा खूब अच्छी तरह साहब का सब बन्दोबस्त कर रहे हैं।

रात को इसी साहब के सम्बन्ध में बात उठी। माँ बोलीं, "यह चिर कुमार है। जिस देश में इसका जन्म हुआ है वहाँ अविवाहित रहना सहज बात नहीं है। ब्लांका भी वैसी ही। एक बार ब्लांका ने मुझसे मिलने आने के लिए टैक्सी किराए पर ली। टैक्सीवाला उसे आश्रम के रास्ते न लाकर दूसरे रास्ते ले चला। ब्लांका बीच-बीच में उससे कहती कि वह किस रास्ते से उसे ले जा रहा है। इस पर टैक्सीवाला कहता कि ठीक ही रास्ते से ले जा रहा है। अन्त में वह टैक्सी लेकर एक बाग में घुस गया। यह देखकर ब्लांका बोली, "यह कहाँ आ गए? यह तो आश्रम नहीं।" तब टैक्सीवाला बोला, "थोड़ा बाग में घूम कर आश्रम में जाया जायगा।" ब्लांका उसकी दुर्बुद्धि समझ कर, बिना कुछ कहे उसे बेदम घूँसे मारने लगी। घूँसे खाकर टैक्सीवाला घबड़ा गया और जल्दी से उसे आश्रम पहुँचा गया। आश्रम पहुँचते ही ब्लांका चिल्ला-चिल्ला कर सबको यह घटना बताने लगी। बहुत

कुछ सरल एवं पवित्र होने से ही ऐसा करना सम्भव है—यह तुम समझ सकते हो।'

२१-११-४८—आज छुट्टी होने के कारण अनेक लोग इलाहाबाद से माँ के दर्शन करने आए हैं। रोज जैसे पाठ, भजन, गान इत्यादि—आज भी वैसे ही होने लगा।

"सत्यानन्द"

२२-११-४८—आज सवेरे जब माँ के पास बैठा था, माँ बोलीं, "कल ब्लांका ने मुझसे अनुरोध किया कि मैं साहब का एक एतद्देशीय नाम रखूँ। यह सुन कर मैं बोली अच्छा तो इसका नाम सत्यानन्द हो। यह सुनकर ब्लांका बोली कि ये तो कुछ भावुक हैं। इसके अतिरिक्त भावावेश के कारण सदा ही उसके नेत्रों से जल पड़ता है इसलिए सत्यानन्द नाम इसके पक्ष में उपयुक्त नहीं। मैंने कहा, "अच्छा, प्रेमानन्द भी रख सकते हो। तो सत्यानन्द और प्रेमानन्द—दोनों ही नाम इसे बताओ—जो भी यह पसन्द करे। जब उसे दोनों नाम बताए गए तो सत्यानन्द नाम सुनकर साहब अवाक् हो गया। यह नाम ही उसे पसन्द और मैं कैसे यह जान गई, यह सोचकर वह आश्चर्य बोध करने लगा।''

आज और भी मालूम हुआ कि मिस ब्लांका को भी इस बीच में आत्मानन्द नाम दिया है। जो हो, कुछ देर बाद जब मेरा पेतित साहब से मिलना हुआ मैंने उनसे कहा, "तुम्हारा क्या एक नया नाम हुआ है?" मि० पेतित हँसकर आग्रह के साथ मुझसे बोले, "क्या आश्चर्य! मैं जो अबिसिनिया में बैठकर सोचता था वह माँ क्योंकर जान गई? मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि मेरा एक भारतीय नाम हो। मिस नोवल को जैसे एक भारतीय नाम प्राप्त हुआ और वे सर्वदा भारतीय पोषाक पहनती थीं—मेरी भी वैसा ही नाम और पोषाक ग्रहण करने की इच्छा होती। अबिसिनिया के सम्राट् बाद जो प्रधान थे उनसे मैं एक दिन मिलने गया। और भी बहुत लोग मिलने गए थे। वे उन सब लोगों को दिखाकर मुझसे बोले, "देखो, इतने लोग जो मुझसे मिलने आए हैं—उनमें से किसी का विश्वास नहीं करता। ये लोग मुझे प्रसन्न करने के लिए कोई भी झूठ बोल सकते हैं। मैं केवल मात्र तुम्हारा ही विश्वास करता हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ तुम कभी झूठी बात नहीं बोलोगे।" वास्तव में ही मैं कभी झूठ नहीं बोलता, इस लिये माँ ने जो मुझे 'सत्यानन्द' नाम दिया, वह मुझे बहुत ही पसन्द आया। मुझे लगता है कि अदीस अबाबा में इन सज्जन से मेरी जो बातचीत हुई थी—वह माँ सभी जानती हैं।"

आज सवेरे माँ मुझसे बोलीं, "यदि तुम्हारी वृन्दावन जाने की इच्छा हो, तो काशी से गरम कपड़े इत्यादि ले आओ। सीधे इलाहाबाद में ही हमारे से। मिल जाना।"

मैं—माँ, मेरी वृन्दावन जाने की इच्छा नहीं, फिर भी आदेश होने से जा सकता हूँ।

माँ—ओ, तुम्हारी इच्छा नहीं। तुमने क्या वृन्दावन देखा है ?

मैं—हाँ।

माँ श्रीयुत गणेश (सेन) बापू से बोलीं", बाबाजी क्या वृन्दावन जायँगे ?

गणेश बाबू बोले, "मैं और वृन्दावन", यह कहकर हँसने लगे। श्री श्री माँ हठात् गम्भीर होकर बोलीं, "इसमें हँसने की क्या बात है ?" बात तो कुछ विशेष नहीं। श्री श्री माँ ने मुख वा दृष्टिभङ्गी विकृत की ऐसा भी नहीं, पर इस तरह से बात बोलीं, कि उसे सुनकर जैसे हृदय काँप गया। सोचा आनन्ददायिनी माँ विभीषिका भी दिखा सकती हैं। गणेश बाबू और कुछ नहीं बोले। माँ ने गणेश बाबू से फिर कहा, "तुम्हें अभाव ही क्या है और प्रतिबन्ध ही क्या है।" गणेश बाबू चुप रहे।

कर्म मत छोड़ो, कर्म को छोड़ जाने दो।

इस समय इस प्रान्त के एक आदमी ने कहा, "माँ, एक नाम प्रसाद की प्रार्थना करता हूँ।"

माँ—(हँसकर)—नाम प्रसाद ! नाम तो तुम करते हो।

वह बोला—कौन नाम ठीक—समझ नहीं पाता।

माँ—भगवान के सभी नाम ठीक।

सज्जन—संसार में काज कर्म करना पड़ता है। इसका क्या करूँ ?

माँ—समस्त काम ही भगवान के उद्देश्य से करना—जो भी काम करो—सोचोगे कि तुम यह काम करके भगवान की सेवा कर रहे हो। काम के लिए कहीं आना-जाना पड़े, सोचोगे कि इसी तरह तुम भगवान की प्रदक्षिणा कर रहे हो।

सज्जन—यदि भगवान का नाम करते-करते मन काम न करना चाहे ?

माँ—मन कर्म करना न चाहे, तो भी कर्म छोड़ना नहीं क्योंकि मन तो चुप रहेगा नहीं, तुम्हें फिर अन्य किसी कर्म के पीछे दौड़ना पड़ेगा। कर्म को छोड़ देने दो। यदि नाम में मन ऐसा डूब जाय तो देखोगे, कि तुम्हारा काम पड़ा हुआ है, और तुम कहीं डूब गये हो। यहाँ किन्तु मन ने कर्म को नहीं छोड़ा, कर्म ही तुम्हें छोड़ गया है। इसलिये कर्म करोगे, भगवान की सेवा के हिसाब में कर्म करोगे और शाम को भगवान को प्रणाम करके, तुमने जो जो काम किया है, उस पर विचार

करोगे, यदि देखा कि कोई खराब काम तुम्हारे द्वारा हुआ तो प्रार्थना करोगे कि इस तरह की भूलचूक और न हो। समस्त कर्मफल भगवान के चरणों में अर्पण करोगे। सोते समय भी सोचोगे कि भगवान के चरणों में सिर रखकर सो रहे हो। इस तरह दिन-रात उन्हें लेकर रहोगे।

वह आदमी श्री श्री माँ का उपदेश सुनकर, अभिभूत होकर रो पड़ा।

झूसी त्याग

१३-११-४८। आज हमारे झूसी त्याग करने का दिन है। ६ बजे के अन्दर ही इलाहाबाद की ओर रवाना हुआ। श्री श्री माँ झूसी से सड़क के रास्ते मोटर से इलाहाबाद के लिए रवाना हुईं। इलाहाबाद में श्रीयुत नीरजनाथ मुखोपाध्याय महाशय के घर पहुँचकर देखा कि इनके घर के सामने के गाड़ी खड़ी करने के बरामदे में फर्श बिछा हुआ है। एक चौकी के ऊपर माँ एवं हरिबाबा के लिए आसन बिछाकर रखा है। किन्तु माँ और हरिबाया जमीन पर फर्श के ऊपर ही बैठे हैं और हरिबाबा पाठ कर रहे हैं। इधर बाहर खुब वृष्टि हो रही है। पाठ के स्थान से होकर जल-स्रोत बहना शुरू हुआ। श्रोताओं में भी बहुत लोग भीगने लगे। पाठ शेष होने पर कुछ देर कीर्तन हुआ। इसके बाद ही भोजन का आयोजन। नीरज बाबू ने हम सबको विविध सामग्री द्वारा आकण्ठ भोजन कराया। शाम को माँ एक किसी के वासस्थान में घूमने गयीं और वहाँ से जल्दी ही लौटकर "कृष्ण कुञ्ज" गयीं। "कृष्ण कुञ्ज" इलाहाबाद में एक सज्जन के मकान के एक अंश विशेष का नाम है। यहाँ एक हाल चारों ओर श्रीकृष्ण के चित्रों से सजा है। इसी से इसका नाम पड़ा "कृष्ण कुंज।" माँ यहाँ से रात के नौ बजे वृन्दावन के लिये रवाना हुईं। हम लोग दूसरे दिन काशी लौट आए।

(क्रमशः)

॥ ॐ माँ ॥

"मातृ-सत्संग"

स्वामी भागवतानन्द गिरि

(४१)

ता० १६ जनवरी १९४८--पौष शुक्ला ४,२००४

प्र०—अहंकार का नाश पहले होता है या आत्मसमर्पण की क्रिया पहले होती है?

माँ—यदि अहंकार रह गया तो फिर अर्पण कौन करेगा? एक व्यक्ति अपनी चेष्टा के द्वारा अर्पण करने का प्रयत्न करता है। ऐसी भी हो सकता है कि जहाँ अर्पण के लिये चेष्टा नहीं करना पड़ता है, अपने आप भी अर्पण क्रिया हो सकती है। इसमें अहंकार का अपने आप नाश हो जाता है। जब अहंकार का नाश होगा तब अर्पण क्रिया भी हो जायगी। मतलब यह है कि आत्मसमर्पण और अहंकार का नाश साथ-साथ होता रहता है।

प्र०—समर्पण करना और समर्पण अपने आप हो जाना इसमें 'समर्पण करना' तो अहं से होता है और अपने आप समर्पण हो जाना तो सिर्फ कृपा से ही शक्य है क्या?

माँ—अपने आप आत्मसमर्पण हो जाना तो स्वयं भगवत्कृपा से ही होता है। जो व्यक्ति आत्मसमर्पण करता है वह जल्दी साधन भजन में उन्नत होता है। अपना बोल के जो कुछ तुम्हारे पास है—सब कुछ परम कृपालु भगवान के श्री श्री चरणकमलों में समर्पण कर देना चाहिए अर्थात् संपूर्ण आत्मसमर्पण कर देना चाहिए। जीवन का प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक कार्य में, बुद्धि के प्रत्येक व्यापार में, प्रत्येक भाव में—जब तक देहात्म भाव है तब तक सब कार्यों में आत्मसमर्पण बुद्धि रखना चाहिए। भगवत्-प्राप्ति के लिए जो व्यक्ति जो पथ ग्रहण करे—उसको हर समय—२४ घंटा—उसमें ही मशगूल रहना चाहिए। किसी मार्ग से तुम जा सकते हो। चाहे वेदान्त के मार्ग से आत्म प्राप्ति कर लो, चाहे आत्मसमर्पण का मार्ग लो। सब रास्तों में सत्य का आश्रय तो रहा ही है। जो अच्छा लगे—मनको अनुकूल लगे उसी रास्ते से चलने की कोशिश करनी चाहिए। जब भगवान के प्रति सच्चा अनुराग होगा तो वैराग्य अपने आप आ जायेगा। वैराग्य आने से पूरा विवेक भी आ जायेगा। जैसे अग्नि जलने से सब कुछ जला देती है ऐसे ही

ज्ञानाग्नि जब प्रज्वलित होती है तब सब कुछ—सब कर्मों को जलाकर आत्मज्ञान करा देती है। तब त्याग वैराग्य का भी त्याग हो जाता है। त्याग भी स्वयं प्रकाश हो जाता है। त्याग करना और त्याग होना—ये दो वस्तुएँ भिन्न हैं। जब तक त्याग अपने आप न हो जाय तब तक त्याग करनेका प्रयत्न छोड़ो मत। यदि कर्म करना हो तो भगवत् कर्म करो। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये कर्म करो या समर्पण बुद्धि से कर्म करना चाहिये। जब तक भगवत्-प्राप्ति पूर्ण रूप से न हो जाय तब तक रुकना मत। जब तक स्वयं प्रकाश न मिले, जब तक आत्मज्ञान न मिले तब तक साधन भजन करते रहो। बस—आगे कदम बढ़ाते जाओ। अखण्ड—भगवत्-प्राप्ति मिले ऐसा ही रास्ता लेना चाहिए। जैसे भूखे आदमी को अन्न नहीं मिलने से व्याकुल हो जाता है वैसे ही जब तक भगवत्-प्राप्ति न हो तब तक परम व्याकुलता के साथ भगवान को पुकारना चाहिए। जिसमें व्याकुलता रूप अग्नि नहीं है वह साधना में आगे नहीं जा सकता। ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि जब तक अखण्ड रूप से भगवत्-प्राप्ति नहीं होगी तब तक इस आध्यात्मिक पथ को नहीं छोड़ूँगा। साधन भजन के अनुकूल जितनी आवश्यकता हो इतना ही तौलकर भोजन, निद्रा लेना चाहिये। निद्रा भी भोजन ही है। प्रत्येक इन्द्रिय को भोजन मिलना है। नियमित और तौलकर भोजन लेना चाहिए। साधारण साधक के लिये मध्य पंथ ही ठीक है। असाधारण साधक की बात अलग है।

प्र०—जहाँ तक बुद्धि का राज्य है वहाँ तक तो समर्पण हो सकता है लेकिन एक ऐसी भी अवस्था आती है जहाँ बुद्धि चलती नहीं है तो वहाँ क्या करना चाहिए?

माँ—बुद्धि क्या जड़ हो जाती है?

प्र०—ना, बुद्धि का लय हो जाता है।

माँ—भिन्न-भिन्न प्रकार से बुद्धि का लय होता है जहाँ जाने से प्रकाश मिलता है वहाँ की मैं बात नहीं करती हूँ। जब तक प्रकाश की प्राप्ति नहीं होती है तब तक बुद्धि जड़ में लय हो जाती है वही ठीक नहीं है। भाव न रहना, प्रकाश न मिलना—यह सब अज्ञान में लय होने के लक्षण हैं। जैसे निद्रा में से उठने से आनन्द मिलता है—वह आनंद ब्रह्मानन्द नहीं है। यह तो एक प्रकार की भूख ही है।

प्र०—ब्रह्मानंद नहीं है तो ब्रह्मानंद का आभास तो है न?

माँ—सुषुप्ति में जो आनंद मिलता है वह तो अज्ञान के आवरण का आनंद है। तुम ध्यान में बैठे, मन खूब एकाग्र हो गया और बाहर के विषयों का मान भी

न रहा। ध्यान में से उठने के बाद खूब आनंद भी हुआ। तब भी जब तक सच्चा प्रकाश न मिले तब तक कुछ हुआ ही नहीं ऐसा ख्याल रखना चाहिये।

प्र०:—"मैं" तो अपने में डूब जाता हूँ—कौन किसका ख्याल करे?

माँः—अचेतन अवस्था में जाना तो खूब खराब बात है। तुमको जड़ ने पकड़ लिया है। जड़ में लीन हो जाना अच्छा नहीं है। जहाँ जाने से मन को प्रकाश मिलता है वहाँ गये बिना तुम कैसे रह सकते हो? जड़ ने तुमको पकड़ कर आधीन कर लिया है। इसलिये शास्त्र में कहा है कि सुकोशल हो—यही कुशल है।

प्र०:—योगः कर्मसुकौशलम्।

माँः—यह तो सुकोशल का योग है इस योग का ही काम है। शास्त्रों में क्या लिखा है वह तो तुम सब लोग जानते हो, जड़ता में मन को लय होने देना याने मन को Paralysis—लकवा होने देना है।

प्र०:— इसमें से उद्धार कैसे हो सकता है?

माँः—जैसे संन्यास लेने के बाद संन्यासी सत् असत् का विवेक करता है और ध्यान में भी बैठता है। वैसे जो मन्त्र जप करनेवाले हैं उनके लिये मन्त्र भी रखा है, अन्त में शब्द से भी अतीत जाना पड़ेगा फिर शब्द रख भी लिया है। शब्द क्या है? शब्द ज्योति स्वरूप है।

प्र०:—ज्योति है? प्रकाश कर देता है क्या?

माँः—अक्षर—क्या है? ज्योति है। क्यों? तुम खुद स्वयं ज्योति स्वरूप हो। तुम कौन हो? तुम क्या बिना शब्द के हो? प्रकाश का अस्तित्व भी शब्द को बाद रखने से नहीं होता है। जब घर्षण होता है तब ज्योति प्रगट दीखती है। स्पंदन (vibrations) क्या है? स्वयं-ज्योतिरूप है। अक्षर भी ज्योति है। रूप भी ज्योति है। आत्मा ज्योति यदि हो सकता है तो—शब्द ज्योति क्यों नहीं हो सकता?

प्र०: – शब्द तो समाधि में लय हो जाता है?

माँः—शब्द महाज्योति में लय हो जाता है। ज्योति से भी आगे चलो। ज्योति आनंद, निरानंद, लय, विक्षेप कहाँ रहता है? तुम्हारे शास्त्रों में क्या लिखा है तुम जानो। इसलिये महावाक्यों का आश्रय लेना चाहिये। महावाक्य शुद्ध स्पंदित (purely vibrated) होते हैं। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिये साधक लोग महावाक्यों का आश्रय लेते हैं। आत्मज्ञानी होने के लिये साधक लोग ध्यान करते हैं कि सर्वत्र एकमात्र ब्रह्म ही है और वह ब्रह्म मैं ही हूँ। इस वृत्ति को या स्मृति को, या भाव की गति को अग्नि के समान हर समय प्रज्वलित रखना पड़ेगा।

यदि इसका जड़ में लय हो गया तो उनकी ज्योति का द्वार बंद हो जायेगा। वह ज्योति तुम्हारे भीतर ही है। जो भीतर में है उसको ही प्रकाशित होना है। प्रकाश करना माने प्रकाशित होना। तुम्हारा मन यदि जड़ में लय हो गया तो तुम्हारा सर्वभाव, मंत्र, महावाक्य इत्यादि का द्वार बंद हो जायेगा। जड़ता यदि आ गई तो फिर प्रकाश कैसे होगा? स्मृति स्मरण इत्यादि को जागृत रखना पड़ेगा कि जिससे जड़ता में परिवर्तित न हो जाय। जागृत रहने से क्या होगा? तुम जो स्वयं आत्मा हो उसका स्वरूप प्रकाश हो जायेगा। अरे! प्रकाश होगा क्या? तुम खुद ही स्वयं प्रकाश हो। तुम जब ध्यान में बैठते हो तब तुम्हारा एकमात्र लक्ष्य होना चाहिये—आत्मप्राप्ति या आत्मबोध। विचारों के द्वारा, वाक्यों के द्वारा—तुम जो कुछ जानते हो उनको अपने मन में हर समय प्रज्वलित रखने की कोशिश करो। यही है—अज्ञानरूपी बादलों का—आवरण को दूर करने का एकमात्र उपाय।"

माँ बँगला भाषा में बोल रही थीं। माँ का उपदेश पूरा होने पर एक भाई ने माँ से कहा—"माँ—यहाँ ऐसा नियम करने में आया है कि जो व्यक्ति बँगला भाषा में बोलेगा--उनको दण्ड के हिसाब से सबको रसगुल्ला खिलाना पड़ेगा।

माँ--मुझको यदि रसगुल्ला देना पड़ेगा तो यह शरीर तो पिताजी (प्रश्नकर्त्ता को उद्देश्य करके) के पास ही माँगेगा। एक बार यह शरीर रेलवे में यात्रा कर रहा था। इस शरीर के साथ में जो भाई थे उनसे कह रखा था कि इस शरीर के लिये रेल टिकट लेना नहीं। बिना टिकट ही गाड़ी में बैठ गई। कुछ स्टेशन जाने के बाद एक टिकट चेकर आया और मुझसे टिकट माँगा। इस शरीर ने उससे कहा--"पिताजी इस शरीर का टिकट तुम ही ले लो और तुम ही उसको चेक कर दो। ऐसी यह शरीर की बात सुनकर—विचारा बिना टिकट ही ले गया। दूसरा स्टेशन आने पर टिकट चेकर इस शरीर को अपने घर ले गया और खूब खिलाया और नया कपड़ा भी पहना दिया।

ऐसा मातृसत्संग चल रहा था इतने में परमपूज्य श्री हरिबाबा जी महाराज और उनके भक्त लोग सब सत्संग मण्डल में आ गये। माँ ने पू० बाबाजी महाराज को खूब सन्मान और आदरपूर्वक उनके आसन पर बैठा दिया। पहले तो साधारण बातें हुईं। इसके बाद पूज्य हरिबाबा ने प्रस्ताव रखा कि आज माँ के भक्तों में से जिसको माँ के बारे में कुछ अद्भुत अनुभव हुआ हो तो कहें। प्रस्ताव सुनकर सब चुप होकर बैठ गए हैं। पूज्य हरिबाबा ने डा० पन्नालाल को बोलने के लिए आग्रह किया लेकिन डा० पन्नालाल मना कर रहे थे। डा० पन्नालाल ने कहा—"मैंने माँ के अनुभवों के बारे में कुछ लेखों का संग्रह करने की कोशिश की थी। आज तक सिर्फ

कान्ति भाई ने ही एक लेख अँग्रेजी में—"In Quest of Mother Anandmayi" [*]लिखकर भेजा था। मेरा ख्याल है कि आज कान्ति भाई ही कुछ बोलें।"

डा० पन्नालाल और पूज्य हरिबाबा जी महाराज मुझको बोलने के लिये बार-बार आग्रह करने लगे। मुझको बड़ा संकोच हो रहा था कि—'माँ' की उपस्थिति में मैं—अपना अनुभव कैसे कहूँ? इतने में माँ की एक पुरानी भक्त श्रीमती कमला मोहनलाल—'माँ के बारे में अपना अनुभव बताने लगीं। उन्होंने कहा—यह घटना सन् १९४२ की है। उस समय मैं अपने पति (श्री मोहनलाल जो उस समय आसाम में बड़े Forest Officer थे) के साथ आसाम में रहती थी। उस समय भारत की ब्रिटिश सरकार के साथ जापान का युद्ध चल रहा था। आसाम पर भी जापान के आक्रमण का भय था। सब लोगों की भाग-दौड़ शुरू हो गई थी। मुझको U. P. में आना था। शिलौंग स्टेशन पर जाना था लेकिन एक भी मजदूर नहीं मिला। उस अवस्था में एक भी मजदूर के मिलने की आशा भी नहीं थी। इतने में ब्रिटिश सैन्य के अफसरों ने आकर आदेश दिया कि रात को एक बजे के पहले यहाँ से जाना पड़ेगा सैन्य यहाँ आ रहा है—इसलिये जल्दी खाली करो—जीवन यहाँ सलामत नहीं है।" अब क्या किया जाय? हम लोग निःसहाय थे। ऐसी अवस्था में माँ के सिवाय कौन सहाय कर सकता है? इतने में देखा कि सैन्य आ रहा है। सैनिक लोग हम लोगों को फँसाने की कोशिश कर रहे थे। आसपास में कोई व्यक्ति सहाय कर सके ऐसी कोई संभावना नहीं थी। इतने में क्या देखा कोई एक व्यक्ति पता नहीं कहाँ से आ गया और कहा—"तुमको मजदूर की आवश्यकता हो तो मैं सामान आपका स्टेशन पर पहुँचा दूँगा"—उस व्यक्ति ने हमलोगों को स्टेशन पर खूब आराम से पहुँचाया। और II Class का दो टिकट खरीद के reservation भी करा दिया। युद्ध का समय था उस समय ऐसा टिकट मिलना असम्भव था। 'माँ' की कृपा से ही ऐसे समय में सुन्दर सहायता मिल गई। मैं तो 'माँ' की कृपा देखकर आश्चर्य मुग्ध हो गई थी। स्टेशन पर पहुँचने के बाद उस भाई को जिसने ऐसे मौके के समय में मदद दी थी—कुछ देने के लिए रुपया निकाला तो आश्चर्य वह भाई पता नहीं कहीं अदृश्य हो गये! पता नहीं कौन ऐसे समय में मदद देकर चला गया। माँ की कृपा से ही हमलोग ऐसी मुश्किल में से निकल सके।"

---

[*] ब्रह्मचारी कान्ति भाई का संन्यास हो गया है। संन्यासाश्रम का उनका नाम है—स्वामी भागवतानन्द गिरि।

इस बात के पूरा होने के बाद फिर से डा० पन्नालाल और परम पूज्य हरिबाबा जी महाराज मुझको बोलने के लिये आग्रह करने लगे। लेकिन मैं किसी उपाय से माँ के सामने मैं बोलने के लिये तैयार नहीं हुआ। यह देखकर पू० हरिबाबा ने माँ से कहा, माँ—आप कान्तिभाई को बोलने के लिये कहें। माँ ने कहा—"तुम कुछ बोलो" माँ का आदेश हुआ इसलिये इच्छा नहीं थी तब भी बोलना शुरू किया। मेरे हृदयकमल में 'माँ' ही बैठकर मेरे मुख से बोल रही थीं। परम कृपामयी माँ के श्री श्री चरण कमलों में प्रणाम करके मैंने बोलना शुरू किया। मैं यहाँ जिस घटना का वर्णन करना चाहता हूँ वह सन् १९४२ की है। इस घटना के बारे में कुछ बोलने के पहले मुझको कुछ पूर्वापर सम्बन्ध के बारे में बोलना पड़ेगा। मुझको परमकृपामयी माँ के प्रथम दर्शन का सौभाग्य सन् १९४२ के ६ जनवरी के दिन हुआ था। उस समय 'माँ' गुजरात में श्री नर्मदा नदी के पुनीत पवित्र तटपर "श्री व्यास क्षेत्र" में "योगाश्रम" में निवास कर रही थीं। मैं भी वहाँ दैवयोग से उसी व्यास क्षेत्र में पहुँच गया। सच कहें तो बात यह है कि परम कृपामयी 'माँ' ने ही अपनी दिव्य आकर्षण शक्ति से इस पामर जीव को अपने श्री चरण कमलों में आश्रय देने के लिये पास खींच लिया।

माँ के प्रथम दर्शन से ही माँ के श्रीचरण कमलों में परम अनुराग—प्रेम हो गया। परिणाम यह निकला कि मैंने १ मार्च १९४२ को कुटुम्ब, समाज, बन्धु-बान्धव इत्यादि को छोड़ दिया और परम कृपामयी जगत् जननी ने कृपा करके अपने श्री श्री चरण कमलों में सदा सर्वदा के लिये आश्रय दे दिया। माँ के साथ में रहते-रहते आंतरिक जगत में अद्भुत प्रकारके अनुभव हो रहे थे। खूब आन्तरिक शान्ति और आनन्द का अनुभव हो रहा था। माँ के पास रहते हर समय आनंद आता था। तब भी माँ का वास्तविक सच्चा स्वरूप क्या है इस सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं लगने से मन में दुःख लगता था। 'माँ' के कोई कोई भक्त कहते कि,—"माँ तो साक्षात् भगवान् हैं—कोई कहता है—माँ साक्षात भगवती हैं, कोई कहता है—माँ कृष्ण है" जैसे भिन्न-भिन्न लोगों की भिन्न बातें सुनकर एक दिन मैंने एकान्त में 'माँ' से निवेदन किया—कि, माँ तुम कौन हो? कोई कहता है—तुम भगवान् हो या देवी हो लेकिन जब तक मुझको अपना स्वानुभव नहीं होगा तब तक मैं यह सब बातें मानने के लिये तैयार नहीं हूँ।" तब माँ ने बहुत सुन्दर उत्तर दिया। माँ ने कहा—"तुम जो कहो। वह मैं ही हूँ" 'माँ' के इस उत्तर से मेरी शंकाओं का समाधान नहीं हुआ। इसलिये नवम्बर १९४२ में मैंने 'माँ' से एकान्त में कहा—"माँ, मुझको ऐसा लग रहा है कि तुम्हारे पास हमेशा के लिये रहने के पहले सारे भारतवर्ष में भ्रमण

करूँ और अन्यान्य साधु-संतों का समागम करने की इच्छा हो रही है। कारण, अभी यहाँ रह गया और पीछे भविष्य में मनमें ऐसा असंतोष कदाचित् रह जाय कि अरे ! मैं कैसा मूर्ख हूँ। यहाँ ही रह रहा हूँ—शायद 'माँ' से भी कोई ज्यादा उन्नत महापुरुष—साधु-संत हो सकते हैं इसलिये 'माँ' यदि तुम कृपा करके आज्ञा दो तो मैं जाने की कोशिश करूँ।"

माँ—खूब आनंद से तुम जाओ। जहाँ तुमको ठीक लगे वहाँ खुशी से रहना और यदि योग्य गुरु मिले तो दीक्षा भी ले लेना।

इस प्रकार 'माँ' के साथ एकान्त में बहुत बातें करने के बाद 'माँ' से प्रेमपूर्ण बिदा लेकर 'मैं' भारतवर्ष के प्रवास में निकल पड़ा। अनेक तीर्थों में भ्रमण करने के बाद स्वामी रामदास केरल देश के आश्रम में उनके पास करीब २० दिन रहा, श्री श्री रमण महर्षि जी के आश्रम में भी करीब २० दिन रहकर वहाँ से श्री अरविंद आश्रम पांडीचेरी में करीब २ फरवरी १९४१ पूरा रह गया। वहाँ परमपूज्य महायोगीराज श्री अरविंद के दर्शन करके खुब आनंद का अनुभव हुआ था। ऐसे प्रवास करते-करते जगन्नाथपुरी, कलकत्ता होकर मार्च १९४२ के आस-पास मैं श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के "शान्तिनिकेतन" में जा पहुँचा। मैंने जगन्नाथपुरी-से 'माँ' को एक पत्र लिखा था। इस पत्र का उत्तर मुझको शान्तिनिकेतन में मिला। उस समय माँ अज्ञातवास में थीं। ऐसे समय में माँ का पता शायद एक दो भक्त ही जानते हैं। माँ की सब चिट्ठियाँ लखनऊ से श्री हरिराम जोशी जी माँ को (redirct) करते हैं। वे 'माँ' की चिट्ठियाँ माँ के अज्ञातवास के पते पर भेजते हैं। माँ का जो पत्र मेरे पास आया था उसमें भी माँ का कोई पता लिखा नहीं था। सिर्फ इसमें तारीख लिखी गई थी। चिट्ठी में ऐसी कोई खास बात नहीं थी। मैं 'माँ' को उस चिट्ठी का जवाब लिखकर सो गया। अकस्मात् मेरे हृदय में बड़े तीव्र वेग से एक प्रेरणा आई ! मालूम हुआ कि माँ मुझको अपने पास बुला रही हैं। फौरन मैं खड़ा हो गया। और मैंने निश्चय कर लिया कि अभी सबसे पहली गाड़ी जो मिल जाये उससे माँ के पास चला जाऊँ ? लेकिन ! हाँ ! किस्मत ! कहाँ जाऊँ ? माँ अज्ञातवास में कहाँ पर हैं उनका तो कोई पता ही नहीं है। चिट्ठी में भी कोई पता लिखा नहीं है। अब माँ के पास जायें तो कैसे जायें ? मन में बहुत चिंता हो रही थी और एक अद्भुत आकर्षण मानो 'माँ' के पास जाने के लिये अंतःकरण में हो रहा था। ऐसा मालूम हो रहा था कि किसी उपाय से जल्दी से जल्दी माँ के पास पहुँच जाना चाहिये। लेकिन जायें कहाँ और कैसे ? अंत में अंतर्यामिनी माँ ने ही बुद्धि में प्रेरणा दी। मैंने माँ के पोस्टकार्ड में पोस्ट आफिस का सिक्का देखा, तो उसमें "सागरसिटी"

लिखा हुआ था। फौरन पोस्ट आफीस में जाकर 'पोस्टलगाइड' में देखा तो पता चला कि भारतवर्ष में ऐसे पाँच या छः 'सागर शहर' है ? 'माँ' पता नहीं कौन 'सागर शहर' में होंगी। कैसे पता लगेगा ? शांति-निकेतन के छात्रावाश में तलास किया तो एक छात्र मित्र ने कहा—"आप मध्यप्रदेश के सागर शहर में चले जाइये।" शायद वह 'सागर' हो सकता है। निश्चय कुछ नहीं हो रहा है। अंत में निर्णय किया कि आज और अभी माँ के पास जाने के लिये प्रस्थान करना चाहिये। 'शान्तिनिकेतन' में मैं श्रीमती नंदलालबसु का अतिथि था। उनसे मैंने कहा था कि मैं शान्तिनिकेतन में कमसे कम एक सप्ताह रहूँगा। लेकिन जब देखा कि एक दिन भी नहीं रहा और जाने के लिये प्रस्तुत देखकर उनको भी बड़ा आश्चर्य हुआ। उनसे आज्ञा लेकर मैं स्टेशन पर चल पड़ा। रास्ते में यह विचार आया कि मध्यप्रदेश के सागर शहर में जाने के पहले प्रवास में रास्ते में काशी शहर पड़ता है—तो काशी में से मातृ-भक्तों से शायद माँ का कुछ पता मिल जाये। दूसरे दिन काशी पहुँचा। उस समय काशी में माँ का आश्रम बना हुआ नहीं था। उन दिनों माँ ज्यादातर स्व० निर्मल कुमार चटर्जी के बगीचे में एक कुटिया में रहती थीं। मैं भी उनके यहाँ गया लेकिन माँ का कुछ पता नहीं मिल सका। कारण माँ का कार्यक्रम इतना अनिश्चित रहता है कि कुछ थोड़े से समय में माँ कहाँ से कहाँ चली जाती हैं। इसलिये माँ का कोई भरोसा नहीं कि कब कहाँ मिलेंगी ? काशी में भी मैं कई मातृभक्तों से मिला—लेकिन माँ के पते के बारे में कुछ पता नहीं लगा। किसी ने कहा शायद मध्यप्रदेश का सागर हो सकता है। इसलिये मैंने निर्णय फौरन कर लिया कि आज ही 'सागर' जाने के लिये चलना चाहिये। हृदय में अकस्मात मातृ आकर्षण का इतना प्रवाह चला कि कैसे जल्दी से जल्दी माँ के पास पहुँचा जायँ। मालूम हो रहा था कि अब माँ के बिना मिले रहा नहीं जा सकता ? ऐसे ही माँ के निवास का कोई निश्चयात्मक पता बिना मिले ही मैंने 'सागर' शहर को जाने के लिये गाड़ी पकड़ी। रात को २ बजे सागर स्टेशन पर पहुँचा। शहर में रात को धर्मशाला में निवास किया। मन में सिर्फ एक ही विचार प्रबल था कि माँ को कैसे ढूढ़ें ? किस्म किस्म की चित्र विचित्र विचार तरंगें मन में उठने लगीं। सुबह उठकर नित्य कर्मों को समाप्त करके माँ को खोजने के लिये तैयार हो गया। साथ में माँ का एक छोटा सा फोटू भी साथ में ले लिया कि शायद रास्ते में काम लग जाये। उस समय माँ के साथ अज्ञातवास में सिर्फ श्री गुरुप्रिया दीदी और श्री अभय थे। मैंने सोचा कि शायद अभय जरूर शाक खरीदने के लिये बाजार में आवेगा तो पहले शाक बजार में ही तलाश किया जाये। पहले शाक बाजार में खूब तलाश

किया लेकिन कोई पता नहीं मिला। फिर वहाँ से आगे बढ़ा। तो पोस्ट आफिस देखने में आया। उस समय मन में विचार आया कि पहले-यह ठीक किया जाय कि माँ के पत्र के ऊपर जो 'सागरसीटी' का स्टेम्प पड़ा है वह ठीक है कि नहीं? मैंने पोस्टमास्टर को 'माँ' का पोस्टकार्ड दिखाया। उनसे पूछा कि—क्या—'सागर सीटी का स्टेम्प आपके पोस्टआफिस का है? तो उन्होंने तलाश करके कहा, स्टेम्प तो यहाँ का ही है?" "मैंने पोस्टमास्टर से कहा,—"कि कृपा करके यह बताइये कि श्री माँ आनन्दमयी के नाम पर चिट्ठियाँ किस पते पर सागर में आ रही है?" उन्होंने कहा,—"यह तो ब्राञ्च पोस्टआफिस है—यहाँ से चिट्ठियों का वितरण नहीं होता है—उसके लिये तो आपको बड़ा पोस्ट आफिस (G. P. O.) को जाना पड़ेगा। मुझको वहाँ निराशा मिली पोस्ट आफिस के पास में एक दवा वाला की दुकान थी। वहाँ जाकर पूछा कि क्या अभय नाम का कोई लड़का यहाँ आता है क्या? मैंने अभय का वर्णन भी करके सुनाया। उन्होंने भी इन्कार कर दिया। अब मन में यह प्रश्न हुआ कि—चलो यहाँ यदि कोई बंगाली कुटुम्ब रहते हों तो शायद वहाँ से माँ का पता लग सकता है? बङ्गाली परिवार को ढूँढ़ते ढूँढ़ते उनके यहाँ पहुँच गया और बिना इजाजत उनके घर में प्रवेश कर गया। मातृदर्शन की इतनी तीव्र व्याकुलता थी कि किसी के घर में जाना हो तो गृहस्वामी की इजाजत लेने का जो व्यावहारिक सामाजिक नियम है वह भी मैं भूल गया था। घर में जाकर माँ के बारे में कुछ प्रश्न पूछूँ उसके पहले ही गृहस्वामी ने मुझको खूब फटकारा। मैं शरमिन्दा बन गया। माँ के बारे में कुछ पता नहीं लग रहा है—इसलिये मन में बड़ा दुःख हो रहा है? क्या किया जाये? कैसे माँ मिले? फिर वहाँ से और आगे बढ़ा तो देखा कि एक बंगाली वकील का बोर्ड पढ़ा। मन में हुआ कि शायद इस बंगाली वकील बाबू को पता हो सकता है? मैं वकील साहब से मिला और माँ के बारे में पूछताछ की। वकील साहेब ने कहा कि,—"मैंने माँ आनन्दमयी का नाम तो सुना है लेकिन जीवन में कभी उनका दर्शन नहीं हुआ है? क्या वो माता जी यहाँ आई हुई हैं?" मैंने कहा,—हाँ, माँ इस जगह ही कहीं अज्ञातवास में रह रही हैं परन्तु उनका पता मेरे पास नहीं है।" मैंने वकील साहब से प्रार्थना की कि यदि आप कृपा करके बड़े पोस्ट आफिस के बड़े पोस्ट मास्टर से मेरा परिचय करा दें तो वहाँ जानेपर माताजी के नाम पर चिट्ठियाँ मिलने से—माँ का पता मिल सकता है। उन्होंने बड़े पोस्टमास्टर से मेरा परिचय करा दिया बड़े पोस्टमास्टर साहब ने बड़ी कृपा करके अपने पास कुरसी में बैठा दिया और सब चिट्ठियों को ढूँढ़ा—लेकिन 'माँ' के नाम पर एक भी पत्र नहीं मिला माँ की सब चिट्ठियाँ लखनऊ

से रीडायरेक्ट होकर सागर में आती हैं लेकिन माँ का पता नहीं मिल सका इसलिए मन में बहुत निराशा उत्पन्न हो गई। अपनी सब चेष्टायें जब विफल होने लगीं तो—सब निराधारों का आधार एक मात्र 'माँ' ही है। 'माँ' की खूब प्रार्थना शुरू की। 'माँ'—करुणामयी कृपा करो—और तुम्हारे श्री श्री चरण कमलों में पहुँचने का—रास्ता—पता बता दो निर्जन रास्ता पर अकेला ही--रोते-रोते 'माँ' नाम का पुकार करता-करता जा रहा था। मन में अभूतपूर्व, अद्भुत अवर्णनीय विरह भाव जागृत हो गया था। रास्ते में चलते-चलते पेड़, पत्थर, सजीव और निर्जीव का भेद चला गया था। मानो सब कुछ चैतन्यमय हो गया था। उन प्रत्येक को रोते-रोते मेरी माँ का पता खोजता था। कहता था,—हे वृक्ष! तुमने निश्चय मेरी 'माँ' को इसी रास्ते से जाते देखा होगा? बताओ मेरी माँ--अब कहाँ है? हे पत्थर--तुम निश्चय मेरी 'माँ' को जानता होगा--मेरी 'माँ' इसी रास्ते से गई होंगी। बताओ—मेरी माँ--कहाँ है? ऐसे 'माँ' 'माँ' 'माँ' नाम का जप करता करता अश्रुपूर्ण नयनों के साथ जब परम व्याकुल होकर 'माँ' के लिये रो रहा था—रोता-रोता इधर-उधर भटक रहा था ठीक उसी समय में 'माँ' जहाँ पर अज्ञातवास में थी माँ भी—' कान्ति-कान्ति" ऐसा कह कर मेरे नाम की पुकार रही थी और हँस रही थी। उस समय गुरुप्रिया दीदी जो पास में थी—उन्होंने पूछा,—कौन कान्ति? क्या तुम गुजरात के कान्ति को याद कर रही हो? माँ ने 'हाँ'—कहा। ऐसी 'माँ' की यह अद्भुत लीला चल रही है। इस तरफ मैं खूब निराश होकर घूमता-घूमता एक राम मंदिर में पहुँचा। प्रायः दोपहर १२ बजने का समय हो रहा है। मंदिर के पुजारी को मिला और मैंने 'माँ' का फोटू उनको दिखा कर पूछा क्या—ऐसी कोई माताजी आनन्दमयी—आपके मंदिर में आई थीं क्या?" उन्होंने माँ का फोटू देखकर कहा,—"हाँ, इस फोटू में है ऐसे माता जी आनन्दमयी और उनके साथ लम्बे बाल वाली एक माई थी और लम्बे बाल वाला एक लड़का था—पन्द्रह दिन पहले यहाँ आकर थोड़ा सा रुक कर पता नहीं कहाँ चले गये"—यह खबर सुनकर मुझको अनहद आनन्द हुआ कि—चलो—माँ--इस सागर शहर में तो अवश्य आई होगीं। लेकिन पन्द्रह दिन पहले माँ--यहाँ थोड़ा सा घूम कर जाने वाली--माँ अब कहाँ होगीं तो कैसे पता चले? कुछ क्षणों में ही माँ का कार्यक्रम बदल जाता है तो अब तो पन्द्रह दिनों के बाद--'माँ' का कार्यक्रम का तो पूछना ही क्या? मेरा प्रश्न तो जहाँ था—वैसा ही रह गया। अब मैं क्या करूँ? फिर सोचा कि अब सागर स्टेशन पर से शायद माँ का पता लग सकता है। क्योंकि 'माँ' जाएँगी तो इस सागर स्टेशन से ही जाएँगी। क्योंकि माँ का व्यक्तित्व ही ऐसा है कि माँ जहाँ से जाएँगी--उस जगह

पर 'माँ' का प्रभाव कुछ रह ही जावेगा। मैं स्टेशन पर गया और स्टेशन मास्टर से मिला उनको मैंने माँ का फोटू बताया और पूछा कि--आपने ऐसी माताजी को इस स्टेशन पर देखा है कि नहीं? उन्होंने—ना कही। मैंने कहा,—"इस फोटू में जैसे माता जी हैं ऐसे माता जी यदि आपके स्टेशन पर आ जायें तो कृपा करके मुझको पास वाले धर्मशाला में खबर देना।" स्टेशन मास्टर ने कहा,—"अच्छा मैं चेष्टा करूँगा।"

ऐसे घूमते-घूमते प्रायः दोपहर का एक बज रहा है। अब तक कुछ खाया भी नहीं था। खाने की भी इच्छा नहीं हो रही थी। क्या माँ का पता मिलेगा ही नहीं? मैंने सोचना शुरू किया कि शायद माँ सागर में ही न हो और मैं यहाँ बेकार ढूँढ़ रहा हूँ। पाकेट में पैसा भी खलास होता जा रहा है। अब ऐसा कब तक चलेगा? और किस्म किस्म की विचार तरंगें उठने लगीं। फिर से बाजार की तरफ गया। एक दूध वाले की दुकान में बैठकर बिलकुल निराश मन से दूध पी रहा था। इतने में मेरी नजर सामने के एक बोर्ड पर पड़ी। उसमें लिखा था कि मोटर कम्पनी—फौरन ही मन में ख्याल आया कि शायद माँ सागर में ही न हो—और आस पास के कोई गाँव में हो सकती हैं। इस मोटर कम्पनी की मोटरें एक सौ मील के आसपास में घूमती होंगी। यदि इस मोटर कम्पनी के ड्राइवरों को पता दिया जाये तो शायद माँ के बारे में कुछ पता लग सकता है। ऐसा विचार करके मैं मोटर कम्पनी के मैनेजर से मिला और अपनी करुण कहानी सुनायी। मैंने माँ का फोटू भी उनको दिखाया और उनसे प्रार्थना की कि—"आप अपने ड्राइवरों को पता दे दें कि ऐसी एक आनन्दमयी माताजी किसी भी स्थान में किसी भी गाँव में हों तो कृपया मुझको फौरन स्टेशन के पास की धर्मशाला में खबर दे दें। "उन्होंने मेरी प्रार्थना को मंजूर किया और कहा—मैं अपने ड्राइवरों को पता दूँगा और माताजी का पता लगने से आपको खबर दूँगा। मैं यथासाध्य कोशिश करूँगा?" अब मेरे से जितने हो सकते थे हमने प्रयास करके धर्मशाला में जाकर निराश होकर विश्राम कर रहा था। 'माँ' की लीला ही अद्भुत होती है। करीब शाम को चार बजे एक व्यक्ति मेरा नाम पुकारता हुआ आया और मुझसे कहा,—"तुम अपना माँ को ढूँढ़ रहे हो—ऐसी माताजी यहाँ से ९ माइल दूर 'चितोरा' नाम के जंगल में हैं। उनके साथ एक और माई और एक लड़का है, मुझको ठीक-ठीक पता नहीं है कि यहाँ आपकी माँ है कि नहीं।" मैंने कहा—"कृपा करके वहाँ जाने के लिए एक मोटर की व्यवस्था कर दीजिए। यदि वे माताजी वहाँ नहीं होंगी तो मैं वापिस आ जाऊँगा?" उन्होंने

जो माताजी के जंगल बताये थे--इससे मालूम हो रहा था कि--मेरी कृपामयी माँ ही जरूर होंगी। मन में माँ को मिलने की आशा मात्र से अनहद् अवर्णनीय आनंद आने लगा। मन में हुआ कि—अहा! माँ—कितना दयालु, कृपालु और करुणाके सागर है? परम कृपामयी माँ! तेरी जय हो! ऐसा बोलकर सामान लेकर मोटर स्टैंड पर जाकर मोटर में बैठ गया। मोटर को चलने की थोड़ी देर थी। देरी सहन नहीं हो रही थी। प्रत्येक क्षण धैर्य की कसौटी कर रही थी। मन में होता था कि मोटर को यदि पंख लग जाते तो फौरन पहुँच सकते थे। अंत में मोटर चली। प्रायः ९ माइल जाने के बाद मोटर जंगल में खड़ी हो गई। मोटर ड्राइवर ने कहा कि, "सामने जो मकान दीख रहा है उसमें माताजी रहती हैं—आप यहाँ उतर जायें।" मैं फौरन उतर पड़ा। इस जगह--पूरा जंगल है—सिर्फ छोटा सा-एक मकान है। आस-पास कोई गाँव नहीं है। छोटी नदी—प्यारू नाम की है—उसके किनारे वह वृक्ष की छाया में सिर्फ एक मकान दीख रहा है। मन आनन्द से परिपूर्ण है—अब माँ मिलेंगी! अब कुछ ही क्षणों में परमाराध्या परमध्येयस्वरूपा—परमकृपालु 'माँ' के श्रीचरण कमलों में पहुँच जाने वाला हूँ। वातावरण बिलकुल शान्त है। कहीं से भी एक शब्द सुनने में नहीं आया। विश्व शांति है। मैं धीरे-धीरे मकान की तरफ गया। तो देखा कमरे में कोई नहीं है। बड़ी निराशा आई रही! क्या माँ यहाँ नहीं हैं? और आगे बढ़ा—दूसरे कमरे में जाकर देखा अभय सो रहा है। अभय को देखने के बाद मेरे मन में आशा प्रगट हो गई कि माँ यहाँ ही है। मकान में 'माँ' को नहीं देखकर बाहर में माँ की तलाश शुरू किया। दूर से देखा—मेरी कृपामयी 'माँ' दीदी के साथ आ रही हैं। 'माँ' के दर्शन से आनन्द का सागर मानो उलट पड़ा—, फौरन माँ के श्री श्री चरणकमलों में प्रणाम किया। मुझको देखकर दीदी भी बड़ी आश्चर्य चकित सी हो गई। और कहा,—"अरे! तुम कैसे यहाँ आ गये? आज ही माँ—तुम्हारे नाम का पुकार कर रही थीं। 'माँ' ने दो तीन बार—'कान्ति, "कान्ति,' कहा था। तब मैंने पूछा—"माँ—तुम कौन 'कान्ति' को याद कर रही हो? क्या गुजराती 'कान्ति' को याद कर रही हो? 'माँ' ने उत्तर दिया—'हाँ, और—तुमही खुद आकर 'माँ' के सामने खड़े हो गये। 'माँ' भी मुझको देखकर खूब हँस रही हैं। 'माँ' नीचे आसन पर बैठ जाने के बाद मैं 'माँ' की परम पवित्र गोद में शिर रखकर रो रहा था। यह सब हर्षाश्रु थे। दीदी—अभय मुझको बार-बार पूछने लगे कि तुम—अज्ञातवास में बिना पता जाने यहाँ कैसे आ गये? लेकिन मैं तो परमाराध्या—परमध्येयस्वरूपा माँ को पाकर माँ की गोद में शिर रखकर-हर्षाश्रुओं में ऐसा तल्लीन हो गया था कि मुख से

वाणी निकल नहीं रही थी। मेरी ऐसी अवस्था देखकर माँ ने अपना परमपावन श्री श्री कर कमल मेरे शिर पर रखा और आश्वासन दिया और माँ ने कहा,—"जो ढूँढ़ता है वह पाता है"––इसके बाद मैंने मेरी माँ की खोज की कहानी सुना दी।

मेरी कहानी सुनाने के बाद परम पूज्य हरिबाबा ने मुझसे कहा,—"तुम तो सचमुच माँ के खूब कृपापात्र हो।" इसके बाद माँ का दरबार भंग हुआ और माँ–– भोजन के लिये अपनी कुटिया में पधारीं।

(क्रमशः)

कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा

श्री "दत्त"

[गतांक से आगे]

> उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
> सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
> शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
> मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव॥
> (मेघदूत–पू० मे० ५९)

[हे मित्र मेघ ! तुम तो चिकने घुटें हुए आंजन के समान काले हो और कैलास तुरंत काटे हुए हाथी दांत के समान गोरा है। इसलिये जब तुम कैलास के ऊपर पहुँचोगे, उस समय तुम बलराम के कंधों पर पड़े हुए चटकीले काले वस्त्र के समान ऐसे मनोहर लगोगे कि आंखें एकटक तुम्हें देखती ही रह जायेंगी।]

दो दिन बाद हम लोग पुनः मोटर बस पर सवार होकर सर्पाकार पर्वतीय मार्ग पर आगे बढ़ रहे थे। चारों ओर का प्राकृतिक दृश्य कुल्लू एवं काँगड़ा के सदृश प्रतीत हो रहा था। "सौर" की उपत्यका के नयनाभिराम प्राकृतिक सौंदर्य से यह प्रदेश कुमाऊँ का काश्मीर कहा जाता है। यात्री का मन इन अनुपम दृश्यों में खो जाता है फलतः हृदय आनन्द से शान्ति से भर जाता है। यात्री लोग पहाड़-पहाड़ एवं पत्थर-पत्थर में आनन्द का दर्शन कर रहे हों ऐसा भाव उनकी मुखाकृतियों पर अंकित होने लगा। अब तो कुछ लोग आखें मूँदकर भगवत्-स्मरण करने लगे। कोई-कोई तालियाँ देकर कीर्तन करने लगे, मानों कि पहाड़ पर्वत में विद्यमान आनन्द अब हमारी मोटर-बस में प्रविष्ट हो गया हो। धीमे-धीमे बादलों की श्यामघटा पार्वत्यप्रदेश पर छाने लगी जो कुछ समय में ही हलकी-सी वर्षा के रूप में नीचे उतर आयी और वृक्ष लतादि में नूतन प्राण का अभिसिंचन करने लगी। साथ में मंद-मंद सुगन्धित शीतल समीर भी बहने लगा. जिसने हमारी देह में नवचेतना का संचार करते हुए हमें पार्वत्य-प्रदेश की कठिनतम यात्रा के लिए उपयुक्त बनाना प्रारंभ किया। जहाँ पर अधिक कुहरा था वहाँ पर मोटर बस की गति बहुत धीमी करनी पड़ती थी और अत्यन्त सावधानी से आगे बढ़ानी पड़ती थी। ऐसे पर्वतीय मार्ग पर इस प्रकार के वातावरण में मोटर-बस चालक यदि दक्ष नहीं होता तो सभी की जान खतरे में डाल देता है। प्रभु की महती कृपा

रही कि हमारी मोटर-बस का चालक दक्ष एवं धैर्यवान तो था ही, कई वर्षों का अनुभवी भी था। अत्यन्त सावधानी पूर्वक आगे बढ़ते हुए हम लोग जोजरदेवल, नैनीपाताल, टोटानौला होकर कनारीछीना आ पहुँचे। यहाँ पहुँचने पर वर्षा बन्द हो गयी और भगवान् भुवन भास्कर की हिरण्मय मृदु स्वर्ण किरणों से हरे-भरे पहाड़ चमकने लगे। हरी घास पर के वर्षा के जलबिन्दु मौक्तिक सदृश प्रतीत हो रहे थे। वृक्षों ने मलीन देह धोकर साफ कर लिया था। पहाड़ों पर से छोटे-बड़े निर्भर आनन्द से नृत्य करते हुए नीचे आ-आकर अस्पष्ट मधुर गान गुनगुनाते हुए उछलती-कूदती-बहती सरिता में विलीन हो रहे थे। शिशु विरहिणी माता पुनः शिशु पाकर आनंदविभोर हो उठी।

इस मार्ग से आने जानेवाले वाहन कनारीछीना में करीब दस मिनिट तक रुकते हैं। यहाँ पर दो-तीन होटल, दूकान, डाकबंगला इत्यादि हैं। कैलास यात्रा का पुराना मार्ग जो बाड़ीछीना से धवलछीना होकर आगे बढ़ता है, यहाँ पर आ मिलता है। यहाँ से पैदल मार्ग से अल्मोड़ा करीब १८ मील दूर है। किन्तु इस मार्ग द्वारा जाने पर मार्ग में पिथौरागढ़ नहीं आता। कैलास यात्रा का पुराना मार्ग यहाँ से सेराघाट, बेरीनाग, थल, डीडीहाट होता हुआ असकोट आता है, जो करीब ५० मील का है। यात्रा संघ के सदस्यों ने कनारीछीना के होटलों में चायपान किया और ताजे हो गये। यहाँ पर यात्री लोग चायपान कर लेते हैं और मुख-मार्जन एवं आँखों में ठंडा जल भी छिड़क लेते हैं ताकि निद्रा से उद्भूत आलस्य की और ऊँचनीच सर्पाकार मार्ग की यात्रा से न्यूनाधिक प्रमाण में उत्पन्न मिचली से बहुत कुछ अंशों में निवृत्ति हो सके। यहाँ से नियमानुसार दस मिनिट बाद मोटर-बस चल पड़ी। मार्ग के सृष्टि-सौंदर्य से मुग्ध हुए यात्री लोग अपनी-अपनी कल्पनानुसार विश्वसर्जन की अवर्णनीय कलाकृति का शब्द द्वारा वर्णन कर रहे थे। कोई कह रहा था, "आज शुभ दिन में धरित्री ने षोडश शृङ्गार-परिधान किये हैं", तो कोई कह रहा था, "विश्वस्रष्टा की कितनी महान् शक्ति है जिसके संकल्पमात्र से ही यह सब निर्मित हो गया है"। एक ने तो यहाँ तक कह दिया, "इस विषय में जो कुछ शब्द द्वारा कहा जाय अपर्याप्त ही रहेगा। अतः मौन सेवन से ही इस प्राकृतिक सौंदर्य का पान करते हुए अंतःकरण के मालिन्य को क्षालित करना चाहिये। फलस्वरूप सर्वभूतों के हृदेश में नित्य स्थित महान् ईश्वर की अनुभूति हो सके"। इस प्रकार की ज्ञानगोष्ठी करते हुए हम सब लोग बाँदरलीमा आ पहुँचे। यह स्थान कनारीछीना से ६ मील दूर है। यहाँ पर एक होटल भी है। कहते हैं कि इस स्थान के केले बड़े ही स्वादिष्ट और सस्ते होते हैं। यहाँ पर केले के विषय में कुछ

कहना अप्रासंगिक नहीं होगा। केले पौष्टिक, रुचिवर्धक, शक्ति एवं कान्तिवर्धक होते हैं। कफ, रक्तपित्त, अम्लपित्त नाशक और क्षुधावर्धक होते हैं। वैज्ञानिक विश्लेषण से पता चला है कि केले में स्वास्थ्य को कायम रखनेवाले पदार्थ जैसे कि—कार्बोहाइड्रेड (शक्कर), चूना, फास्फोरस, लोहा, विटामिन ए० बी० सी०, इत्यादि होते हैं। लोग जिस चीनी और शक्कर का उपयोग करते हैं वह मुश्किल से पचने के साथ-साथ जठराग्नि को मंद करती है और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है किन्तु केले द्वारा मिलनेवाली चीनी सुपाच्य और स्वास्थ्यवर्धक सिद्ध हुई है। इन सब गुणों से केला गरीब-अमीर, स्त्री-पुरुष, बालक-युवा-वृद्ध के लिए रुचिकर, सस्ता और सरलता से मिलनेवाला अमृत फल है।

बाँदरलीमा से आगे बढ़ती हुई हमारी मोटरबस चारों ओर की सुषमा के दर्शन कराती, ६ मील का अन्तर तय कर आंगला नामक स्थान पर आ रुकी। यहाँ पर पाँच मिनट तक विश्राम किया। यह स्थान पहाड़ के किनारे पर होने से यहाँ से चारों ओर का दृश्य बड़ा ही सुहावना दीख पड़ता है। सामने की दिशा में एक पहाड़ पर बसा हुआ असकोट है जो यहाँ से करीब ५ मील दूर होने पर भी, सुन्दर दिखायी पड़ता है। आंगला में एक अच्छा होटल है जहाँ पर दाल, रोटी, तरकारी, मिठाई वगैरह खाद्य पदार्थ स्वच्छ और सस्ते भाव में बिकते हैं। मोटर-बस के कुछ यात्री लोगों ने हाथ में ही रोटी दाल खरीदकर खड़े खड़े खाते हुए क्षुधानिवृत्ति की प्रवृत्ति की। अपने को सभ्य कहनेवाले विदेशियों की खड़े-खड़े खाने की रीति आज कल हमारे भारतीयों में भी महामारी रोग की तरह फैलती जा रही है यह एक दुःख का विषय है। आंगला से हमने बिदाई ली और पूर्ववत् पर्वतीय मार्ग पर मोटर-बस आगे बढ़ने लगी। अब तो हम असकोट के समीप आ पहुँचे हैं, यह देख भगतजी आनन्दविभोर हो गये और उसे व्यक्त करने के लिये थैली में से ढोलक और झांझ बाहर निकालकर बजाते हुये गुर्जर भाषा का भजन गाने लगे—

शंभु शरणे पड़ी, माँगु घड़ी रे घड़ी, कष्ट कापो।
दयाकरी दरसन अपने आपो॥

बस में बैठे कुछ यात्री भगतजी के सुमधुर स्वर की प्रशंसा करने लगे। कोई-कोई ताल देते हुये मस्तक हिलाने लगे और 'वाह वाह' के शब्दोच्चार से भगतजी के स्वर का मूल्यांकन करते हुए उत्साह में वृद्धि करने लगे। जैसे-जैसे मोटर बस की द्रुतगति होने लगी वैसे ही वैसे भगतजी के गान के स्वर की भी तीव्रता बढ़ने लगी। यह देख पालनपुर के युवक यात्री श्री कश्यप मुस्करा रहे थे। वे शायद

सोचते होगें कि कुमाऊँ प्रदेश के प्राकृतिक सौंदर्य से यह आदमी इतना भावविभोर हो उठा है तो फिर जब दिव्य कैलास एवं मानसरोवर का दर्शन करेगा तब इसकी क्या हालत होगी।

भजन-कीर्तन करते हुए हम लोग असकोट में आ पहुँचे। मजदूर लोगों ने इकट्ठे होकर यात्रियों का सब सामान मोटर बस से नीचे उतार दिया। मैं मोटर-बस स्टैण्ड के समीप की टिकट आफिस में गया और वहाँ से धारचूला जानेवाले मोटर-बस के विषय में पूछताछ की। 'एक पंथ और दो काज' की नीति को दृष्टि समक्ष रहते हुए असकोट में अच्छी धर्मशाला कौन-सी है इस विषय में भी मैंने पूछ डाला। आफिस के एक क्लर्क ने बतलाया—'कल हुई वर्षा से यहाँ से आगे का मार्ग अत्यन्त बिगड़ गया है अतः धारचूला तो क्या जौलजीभ पर्यन्त भी कल मोटर बस के जाने की संभावना नहीं है।' यह बात सुनकर मेरे मुख से स्वतः ही शब्द निकल पड़े—"मेरे मन कुछ और है, कर्ता के मन और"। मुझे हतोत्साह देखकर क्लर्क ने नम्रतापूर्वक कहा कि यदि आज रात्रि में वर्षा नहीं हुई और कल सारा दिन सूर्य का ताप रहेगा तो सम्भव है कि शाम को मोटर-बस कालका पर्यन्त जाय। उससे प्राप्त सूचना मैंने यात्रियों के पास आकर सुनायी। उनलोगों ने आपस में परामर्श कर यह निष्कर्ष निकाला कि यदि दो-तीन दिन तक वर्षा के कारण आगे मोटरबस न चले और अन्यान्य वाहन उपलब्ध न हो सके तो असकोट में ही रहना हमारे लिये श्रेयस्कर होगा। अब हम लोग मजदूरों द्वारा सब सामान उठवाकर वहाँ की धर्मशाला में गये। यह धर्मशाला "बहुत से जोगी, मठ उजाड़" की कहावत को चरितार्थ नहीं करती थी। यहाँ के राजा ने ही बनवायी थी और अभीतक उनके वंशज—यहाँ के राजपरिवार—के ही देखभाल में सुव्यवस्थित रूप से चलती है।

असकोट की ऊँचाई पिथौरागढ़ की ऊँचाई से कम है। वर्षा भी तदनुसार ही होती है। यहाँ पर चीड़ वृक्षों का बाहुल्य है। असकोट राज्य की स्थापना कत्यूरीवंश के राजा त्रिलोकपाल के पुत्र अभयपाल ने ई०स० १२७९ में की थी। यहाँ के राजा को 'राजवार' कहते हैं। इसके शासन में १४२ गाँव थे। असकोट के ऊपरी भाग (जिसे कुमाऊँ भाषा में "भल्ला" कहते हैं) पहाड़ों का इलाका है। जब कि निचला भाग (तल्ला) काली नदी की उपत्यका का ऊपरी इलाका है। असकोट से व्यास परगना के "गरब्यांग" होते हुये, दरमा परगना के "खेला" होते हुये और जोहर परगना के "मिलम" होते हुए कैलाश-मान सरोवर की यात्रा की जा सकती है। कुछ इतिहासवेत्ताओं का कहना है कि जैसे पिथौरागढ़ नाम प्रस्तरगढ़ या पत्थरगढ़

का अपभ्रंश है, वैसे ही असकोट अष्टकोट नाम का अपभ्रंश है[1]। उनका कहना है कि कुमाऊँ के आठ कोटों में से एक चंपाचला या लखनपुर कोट था। हमें तो लगता है कि इस राज्य की स्थापना बाहर सौ उन्नसी में होने से 'उन्नसी कोट' शब्द से असीकोट, असकोट हुआ है। पिथौरागढ़, असकोट वगैरह में क्या कभी बड़े दुर्ग थे ? इसके प्रत्युत्तर में एक इतिहासकार का कहना है कि ऋग्वेदकाल में पांचाल के राजा दिवोदास और उनके पुत्र सुदास ने शम्बर राक्षस के साथ युद्ध किया था। इस राक्षस के पहाड़ी दुर्ग कुमाऊँ गढ़वाल में होना चाहिये क्योंकि यह प्रदेश पांचाल के उत्तर में अवस्थित है। यहां पर गढ़ होने से पिथौरागढ़ वगैरह नामों में 'गढ़' शब्द आया है। कहते हैं कि धौम्यऋषि कुमाऊँ प्रदेश में रहते थे। पांडवों ने अपने यज्ञ कार्य के लिये इस प्रदेश से ही धौम्यऋषि को निमंत्रित किया था।

असकोट कुमाऊँ प्रदेश का छोटा-सा, सुन्दर, शान्त पार्वत्य नगर है। यहाँ के बाजार में आठ दस होटल, दस दुकानें, चार-पाँच मिठाई की दूकानें, दर्जी, मोची, वगैरह की कुछ दूकानें हैं। अस्पताल, स्कूल, डाकबंगला, डाक-तार घर, मल्लिकार्जुन महादेव का मन्दिर इत्यादि भी हैं। भारत का अन्तिम तार-टेलीफोन घर यहीं पर है। यहाँ से आगे किसी स्थान में यह व्यवस्था नहीं है[2]।

धर्मशाला का मकान अच्छा था और उसके कमरे स्वच्छ थे। दरबान ने प्रत्येक कमरे में खटिये, कम्बल इत्यादि आवश्यक वस्तुएँ व्यवस्थित रूप से रखवा दीं। कुछ यात्री विश्राम करने के लिये खटिये में लम्बे हुये जबकि कुछ भोजन बनाने के कार्य में लग गये। समय पाकर मैंने फलाहार कर लिया। श्री कश्यप को एक पहाड़ी साथी

---

[1] १—वाराणसी-विंध्याचल के मध्यमार्ग में बसा हुआ चुनार का नाम पत्थरगढ़ था। बौद्धकालीन "सुंसुमार" ही वर्तमान चुनार है। यहाँ के राजा कुमारबोधि ने ही सारनाथ से भगवान् बुद्ध को सर्वप्रथम निमन्त्रित कर उनसे उपदेश सुना था। जैसे चुनार (पत्थरगढ़) का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से है वैसे ही पिथौरागढ़ (पत्थरगढ़) का भी होगा ? या अच्छी जाति के पत्थर इस भूमि में से निकलते हैं इसीलिए इसका नाम पिथौरागढ़ पड़ा होगा। ये दोनों विषय विचारणीय हैं। एक यात्री ने तो अपने प्रवास वर्णन में यहाँ तक लिखा है कि किसी एक जमाने में पिथरवंशीय नेपाली सरदार ने इस नगर की स्थापना की थी इसलिए इसका नाम पिथौरागढ़ पड़ा।

[2] २—ई० सन् १९६२ में चीन द्वारा भारत पर आक्रमण होने के बाद से कुमाऊँ प्रदेश के इस मार्ग में काफी सुधार हुआ है। मोटर-बस मार्ग के एक-दो वर्षों में गरब्याङ्ग तक पहुँच जाने की सम्भावना है।

मिल जाने से वे उसके साथ में आज ही वहाँ से पैदल मार्ग से धारचूला पहुँचने के लिये चल पड़े। यह देखकर मैंने सभी यात्रियों को कहा, "मुझे तो लग रहा है कि वर्षा बन्द होने तक यहाँ पर हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहना बेकार है। यहाँ से करीब २५ मील दूर के धारचूला ग्राम से तो आगे पैदल यात्रा करनी ही पड़ेगी। तो फिर यहाँ से ही क्यों न यात्रा प्रारम्भ कर दी जाय। यदि वर्षा बन्द न हुई तो हम लोग व्यर्थ ही यहाँ पर फँसे रहेंगे।" मैंने जब देखा कि मेरे कथन को कुछ यात्रियों ने सुना-अनसुना कर दिया है तब मैंने भी चुप्पी साध ली। श्री राजदेव जी को मेरे मनोगत भाव को समझने में देर न लगी अतः वे अपने दो-तीन सहयात्रियों से परामर्श कर मुझे कहने लगे कि यदि कहीं से अच्छे-तगड़े मजदूर या घोड़े-खच्चर किराये पर मिल सकें तो हम लोग आज ही यहाँ से आगे की यात्रा प्रारम्भ कर देंगें। मैं उनकी बात सुन कर हर्ष से उछल पड़ा और मजदूर या घोड़े खच्चर जो कुछ मिल जाय, तय करने के लिये बाजार की ओर चल पड़ा। अनेक स्थान में पूछताछ करने पर बड़ी मुश्किल से दो मजदूर और एक खच्चर मिलना संभव हुआ किन्तु यात्रियों का सामान अधिक होने से ये तीन जीव अपर्याप्त थे। हमें कम से कम बारह मजदूर या छः-सात घोड़े या खच्चरों की आवश्यकता थी। मैंने धर्मशाला में आकर यात्रियों को इस विषय की सूचना दी। वहाँ पर बैठे हुए एक पहाड़ी आदमी से सुना कि असकोट से करीब छः मील दूर स्थित जौलजीभी नामक स्थान में एक मुसलमान के छः-सात घोड़े और खच्चर हैं। वह अपने इन पशुओं द्वारा सामान ढोने का ही व्यवसाय करता है। यह बात सुनते ही मैं जौलजीभी जाने के लिये वहाँ से रवाना हुआ। असकोट से कैलास यात्रा के पुराने मार्ग द्वारा जौलजीभी जाना अच्छा है ऐसी सूचना एक विश्वसनीय व्यक्ति से प्राप्त करने पर मैंने वही मार्ग पकड़ा। पूरे मार्ग में उतराई ही उतराई है। मार्ग के दोनों ओर चीड़ वृक्ष की पंक्तियाँ दर्शनीय हैं। मैंने देखा कि यहाँ के चीड़ वृक्षों से रस बाहर निकालने के लिए न तो किसी प्रकार के छोटे-बड़े पात्र वृक्षों के तने पर लगे हुए हैं न तो बलखाये हुए निरुपयोगी वृक्षों को गिराकर इनका और किसी कार्य में उपयोग किया जाता है[1]।

---

[1] —भारतीय वन अनुसंधानशाला, देहरादून, ने अनुसंधान करके सिद्ध किया है कि बल खाये हुए चीड़ के पेड़ों की, जो अब तक निरुपयोगी समझे जाते रहे हैं और इस कारण उन्हें प्रायः ईंधन के रूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सका, लकड़ी से अब क्राफ्ट पेपर तथा रैपिंगपेपर बनाये जायेंगे इससे देश विदेशीमुद्रा भी कमा सकेंगे। कुमाऊँ उत्तराखंड में ऐसे वृक्षों की ३६००० टन लकड़ियाँ प्रतिवर्ष प्रयुक्त होती हैं।

असकोट से गौरीगंगा के पुल तक तीन मील की कठिन उतराई है जो 'गरजीया की उतराई' के नाम से प्रसिद्ध है। गौरीगङ्गा के गरजीया के पुल द्वारा सामने पार जाकर नदी के बायें तट की पगडंडी पर आगे बढ़ते हुए आध घन्टे बाद मैं लोहे के नवनिर्मित उस पुल के समीप आ पहुँचा जहाँ पर असकोट से जौलजीभी-धारचूला का मोटर बस मार्ग आ मिलता है। असकोट-धारचूला का मोटरबस मार्ग शुरू हो जाने पर गरजीया का मार्ग यात्रियों के लिए महत्त्व का नहीं रहा है। लोहे के नव-निर्मित पुल के समीप का मोटर-बस मार्ग भारी वर्षा के कारण बिगड़ गया था अतः कुछ मजदूर लोग उसे ठीक रखने में व्यस्त थे। वहाँ पर कुछ घोड़े और उनके मालिक खड़े थे। पूछताछ करने पर पता चला कि वही आदमी जौलजीभी का मुसलमान है। मैंने उसे सब वृत्तान्त सुनाया और कहा कि यदि वह अभी असकोट आने के लिये तैयार हो तो हम सब यात्री कल प्रातः अपनी यात्रा शुरू कर देंगे और यह भी कहा कि प्रत्येक पड़ाव अधिक से अधिक ११–१२ मील का ही रक्खेंगे और प्रति पड़ाव की प्रति घोड़े की मजदूरी छः रुपये मिलेगी। इतना कहने पर भी जब वह आने के लिये प्रस्तुत नहीं हुआ तब मैंने कुछ अधिक भाड़ा देने का वचन दिया किन्तु मेरा सब प्रयत्न 'भैंस के आगे बीन बजाना' ही सिद्ध हुआ। जब मेरी बिनती की भी उपेक्षा करके वह कहने लगा 'मैं कल इन सब पशुओं पर सामान लाद कर मिलम जानेवाला हूँ' तब मैं निराश होकर वहाँ से असकोट की ओर गरजीया के मार्ग से वापस लौटा। मार्ग में एक सज्जन से पता चला कि जौलजीभी का वह मुसलमान गतवर्ष एक यात्रा संघ के साथ में अपने पशुओं को लेकर गया था तब उसे बहुत कड़ुआ अनुभव हुआ था, किराया भी कम मिला था, इसलिए अब से वह किसी यात्रासंघ का सामान ढोना पसंद नहीं करेगा। इन सज्जन की बात मुझे सत्य लगी। मैंने यात्राकाल में कितने ही यात्रियों को अपने मजदूरों के साथ मजदूरी के विषय में लड़ते-झगड़ते देखा है। किसी ने ठीक ही कहा है कि 'गरज होने पर लोग गधे को भी बाप कहते हैं।'

तीन मील की कठिन चढ़ाई तय कर मैं असकोट की धर्मशाला में आ पहुँचा वहाँ आने पर मैंने कुछ और ही दृश्य देखा जिससे मेरी आधी क्लांति दूर हो गई। गाँव के करीब ५० छोटे-बड़े लड़के और कुछ वयोवृद्ध लोग इकट्ठे हुए थे। हमारे यात्रा संघ के भगतजी आनन्दविभोर होकर भगवन्नामसंकीर्तन कर रहे थे। और वहाँ उपस्थित लोग तदनुसार गा रहे थे। वातावरण आनन्ददायक था। मैंने आध घण्टा विश्राम कर आज के कठिन परिश्रम से उत्पन्न क्लांति की बहुत कुछ अंशों में निवृत्ति कर ली और सायंकाल हो जाने पर स्नानादि से निवृत्त होने के लिये जल-

धारा की ओर चल पड़ा। असकोट में पानी भरने, स्नान करने, कपड़े धोने इत्यादि के लिए लोग अधिकांश इस जलधारा का ही उपयोग करते हैं। पहाड़ों में संचित जलराशि ऐसी जलधाराओं द्वारा लोक कल्याण की हेतु होती है। भोर में, दुपहर में और रात्रि में यहाँ पर लोगों की भीड़भाड़ नहीं रहती। इसलिए शान्तिपूर्वक स्नान-ध्यानादि हो सकते हैं। जलधारा के समीप से एक पगडंडी निकलती है जो सामने के पहाड़ के उस ओर जाती है जहाँ पर 'बापू महाविद्यालय' नामक एक आदर्श संस्था है।

स्नानादि से निवृत्त होकर धर्मशाला में जाने पर मैंने देखा कि छोटे-छोटे लड़के ढोलक-झांझ बजाते हुये सिनेमा के गाने गा रहे थे और साथ-साथ नाच भी रहे थे। यह देख मुझे इसलिए अपार दुख हुआ कि शहरों में व्याप्त यह महामारी का रोग इस सुन्दर पार्वत्य प्रदेश के नन्हें-नन्हें बच्चों में भी कितनी द्रुत गति से फैलता जा रहा है। इसके कारण के विषय में विचार करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि पहाड़ों में सिनेमा के गाने का प्रचार ट्रान्जिस्टर एवं रेडियो द्वारा ही हो रहा है क्योंकि आज कल तो दूकान-दूकान और घर-घर में वे बजते ही रहते हैं। इन पहाड़ी निर्दोष बच्चों को क्या पता है कि इन भद्दे गानों का अर्थ कुछ और ही होता है जो स्वर्ग को भी नरक में परिणत करने की सामर्थ्य रखता है। मेरे लिये इन गानों के शब्द सुनना असह्य हो पड़ा अतः मैंने लड़कों को डाँटते-फटकारते हुये शान्त कर दिया। कुछ सज्जन उस समय वहाँ आ पहुँचे जिन्होंने मेरे कार्य का समर्थन किया। इतने में धर्मशाला के नीचे की दूकान का मालिक दरजी युवक हारमोनियम लेकर आ उपस्थित हुआ और सुमधुर स्वर से धुन गाना बजाना शुरू कर दिया। धुन के शब्द थे—

"नारायण नारायण ओम्
नारायण नारायण ओम्—ओम्—"

वहाँ पर बैठे हुये सब लोग गानेवाले के निर्देशानुसार धुन गाने लगे। कुछ समय में ही वातावरण पुनः विशुद्ध हो गया, मानो आनन्दसागर में हिलोरें उठ रही हों। अब तो विश्राम कर रहे यात्री भी क्रमशः बाहर आने लगे और सबके साथ मिलकर धुन गाने लगे। भगवान् के नाम में कितनी अद्भुत शक्ति निहित है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज सबको यहाँ पर देखने को मिला। इस सुमधुर धुन के शब्द सुनकर मुझे इसके रचयिता श्रीनारायण स्वामी जी का स्मरण हो आया। प्रसंगवशात् यहाँ पर उन दिवंगत पुण्यात्मा के विषय में संक्षिप्त में कुछ कहना मैं उचित सम-

जानता हूँ। श्री नारायण स्वामी 'कैलास के नारायण स्वामी' के नाम से प्रसिद्ध थे। वे पूर्वाश्रम में मंगलौर के सारस्वत ब्राह्मण जाति के थे। उनके परिवार के सदस्य अभी भी जीवित हैं। उनका अध्ययन इण्टरमीडिएट तक हुआ था। जो कुछ तो मंगलौर में हुआ था और कुछ वर्मा में। भगवान् श्री पांडुरङ्ग के दर्शन की उत्कट इच्छा ने ही उन्हें गृहत्यागी-बैरागी बनाया। टीहरी प्रदेश में त्रियुगी से पश्चिम के भिलंगना उपत्यका के एक महातपस्वी महात्मा से उन्होंने दीक्षा प्राप्त की और भारत के तीर्थस्थानों में भ्रमण करते हुये कैलास-मानसरोवर की यात्रा के लिए कुमाऊँ प्रदेश की ओर आये। उस समय वे सिर्फ कौपीन ही पहनते थे और श्री पांडुरङ्ग का निरन्तर स्मरण किया करते थे। उन्होंने अपनी पहली कैलास यात्रा कौपीन पहनकर ही की थी। इससे पता चलता है कि वे कितने विरक्त थे। उनमें कितनी महान् श्रद्धा थी। कितना दृढ़ विश्वास, परम अनुराग अपने इष्टदेव में था वे प्रतिवर्ष कैलास-मानसरोवर-यात्रा के लिये जाते थे। अपने साथ में भक्त लोगों को भी ले जाया करते थे। जिस प्रकार वे कैलास यात्रा के लिये प्रतिवर्ष जाते थे वैसे ही प्रतिवर्ष पंढरपुर और आलंदी की यात्राएँ भी किया करते थे। इन सब पवित्र स्थानों में पहुँचकर वे अधिकांश भावसमाधि में ही डूबे रहते थे। अपने हिमालय के परिभ्रमण के अनुभव से मैं यह कह सकता हूँ कि हिमालय में यदि कोई प्राकृतिक सौंदर्य से आपूर्ण नीरव, पवित्र वायुमंडलयुक्त, साधनानुकूल एवं उत्तम आश्रम स्थान होगा तो वह कैलास के मार्ग का 'नारायण आश्रम' ही है। असकोट के समीप नारायणनगर स्थान का 'बापू महाविद्यालय' भी कुमाऊँ प्रदेश के ऊपरी भाग में अद्वितीय माना जाता है। इन दोनों पुण्य स्थानों से लोग शिक्षा द्वारा लौकिक सुख एवं साधना द्वारा पारमार्थिक सुख प्राप्त करने में प्रवृत्त रहते हैं। इस प्रकार लोक कल्याण करते हुए श्री नारायण स्वामी जी कुछ वर्ष पूर्व ही (१९५६) अपने इष्टदेव श्री पांडुरंग के श्रीचरण कमलयुगल में विलीन हो गये। चन्दन काष्ठ के सदृश संतों का जीवन विकारी एवं सन्तप्त जीवों के लिये सुगन्धि एवं शीतलता प्रदान करता है।

नारायण की सुमधुर धुन समाप्त होने पर श्री राजदेव जी ने सभी उपस्थित लोगों में प्रसाद वितरित करवाया। सब लोग प्रसाद पाकर प्रसन्नचित्त हो अपने-अपने घर की ओर जाने लगे। हमलोग आगे की यात्रा की व्यवस्था के विषय में बातचीत करते हुये अपने-अपने बिछौनों में पड़ गये। रात्रि में वर्षा शुरू हो गई। मैंने घड़ी की ओर देखा तो ग्यारह बज चुके थे। वर्षा की आवाज सुनकर मुझे कुमाऊँ प्रदेश की वह कहावत याद आ गई जो इस प्रकार है—'ह्यूं हिमाल, चौमास माल' अर्थात्

जाड़ों की वृष्टि उत्तर (हिमालय) दिशा की ओर से आती है जबकि वर्षा की वृष्टि दक्षिण (नीचे देश) से आती है। असकोट में करीब ४२ इंच वृष्टि होती है।

धर्मशाला के समीप की दूकानों के टीन के छप्परों पर वर्षा-बिन्दु गिरने से वाद्य-की सी मधुर ध्वनि हो रही थी। इस कर्णप्रिय संगीत ने मुझे कुछ क्षणों में ही निद्राधीन कर दिया।

(अपूर्ण)

"कृष्ण को छोड़कर जो कुछ देखते हो वह असल दर्शन नहीं।
सर्वाङ्गीण दर्शन—इष्ट का प्रकाश।"

—श्री श्री माँ

वृन्दावन आश्रम में युगलमूर्ति की स्थापना

स्वामी नारायणानन्द तीर्थ

(१)

एक मन्दिर में—एक ही वेदी के ऊपर समीपस्थ दो श्री राधाकृष्ण की युगल-मूर्तियाँ श्रीधाम वृन्दावन में एक अभिनव दृश्य है। दर्शनार्थी भक्तगण इन्हें दर्शन कर इसका कारण आश्रमवासियों को पूछा करते हैं। इस प्रकार का प्रश्न करना उन लोगों के लिए अतिशय स्वाभाविक ही है। यद्यपि इसका इतिवृत्त मन्दिर गात्र में अर्थात् मन्दिर की दीवाल पर देवनागरी अक्षरों में खुदा है, तथापि आनन्दवार्ता के माध्यम से सर्वसाधारण के लिये इसका संक्षिप्त इतिहास नीचे देने का प्रयत्न किया जाता है।

वर्तमान हिमाचल प्रदेश के अन्तर्गत बघाठ राज्य था। वहाँ के राजा श्रीमान् दुर्गासिंह जी बहुत ही धार्मिक, नीतिज्ञ तथा प्रजावत्सल थे। उनकी सहधर्मिणी थी रानी श्रीमती शशिप्रभा। वह भी अतिशय पतिपरायणा और साध्वी स्त्री थी। वे दोनों पतिपत्नी श्री श्रीमाता आनन्दमयी जी के बहुत ही अनुगत तथा एकनिष्ठ भक्त हैं। पत्नी की इच्छा थी शिमले पहाड़ के किसी एक उच्च तथा निर्जन स्थान पर एक सुन्दर कुटिया का निर्माण कराकर विश्वजननी, परम कल्याणमयी श्री श्रीमाता आनन्दमयीजी को वहाँ पधारें। मनुष्य जब कुछ कल्पना करता है तब विधातापुरुष कभी उसको अनुमोदन करता है और कभी वह उदासीन बनकर उसकी ओर दृष्टिपात तक नहीं करते। इस क्षेत्रमें उनकी उदासीनता का ही परिचय हम पाते हैं। रानी शशिप्रभा की मनोवासना पूर्ण होने भी नहीं पायी कि परलोक से उनका आह्वान आ पहुँचा। थोड़े समय वात व्याधि (Paralysis) से आक्रान्त होने के पश्चात् मात्र पैंतालीस (४५) वर्ष की अवस्था में एक रोज परम सवीने अपने पतिदेव के चरणों में मस्तक रख अपने साधनोचित दिव्य धाम में गमन किया। यह शोकावह दुर्घटना १९४८ ईसवी के मार्च महीने के २७।२८ तारीख (चैत्र कृष्णा चतुर्थी) में संघटित हुई थी। इस घटना से एक का जीवन सम्पूर्ण बदल गया।

राजा श्री दुर्गासिंह जी की उम्र उस समय केवल छियालीस वर्ष (४६) चन्द महीने थी। प्रायः देखने में आंता है इस अवस्था में पत्नि वियोग होने से विशेषकर राजा महाराजा लोग पुनः दारपरिग्रह किया करते हैं। परन्तु उन्होंने वह नहीं

किया। उनके आत्मीय, स्वजन, बन्धु; बान्धव प्रभृति हिताकांक्षिगण नाना प्रकार की चेष्टा करने पर भी जब व्यर्थ मनोरथ हुये तब उनमें से किसी-किसी ने मंगलमयी श्री श्रीमाताजी के शरणापन्न होने में भी कसर नहीं रक्खी थी। सन्तानवत्सला श्री श्री माँ सन्तान के मनोगत भावको समझकर तथा जिससे उसका परम कल्याण हो तदनुसार वह इस सम्बन्ध में उदासीन ही रहीं। आप तो सदा ही त्याग मार्ग का समर्थन करती हैं, इस क्षेत्र में भी उसका व्यतिक्रम नहीं देखा गया। त्यागी दुर्गासिंहजी, धार्मिक दुर्गासिंहजी ने एकपत्नी-व्रत ग्रहण कर अवशिष्ट जीवन यापन करने का संकल्प ले लिया। उनकी युक्ति है, जब पति के अभाव में हिन्दू नारी पुनः पति ग्रहण नहीं कर सकती हैं, तब पति भी पत्नी वियोग के अनन्तर फिर किस प्रकार से दार परिग्रह कर सकता है? वह अपनी साध्वी पत्नी के स्वर्गारोहण के पश्चात् कठोर ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकार कर अपने साधन भजन में अधिक से अधिक समय व्यतीत करने लगे। वह राजा होते हुये भी एक परम त्यागी तथा यथार्थ रूपसे तृतीय आश्रम अवलम्बनकारी वानप्रस्थी हैं।

उनके मन में यह बात प्रायः खटकती रही कि सहधर्मिणी शशिप्रभा की इच्छा तो अभी भी पूर्ण नहीं हुई है। इस भावना से प्रभावित हो उन्होंने शिमला पहाड़ के एक उच्च स्थान जाखू शृङ्ग के ऊपर श्री हनुमानजी के मन्दिर के थोड़े ही नीचे एक अति सुन्दर अट्टालिका निर्माण करायी। एक शुभ मूहूर्त विचार कर उन्होंने परम कल्याणमयी श्री श्रीमाँ आनन्दमयी जी को वहाँ लिवाकर पतिपरायण स्त्री की वासना पूर्ण की। रानी शशिप्रभा का मनोरथ आज इस तरह से कार्य में परिणत हुआ देख उन्होंने अपने साधनोचित स्थान से तृप्ति वा स्वस्ति का श्वास छोड़ा और मंगलमयी श्री श्रीमातृ चरणों में अपने प्रिय पतिदेव के सर्वतोभावेन परम कल्याण प्रार्थना किया।

श्री श्रीमाँ अपने कुछ सन्तानों को लेकर उस नव निर्मित गृह में वास कर रही हैं। एक रोज प्रातःकाल सात या आठ बजे आप अकेले अपने शयनकक्ष में लेटी हैं। अकस्मात् उनको सुनने में आया कोई अपने प्रियतम के विरह से विह्वल होकर अतिशय करुणस्वर से बहुत दूर से "आओ मेरे सलोने छलिया रे, वनवारी रे" कह कर पुकार रही है। बरफ जैसे पिघलकर पानी बन जाता है, फिर जैसे द्रवीभूत बरफ पुनः जल से बरफ का आकार धारण करता है, उसी तरह यह करुण स्वर भी एकबार जैसे जमकर आकार धारण करता है, फिर गलकर निराकार बन जा रहा है। इस मन को मोहित करने वाले तथा प्राण को गलानेवाले पद के शब्द और सुर रूप धारण कर आज प्रभात के समय श्री श्री माताजी के आसपास

चारों ओर कभी साकार रूप में कभी पुनः निराकार रूप में प्रकाशमान होकर विराजने लगे। सुर के साथ भाव आज शान्त न रहकर अपने प्राणवल्लभ के खोज में विश्व के हर एक कोण कोण में, प्रति अणु-परमाणु में उसके सन्धान में व्याकुलता के साथ फूट-फूटकर रो रही है और पुकार रही है "आओ मेरे सलोने छलिया रे, वनवारी रे।" कमरे में उस समय और कोई दूसरा आदमी नहीं था और किसी को भी बुलाने के लिये माँ का भाव भी नहीं था। उनको खयाल हो रहा था यह अनैसर्गिक, अप्राकृत, मधुर और सरस सुर तो इस मृत्युलोक में अधिक समय नहीं रहने पायेगा। सुर की लहरें क्रमशः क्षीण होते-होते असीम में मिल-जुल जायेंगी—इसको किसी के पास रख देने से शायद कुछ समय तक सुरक्षित रह सकता है। यह बात माँ सोच रही थीं, एकाएक दीदी श्री गुरुप्रिया जी, जिनको सदा श्री श्री माताजी के पास जाने का अधिकार प्राप्त है, वह उसी समय उनके निकट जा पहुँचीं। उन्होंने वहाँ जाकर देखा श्री श्री माँ अपनी शय्या में लेटी-लेटी बार-बार इस अति सुन्दर तथा भावसमन्वित पद अपने भाव में उदासीनता के साथ गुनगुना रही हैं। 'साँप की छीक मदारी पहचानता है'—श्री श्री माताजी का भाव तथा इशारे से उन्होंने समझ लिया कि माँ इस सुन्दर तथा मधुर सुर को किसी के निकट रखने का विचार कर रही हैं। साथ में आश्रम के सुगायक श्रीमान् विभु (वर्तमान में ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द) ब्रह्मचारी जी थे। उनको उसी समय श्री श्री माँ के पास आने के लिये बुलाया गया। ब्रह्मचारी विभुजी को असाधारण सुरज्ञान है। वह जिस सुर को एक बार सुन लेते हैं उसी को बहुत शीघ्र अपने आयत्त में कर लेते हैं। वह परम भावमयी श्री श्री माता जी के मुखारविन्द से उस सीमा के अन्दर असीम के सुर को कई बार श्रवण करते ही पकड़ लिये। माताजी को भी ख्याल में आया था इस सुर और पद को भाव के साथ विभुजी के पास रख छोड़ने का। उसी समय उन्होंने ब्रह्मचारीजी से कहा कि इस पद को वह सब समय सबके निकट न गाया करें। जब माँ किसी विशेष अवसर पर अथवा कोई विशेष व्यक्ति के सामने गाने को कहेंगी तभी वह इसको गाया करें। अभी भी देखने में आता है कि जब वे कोई विशेष क्षेत्र में माँ की आज्ञा से गाते हैं, तब उनका कंठ भाव से रुद्ध हो जाता और वे फूट-फूट कर रोने लगते हैं। इसके भाव, सुर तथा आकुति के कारण श्री श्री माँ के मुखकमल से स्वतः ही बहिर्गत हुआ "राधा पुकार"। मातृ-मुख निःसृत इस "राधा पुकार" से हम समझे हैं कि परम प्रेममयी श्री श्री राधा रानी अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्णचन्द्र के विरह में अतिशय व्याकुल होकर किसी अतिशय जन-कोलाहल-वर्जित सुदूर स्थान से अपने प्रेमा-

स्पद को अत्यन्त कातरता के साथ "आओ मेरे सलोने छलिया रे, बनवारी रे" कहकर पुकार रही हैं। इस 'राधा पुकार' के शब्द, भाव, सुर तथा व्याकुलता के माध्यम से श्रीकृष्ण विरह-विधुरा महा भावमयी श्रीमतीजी अपने को विश्व के प्रति अणु-परमाणु के साथ संयोजित कर अपने प्रियतम के समीप पहुँचने के लिये आकुति प्रकाश कर रही हैं। साधारण जागतिक दृष्टि से अगर विचार किया जाय तो कहना पड़ेगा कि श्री श्री माता आनन्दमयी जी इसके पहिले कभी किसी के मुख से ये दोनों शब्द "सलोने" और "छलिया" नहीं सुनी थीं। ब्रजभाषा के ये दोनों मधुर शब्द आज आपने प्रथम श्रवण किया। इनके अर्थ यथाक्रम से "सुन्दर" तथा "छलनकारी" हैं।

(२)

बघाट नरेश श्री दुर्गा सिंह जी की पितामही (दादी) राजा श्री उमेद सिंह जी की धर्मपत्नी रानी श्रीमती चाँनणु देवी ने एक मन्दिर निर्माण करवा कर श्री राधाकृष्ण की युगल मूर्ति स्थापना कराने का संकल्प किया था। अपनी जीवितावस्था में वे यह संकल्प पूर्ण न कर सकीं। राजा श्री दुर्गा सिंह जी के जन्म के पहिले ही उन्होंने स्वर्गारोहण किया। इतने सुदीर्घकाल तक यह संकल्प कार्य में परिणत होने नहीं पाया था। दादी जी की अन्तिम वासना पूरा करने के लिये राजा साहब के मन में एक इच्छा उदित हुई। उन्होंने परम स्नेहमयी श्री श्री माता जी के पावन चरणों में निवेदन किया कि उनके वृन्दावन आश्रम में एक मन्दिर बनवा कर अपनी स्वर्गवासी पितामही जी के संकल्पानुसार एक श्री राधाकृष्ण की युगल मूर्ति स्थापना करें। इस तरह के शुभ कार्य में तो आप सदा ही प्रोत्साहन दिया करती हैं। इस क्षेत्र में भी उसका किसी प्रकार से व्यतिक्रम नहीं हुआ। आश्रम के श्री निताई-गौर और श्री शिवजी के मन्दिरों के बीच में यह श्रीकृष्ण-मन्दिर निर्माण कराने का स्थान श्री श्री माँ ने निर्देश कर दिया। एक शुभ मुहूर्त में परमाराध्या श्री श्री माता आनन्दमयी जी की पवित्र उपस्थिति में इस मन्दिर का शिलान्यास हो गया। जब श्री श्री नारायण शिला (शालिग्राम जी) के ऊपर वास्तु-देवता की पूजा हो रही थी उस समय उनके ऊपर दोपहर के प्रखर धूप आ पड़ी देखकर कलकत्ते के सुप्रसिद्ध अध्यापक तथा वाग्मी श्री त्रिपुरारि चक्रवर्ती महोदय ने पीछे से उन पर छत्र धारण किया था। इस दृश्य को देख बातों बात पर श्री श्री माँ बोल उठीं किसी समय उन्होंने इसी जगह जमुना जी के तट पर एक बबूल वृक्ष के नीचे यमुना-पुलिन-विहारी श्रीकृष्ण अपनी अति सुन्दर ग्रीवा उठाकर सामने झुँक नदी में कुछ अवलोकन कर रहे हैं और पीछे से एक आदमी उनके मस्तक के ऊपर

छाता लगाया है। सम्भव है किसी समय इस स्थान से श्री जमुना जी प्रवाहिता थीं। मन्दिर की भित्ति खनन के अवसर पर देखा गया नदी की धारा सूखी बालू (रेती) से भरी है। इस शुष्क नदी की धारा छोड़ बुनियाद खोदने से मन्दिर का आकार पूर्व संकल्प से बहुत बड़ा हो जायेगा। मन्दिर का आयतन बड़ा होने से खर्च भी अधिक होगा यह बात सुनकर श्री श्रीमाँ ने आश्वासन दिया कि प्रदत्त रकम से अधिक जितना अधिक अर्थ इसमें लगेगा वह आप प्रदान करेंगी। माँ के पुरातन भक्त तथा अवसर प्राप्त अधिशासी अभियन्ता (Retired Executive Engineer) रायबहादुर श्री नारायणदासजी के तत्त्वावधान में मन्दिर का कार्य प्रारम्भ हो गया।

राजा श्री दुर्गासिंहजी का मातृ-प्रदत्त नाम "योगी भाई" है। वर्तमान समय में मातृ सन्तानगण प्रायः सभी कोई उनको इसी नाम से सम्बोधित करते हैं। हम भी इसके पश्चात् उनको इसी नाम से सम्बोधन करेंगे। इस नाम का भी एक सुन्दर इतिहास इसके पीछे है।

राजा साहेब श्री दुर्गासिंह का ज्येष्ठ तात (पिता के बड़ा भाई का लड़का) राजा श्री उदय सिंहजी एक उच्च कोटि का योगी था। वह समाधिस्थ होकर दीर्घ समय रह सकता था। एक बार उन्होंने "मैं स्वयं अपने कमरे का दरवाजा जब तक नहीं खोलूँगा तब तक कोई भी दरवाजा खोलने की चेष्टा न करें।" इतनी बात कह कर उन्होंने अपने कमरे का दरवाजा बन्द कर दिया।

सात दिनों के बाद भी जब उन्होंने अपने कमरे का द्वार उन्मुक्त नहीं किया, तब उनके आत्मीय स्वजनगण सोचे कि वह निश्चय ही जीवित नहीं हैं, अवश्य ही उन्होंने देह को त्याग दिया है। इस धारणा से, वे लोग जब दरवाजे तोड़ कमरे में प्रवेश करने को उद्यत हुये तब उनकी स्त्री ने उन्हें पुनः पुनः यह कार्य करने को निषेध किया। कारण वह भली भाँति जानती थीं उनके पतिदेवता एक उच्च स्तर के योगी हैं। वह दीर्घ समय तक समाधि में रह सकते हैं। उसकी बात को न मान उन लोगों ने कमरे में प्रवेश कर देखा कि राजा की देह में प्राण संचारण का कुछ भी लक्षण नहीं है परन्तु उसका शरीर विकृत भी नहीं हुआ है। वे लोग साधारण मानव थे योगी की अवस्था के विषय में उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं था। रानी का निषेध न मानकर उन लोगों ने समाधिस्थ योगिराज को चितारोहण करवा कर जब अग्नि संस्कार किये तब नजर आया कि उनके वाम पद की वृद्धांगुष्ठि धीरे-धीरे स्पन्दित हो रही है। दाह क्रिया के पश्चात् जब रानी ने यह बात सुनी तब उन्होंने कहा "मेरी बात न मान जब तुम लोगों ने जीवित मनुष्य को इस तरह से दग्ध कर दिया

तुम्हारा यह वंश नहीं रहेगा।" हम लोग श्री श्रीमाताजी की बात से यही समझते हैं कि वही महापुरुष योगिराज ही राजा श्री दुर्गासिंहजी होकर आये हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्री भगवान् स्पष्ट रूप से बोले हैं—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ६।४१

वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों को अर्थात् स्वर्गादिक उत्तम लोकों को प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षों तक वास करके शुद्ध आचरण वाले श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है। इसी कारण से श्री श्रीमाताजी उनको "योगिराज" कहती हैं। हम लोग भी उनको "योगीभाई" नाम से ही सम्बोधन करते हैं। योगीभाई के पिता राजा श्री दिलीप सिंह जी की पाँच रानियों से उन्नीस सन्तानें हुई थीं। उनमें से एकमात्र हमारे योगीभाई जी ही वर्तमान हैं।

(३)

ग्वालियर की महारानी श्रीमती विजया राजे सिन्धियाजी श्री श्रीमाता आनन्दमयीजी के एक अन्यतम भक्तों में से हैं। कई वर्ष हुये उन्होंने उनके किसी मन्दिर के लिये एक सुन्दर श्रीकृष्ण की मूर्ति निर्माण करने का विचार किया। श्री श्रीमाताजीके वृन्दावन आश्रम के श्रीमन्महाप्रभु तथा श्री नित्यानन्द की मूर्ति के दर्शन कर उनको बहुत ही अच्छा लगा। आपको पता चला इन दोनों सजीवतुल्य विग्रह कलकत्ते की सुप्रसिद्ध शिल्पी श्री निताई चन्द्र पाल ने प्रस्तुत किया है। महारानी विजया राजे ने इस शिल्पी को एक अतिशय सुन्दर श्रीकृष्ण मूर्ति तैयार करने के लिये आदेश दिया। शिल्पी निताई चन्द्र ने अपनी रुचि के अनुसार एक श्रीकृष्ण विग्रह निर्माण कर महारानी जी के पास यथा समय भेज दी। मूर्ति अपूर्व सुन्दर तथा भव्य और माधुर्ययुक्त बनी है इसमें किसी का भी विन्दु मात्र मतद्वैत नहीं है। किन्तु जिस प्रकार श्रीकृष्ण के वाम चरण के ऊपर दक्षिण चरण न्यस्त सचराचर देखने में आता है इसमें उस तरह की भङ्गी शिल्पी ने नहीं दिखायी है। इस मूर्ति में इन्होंने नृत्य की भङ्गी प्रदर्शित की है अर्थात दहिना चरण स्वाभाविक भाव में रख बाँये चरण की अँगुलियों पर मानो नाँच रहे हैं। मात्र इसी कारण से महारानी साहेबा इनको किसी मन्दिर में स्थापना करना नहीं चाहती थीं कारण यह वैष्णवों की प्रचलित रुचि के अनुसार नहीं है। अपितु यह देखा गया जब से यह श्री कृष्णमूर्ति उनके राजमहल में पधारी हैं तब से एक के बाद एक बिपद उनके घर में संघटित होने लगी। इसी कारण से इस विग्रह को वे अपने गृह में रखना

नहीं चाहती थीं। उनको न मालूम क्यों इस तरह की धारणा हुई कि यह मूर्ति उनके पास नहीं रहेगी इस हेतु ही उन्होंने छलना कर एक के अनन्तर एक विपत्ति संघटित कर रहे हैं ताकि महारानी श्री विजया जी शीघ्र ही इस विग्रह को कहीं स्थानान्तरित कर दें। महारानी जी का सबसे बड़ा मर्मान्तिक दुःख है श्री महाराज की अकाल मृत्यु तथा बड़ी विवाहिता राजकन्या का आकस्मिक परलोक गमन। राजगृह से इस सुन्दर श्रीकृष्ण मूर्ति को हटाने का महारानी विजया का विचार है यह समझकर श्री श्री माँ ने उनको कहा—"यदि तुम इस विग्रह को अपने घर में रखना नहीं चाहती हो तो इनको इस शरीर को (अपने को लक्ष्य कर) दे सकती हो।" राजमहल से यह मूर्ति चली जाना चाहती हैं इस कारण वह इस तरह की छलना कर विपद के बाद विपद बुला रही हैं इसी से विजया जी इनको "छलिया" नाम से सम्बोधन करने लगीं। छलिया जी ने महारानी जी के हृदय में प्रेरणा संचारित की कि इस मूर्ति को वे श्री श्री माता आनन्दमयी जी को प्रदान करेंगी। इसी भावना की वशवर्ती होकर उन्होंने इस छलिया के सुन्दर विग्रह को एक पेटी में उत्तमरूप से पैक कर वृन्दावन में भेज दिया। श्री श्री माता जी के पास यह पेटी आने पर उन्होंने कहा "जो इस मूर्ति को यहाँ भेजा है वह स्वयं आकर इस पेटी को खोलें।"

विगत १९६४ ईसवी की शारदीया श्री श्री दुर्गापूजा श्री श्री माता जी की पवित्र उपस्थिति में उनके वृन्दावन आश्रम में अनुष्ठित हुई थी। उस समय ग्वालियर की वर्तमान राजमाता श्रीमती विजयाराजेजी भी माँ के पास आईं और पेटी में से श्रीकृष्ण मूर्ति निकाल कर विश्ववरेण्या श्री श्री माता आनन्दमयी जी को दान करते समय बोलीं, "माँ, यह छलिया तो मुझे नाकोदम कर दिया है। आपको इस छलिया को दे रही हूँ।" यह सुन्दर "छलिया" नाम श्री श्री माँ अब दूसरी बार सुनीं। प्रथम श्रवण की थी शिमले पहाड़ के ऊपर योगी भाई की निर्मित कुटिया में—एक शुभ माहेन्द्र क्षण में। और आज सुनीं श्रीधाम वृन्दावन में राजमाताजी के मुख से। एक बार सुनी थीं प्रेम-पागलिनी, श्रीकृष्ण विरहिनी के आकुल आह्वान में और आज सुनीं पतिहारा शोक-सन्तप्ता राजमाता के विषादित कण्ठ में। यह 'छलिया' नाम राजमाता कहाँ पाईं? कौन आपको यह सुमधुर 'छलिया' नाम सुनाया? यह छलिया नाम साधारण तौर से तो किसी के मुख से सुनाई नहीं देता है! तब यह "छलिया" नाम से आप किस प्रकार से परिचित हुईं? ये सब बातें वास्तव में चिन्ता का विषय है! महाष्टमी के शुभ दिन श्री श्री प्रेममयी माता जी के बगल में 'छलिया' को रख तथा फूल, माला, चन्दन और वस्त्रादि से सुसज्जित कर युगल रूप

में आपने यथाविधि पूजा की। पूजा के समय अकस्मात् श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी श्री श्री माता जी के लिये अपने आश्रम में प्रस्तुत मक्खन, गरम दूध और मट्ठा (छाँछ) लेकर उपस्थित हुये। ये सब सामग्रियाँ पूजा में निवेदन की गयी थीं। श्रीकृष्ण पूजा के लिये ये सब उपकरण संग्रह करना उचित था मगर इनका कोई भी आयोजन नहीं था। यह भी "छलिया" की एक लीला ही है। आश्रम के ब्रह्मचारी श्री निर्मलानन्द जी ने यह पूजा करायी थी।

पूजा समाप्त होने पर राजमाता विजया राजे जी ने श्री श्री माता जी की स्नेहमयी गोद में अपना मस्तक रख भाव में विह्वल हो थोड़े समय प्रेमाश्रु वर्षण करते हुये क्रन्दन किया। तदनन्तर मस्तक उठा जलपूर्ण नयन से भाव में गद्गद होकर बोलीं, "माँ, आप ही मेरा छलिया की राधा हैं।" उस समय से इस अपूर्व मधुर तथा सुन्दर श्री श्रीकृष्ण विग्रह को आश्रमवासी सब कोई "छलिया" नाम से सम्बोधित करने लगे। उस समय जब राजमाता जी ने सुना कि योगी भाई अपनी पितामही की संकल्पित श्री राधाकृष्ण के लिये मन्दिर निर्माण करवा रहे हैं तब उन्होंने भी यह बात कही "सोलन के राजा साहब और मैं, दोनों भाई बहिन मिल इस मन्दिर निर्माण का व्यय भार ग्रहण करेंगे।" माँ की आज्ञानुसार छलिया का सुन्दर विग्रह श्री श्री निताई गौर के मन्दिर में चादर से ढक रक्खा गया। प्रातःकाल पूजा के समय केवल उनका मुखकमल खोल दिया जाता था।

(४)

रायबहादुर श्री नारायणदास जी की देखरेख में (तत्त्वावधान में) जब मन्दिर निर्माण का कार्य पूर्ण उद्यम से चल रहा था उसी समय लीलामयी श्री श्री माँ को खयाल में आया एक ही मन्दिर में—एक ही वेदी के ऊपर योगी भाई का विग्रह तथा राजमाता श्रीमती विजयाराजे का प्रदत्त छलिया दोनों मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हों। कलकत्ते के सुप्रसिद्ध शिल्पी स्वर्गीय निताईचन्द्र पाल के सुयोग्य पुत्र श्रीमान् मोहन चन्द्र पाल ने भी वर्तमान समय में एक निपुण शिल्पी के नाम से प्रसिद्धि लाभ किया है। उनके द्वारा ही योगी भाई की श्री श्री राधाकृष्ण की युगल मूर्ति निर्माण की बात हुई है। समय अल्प है इसलिये आश्रम के अक्लान्त कर्मी श्रीमत् स्वामी परमानन्द जी को श्री श्री माँ ने इस कार्य के लिये कलकत्ता भेजा है। उनके निर्देश तथा पसन्दानुसार ही इन दोनों विग्रहों को अष्टधातुओं से निर्माण कराया गया है। श्री वृन्दावनवासी वैष्णव भक्तगण युगल के उपासक हैं। वे श्रीमती राधारानी के साथ श्री राधारमण को देखते आ रहे हैं और वे श्रीकृष्ण के युगल विग्रह का ही

दर्शन करना चाहते हैं। अपितु श्री छलिया के लिये भी एक उनके अनुरूप सुन्दर श्रीमती राधारानी की मूर्ति की आवश्यकता हुई। यद्यपि श्री छलिया को राधा रूप में तो श्री श्री माता आनन्दमयी जी ही हैं, तथापि भक्तों के मनोरञ्जन के लिये श्री श्री माता जी के प्रतीक रूप में एक श्रीराधा का विग्रह तैयार करने का आदेश स्वामी परमानन्द जी के पास पहुँचा। यह प्रस्ताव सुन श्री श्री माँ के पुरातन भक्त-दम्पति श्री रणजीत कुमार बन्द्योपाध्याय तथा श्रीमती भवानी देवी एक सुन्दर राधाविग्रह निर्माण करवा कर श्री श्री माँ को प्रदान किये। इस मूर्ति को ही पाठक और पाठिकाएँ इसके पश्चात् श्री छलिया के वाम में देखेंगे। तीनों मूर्तियाँ बन जाने पर उनको उत्तम रूप से पैक कर स्वामी परमानन्द जी अपने साथ ले वृन्दावन रवाना हुये। मूर्ति निर्माण तथा उनको भेजने की व्यवस्था में श्री श्री माता जी के कुछ भक्तों ने यथा श्री अनिल कुमार गंगोपाध्याय, श्री रणजीत कुमार बन्द्योपाध्याय, श्री शान्तिमय वन्द्योपाध्याय तथा श्री गोपाल चन्द्र दास गुप्त ने अतिशय परिश्रम किया था। इन लोगों की सहायता यथा समय न मिलने से विग्रह निर्माण होना कठिन हो जाता। ये सज्जन सभी श्री श्री माँ के कार्य करने में आनन्द पाते हैं इसलिये अपने बहुमूल्य समय तथा परिश्रम दान करने में कभी भी पराङ्मुख नहीं होते हैं। तीनों मूर्ति का वजन १२ मन है। विग्रहों को साथ लेकर जब स्वामी परमानन्दजी वृन्दावन आश्रम में सकुशल यथा समय पहुँचे तब आश्रमवासी सब के चेहरे पर आनन्द की एक झलक नजर आयी। मूर्तियों का रंगना बाकी था इसलिये कलकत्ते से दो कारीगर आ उसे समाप्त कर गये।

१९६६ ईसवी के श्री श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के शुभ दिवस मन्दिर प्रतिष्ठा एवं विग्रह स्थापना का दिन निश्चय हुआ। इस वर्ष उस रोज बुधवार और रोहिणी नक्षत्र होने से जयन्ती हुई। इस तरह की तिथि, वार तथा नक्षत्र का संयोग प्रति वर्ष नहीं होता है—इस साल ऐसा होने से उसका मान अधिक हुआ। प्रथम रोज पूर्वाह्न में मण्डप प्रवेश, पश्चात् नान्दीमुख श्राद्ध तथा व्रतियों का वरण हुआ। सोलन के राजा साहब श्री दुर्गा सिंह जी अपने प्रतिनिधि रूप में आश्रम में बालकपन से प्रतिपालित तथा शिक्षा प्राप्त श्रीमान् निर्मलानन्द ब्रह्मचारी को वरण किया। उसके बाद यथाक्रम से आचार्य, ब्रह्मा, सदस्य प्रभृति वरणान्त उस रोज की कार्य सूची समाप्त हुई। श्री श्री माता आनन्दमयी जी की प्रतिनिधि रूप में भी ब्रह्मचारी निर्मलानन्द को ही सब प्रकार के आनुष्ठानिक कार्य करने का अधिकार प्राप्त हुआ। उसके दूसरे रोज गणपति स्थापन, षोडशमातृका, नवग्रह, क्षेत्रपाल प्रभृति यथा

स्थान में आवाहित और षोड़शोपचार से पूजित हुये। तीसरे दिन चारों विग्रहों को चावल में और यमुना जी के पवित्र जल में शामिल करने के उपरान्त उठा कर मण्डप में उत्तम शय्या में शयन कराया गया तथा यज्ञकुण्ड में अग्नि स्थापित हुई। चौथे रोज बाजे गाजे तथा खूब धूमधाम से राजोचित ठाट-बाट के साथ चारों विग्रहों को बहुमूल्य वस्त्र और अलङ्कार द्वारा सुसज्जित कर शोभायात्रा (जुलुस) निकाली गई। यहाँ उल्लेख करना शायद अप्रासंगिक नहीं होगा कलकत्ता से श्रीमती भवानी देवी विग्रहों के लिये चाँदी का मुकुट तथा अलङ्कारादि और जयपुर से श्रीमती कमला मोहनलाल जी जरी के कीमती नाना प्रकार के वस्त्रादि बनवाकर लाये थे। श्री श्री माता जी भी वृन्दावन में दोनों युगल सरकार के लिये जरी के ऊपर नाना जातीय रंग विरंग के पत्थर तथा मुक्ता खचित दिव्य सुन्दर मुकुट निर्माण करवाकर रक्खीं थी। इस शोभायात्रा की परिचालना तथा सजावट का सम्पूर्ण दायित्व (जिम्मेदारी) वृन्दावन के प्रसिद्ध महात्मा श्रीकृष्णानन्द अवधूत जी महाराज ने ग्रहण किया था। यह शोभायात्रा वास्तव में एक दर्शनीय वस्तु थी। ढाके में जैसा जन्माष्टमी के समय नाना विधि चौकी (तख्तपोष) सजाई जाती थी इस शोभायात्रा में भी उसी प्रकार सजाई गई थी। प्रथम चले सर्व सिद्धिदाता गणनायक श्री गणेश जी, उसके बाद क्रमशः महावीर श्री हनुमान जी, तपस्यानिरत हिमालय की कन्या तुषार के बीच में देवी श्री पार्वती जी, रासमण्डल में गोपी परिवृत युगल रूप में श्रीराधाकृष्ण, कालियदमन, देवगण से सुशोभित राजसभा में देवराज इन्द्र तथा समाधिमग्न धूर्जटि के मस्तक से गङ्गावतरण। इसके पश्चात् पालकी में चले चार सौ वर्ष के पुरातन श्री गणेश जी की मूर्ति के साथ श्री श्री माता जी का प्रथम प्राप्त पीतल की श्री राधाकृष्ण युगल-मूर्ति तथा श्री निताईगौर के चित्रपट।

अब श्री गणेश जी और पीतल की युगल मूति के सम्बन्ध में कुछ न कहने से यह लेख असम्पूर्ण रह जायेगा। यह चार सौ वर्ष की पुरातन गणेश मूर्ति बम्बई के श्री बी० के० शाह की कन्या श्रीमती सुनयना देवी ने जयपुर से खरीद कर श्री श्री माता जी को प्रदान की थी। दो मूर्तियाँ उन्होंने ३५००) पैंतीस सौ रुपये में खरीद कर एक माँ को दिया और दूसरा बम्बई में अपने पिता के गृह में अवस्थित किया है। श्री श्री माँ जब प्रथम श्री वृन्दावन में शुभागमन की थीं उस समय उनके साथ श्रीमती रमा सक्सेना (रेलवई के D. T. S. श्री वीरेन्द्र सक्सेना की माता) तथा उसकी छोटी बहिन श्रीमती कमला मोहन लाल (जोधपुर के कलेक्टर श्री आनन्द मोहन लाल I. A. S. की माता) भी गये थे। इन दोनों में से किसी

एक ने एक छोटी सी पित्तल की युगल मूर्ति लाकर माँ को प्रदान किया था। इसके पहिले किसी ने कोई श्री देव देवी की मूर्ति उनको इस तरह से नहीं दिया था। उन्होंने इस छोटे विग्रह को उनके अति पुरातन भक्त अधुना वृन्दावनवासी श्री योगेन्द्र नाथ काव्यतीर्थ महोदय को देकर कहा, "पिता जी! तुम इस विग्रह को उपस्थित अपने पास रख दो।" उस समय से यह मूर्ति उन्हीं के पास रही। श्री श्री माता जी उस विग्रह को कही थीं, "ठाकुर जी, अपना स्थान तुम बना लो।" जब जब माँ वृन्दावन में आती थीं तब ख्याल होने से इस मूर्ति को आश्रम में ला रखती थी। वृन्दावन से फिर जाते समय पुनः ठाकुर जी को योगेन्द्र बाबू के घर छोड़ जाती थीं। श्री श्री माँ कहती हैं "यह विग्रह ही अपना स्थान इस तरह से बना लिया है।"

पाठक तथा पाठिकाएँ आइये हम फिर शोभायात्रा प्रसंग में लौट जायें। शोभायात्रा के सबसे पीछे पृथक्-पृथक् दो सुसज्जित बैल के रथों पर श्री राधाकृष्ण की युगल मूर्ति तथा श्रीमती राधारानी के साथ श्री छलिया कृष्ण विराजमान थे। ये दोनों रथों में आश्रम के ब्रह्मचारिवृन्द कोई चमर, कोई छत्र लिये विग्रहों के साथ जा रहे थे। यह कहना बाहुल्य न होगा कि इस जुलूस में चौदह मृदंगों को लेकर वैष्णवों के कीर्तन तथा आश्रमवासी और मातृभक्तों के कीर्तन के पीछे विश्व जननी श्री श्री माता जी साधु महात्माओं को साथ लेकर गमन करने से शोभायात्रा की शोभा अधिक बढ़ गयी थी। इसके अग्रभाग में वृन्दावन के वैष्णव अखाड़े के साधुगण तलवार, लाठी और बनैठी लेकर नाना प्रकार का खेल प्रदर्शन करते हुए जा रहे थे। एक सुसज्जित हाथी के ऊपर श्री श्री माता आनन्दमयी संघ के उप-सभापति (Vice-President) श्रीमत् स्वामी भागवतानन्द गिरि जी महाराज जुलूस की शोभा सम्वर्धन करते हुये गमन कर रहे थे। वृन्दावन नगर परिभ्रमण करते हुये शोभायात्रा को आश्रम में लौटते प्रायः तीन घण्टे का समय लगा था। इसको देखकर स्थानीय बूढ़े लोग कहते थे पचास (५०) साल के अन्दर इस प्रकार की शोभायात्रा श्रीधाम वृन्दावन में किसी ने नहीं देखी। नगर भ्रमणोत्तर सुन्दर शय्या में चारों विग्रहों को श्रमोपनोद के लिये सुसज्जित मण्डप में विश्राम दिया गया।

जन्माष्टमी के एक दिन पहिले से ही श्री श्री माता जी के मुखकमल से स्वतः स्फूर्त भगवन्नाम "श्रीकृष्ण छलिया आनन्दलाल। व्रजरमण प्राणगोपाल।" अष्ट प्रहर व्यापी कीर्तन हुआ। जितने रोज उत्सव चलता रहा रोजाना महामण्डलेश्वर श्रीमत् स्वामी महेश्वरानन्द जी का तथा श्रीमद्भागवत के अतिशय मर्मज्ञ और रसिक

श्रीमत् स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी के अतिशय सारगर्भ भागवतीय भाषण होते थे। उन दोनों के प्रवचन के समय विराट् हाल लोगों से भर जाता था। स्थान के अभाव के कारण भक्त प्राण श्रोतागण बाहर आँगन में से महात्माओं का पाण्डित्य-पूर्ण सुमधुर व्याख्यान श्रवण करते थे। श्री हरिबाबा जी प्रभृति वृन्दावन के साधु-संतगण उस समय सभा में उपस्थित रहकर उसका शोभा वर्धन करते थे। इस शुभ विग्रह-प्रतिष्ठा के अवसर पर भारत के नाना स्थान से श्री श्री माता जी के सैकड़ों भक्त सन्तानगण इसमें सम्मिलित होकर इस विराट अनुष्ठान को सब प्रकार से सफल किये थे।

श्री श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के दिन शुभ ब्राह्म-मुहूर्त में रात तीन बजे श्री श्रीमातृ देवी की पूत उपस्थिति में चारों विग्रहों को शय्या से उठाकर मन्दिर के भीतर श्वेत मर्मर की विस्तृत वेदी के ऊपर पधराया गया। तदनन्तर पूर्वाह्न के समय श्रीधाम वृन्दावन के तथा बाहर से आगत सुप्रसिद्ध साधु महात्माओं की उपस्थिति में दोनों युगल सरकार और गणेश जी की प्राण-प्रतिष्ठा शास्त्रानुसार की गई। प्राण-प्रतिष्ठा के समय परम शक्तिरूपिणी श्री श्री माता जी, श्री निर्मलानन्द ब्रह्मचारी को स्वीय करकमल से स्पर्श की थीं। इसके बाद उपस्थित सब साधु, संन्यासी और महात्मागण—एक के बाद एक आकर विग्रहों को स्पर्श द्वारा अपनी शक्ति अनुयायी उनमें शक्ति सञ्चार किये। महात्माओं में उपस्थित थे बम्बई के महामण्डलेश्वर श्रीमत् स्वामी महेश्वरानन्द गिरिजी, वृन्दावन के वृद्ध वैष्णव महात्मा श्री हरिबाबा जी महाराज, भागवत के रसिक तथा मर्मज्ञ श्रीमत् स्वामी अखंडानन्द सरस्वती जी, श्रीमत् कृष्णानन्द अवधूत जी, वैष्णव आचार्य श्री चक्रपाणि जी, स्थानीय श्री श्रीरामकृष्ण मिशन के संन्यासी तथा ब्रह्मचारिवृन्द और अन्यान्य साधु महात्मागण। राजमाता श्रीमती विजया राजेजी तथा सोलन के राजा साहब श्री दुर्गा सिंह जी भी वेदी की उत्तर तरफ खड़े-खड़े विग्रहों को भक्ति भाव से तन्मय होकर स्थिर नेत्रों से अवलोकन कर रहे थे। इतने वर्षों के बाद अपनी दादी जी के संकल्प इस तरह से पूर्ण हुए देखकर योगी भाई दुर्गा सिंह जी के मुख पर एक तृप्ति और आनन्द की झलक देखने में आयी। श्री छलिया इतने स्वल्प समय के अन्दर न मालूम कितने ही छल कर आखीर में अपनी लीला भूमि श्रीधाम वृन्दावन में स्थायी भाव से स्थापित हुए देखकर राजमाता जी के चेहरे पर शान्ति की एक छाया प्रकाशित हुई। छलिया और उनको छलना के द्वारा नाकोदम नहीं करेगा। श्रीमती राधिका के प्रेम में बँध जाने से चिर-चंचल आज अचंचल होकर "वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छामि" वाक्य की सत्यता की रक्षा की। रात्रि आठ बजे मन्दिर के सब

दरवाजे बन्द कर श्री श्री माँ को राधा रूप में श्री छलिया के पार्श्व में बैठा एकान्त में आप राजोचित भाव से षोड्शोपचार द्वारा पूजा की। सुवर्ण निर्मित कंठहार छलिया को एवं माँ की प्रतीक राधारानी को प्रदान किया। पूजान्त में स्वर्ण मुद्राद्वय से श्री श्री युगल मूर्ति की भेंट कीं। रात बारह बजे-मध्य रात्रि के समय श्री श्री माँ तथा नाना स्थानों से आगत मातृ भक्तों की उपस्थिति में आश्रम के ब्रह्मचारी श्री निर्वाणानन्द जी ने अतिशय निष्ठा के साथ शास्त्रीय विधि विधान से श्री श्री युगल मूर्तियों का महाभिषेक तथा पूजा की। रात तीन बजे पूजा समाप्त होने पर सब भक्तगण देवताओं को तथा मातृचरण में श्रद्धाञ्जलि निवेदन कर जन्माष्टमी व्रत की पूर्णाहुति की।

इस मन्दिर प्रतिष्ठा तथा विग्रह स्थापना के कतिपय दिवस के अनन्तर श्रीधाम वृन्दावन के प्रसिद्ध वैष्णव पंडित तथा रसिक भक्त श्री किशोरीदास बाबा जी महाराज एक दिन सायंकाल के समय विग्रह दर्शन करने आये थे। उस समय उन्होंने मन्दिर के सम्मुख श्री श्री ठाकुर द्वार में बैठ श्री श्री माता जी की उपस्थिति में श्री युगल मूर्ति की सेवा पर एक सुन्दर शास्त्रीय प्रमाण सहित नातिदीर्घ भाषण प्रदान कर सबको परितृप्त किया। उन्होंने उस समय श्रवण किया कि ग्वालियर की राजमाता श्रीमती विजया राजे जी के विग्रह का नाम "श्री छलिया कृष्ण" रक्खा गया है। साथ ही साथ उन्होंने सोलन के राजा साहब श्री दुर्गा सिंह जी के विग्रह का नाम "श्री आनन्द कृष्ण" रक्खा। उस समय से कोई-कोई इनको "श्री आनन्द कृष्ण" कहते हैं।

इस समय रोजाना वृन्दावन में आये हुये सैकड़ों भक्त नरनारी इस मन्दिर में युगल-विग्रह-द्वय के दर्शन कर भक्ति से गद्गद होकर भक्ति प्रणति निवेदन कर अपने भाग्य की प्रशंसा करते हैं। आज इस व्रजधाम में यह विशाल सुन्दर मन्दिर तथा "श्री छलिया कृष्ण" और "श्री आनन्द कृष्ण" की युगल मूर्ति एक दर्शनीय वस्तु है।

Just as there is a veil of ignorance for the individual, so there is also a door to Knowledge.

MĀTRI VĀNI

Undertake only work that is an aid to *sādhanā*; so that no time may be wasted by attending to it. Anything at all can be accomplished by sustained effort. You must spare no pains to make the mind concentrated. How many lives has man not frittered away in eating, drinking and sleeping! "I am immortal"—this is the idea that should give direction to your life.

* * *

According to one's actions the fruit is reaped. Nevertheless, by the contemplation of God, fear withdraws. Whether in the company of saints and seekers after Truth or in solitude, in whatever way it may be, you will have to invoke Him, otherwise freedom from the veil of ignorance cannot be won. Is it possible ever to bribe God? By cheating, you yourself alone will be cheated.

* * *

When one sees a stone, it cannot be called a *vigraha*;* and seeing a *vigraha* it cannot be called a stone. Where it is regarded as a focus for the Presence of God, there He actually *is*. Just as it is said that everything is God's own *vigraha*. Once it is regarded as God's *vigraha*, it is only fitting that one should strive after the direct perception of this fact. So long as one speaks of a stone one is foolish, the fact of God's immanence has not yet been grasped. The delight in the things of this world, in sense-objects is fleeting indeed. It does not last, it is impermanent. But where God and God alone stands revealed, there is no such thing as impermanence. Your attention is directed towards the world, not towards the Eternal, you are identified with that which is transient, in constant flux. What is revealed thereby? The perishable. In the perishable there is no Self-revelation. How can Reality, true Being be in that? For the destructible has not been destroyed. The perishable must perish.

---

* *Vigraha*—Concrete External Presence as Form.
An image consecrated through *mantras* or through the devotion and adoration of the worshipper becomes the Deity Itself. It is therefore incorrect to translate *vigraha* as 'idol' or 'image'.

* * *

When the mind is full of worldly desires, it is their very nature to make the mind confused. This is why effort is necessary. So long as you do not become absorbed in *dhyāna* and *japa*, it has to be performed by constant endeavour. To be moderate in eating, sleeping and so forth is imperative. Look, when you go on a journey you take with you only as much as you need. You don't carry along all that is in your home. Thus, when becoming a pilgrim on the path to God, you should take only exactly as much food and sleep as will help you to live always in the presence of God. There is a saying: 'As one eats so one becomes'. Thus, withdraw the mind from outer things and make it turn within.

The Sad-Guru

M. M. VARMA

In a previous issue of *Ānanda Vārtā* (Hindi Section), some fascinating side-lights had appeared from the pen of Swami Narayanananda Tirtha on the question whether Sri Sri Mā Anandamayi herself gave 'initiation' to aspirants. A significant point made out in the article appeared to be that, though Sri Mā herself never gives formal initiation, many an aspirant have a deep personal impression of receiving initiation from her in a profound, inner sense—in different indirect ways or through her sweet, kindly gaze, etc.

Sri Mā attaches great importance to the Guru, and many of her devotees take formal initiation from different Mahātmās, some from the venerable *Didimā*. Sri Mā encourages this, although she herself does not give formal initiation. That does not mean that she can disclaim her status *vis-a-vis* the Source-Guru, so to say. The Guru is not the body; and the *Guru tattwa* is one, from which our MOTHER is inseparable. Indeed, there are many spiritual seekers who look upon her as Mother and *Sad-guru* in one. A person who has even once received her *kirpa-drishti* may be forgiven if he or she declines to differentiate it very much from 'initiation'.

So, apart from the general practice of *sādhakas* taking formal *Guru-dīkṣā*, there would appear to be a wider aspect of Sri Mā's teaching on the subject. In the light of the same, the inner significance, the higher potential of the Guru can be better understood from Sri Mā's own observations, some of which are quoted below (chiefly from certain old issues of *Ānanda Vārtā*) :—

"God is the real Guru.

"It is the Beloved Himself who appears as Guru.

"The real Guru is our own *Ātmā* (Self).

"There is a state in which one realizes that one's Guru is the World-Teacher and the World-Teacher one's Guru. When the status of a Guru becomes revealed to one, one understands that it has nothing to do with any *person*; the Guru is none else but the World-Teacher. Guru is the name for Him who, out of deep darkness, can reveal the hidden Truth........ One's Guru exists in many forms as the Guru of each and everyone, and everyone else's Guru is in fact one's Guru : now you see how the Guru is one.

"A Guru is not an ordinary preceptor—a Guru is He who has the capacity to deliver man from the sea of becoming (*bhava sāgara*).

"There are various kinds of initiation : by *mantra*, by touch, by a glance, by instruction. Contact with a Superman does bear fruit........ Then again, there is yet another possibility : without instruction, without a glance, touch or *mantra*, power may be conferred, whether the recipient be aware of it at that very moment or only very much later....

"Furthermore, just as a flood carries everything along in complete equality, so the Superman quite naturally and spontaneously makes his own what was wrongly believed to be alien. Here 'mine' and 'thine' do not exist – only the Self, Self luminous, He and He alone... A mother does not keep accounts of what she does for her children – for are they not her own ?

"Everything can be made possible through the Guru's Grace".

Maharshi RAMANA too did not give formal initiation to anyone. Nonetheless, many devotees would bear unflinching witness to having received initiation from Him through His benign gaze or through an inner outpouring of His grace in subtle ways. In striking similarity to Sri Mā's utterances on the subject as regards the real import of the Guru, will be read the observations of Maharshi Ramana:—

"Guru's silence in the loudest *updeśa*. All other *dikṣā* (intiation)* are derived from *mauna* (silence)......They are therefore secondary. Does the Guru hold you by the hand whisper something in the ear ? You imagine him to be like you yourself. Because you are with a body you think that he is also a body in order to do something tangible to you. His work lies within."

"There is no difference between God, the Guru and the Self. God, who is immanent, in His Grace takes pity on the devotee and manifests Himself as a being according to the devotee's standard. The devotee thinks that He is a man and expects relationship as between individuals. But the Guru who is God or the Self incarnate, works from within...... Thus, the Guru is both 'external' and 'internal'. From the 'exterior' He gives a push to the mind to turn inward ; from 'interior' He pulls the mind towards the Self.

"For the *Jñāni* (Realized Soul) all are one. He sees no distinction between Guru and disciple. He knows only one Self, not a myriad selves as most people do ; so for him how can there be any distinction between persons ? However, for the seeker the difference between persons is there. For him there is undoubtedly the relationship of Guru and disciple.

"Guru not being physical, his contact will continue after his form vanishes. Still, one can go to another Guru after one's Guru passes away. After all, Gurus are one, as none of them is the form.

"The disciple's experience of the Master's Grace whereby he gets spiritual awakening, is likened unto that of the elephant waking up from sleep on seeing a lion in his dream. Just as the mere sight of the dream–lion wakes up the elephant from his sleep, even so the mere gracious glance of the Master dispels the disciple's sleep of ignorance and awakens him to the Real.

---

* e.g. *sparsh* (touch), *chakshus* (sight) etc.

"Of course, coal takes time to ignite, but charcoal is comparatively, quicker, while gunpowder ignites immediately.

"However, just as what got into the jaws of a tiger never comes out, those who have come under the benign notice of a Guru would never be forsaken".

* * *

Such is the glory of the *Sad-Guru* ! The *Sad-Guru* is indeed a Messenger of Certainty. And it is experience of those who have taken refuge in the holy feet of a Divine Personality that, *ipso facto*, they are beneficiaries of initiation.

Jai Ma !

From the Diary of a European

MELITA MASCHMANN

VIII

(*Translated from German*)

Ahmedabad, November 1963.

A *Samyam Mahavrata*, a week of fasting and meditation is being held here. The Shree Shree Anandamayee Sangha arranges for such a function every year, usually in a famous place of pilgrimage. This time an exception has been made to this rule to fulfil the last wish of an ardent devotee of many years' standing. Shortly before passing away, about four years ago, he requested Mataji to have a *Samyam Mahavrata* performed in his compound at his expense. His family was most anxious to fulfil his desire.

From the first moment one receives the impression that the function has been organized with much generosity and efficiency. We are met at the railway station and are taken by cars to the residence of our host. In his garden he has erected a pretty little cottage made of asbestos sheets for Mataji's use. Nearby an elegant, very spacious pandal for the *satsang* has been put up. It is well constructed and equipped with lights, sixteen electric ceiling fans and loudspeakers. About two thirds of the area are roped off and reserved exclusively for the participants of the *Samyam Vrata*. Everyone of them should have sufficient space to sit comfortably and without touching his neighbour, an indispensible condition for serious spiritual exercises. In the space beyond the ropes guests from Ahmedabad are accommodated.

The participants of the *Vrata*, who have come from all over India, are put up in the houses of neighbours. For those who live a little further away, there are usually cars to take them to their place of residence.

The *vratis* are allowed to choose between two types of diet, classes A and B. On the first day all the participants observe a complete fast on Ganges water. Several tanks containing the precious liquid have been placed in the garden and we are asked to drink of it as much as possible, since it is supposed to purify both body and soul. The water has been brought specially from Hardwar in sealed tins. On the following days, those who have chosen the diet of class A partake of one simple meal at midday only and fast again on Gangeswater on the 7th day, while class B receives in addition to the repast at midday a tumbler full of hot milk every night and also a midday meal on the last day. There is of course no smoking, no chewing of betel, no tea and no coffee during the whole week.

The main programme of the morning begins with half an hour's recitation from the Vedas and *kirtana*, followed by collective silent meditation from 8–9 a. m. and that of the afternoon starts with a similar exercise from 3–4 p. m. The rest of the time is occupied by readings from the Scriptures, lectures and religious music up to 10 p. m. and sometimes longer. At midday there is a fairly large interval, during which however *kirtana* is sung by small groups taking turns. From the first day I have the impression that an elite has gathered here : people who are serious in their spiritual pursuits. One can observe that quite a number of them are not anymore beginners in the practice of meditation. The general standard of education appears to be high. Many faces of both men and women, young and old, bear witness to their spiritual heritage and self-mastery.

The evening before the actual function commences, we are asked to reserve our seats for the whole week by placing our *āsanas* somewhere within the enclosure for *vratis*. Mataji, surrounded by a varying number of Swamis, is seated on an elevated platform. At times her mother also appears there for a short while.

What Mataji achieves physically in these days is quite incomprehensible. She remains in the pandal for most of the programme. Every morning I am told that she has had hardly two or three hours of rest during the night. In front of her cottage rows of people are at all times waiting to talk to her privately. Continuously cars arrive, carrying some distinguished citizen of the country, be he a minister, a scholar, a mahatma or a business magnate. Several times daily whole families or other groups come who wish to do *arati*. Whole schools gather to have her *darśana*.

Again and again one wonders: how can any human being, and even more so one of Mataji's age, stand all this ? But as soon as one sets one's eyes on her, all anxieties are allayed : she sparkles with dynamism. Often one hears her laughter from somewhere. Or one suddenly notices how she escapes people by stepping into a car. Numerous householders and institutions have solicited her visit. As soon as she enters the pandal the general attention reaches a climax which greatly helps the speakers. Suddenly even the tired people are able to concentrate again.

It is wonderful with what ease the problem: 'elite or masses' has been solved here. The actual *vratis* have every convenience they require, while hundreds of outsiders also profit daily by the week of *sādhanā* in a way that meets their needs. Many of the *vratis* do not only strictly observe the fast, but also manage with a minimum of sleep. At 4 a. m. already some sit for their prayers in the pandal where they are able to concentrate undisturbed. Even during the interval at midday several are sitting in corners doing *japa*. One can feel that many have shut out everything else. I have met a number who observe silence for the whole week. Among them are not a few who have something very convincing in their appearance, their behaviour and the expression of their faces: maturity, kindness and wisdom.

2

The organization of the actual daily programme is in the hands of a young *brahmachari*, who has been with Mataji since his boyhood. He attends to his difficult task with a rare amount of skill and tact. The young man holds the reins very lightly. His voice never sounds irritated, not even loud when he gives instructions over the microphone. Occasionally he raises his hands and half laughing, half supplicating begs for cooperation in some measure that has to be taken. The remarkable thing is that he succeeds in maintaining perfect order in spite of his consistent abnegation of the use of power.

The standard of the speakers seems to be amazingly high. Everyone of them improvises freely. Not one holds even a small piece of paper with notes in his hands. The liveliness and capacity to modulate their voices, the expressiveness of their gestures, all this makes it difficult for the audience to follow their own trains of thought or to doze off. The most striking difference of the style of such religious meetings between east and west seems to be, that in the west they are mostly grave, solemn and often rather stiff, whereas here one-third of the precious time is spent in laughter. All the lectures deal with serious subjects. Interpretation of sacred Scriptures, religious education, problems of religious life in the family, meditation, contemplation, etc. and yet, at times one peal of laughter is followed by another. Among the speakers are personalities revered throughout India for their wisdom and learning. Unfortunately I hardly understand any thing of their talks but the atmosphere which conveys competence, sensitiveness and profound religious experience allows me to participate to a certain degree.

The whole congregation welcomes the moment when the microphone is placed before Mataji during the last half hour of the daily programme. Then questions may be put to her. Mataji replies with the rapidity of lightning. No sooner has the question been pronounced, the answer is already there. Sometimes just one or two words, sometimes a series of sentences. Mataji herself declares that her replies are not mind-made. One can notice that this is so. She opens her month, and not her reason but her '*kheyāla*' responds. Quite frequently her words make the whole pandal roar with laughter for minutes together. Mataji herself is so amused about her replies as if someone else had given them. Off and on it happens that she suddenly seems startled at a question: "I have no *kheyāla* to reply to this," she says. Occasionally she passes a question on to a Swami or Pandit. As far as I can judge it is usually a matter of some complicated or disputed interpretations of Scriptures, which are subjects for scholars. But perhaps she just wishes to make a friendly gesture towards the learned speakers. Often a voice from the audience can then be heard: "We want to hear your answer, Mataji, !"

Again and again Mataji admonishes all seekers to abandon the world. More precisely : not their worldly duties, but all worldly distractions. To pursue worldly pleasures means to tread the path of death, whereas to relinquish them is to advance towards "the death of death." Usually one imagines an apostle of world abnegation to be of a gloomy, ascetic type. I feel sure that this type also must exist in India. But I find it surprising and thought-provoking that the attitude that demands a complete breaking away from the world is lived by the most serene and joyous human beings I have ever come across. Almost all the speakers, amongst whom are many *sannyāsis*, possess a particle of the fluid of serenity and cheerfulness that is so fascinating in Mataji.

During the hours of silent meditation in the morning and early afternoon the atmosphere becomes very intense. Many of the *vratis* sit absolutely still during the whole hour. Some keep their spine very straight, others look more relaxed. Mataji sits without any effort or stiffness. Usually she starts by sitting upright and after some time leans back on a cushion roll. Sometimes she remains sitting upright throughout the entire meditation. After having kept her eyes shut for several minutes, she opens them, turns her head to one side and then very slowly rotates it by 180°. In this way she can look at every single persons in the pandal. Her gaze moves calmly and attentively along the rows of meditating men and women, without lingering anywhere. Systematically it takes in the whole assembly. Not because it is looking for something, but because it wishes to distribute equally to all a spark of its divine Light. Mataji's face at that time bears a completely impersonal expression. One is reminded of a searchlight that is a mediator of light, not its source. Often Mataji repeats this gazing round in the second half of the hour. At that time I observe an indescribable kindness in her features, an expression that makes me surmise that during the meditation she communicates with the more advanced of the *vratis* in a way of which I cannot have the faintest idea. Her countenance seems to evince that she dives into a realm of unfathomable peace. In order to meet her there one must have traversed some distance on the path to Illumination.

Noteworthy are Mataji's movements during the time of collective meditation. For instance, when her hair gets into her face. Her arm raises itself infinitely slowed down and sometimes stops half way as if it had forgotten its destination. The impulse that she has received from her consciousness seems vague and not of normal strength.

At the end of the hour, when the soft call "*Hē pita, hē hitā*......" is intoned, Mataji on some days is at once "down here "again, on other days only after several minutes. When she takes longer to "return", there is an effulgence in her eyes, a reflection of the Great Light in which she has been immersed.

Above Mataji's head there is a modern painting representing a yogi wandering through a forest. His body seems to glow. His radiation attracts animals to him. The picture is the last of a series illustrating the stages on the spiritual path. On the picture over Mataji's head, birds assemble indefatigably, while they don't even go near the other paintings. The same holds good for a few squirrels which constantly play in the timberwork just above Mataji's seat. Nowhere else in the pandal can I discover even a single one. Perhaps this is the living confirmation of what is indicated in the painting : that the Enlightened One attracts also animals.

Today Mataji has sung. To call it "singing" is equally wrong as to say of someone who is performing a rope-dance that he is going for a walk. It was simply indescribable : a course of human demeanour so different from anything I have ever experienced that I feel like saying : a mountain has sung or an angel or a rose......It did not sound 'beautiful' (the girls say Mataji has a cold)—her voice was strangely rough, very gentle, almost soundless. She reclined her head slightly and closed her eyes. Her lips were half open. I saw only that the total letting go of the world, which one can at times notice in her face, was shining in her features. There was a deep hush in the pandal. The stillness streamed out of her like water from a powerful spring and overflowed everything. Suddenly the first call emerged :

'He Bhagavān ! A delicate, blissful cry.
Dhyēa Bhagavān
Prēya Bhagavān
Jnēya Bhagavān
Shrēya Bhagavān
Ānandamaya—Hē Bhagavān
Mangalamaya—Hē Bhagavān

and again : Hē Bhagavān."

Little melody, hardly any words, only invocation : "God!" She does not sing, the sound gushes out of her so spontaneously and with such bewitching sweetness, like the perfume of a matchless rose. THE Love-song; all those that one has ever heard are just ashes. Beloved God! The bliss of the drop, which, returning home falls from the cloud into the ocean—becomes the ocean. But these words and metaphors are only paths that mislead. Nothing occurs except the invocation of Love. "God, singing to Himself," would my Indian friends say. And although we do not understand it, it would surely express more of the truth than we are able to convey with our means.

The *Samyam Mahavrata* concludes with a fire sacrifice, celebrated by several priests. Then Mataji stands on a landing and distributes *prasāda* : sugar balls stream as from a fountain in all directions. At midday a delicious meal is served, consisting of a variety of tasty dishes and sweets. Over the loudspeaker we are warned : "Be careful, *vratis*, you have become used to frugal and scanty diet, do not eat too much, it might not agree with you !" One of our hosts says, "This feast is an ingenious climax of a week of fasting and austerity. Whether one is able to exercise moderation in spite of feeling hungry and in face of the tempting dishes shows whether one is a good *vrati*."

Ma Anandamayi in Madras and Tiruvannamalai

S. S. COHEN

(Sri Ramanashram, Tiruvannamalai.)

It is seldom that Rishis in this country go about to preach their gospels and inspire and uplift the people by their example and inner experience. Usually they are sedentary and, by the power of their mighty tapas and Supreme Realization, automatically act as giant spiritual magnets and attract to their abodes seekers from many lands and climes. Yet, there are illustrious names in history, e. g. Lord Buddha, Sri Shankaracharya, Lord Gouranga and others, who travelled the length and breadth of the land and showed the way to infinite peace and happiness by their teachings and devotional songs. To this category belongs Sri Anandamayi Mata, the famous saint of Bengal, whose name is known in every household in North India. Although she became known very early in life and began her peregrinations about two decades ago, she had all this time not felt inclined to turn South*—or could it be that Heaven had reserved her peculiar activities for the North, while South India was enjoying the ineffable presence of two Rishis of the first magnitude : Sri Ramana Maharshi and Sri Aurobindo, who brilliantly shone there for about half a century : Rishis who could have illumined any age by their vivid spiritual lustre ? Now that both of these have passed into Mahanirvana and the people have to have a living God who speaks the language of men to turn their hearts and minds to Him, Mataji

---

† Reprinted from Ananda Varta, Vol, I/2 in 1953.

* She visited South India once many years ago, when she was known only to a few : (Editor's note)

has come South to fill the gap. She set foot on the soil of Madras on October 27th,1952, at about 8-45 a.m. with twenty of her devotees, headed by Sri Hari Babaji Maharaj and Didi, her personal attendant. She was received at the railway station by some of the most prominent citizens of the city and brought to the spacious bungalow "Abbotsbury", belonging to Sri J.H. Tarapore, in Teynampet, Mount Road. In "Abbotsbury's" vast grounds a large shamyana with an inner bedroom had been constructed for her own use out of mats and palm leaves over which whole pieces of new long-cloth and beautiful curtains were spread. It was suitably decorated, carpeted and electrified.

Mrs. F. Taleyarkhan of Ramanāshram had met Sri Mataji last year in Delhi, and had taken a promise from her that if she ever blessed South India by a visit, she Mrs. T. should be given the chance to serve her by making all the arrangements necessary for her stay, etc. Last September the promise was fulfilled and Mrs. T. immediately contacted the highest in the administrative, juridical and social life of Madras, and with her characteristic tremendous energy in a short time succeeded in forming a powerful Reception Committee as well as making excellent arrangements for the honoured guest's accommodation, which made her stay of one week a very great success. The people of the city poured in their hundreds to have Mataji's darśana. From the first to the last day of her stay there was a constant stream of visitors, dozens of whom daily kept waiting for hours to see her. Her appearance, her magnetic personality and her sweet conversation charmed everyone and attracted big audiences to her bhajans snd talks. The language difficulty was a serious bar for the majority of Southerners to contact and understand her. The translation from Hindi into Tamil or English proved extremely inadequate to convey to the people the essence of her teaching. The translators who knew Hindi were not sufficiently conversant with the spiritual subject with which she dealt, and those who were so conversant, did not know Hindi, with the result that the most significant parts of her answers were either slurred over or distorted. Mataji herself did not make it any easier for the baffled translator to wade his way through all she said; but out of the depth of her knowledge of the Supreme she poured out streams of ideas, which kept him whipping his memory to retain all he heard, and his wits to unravel the mystery of her meaning. Nonetheless the audiences remained extremely satisfied, particularly those who could directly contact her through the Hindi language.

Her very presence silently exhaled the perfume of purity and joyful innocence which pervaded and won all hearts. Her child-like, guileless laughter, the hope she instilled in the minds of the troubled questioners, the deep sympathy and understanding with which she met their suffering, gave immense solace and turned sorrow to happiness and at times to tears of relief.

Mataji's one-week stay was crowded with engagements; even the few hours she could snatch in the daytime for some rest were not without peering eyes and private interviews. Many were these interviews, wherein woes and laments and prayers for redress were made to her, as it is generally done to the sacred image of the Mother of the Universe in temples. She patiently listened to them all, and with infinite compassion answered sweetly and persuasively. One of the questions was—

"Do ceremonies performed for the dead actually benefit them? If so, for how long?

Mataji : Yes, they do benefit them, and for always, for even if the departed person were reborn, these prayers, being spiritual in nature, would not fail to uplift the soul, which, after all, never dies, but remains the same from life to life, continually progressing in its onward march towards God, till it finally merges in Him and thus attains its Liberation—*Mukti*—, which is Supreme, Everlasting Bliss.

Then knowing the history of the grief-stricken couple who had put the question, she related anecdotes of bereavements which resembled the one they had suffered, and told how in one case the departed child was seen by his pining mother in a dream extremely happy in the company of thousands of other children, and how the deep yearnings of the mother caused the soul of her dead child to take birth again in her womb very soon afterwards, which disturbed his rest and retarded his progress. Grief is thus shown to be most harmful to the beloved-ones whose loss we mourn. The other case she related was that of the death of an only son. The mother, seeing the father unconcernedly smoking his hukka in a corner, piteously wailed and, with abundant tears accused him of hard-heartedness, to which he replied : "Do not think me to be indifferent to my son's death, but just now I am puzzling which son's death of all the dozens of sons I have had in the last eighteen lives I should mourn." This gave great comfort to the couple concerned, which made them look upon Mataji as a saviour-mother in whose lap they could always take shelter from the stormy blasts of life.

On the night of October 29th, Sri Mataji for the first time answered questions in public. The talk was opened by a young lady who wanted to know the remedy for the fainting spells she had contracted almost from childhood, and which used to seize her whenever she heard bhajans, attended puja or concentrated on the statue of Sri Krishna in her house. Mataji cross-examined her, and for ten minutes gave her full explanation of the import of her complaint, and finally exhorted her to practise self-control. "As", she argued, "you remain unconscious during these spells, and as they have all this long time caused you no spiritual progress, nor furthered your sādhanā, you should consider them unfavourable, and therefore make an effort to steady yourself whenever the impulse to faint begins to be felt. Take to *japam* and strengthen your mind by repeating God's name," and, placing her hand on the shoulder of the young lady, Mataji, smilingly, and with extreme tenderness,said : "You have had the darshan of Sri Krishna, now I am having your darshan" and folded her hands before her in salutation, which made everybody laugh, except the young lady who burst into tears out of excessive joy. At this stage a voice asked :

Voice : What is the easiest way to God ?

Mataji : Profuse tears.

Voice : And if tears do not come ?

Mataji : Then you should seek the company of those who shed tears, namely *Satsang*. This is the easiest way to God through love and devotion.

The next night, the same voice rose :

Voice : People are asked to worship God, to sing His praise in bhajan, to perform puja, to repeat constantly His name, and they do all this without knowing what God is. Will you please explain ?

Mataji : God is all-knowledge, and one cannot know His true nature till one attains Self-realization. Then one will find Him to be none other than oneself, the only *Atman*, the only Self there is, that He is with form as the world and without form as *chit*, Pure Consciousness. In the meantime prayers, worship, *japa*, *dhyāna*, etc. have to be performed. A lady stood up and asked with warmth :

Lady : How can our minds be free for prayer and meditation when we are so much burdened by work and family responsibilities : husband, children, etc.. ? What should we do in that case ?

Mataji : Let the work be done of its own accord without your exertion. Work without the feeling that it is you who are working. Take it to be God's work, done through you as His instrument. Then your mind will be at rest and peaceful. That is prayer and meditation, Sri Anandamayi Ma has a partiality for temples and ashrams, and takes great interest in visiting as many of them as possible. It is erroneously stated in certain quarters that the *Mukta*, the Enlightened One has, by merging with the Absolute, cut himself off completely from the world and its activities. These *Muktas*, on the contrary, enjoy the world without the sense of participating in it, and in all the actions they perform they are free from the sense of doership and thus free from sorrow and delusion. They see the Divine Mind in the multitude of forms, colours and qualities that fill the universe in an eternal Play, which is all joy and bliss. They experience this gigantic Play within their own mind, which is also God's, and themselves its detached spectators. Yet, Mataji looks at the *murti* in temple as the outer symbol of the Formless God in a special sense, and feels the devotional fervour which, for decades and centuries, lakhs of worshippers have poured out to it.

So, on the 28th morning she and her party motored up to the big temple in Mylapore and to a few smaller ones in the city. On the 29th at 5 a. m., they visited the famous temple of Conjeevaram about fifty miles from Madras ; and on the 30th, the Seven Pagodas (Mahabalipuram), where ruins of many old Hindu shrines exist in profusion. On their way back they climbed to the world-renowned Tirukazugukuntram mandir on the top of a hill, where two eagles come every day from a long distance at about 11 a.m. just to feed from the hand of a special priest and return with clocklike regularity in fair and foul weather and without a single day's break in all the many centuries of which tradition speaks. As Mataji's knees were too weak to permit her to climb the great number of steps, she was carried to the top in a palanquin.

Ramana Bhajan is being performed on the last thursday of every month in the house of Sri P.S.G. Rao in Adyar, Madras. Mataji had accepted an invitation to attend it. As in this month it falls on the 30th, she and her party went in the evening of that day to Gandhinagar, Adyar. In the gard-

-en of his bungalow Sri P. S. G. Rao had made excellent arrangements for the bhajan. Mataji sat on a sofa under floral decorations, and facing her at the farther end squatted scores of Brahmins who chanted in rhythmic cadence the Veda verses which have been daily recited in Ramanashram at Tiruvannamalai during and after the life time of the Master, followed by "*Upadesa Saram*" in Sanskrit, the verses which He himself (Sri Ramana Bhagavan) had composed. The very large audience spread out on the lawn, in the whole open space and the verandas of the bungalow. Mataji's presence, the large exhibited photograph of the Maharishi and His all-pervading influence, the *Veda parayanam* and the incense uplifted and thrilled all present.

Sri Mataji's evenings were usually devoted to visiting outstanding places of interest, e.g. the International Headquarters of the Theosophical Society in Adyar, the Ramakrishna Math in Mylapore, the Gujerati Sangha, the Bengali Club, and the gardens of certain people, one of which was that of Sri J.H. Tarapore. It must be incidentally mentioned here that Anandamayi Ma never enters a house where a *grihasta* lives. All she does to bless the person concerned, is to enter his compound, sometimes even without stepping out of the car, halt for a few minutes and then leave. At Sri Tarapore's, however, she did come out, but stood on the car platform, and, opening the big box of apples offered to her along with other fruits, with her own hand distributed almost all its contents to those present, not excluding the gardener of the bungalow. The Tarapore family and those who received *prasād* directly from her hand felt themselves singularly blessed by this special mark of her Grace. At the Gujrati Sangha and the Bengali Club there was music, but more than the music in the former place, there was the riotous joy of the children who swarmed every inch of it, even in laps, over shoulders and backs, and under knees. The Bengali music was exquisite.

On some days there were at "Abbotsbury" three darshans, namely :

10 to 11-30 a.m.
4 to 5-30 p.m.
7 to 9·00 p.m.

The first two items were variable according to the circumstances and the engagements of the day concerned, but the last-one did not vary, and was solely reserved for bhajan, except the last fifteen minutes, when all remained in silent meditation. These attracted large crowds which were accommodated in the wide open space of the garden just outside the shamyana. On the last five nights after 9 p.m. when the majority of the audience dispersed to their distant homes, the minority, which was appreciably large, moved into the shamyana ante-room and filled it to capacity. Mataji then came in, sat on the sofa and answered questions, some of which have been reported above. That was a happy time for all to have direct contact with her through speech. On one of the last nights a question was asked, as to when and at what age and through what *sādhana* she had attained Enlightenment. She laughed in her characteristic child-like way and said that she was not aware of any date or time when she had attained Enlightenment, she knew of no *sādhanā* deliberately performed, nor of any suddenness in spiritual Illumination, which made a distinction between a life that had gone and a new-one that had taken its place, that she was now as she had ever been. We have had to draw our own conclusions.

On another night, November 1st, Dr. T. M. P. Mahadevan, Head of the Department of Philosophy of the University of Madras, undertook the difficult task of translating Mataji's answers on the spot, and the next day he gave the following written record of the talk :

"Where questions arise, there is answer too. Who questions whom ? There is only one *Ātman* everywhere :

you are that. Where there is duality, there is misery. You *are* non-dual, eternal. You seek and desire truth, knowledge, bliss because you are that. No one wants *Mrityu*, *Ajñāna*, *Duhkha*, (Death, Ignorance, Sorrow). True, evil has a fascination for man, who, attracted by it, falls. This is due to *vāsanā*, which means non-recognition (*na*) of the existence of God (*vasa*). To counteract it, one must be attracted towards God, one's true Self. You are *pūrṇa* (complete).

Question : How to distinguish *pūrṇatā* from *apūrṇatā* ?

Mataji : You are *pūrṇa*, and so you ought to know. There is the veil of *ajñāna* ; but in the midst of that, there is the door of *jñāna*. You have to find yourself. Of course, the guru will help you. You can begin from anywhere. What is required is *ekāgratā* (one-pointedness). Enquire : "Who am I ?" and you will find the answer. Look at a tree : from one seed arises a huge tree; from it come numerous seeds, each one of which in its turn grows into a tree. No two fruits are alike. Yet it is one life that throbs in every particle of the tree. So, it is the same *Ātman* everywhere.

"All creation is that. There is beauty in the birds and in the animals. They too eat and drink like us, mate and multiply ; but there is this difference : we can realize our true nature, the *Ātman*. Having been born as humans we must not waste this opportunity. At least for a few minutes every day we must enquire as to who we are. It is no use taking a return ticket over and over again. From birth to death, and death to birth, is *samsāra*. But really we have no birth and no death. We must realize that.

Question : How do we know there is re-birth ? There is the function of breathing in the body. As soon as it stops we die. How can we say that we are born again ?

Mataji : Yes ; that is ignorance. Why go so far as re-birth ? One does not know what will happen the next moment. Yet, there is knowledge. Those who have crossed the veil of ignorance tell us that we are the eternal *Ātman*.

I am only a child and do not know how to lecture or give discourses. Just as a child, when it finds something sweet and good, takes it to his mother and father, so do I place before you what is sweet and good. You take whatever pleases you. Mine is only a child's prattle. In fact, it is you alone that question and you alone that answer. You beat the drum, and you hear the sound."

Mother addresses every man as 'pitaji' and every woman as 'mataji'.

At a very early hour on November 3rd, Mataji's car was ready to take her to Pondicherry, the next stage on her journey. Although it was very early in the morning, a number of admirers had collected earlier still to bid her farewell. Their hearts were full and heavy at parting from her. I looked at a particular face usually imperturbable, in which I was interested, and read in it a solemn, pensive emotion, which a month ago I could not have dreamt it was capable of feeling for any saint or any religious institution, and I heartily rejoiced. It was one of the miracles Mataji had performed in the short space of only one week: She had relieved the long pent-up sorrow of my friend.

TIRUVANNAMALAI

After attending one or two functions of the routine programme of Sri Aurobindo Ashram, and spending the night in one of the Ashram houses near the seashore at Pondicherry, Mataji motored to the beutiful temple of Lord Nataraja at Chidambaram early next morning. Nataraja symbolises the Supreme Brahman dancing the Cosmic Dance as the manifested universe: the Formless Intelligence assuming countless forms and movements in an eternal Play.

Mataji was scheduled to arrive at Tiruvannamalai on the same day, the 4th, at 12-30 midday, when Mrs. Taleyarkhan in concert with the Trustees of the big Arunachaleswara temple and the local officials prepared to receive her with temple honours. But exactly at 11 a m., i.e. 90 minutes before the scheduled time, her car quietly glided into Ramanashram; thus leaving Trustees, officials, elephants, and priests cooling their heels in the shade of trees on the Chidambaram High Road, waiting for her, totally unaware of her early arrival.

A few minutes afterwards she went round the Ashram to see the places sanctified by the holy presence of Sri Ramana Bhagavan in his life-time. Before His samadhi, She reverently stood with folded hands, and enquired about how the sacred body had been buried, and whether there was a lingam on the *samādhi*. The lingam she could not see because it was covered with flower garlands. Then she entered Mathurbooteswara shrine, which was built over the remains of the Master's mother and climbed to the *sanctum sanctorum*, where she was shown Sri Chakra and the sacred lingam. At 5 p. m. she attended the usual *Veda parayanam* near Sri Maharishi's samādhi, and between 7 and 9 p. m. the bhajan programme, as in Madras.

All the Ashram devotees and many members of the Managing Committee who had come from Madras, gathered in the Ashram at 9 a. m. on the next day, the 5th. The ceremony of laying the foundation-stone of the Meditation Hall, which is proposed to be built over Sri Bhagavan's samādhi, was performed, and at its end, Sri Anandamayi Ma approached and strewed flowers over the foundation-stone to the joy of all present. Then she made the eight-mile pradakshina of Arunachala Hill by car.

At a darshan gathering on the 6th morning, Mataji replied to questions:

D. M. put the first question.

D. M.: The other day in Madras you said that if one has no tears to shed in the search for God, one should resort to *Satsang*. I have had *Satsang* for many years, and yet, I see no appreciable improvement in myself.

Mataji: Your being here now and your asking the question are tears. By tears is meant perseverance in the search with devotion. How can you say then you have not benefited by those years of *Satsang*? But for them you might not have reached even so far.

A discussion ensued in which some of the Ashramites, Avadhut Baba, and lastly, Sri Hari Babaji took part.

On the same night, she delighted the Maharishi's disciples by leading the bhajan in calling the name of Bhagavan "Oh Bhagavan", "Eh Bhagavan", "Ha Bhagavan" etc.—for about ten minutes, suitably changing the modulations of the tune and the words of the appeal at each call. Her delicate, pure voice has the youthful timbre of that of a girl in her teens, which makes the glory of her spiritual state all the more captivating. It did captivate a neighbour at my left, judging from his loud groans and by what he later told me. Said he: "Seeing and hearing Mataji, I get flabbergasted. I am one of those half-determined seekers, who hang between the material and the spiritual, inclined to lose hold neither of the one nor of the other. Mataji seems to be my conscience in human flesh... Now the question is, to leap or not to leap."

The bhajan that night—the last night-was closed earlier than usual, as a Ramana devotee took the congregation to the big Hall and showed them some films he had taken of Sri Bhagavan sometime before His last illness. The Masters was not at His best in them: general debility had already overtaken His constitution, and the rheumatism in His knee-joints had turned his legs shaky. Yet, His coutenance had not lost any of its radiance and dignity, and His movements any of their gracefulness, which must hove told volumes to Sri Anandamayi, who had not seen Him in the flesh. After the brief show, a member of the Managing Committee approached Mataji and with folded hands begged her to visit our Ashram again, to which she smilingly replied; "I am not going anywhere: I am always here. There is no going nor coming—all is *Ātman*," which very much reminded us of the very words of our Divine Guru, Sri Ramana Bhagavan.

On the 7th, at 5 a.m., Mataji stood under the arch of Sri Ramanashram gate in clear moonlight with Sirius brilliantly twinkling overhead. She looked around, and, seeing the small circle of Ramana bhaktas gathered to see her off, affectionately bade them farewell, then entered her car and sped away on her journey in the direction of the Southern Cross, extremely satisfied at the reception given to her here, and at the peaceful atmosphere of the Ashram. Sri Hari Babaji expressed a wish that their stay might have been a month instead of only three days. He was the next centre of attraction; but although self-asserting and strict in matters of time, a thing Sri Mataji never bothers about, he throughout effaced himself. His quietness and his very kind heart endeared him to all those who got to know him intimately.

Farewell, beloved Mataji and, to speak the language of men, God be with you in your holy mission to bring peace and good cheers to the thousands of your children who need them, and who eagerly crowd to behold Thy divine face, and, seeing it, turn their minds and hearts to God. "God, after all", say they then, "*does* exist, and not only in some remote world in this far-flung universe, but *here and now*".

Reminiscences

BRAHMA DATTA DIKSHIT

Ocean of peace and serenity, ocean in which all desires had met like Ganga and Yamuna, and yet calm and quiet; fountain of eternal happiness, full-blossomed life, and beauty transcending earthly standards : This was in my mind the picture of those saints about whom I had read a lot and who are called 'God Incarnate.'

During incarceration in 1920, I read about Ramakrishna Paramahamsa and Swami Rama Ṭirtha. I had seen Bapu. I had a craving to see a living embodiment of God with these my eyes. I knew persons who had witnessed Swami Rama reciting 'Om, Om, Om' with great joy and tears flowing down his cheeks, Malaviyaji wiping the sacred tears with his *dupatti*.

While picnicking at Kali Kuan, Vindhyachal, about 25 years ago, Brahmachari Ramananda narrated the glories of God in his own classic way. The atmosphere was very calm, the air filled with the fragrance of jasmin, the moon shining high above, and all around Nature lay smiling. Kirtan and spiritual conversation interspersed with light talk and food. One gentleman suggested to go and see Ma Anandamayi. I read in the 'Leader' that Mataji was due to arrive at Vindhyachal shortly. The nights were passed in expectation. In dreams I beheld the vision of Mother, the very face that tallied in all details with what I saw afterwards in waking. After that the longing for satsang and the desire to drink fully at the feet of this fountain grew strong. The ocean was deep and full, my cup frail and small. I cannot claim to be among God's devotees. This life of frailty human weaknesses has been kindled to spiritual light and depth, but all silently, simply by Mother's contact, breathing in the same serene atmosphere in which she lived, catching occasional glimpses of her divine smiles, and listening when Mother deigned to utter a few words. Her child-like behaviour thrilled all. Mahamahopadhyaya Sri Gopinathji used to come and sit by her. How Mother answered the most complicated questions in the simplest words, surprised all. Women with staunch faith, but unlettered, asked :

Question : Mataji, some say : "worship Krishna", some suggest : "worship Mahadeva," others fix fasting days, yet others say, "eat well to make the body strong;" some again say : "worship of the husband is real *Pūjā*". How are we to realize God and by what path ?

Mataji : Daily you take food : dal, rice, chapatis, vegetables, chutney, etc. Rice by itself you never eat, neither can you relish chutney alone. It is the proportionate mixing that makes food wholesome and tasty. In a similar way, engage in everything that leads to God. Sin resides only where the remembrance of God is thrown into the background and ephemeral things are given prominence. The *Guru*, *satsang* and your own conscience are always driving you towards God. Only do not lag and stop the voice of God.

An eminent lawyer asked : "Mataji, how can we realize God ? Can we also see God ?"

Mataji : Do you really want to see God ? How much time and labour you have devoted to the study of law ! How much do you devote or propose to devote to the realization of God ? Certainly God is greater than law.

Such straight and simple replies convinced all. In fact, I never asked any question. Before me I had the living answer to all queries and doubts. If her very presence and vision in the physical body cannot dispel illusion, I do not know what can.

Once I had a longing for kirtan in Mother's presence, but could not voice my hidden desire. When I was leaving, Mother said: "Tomorrow you shall arrange for kirtan!" And to-morrow was the blessed day when Mother sang together with all and danced in spiritual ecstasy. The long and beautiful garland of roses from neck to foot, herself clothed in a spotless white sari and her sweet, entrancing voice can never be forgotten. I felt that I got far more than I deserved.

Another day I had a desire to touch Mataji's feet. When I was leaving, Brahmachariji asked me to purchase sandals for Mother. So, quite naturally, Mother allowed me to take the measurement of her feet. She smiled. I understood those smiles and they ennoble and guide me.

Luckily the measurement was taken on a piece of paper on which I had written a poem about Mother. When I recited it, she said: "So you can also recite poetry!"

I don't believe in ritual, yet I used to perform the *Nava Ratri Vrata* twice a year for a week, as purification of body and mind. Once, when in jail, just after I had completed the fast, perhaps in 1944, Mother came to jail to give *darśana*. Basu Babu had the privilege of her actual *darśana*. I was so fortunate as to receive *prasāda* and blessings in the form of a fine garland from Basu Babu.

In happiness Mother is always with me, and in distress which is the result of my own actions, she consoles and helps. But have I the courage to say that I am faithful to Mother? I hang my head in shame when I remember that once I went for her *darśana* as usual and offered *praṇāma* from a distance. She ordered the door to be shut. She obviously did not approve of my going there. Why? I know it. I deserved more than scolding and indifference. When you enter a temple, make sure that you are serene and pure in body and mind. An unclean body and a distracted mind spoil the serenity. Mother is never angry. She showers blessings and *prasāda* always. But as a Mother she does reprimand to guide on the path.

Once, at Sarnath, I had the audacity to ask what conversations had been held between her and Gandhiji. To which her stern and appropriate reply was : "All this won't be repeated here."

Only Mother can give me the opportunity to write the description of "In what form God revealed Himself to you" asked by a renowned *sanyāsi* and narrated by Mataji. My heart has tape-recorded it.

From an Indian Journey*

ASTRID SETTERWALL ANGSTROM

Try to be aware of all that gives you real joy! That brings you closer to God.

—Anandamayi Ma

Late one evening I took a taxi from the hotel where I lived outside of Benares. I had been given the opportunity to be present at a *Kirtan* in Anandamayi Ma's Ashram. The driver left the car in the main street, for the lanes along which he was going to conduct me were too narrow for a car to pass.

It is dusk. In the small stores that open up towards the lane I see people moving against the warm light of old-fashioned kerosene lamps. Those we meet have to step aside to let us pass. The driver asks for the location of the ashrama. Friendly voices answer him; arms raised out of folded scarves point the direction. The further we walk the more remote I feel from the ordinary ideas of time and space that rule our everyday lives.

Finally we arrive at a fairly big house and enter the patio where the driver settles down to wait. A European lady receives me. She wears a sari as most Westerners who live here do for practical reasons. I am told to take off my shoes and we mount a stair that leads to a loggia which widens into a veranda covered with heavy curtains, making it almost like a room. Inside this veranda, behind light iron-work gates, is a small shrine with large portaits of Anandamayi Ma.

---

*Translated from the original Swedish by the author and reprinted here with the kind permission of the Ananda Ashrama, La Crescenta, Calif., U. S. A.

On a large cushion, in front of the gates, the Mother herself is sitting, all dressed in white. In the obscure light I can discern that her face is refined, with almost chiselled features. Her big brown eyes are intensely expressive—as if they held a secret joy in their depths. She radiates a reassured freedom that is owned only by one who has no desires . A friend who knew her in her youth tells me that she used to fall into long states of *samādhi*. It could happen any time when she was busy in her home. Therefore, she could never be left alone. Once she was in such a state for twenty-one days. She was unconscious of her body which had to be nursed and taken care of by others. But nowadays she seems to be constantly living in a state of bliss and at the same time to retain her consciousness of the world around. Even now I hear her joking with those who sit nearest to her and I notice how she bends forwards with keen interest to watch the love-play between two large insects on the floor. All the time this indescribable smile lingers on her face.

The veranda has become full of people. Silence falls. *Kirtan* begins. A number of girls sit together. One of them leads the singing and plays the accompaniment on a harmonium. At first only she and an elderly man sing together, but later the others join. The girl sings and plays with eyes closed in deep feeling : "Talk of Mother, sing of Mother, repeat the Mother's Name!" The refrain is only "Ma, Ma, Ma"—many, many times. There are several children among us. In front of me sits a tiny, slender boy who joins in the refrain with all the force he has. His whole body rocks in rhythm.

Now and then during the evening a part of the curtains is shoved aside. People enter from the darkness and prostrate before the Mother, adorning her knees and feet with garlands of white jasmins or yellow tagetis, as they would do before the image of the Mother goddess in the temples. Anandamayi Ma does not say anything. She only smiles her smile that includes everyone and all things.

5

The song continues. The Mother has been sitting with closed eyes. Now she opens them and calmly directs her glance to each one. It is a glance that penetrates. In this way she gives of her own purity, and she fans the spark of universal life that burns in everyone to a stronger and clearer flame. It is not always words that mean most. Many of the God-inspired ones give of their life in silence. There are others who after twenty or thirty years of silence perhaps put their wisdom into words. I have been told that the Mother does not talk much.

The number of wreaths at the feet of Anandamayi Ma increases all the time. After a while the singing stops. A young man with brightly shining eyes begins to play his Sarod and to sing alone, directing his song to the Mother whose eyes are resting on him. Apparently there is some fun to-wards the end of his song because all, including the Mother herself, laugh.

Now she nods to the girls and they begin to sing again, filling the room with praise of the Mother of the Universe who helps in need, the Divine Mother whom we meet in all forms, who creates and sustains. She also destroys but only to create anew, and at the same time She embraces us with merciful arms. Out of Her embrace we step into life on earth; in Her love we live ; to Her heart we return. The first *mantra* we learn is "Ma". In many cases it is also our last word. These floating songs, sung with unlimited devotion create their own atmosphere. I sit on the floor as near as one can be to another being, but here I do not mind the close touch of others. The outside life seems so distant and the strong feeling of oneness with everyone and everything through the Mother is the Real.

After a while Anandamayi Ma rises and walks out on a terrace overlooking the broad, majestic, deep blue Ganges. The silence remains unbroken. The Mother lets her gaze follow the whirling water. Her face is so tender. Her whole personality radiates a secure warmth. There is no exaggerated emotionalism in her. Her sense of humour always comes forth. She is as she is—perfectly natural, charged with life.

The cool evening breeze sweeps around me as I stand before the luminous face of the Mother. I am asked if I would like an interview with her tonight—with the help of an interpreter. No ! Tonight it is not a question of words. Only one thing ! I ask for her blessing. Her face seems to me to be very ancient and at the same time radiating youth as she raises her hand to the holy sign.

* * * *

I left Benares and was away for more than a week. When I returned, the Mother who never stays long in one place was still there. I found a note in my hotel room saying that if I wanted to see her again I should come to the ashrama at once because she would be leaving in the late afternoon.

The terrace lies bathing in sun. People come and go or sit meditating. A man gives me a sign : "Come now." I follow him into a room where Anandamayi Ma sits on a bed dressed, as always, in white. I touch the floor with my forehead in greeting. Her eyes meet mine. We smile. Her face is calm, quiet, happy. But our word "happiness" does not render what it expresess. It seems as if her gaze pierces through to that which the eyes of others do not see. It is difficult to tell what one experiences in the presence of a God-intoxicated person. Words limit such experiences that do not have language as their means of expression. She smiles : "You are the Mother and I am your little child ! So it is !" She even tries to say it in English. We laugh. The girls in the room laugh. And all is simple and gay. She touches my forehead and my hands and she hangs a wreath of yellow flowers around my neck.

She begins to talk. Her clear girlish voice sounds almost like a bird's twittering :

"Through pure concentration *all* is possible, But the least trace of egotism prevents the spiritual growth. The one who wants to lead a spiritual life must be quite transformed and change all values. The cause of our misery is that we cling to forms and believe them to be real. This we must understand: *Real joy exists only in spiritual life.* The only way to experience it is to know and understand what the universe really is. We have to orient ourselves so that we see the whole world divine. It is said in the *Isa Upanishad*, 'Everything that moves in this world must be covered with the Lord.' Our old world has to go. And instead we shall see the world as it is, see God in all, see how the Divine breaks through names and forms. There is not a place where God is not. The only thing we have to do is to open our eyes and see Him—in good and evil, happiness and unhappiness, in joy and sorrow and in death. One may exchange the word God for life. To be conscious that 'All Life is One' gives a bliss that does not change. If you feel unhappy and restless it comes from ignorance of this truth, from being rooted in the idea of manifoldness and differences between individuals and things. All, all are only variations of That which is the center, which is the One."

"You have been touched by the Mother," my Indian friend says when I tell her of my visit with Anandamayi Ma. According to the Indian way of thinking, this is very meaningful. One thing is certain. One does not forget Anandamayi Ma. She awakens the consciousness.

Old Diary Leaves

ATMANANDA

Seek God for His Own Sake

Kishenpur, 23rd *April* 1960.

During the *Satsang* two blind men came to talk to Mataji. One of them asked: "How can I get the vision of God? Please tell me the easiest way to it."

Mataji: Seek Him for His own sake.

The blind man: Which is better, the path of devotion or that of knowledge?

Mataji: Adhere to God's Name. Repeat His Name day and night and get engrossed in Its sweetness.

Question: When I still had some eye-sight I used to read many books. But now this is impossible. How will I gain understanding?

Mataji: Turn to God, He will give you understanding.

The other blind man: Mataji, give me your blessing.

Mataji: Pray to God and you will feel His blessing.

A lady: You said: 'Seek God for His own sake.' Well then, if I seek Him with selfish motives, will I not find Him?

Mataji: If you seek God with whatever motive, you will get something of Him and if you pray for anything of this world you may also obtain it. Yet the things of this world are not worth praying for. One should seek God, not with any motive but solely for His own sake. Neither should one feel concerned about one's spiritual progress, for this is also not unselfish. Seek God because it is your nature to do so, because you cannot remain without Him. Whether and when He will reveal Himself to you rests with Him. Your duty is to call out to Him constantly and persistently and not to waste your energy on anything else. It is not fitting to compare and reason, saying : 'Such and such a person has been engaged in *sādhanā* for so many years and yet has not reached anywhere.' How can you possibly judge of what is happening to anyone inwardly. At times it occurs that a person while practising *sādhanā* appears to have changed for the worse. How can you tell whethere certain undesirable tendencies had not been hidden within him and have now been brought to light through his spiritual endeavours ? To say : 'I have performed so much *sādhanā* but no transformation has been effected,' is also not the attitude to be taken. All that you have to do is to call out to Him unceasingly and untiringly and not to look for the results of what you are doing. Who can tell whether you may not by any chance be the fortunate one among millions who will succeed ?'

Question : Sometimes I feel quite desperate because I do not seem able to succeed.

Mataji : You feel desperate when you have desires and they remain unfulfilled. But when aspiring for God, how is it possible to feel desperate?

In the course of the conversation Mataji said : "It is well to keep in mind that whatever one enjoys of worldly happiness, be it good food or anything else, uses up some of the merit (*punya*) that one has accumulated. It is therefore commendable to remember God at all times and to welcome whatever happens as coming from God. Similarly should one try to bear in mind that any suffering or adversity that one has to go through expiates one's accumulated evil karma."

Seek God within Yourself.

Mataji sometimes tells stories to illustrate some truth.

"A rich merchant was preparing to go on a business tour. A thief, eager to rob the rich man, came to him dressed in fine clothes and pretending to be a merchant himself, he said: "I also have to travel the same route. It is not safe to venture forth alone when one is carrying money. Let us make the journey together." It was agreed.

In the morning, before starting from the inn, the merchant would take out all his money, count it carefully and put it back into his pocket. He did this quite openly while the thief was watching him and planning to steal the money that very night. After a tiring day they settled down to rest until sunrise and soon the merchant was fast asleep. The thief had kept awake. He got up from bed and searched his companion's luggage, his bedding and his person. The merchant never opened his eyes but slept on peacefully. Try as he may, the thief failed to discover a single farthing. This went on day after day. Every morning the merchant counted his money, making the thief's mouth water, but at night no money was to be found. Finally, in his despair, the thief decided to question the merchant. 'Friend', he said, 'I must make a confession: I was decieving you. I really sought your company to get hold of your money. Every night I tried my hardest, but all my efforts to lay hands on your treasure proved futile, although I searched very thoroughly. Do please tell me by what magic you kept your money hidden from me!' 'It is quite simple,' replied the rich man, laughing heartily. 'From the beginning I suspected your evil intentions, yet I was quite free from anxiety, because I knew that you could never guess my hiding-place. Every night the money was lying safely under your own pillow. I felt sure that this was the one place you would never search and so I was able to sleep most peacefully.'

"God is within everyone," commented Mataji, "but man goes out in search of Him. This is what constitutes God's Play and God's Creation."

The Most Essential Thing.

Vrindaban, February 1957.

Two European ladies, both psychologists came to see Mataji. The following conversation ensued :

Question : Psychologists cure patients by talking to them. With you it seems that your emanation cures people even without words. It is our endeavour to help people. What is the most essential thing we should do for them ?

Mataji : Who in this world can be called normal ? Everyone appears to be mad after one thing or another : some after money, some after beauty, some after music, others after their children, and so forth—nobody is really quite balanced.

Question : What then is the remedy ?

Mataji : Just as one does not water the leaves of a tree but its roots, so one also has to grapple with man's disease at its root. Man's root lies in the brain. Therefore the remedy for all ills is to still the mind. When man's mind has been stilled, all will be well with him, both physically and psychologically.

Question : How does the mind become still ?

Mataji : By treading the path that leads to the realization of "Who am I ?" Your body that was young and is old now with its greying hair does not last for ever. It is not the real 'I'. Therefore man has to find out who he really is. When he tries to do this, his mind will be supplied with the right nourishment that will calm it. The right sustenance for the mind cannot be had from anything that is of this world and therefore perishable, but solely from that which is Eternal. The taste of the eternal will still the mind.

The universe was created out of joy and this is why you find joy in the things of this world. Without joy life is an ordeal. You must try to attain to that great joy which has brought forth the world.

Question : What is the special contribution a woman has to make as apart from a man ?

Mataji : A woman is essentially a mother and consequently her duty is to serve everyone. Further, since she is daughter, wife and mother all in one, to recognise the oneness of the three. Besides, in every woman is contained a man and in every man a woman. If man were not contained within you, your would not be able to recognize a man ; and if woman were not contained within a man, he would be unable to recognize a woman, Thus one of the most important tasks of a woman is to discover the man in herself.

Question : What then is the special contribution a man can give ?

Mataji : Man is the reflection of the Supreme *Purūsha* the one who upholds the universe. True manliness means divinity. But then there is *Ātmā* which is beyond man and woman. Everyone has to find that *Ātmā* that lies hidden within himself. It is the task of every human being to unfold both the man and the woman potentially contained within him or herself and to realize the *Ātmā* which is beyond man and woman.

A Practical Question.

Almora, May 1954.

One of Mataji's outstanding characteristics is that she usually does not reply from any particular point of view, but throws light on every problem from various angles. Here is a striking example.

Question : Suppose I have business dealings with someone and he cheats me by not giving me my money's worth. It is right to go to court or should I shrug my shoulders and keep quiet ?

Mataji : Some feel : If I do not give this person a lesson, he will go on cheating and become worse, and so they go to court.

6

But there is another way of looking at it: 'Who is it that has cheated me? Are not all forms, all beings manifestations of Him? What I have been deprived of was evidently not my due, it is God who has taken it from me.

There is a third way of dealing with the culprit, illustrated by the following story: A thief broke into the hut of a *sādhu* and stole whatever he could find. As he was escaping with his loot, the *sādhu* returned home. From a distance he saw the burglar with the load on his head. He quickly followed him, shouting: 'Wait a moment, brother, there are a few more things that you might want. Would you not like this, and that, and this as well?' The thief was so overcome by the astounding way the *sādhu* reacted that he fell at his feet, left off stealing and became a *sādhu* himself.

There is a fourth way of looking at the problem: Is it my business to punish the evil-doer? Listen to another story:

One day an ardent *bhakta* of Sri Krishna was walking absorbed in the contemplation of his Beloved, completely oblivious of his surroundings. Without noticing it, he stepped right on some newly washed clothes that had been spread out on the ground to dry by a washerman. "'Have you no eyes,' shouted furiously the washerman whose work had been spoiled. Getting hold of a stick he was about to beat the *bhakta*.

At that moment Sri Krishna was having food with Rukmini. All of a sudden he jumped up, and without explanation, hurried away returning after a short while. 'My Lord', questioned Rukmini, 'why did you leave so suddenly in the middle of your meal and how is it you have come back so speedily? Sri Krishna replied: 'A very dear *bhakta* of mine was in danger of being belaboured with a stick, so I hastened to his rescue. But when I saw that he had picked up a stone, ready to throw it at his adversary, I returned here without delay. Since he was protecting himself, there was no need for me to intervene.'

There is still another aspect of the matter to be considered. Once a saint was being badly abused by someone without any reason. He reflected : 'What a terrible punishment has this man incurred by his grave injustice!' He therefore gave him a light slap to lessen the disagreeable fate his offence would inevitably bring about.

And lastly : if the person who cheated you were your own brother, would you call his action 'cheating' ? To remove something from one's home is not called stealing : one takes one's own. Are not all men brothers, children of one Father ? Who is to punish whom ?

Whichever of these points of view appeals to you most, according to it you should act.

Question : Suppose one feels the evil-doer must be taught a lesson and goes to court, does one not thereby injure oneself, especially if one happens to be a seeker after truth ?

Mataji : Yes, certainly, for by acting thus one's ego will be enhanced.

Kishenpur, April 1957.

Question : If one has surrendered to God completely, is it right to take legal action in case of misappropriation of one's possession ?

Mataji : The fact that you ask whether you should go to law-court shows that you should do so. At the moment you probably feel that it would be nicer not to take any action, but later when you may be in need of what has been taken away, you will regret that you kept quiet and it will worry you. But when seeking your right you should do it in a strictly lawful way, always speaking the truth, etc. If you had really surrendered to God completely you would never ask such a question.

Question : Some people say that a thief steals only from a thief. Surely, I am not a thief !

Mataji : When someone secretly removes what belongs to you, you call him a thief. However, there is a stage of spiritual achievement where God is perceived in all forms and actions. What then will be the significance of I and 'mine' ? Find out who you are and what belongs to you ! Then, if someone removes anything without your knowledge you will not feel that it has been stolen. If there is only ONE ATMA, how can there be a thief ?

There is another state where one may say that such and such a person is a thief, without judgement and without resentment, for at the same time one will also see that it is the ONE who expresses in countless ways, that God's hand is in everything that happens.

GRAPHIC PICTURES

Of Some

Holy places connected with the early Life

Of

Sri Sri Ma Anandamayee

in

East Pakistan

Shahbāg, the garden-house of the Nawabs of Dacca,
and
the Ashrams at Siddheswari and Ramna in Dacca City.

—By courtesy of Prof. M. Ahmed, M.A., B.L.,
Dacca

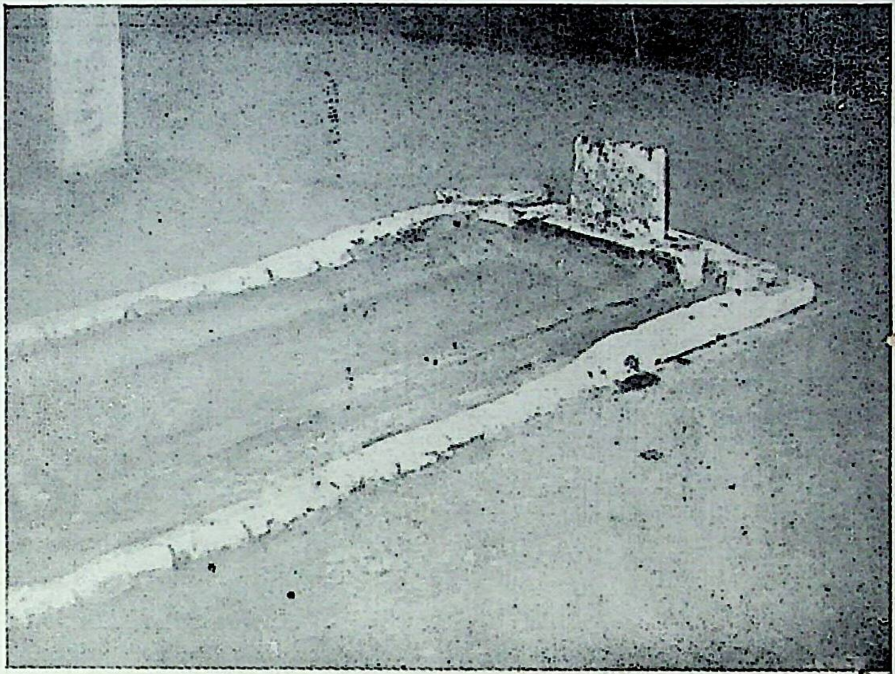

Grave of a Muslim Saint in Dacca where Ma performed Namaz and recited the Holy Quran.

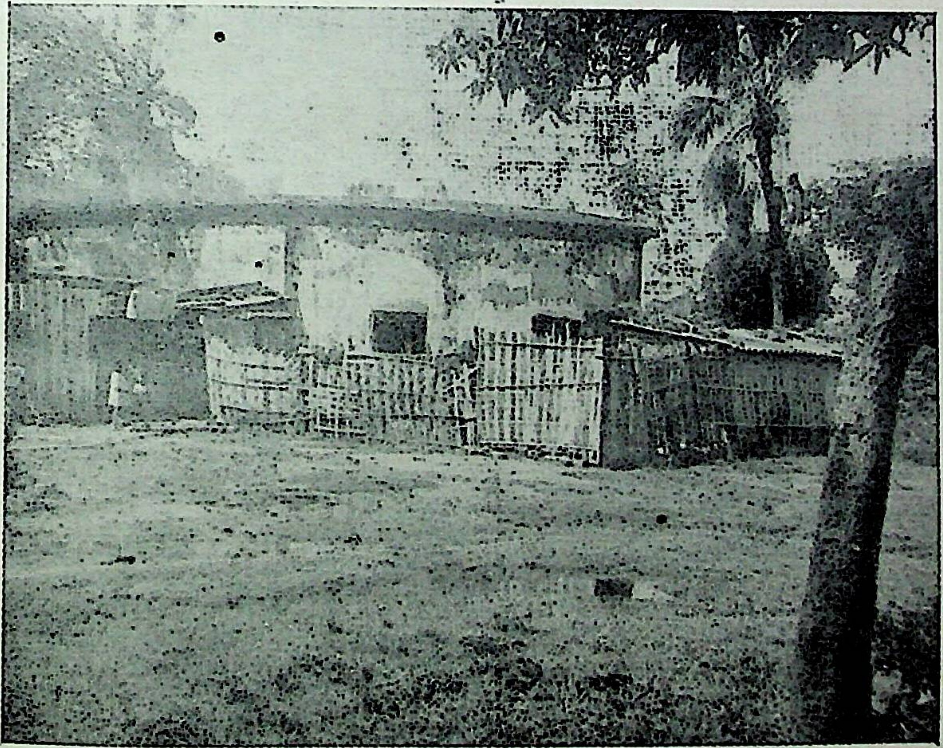

The house at Shahbag where Ma lived for a number of years.

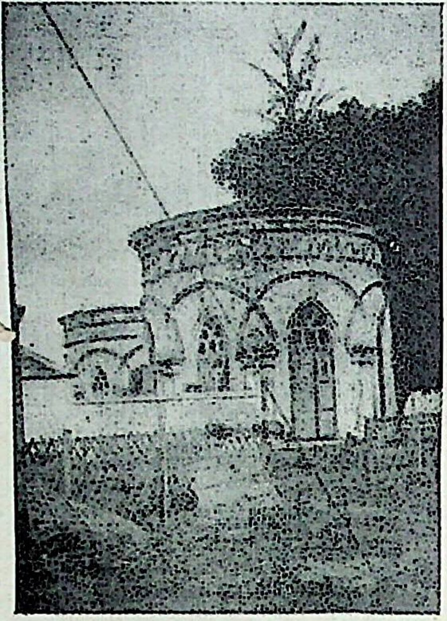

The dancing hall at Shahbag which was sanctified by Ma's presence.

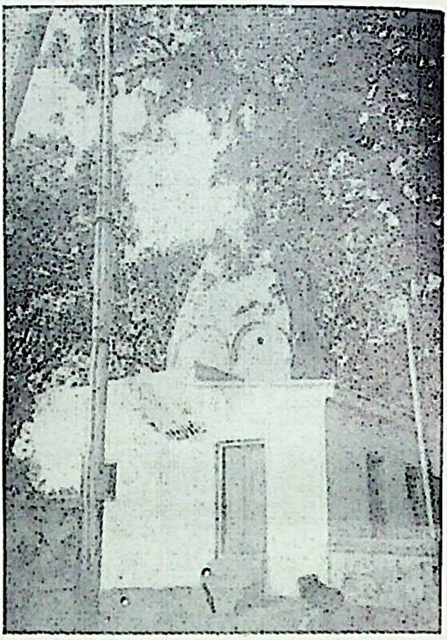

Temple of Siddheswari where Ma once lived.

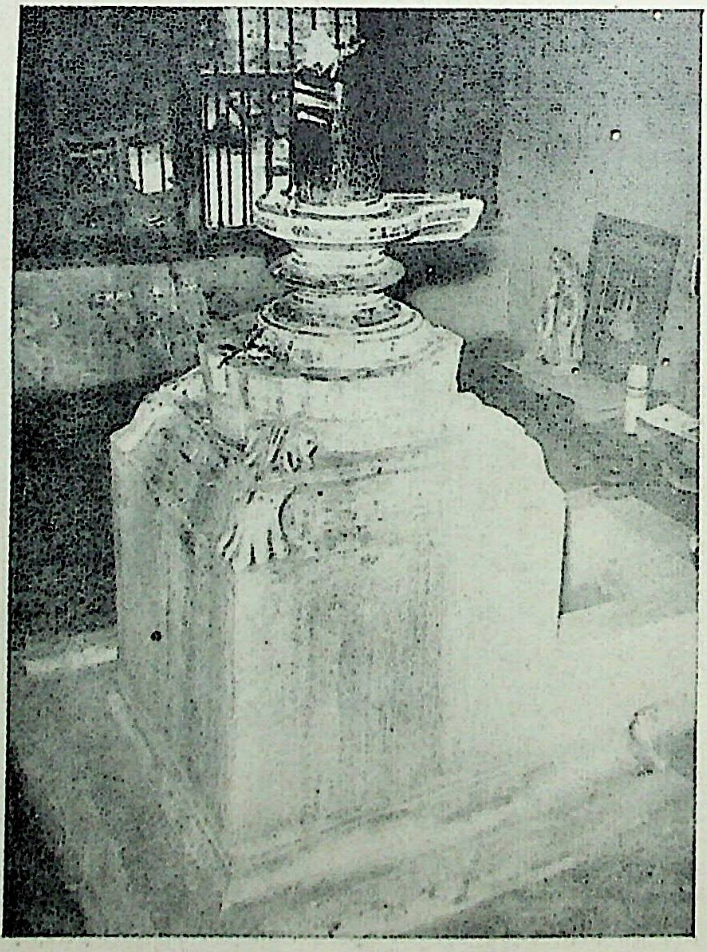

The famous Shivalinga in the Ashram at Siddheswari.

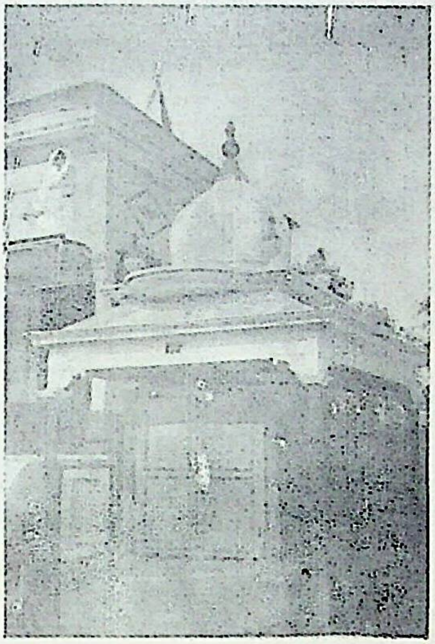

Yagna Temple in Ramna Ashram

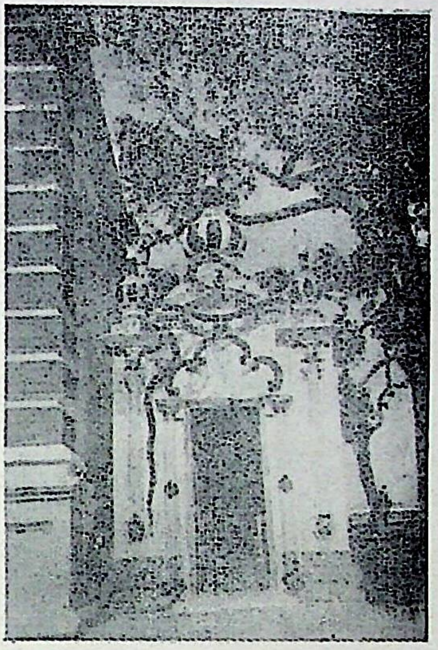

Shiva Temple in Ramna Ashram.

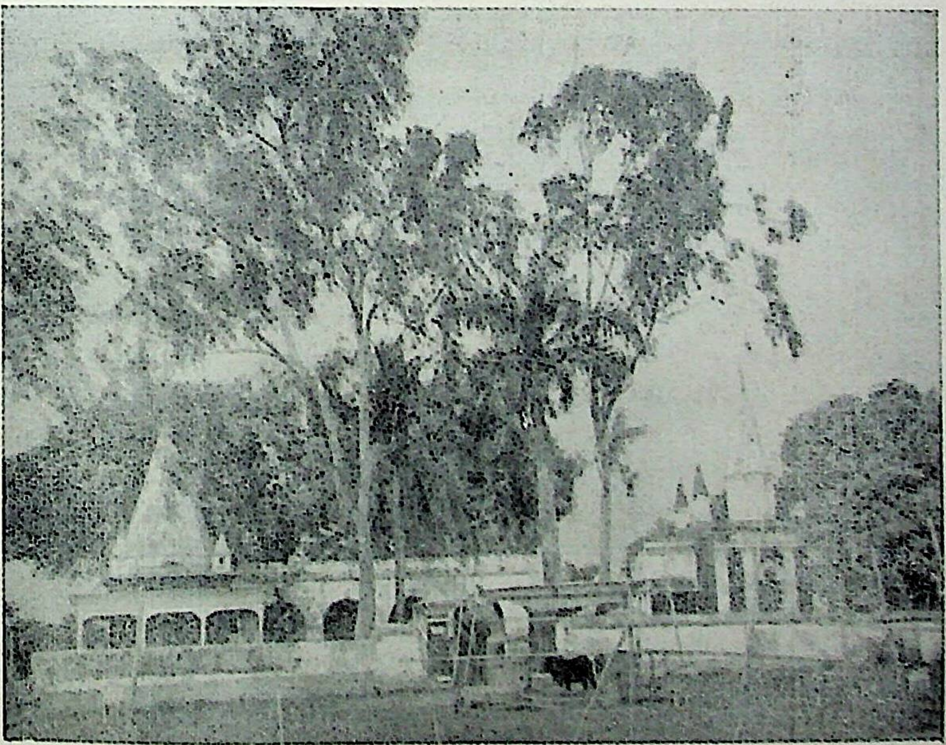

Front view of the Ashram at Ramna established in 1929.

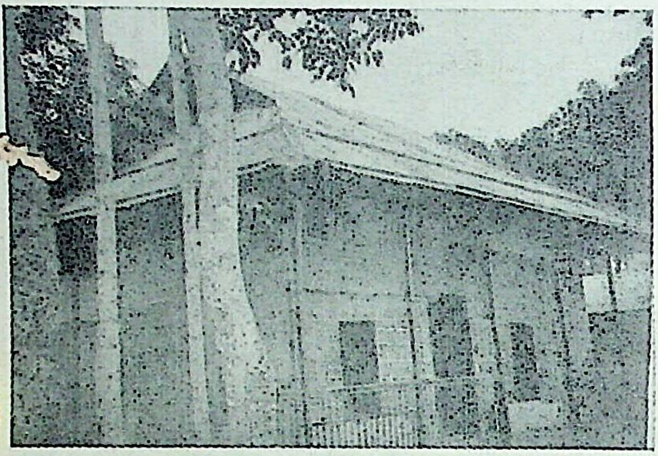

Ashram at Siddheswari established in 1926.

Annapurna Temple in Ramna A

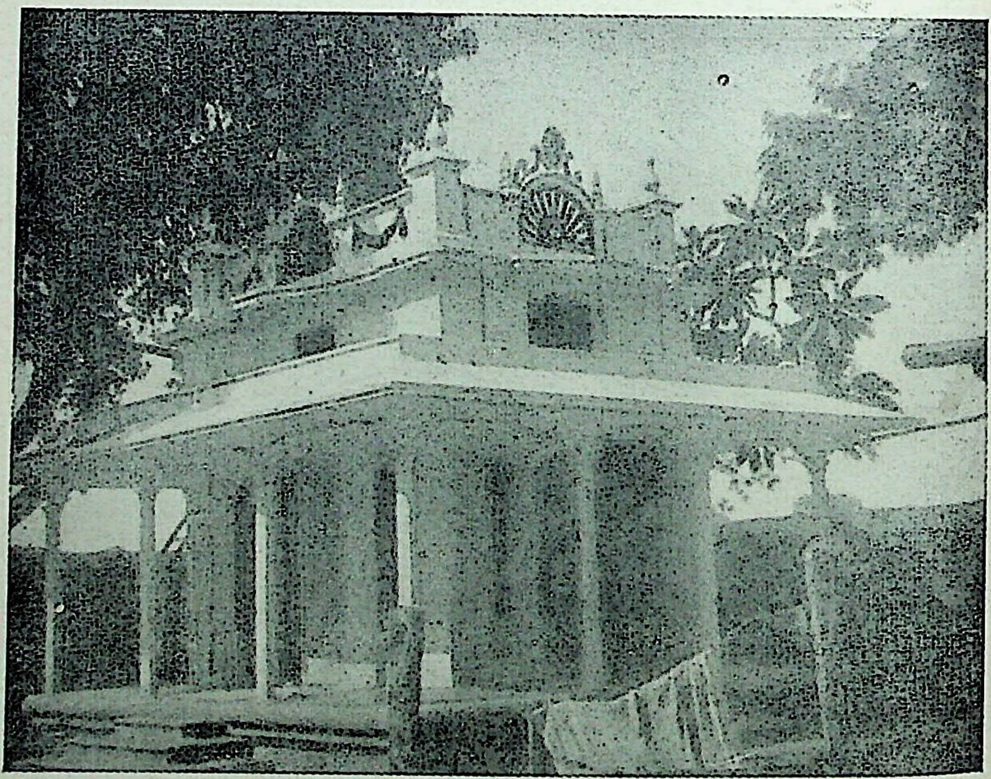

Matri Mandir in Ramna Ashram.

Matri Lila

(*January* 15*th*—*April* 30*th*, 1967)

This winter, Vrindaban was, as it were Mataji's headquarters. Having reached there on November 5th from Bhopal, she remained until March 8th, with several short interruptions of course. In the last issue of this journal we have already reported about Divali in New Delhi (Nov. 10th-12th), about Mataji's visit to Agra (Dec. 19th-21st), her stay in Varanasi (Dec. 22nd-27th) and Allahabad (Dec. 28th-30th) and a few hours in Delhi on Jan. 6th. Mataji left Vrindaban again for a week on January 24th She first went to Modinagar for one night, proceeding from there to Sukhtal on the 25th to be present at the consecration of a temple dedicated to Shakamvari (Durga) that took place on the 26th. While at Sukhtal she visited the Ashram of Swami Sri Vishnuashram at his special request. Returning the same evening to Modi nagar, she drove to Delhi the next morning. Instead of going to our New Delhi Ashram, she graced with her presence the house of Sri J.N. Dutt, resting for a few hours in a room reserved for her use. From Delhi she took the night train to Lucknow on January 27th. A tremendous crowd came to see her off at Delhi station. Sri Gurupriya Devi with a few others had arrived in Lucknow from Varanasi the previous night and met Mataji at the residence of Sri Rameshwar Sahai where Mataji and the whole party had their midday meal. Then everyone left for Naimisharanya, reaching there the same evening.

Naimisharanya is said to be one of the holiest places in India. The legend has it that 88,000 Rishis performed *tapasyā* there for one thousand years. Rishi Vyāsa is supposed to have composed all the 18 *Purānas* at Naimisharanya. When, in 1960, our 11th *Samyam Mahavrata* was performed there at the Ashram of Sri Naradananda Swami, it was found that not a single complete set of *Purānas* existed in Naimisharanya. It seemed appropriate that at least one copy of each *Purāna* should be kept in the place where they had been written and that a portion of a *Purāna* should be read daily by a *pandit.* At Mataji's suggestion this practice was started straight away by Brahmachari Bhaskaranand. When Mataji and her party left after the completion of the *Samyam Vrata* and a *Bhagavata Saptah* in November 1960 the task of continuing the regular daily reading of the *Purānas* was entrusted to a pandit. Some of the leading members of the Shree Shree Anandamayee Sangha further decided to build a small *Purāna Mandir* in which the 18 *Purānas* would be kept and read in rotation all the year round. Accordingly a plot was acquired for this purpose at the highest spot of Naimisharanya, above Hanuman Tila, on a hill.

This time, in January 1967, Mataji visited Naimisharanya to be present at the laying of the foundation-stone of the *Mandir.* Sri Prayag Narayan of Sitapur had made excellent arrangements for the stay of Mataji and her party. They were housed in five cottages directly on the banks of the Gomati river, where Mataji had also stayed in 1960 for a few days after the functions were over. Mataji remained for three nights. She was in an excellent mood in those sacred, peaceful and charming surroundings of great natural beauty. A number of officials and devotees came from neighbouring towns for Mataji's *darśana* and some to talk to her. Mataji had brought only a mere handful of companions with her. Sri Gurupriya Devi and those who had come from Varanasi returned there again when Mataji left for Vrindaban, where she alighted in the morning of January 31st.

A few quiet days followed. Then Mataji responded to the clamouring of the Delhi bhaktas to be in their midst during the celebration of the Saraswati Puja on February 14th. She spent five very busy days in Delhi, almost constantly besieged by throngs of people. Pandit Sundarlal, an old devotee of Sri Haribabaji, who had been coming to Mataji for many years, requested her to take him to Delhi, where he wanted to join Sri Haribabaji and go to Bandh. He thus accompanied Mataji in her car. This turned out to be his last journey, for the aged Pandit fell ill and left his body in Bandh.

On returning to Vrindaban, Mataji had a comparatively quiet time, although visitors kept on pouring in. Among them were quite a few from various foreign countries, as for instance the Ambassador of Czechoslovakia. One day some camera men of the British Television came to film Mataji. She was very gracious and sang "*Krishna Chheliya*" for them. Mr and Mrs Desjardins with their two children stayed for 3 days. Their little son, not yet three years old shouted for joy whenever he was taken to Mataji who gave much attention to him and his sister. The little boy had been 4 months old when he first had Mataji's *darśana*. Even then he had seemed to recognize her. A painter from Finland who comes to Mataji almost every year arrived with a young man from Switzerland. Melita Maschmann, the German novelist was on her 3rd visit to India this winter. She was already with Mataji in Bombay during Durga Puja and accompanied her to Vrindaban. Her last book (in German of course) has just appeared. It is mostly about Mataji and contains a dedication to her in Bengali. The authoress presented the first copy to Mataji in Dehradun in the beginning of April. An American young lady has stayed with Mataji from the middle of January up to date.

On March 2nd, Swami Chidananda, the Head of the Divine Life Society, Rishikesh, arrived for a short visit. He gave a talk and also sang kirtan.

* * *

For the last several years Mataji has made it a point to be with Sri Haribabaji on his birthday, which falls on Holi and is also the birthday of Sri Chaitanya Mahaprabhu.

This time, Sri Haribabaji requested Mataji to spend not only Holi but also Sivaratri with him at Bandh. It was also his 82nd birthday. Mataji responded to his call. On March 7th, Mataji's party travelled there by bus from Vrindaban and Mataji with three or four companions followed by car on the 8th morning.

Sri Haridham Bandh is a unique place, situated in the interior of the U. P., at a distance of 12 miles from Anupsahr, the nearest Railway Station. The road is bad for the last 4-5 miles and negotiable only by bullock-carts and, with difficulty, by jeeps. Until nearly 40 years ago the villages of that area were inundated by the over flowing Ganga every rainy season. The State Government built a dam, which however proved inadequate to stem the impetuous floods and finally broke down. So the plight of the villages continued. Sri Haribabaji used to wander about in that area, doing *tapasyā*. Moved by their misery, he organized the inhabitants of a number of villages and together with them erected a strong dam made of sand and earth with the labour of their own hands and out of their own resources. He taught them to build in the name of the Lord and to sing "*Hari Nāma*" all the time while working. The constant repetition of *Hari Nāma* has become a special feature of the place. Someone remarked this time: "In Bandh the very earth is singing kirtan." It is believed that the power of this uninterrupted kirtan has made strong the dam, which stretches for miles and has to this day withstood the yearly onslaught of the floods. The population of about 40 neighbouring villages are deeply devoted to Sri Haribabaji, in fact they regard him as an incarnation of the Lord Himself and implicitly obey his bidding, putting themselves and their own completely at his disposal. Bandh has many houses, a *satsang* hall, and a temple with *vigrahas* of Radha Krishna and Nitai Gouranga. There are now several tube-wells, electricity and proper sanitation. The whole place is kept spotlessly clean and the spirit of service of the villagers is unequalled. Having been in Bandh before, nearly 20 years ago, Mataji found the place greatly developed and improved. She is always happiest in unsophisticated rural surrounding. She simply loved Bandh. The few people who had come with Mataji deemed themselves singularly fortunate to see Mataji in this delightful, carefree mood, perfectly at ease. They felt that Mataji would have liked to remain in Bandh for ever. Being such an inaccessible place even for cars, there were no visitors at all. The villagers had been asked not to disturb Mataji in her house and to come for *darśana* at *satsang* time. So, for once the door of Mataji's room could be kept open without anyone intruding.

Even for Sivaratri, which fell on March 9th, only seven visitors arrived from outside. 20 people in all celebrated the all-night *pūja* in the room next to Mataji's. The door was kept open and she was thus present throughout. Between 2 and 3 a.m. when most people were about to doze off, notwithstanding the kirtan that was being sung in the intervals between the *pūjās*, Mataji started singing loudly and with great fervour, clapping her hands all the while. She continued for about 10-15 minutes. Instantly everyone was fully awake and alert, filled with new inspiration. The attendance was a record in smallness of members, but the night will remain unforgettable to all who were present.

Mataji's party at Bandh included a young artist from Los Angeles. We quote from her letter : "...Every day at about 10.30 a.m. we accompany Ma to the *Rāsa līlā*, which by the way is fabulous. It really is superb ! Inspiring. At 4.30 p.m. we again are with Mataji in a huge tent and sit on the stage with Her and Sri Haribabaji who reads and discusses the scriptures. At 6.30 p.m. we all take a walk with Mataji on the *bāndh* (dam). It is a most peaceful moment. At 7-30 we have kirtan and at about 8.30 Mataji goes again to the tent for Haribaba's kirtan and talk. One evening Mataji talked for half an hour with the microphone. I just happened to have brought my tape recorder and got a perfect recording.......There is much kirtan going on here all the time—and so unique. Whenever Haribabaji goes anywhere, a small village band accompanies him with blaring trumpets playing 'Hari bol' or the *Mahāmantra.* Mataji and Haribabaji often cross paths on their evening walks on the *bāndh.* They speak but little, only a gentle *pranāma* and walk on. At 9 p.m. they both go into the *Mandir* and Ma every night touches all the statues with Her hands and puts Her head on their feet........"

The '*Rāsa līlā*' was actually the *Līlā* of Sri Gouranga, which had been written by Swami Premanand of Manipur. He took 14 years to get it ready, scanning all the literature on the subject and then trained the actors also. It truly was very special. The audience forgot that a drama was being enacted and followed with breathless attention. Even Mahatmas were moved to tears. It seemed real, not a play. By chance a sculptor from Navadvip (Sri Gouranga's place) arrived and made beautiful statues representing Sri Gouranga, Radha Krishna, and the *sakhis* etc. that served as a background during the performances.

* * *

Mataji was to go to Dehradun immediately after Holi, but at the last moment she accompanied Sri Haribabaji to Moradabad for 5 days, leaving Bandh on March 29th. She and Haribabaji were put up in a new house that was opened thereby. Their host was Sri S.N. Khanna, Principal of the K.G.K. College. On April 4th, Mataji alighted in Kishenpur for a short visit of 6 days only. Didima and Didi arrived from Varanasi on the 5th. At Moradabad and Dehradun Mataji's health was not very satisfactory. In spite of this, Mataji went to Kalyanvan twice to visit Ram Mandir and to inspect in detail the new building behind the temple which is nearing completion. Large crowds came daily for Ma's *darśana*, among them also more than half a dozen foreigners. On the 7th-8th April *Akhand Rāmāyaṇa* was chanted in

Rama Mandir and on the 9th the *Hanuman Chālisa* from sunrise to sunset.

On April 10th, Mataji motored to Kankhal where Didima's *Sannyāsa Utsava* was celebrated on the 14th. At Kankhal Mataji's health improved visibly. She was up and doing during the whole day of the festival, supervising-every thing and came downstairs twice for several hours. In spite of the very limited space in our small Ashram called 'Santiniketan' everything proceeded beautifully. Many arrived from Dehradun and quite a number also from distant places. Didima is over 90 years old and it is our very good fortune that she seems to have grown younger instead of older during the last few years. *Guru pūjā* was performed to her as usual on that occasion. A number of *sādhus* and all present were entertained to a feast at midday, while kirtan was kept up all along. From 4.30–6 p.m. three Mahamandaleshwaras of Hardwar gave lucid talks on renunciation. Early morning and in the evening *ārati* was performed. The next day, being the Bengali New year's day, the door of Mataji's room opened again and again to allow everybody to do *pranām*. Mataji was therefore late for the evening *darśana* held on the Ashram roof. A touching little incident took place. An old woman came and, to the amusement of the congregation, did *pranāma* to an American lady who was sitting near Mataji's empty armchair. When, towards the end of *darśana* time the old woman went up to Mataji and caught hold of Mataji's feet, which is forbidden, she was severely rebuked, by those sitting nearby. To comfort her, Mataji patted her and said : "What a joyful face you have! How simple you are! This is why I could pick you out from the crowd." Mataji then asked her name and address, about her family, etc. Her name was Simladevi and she stayed at Harki Pauri in Hardwar. Someone then told Mataji that Simladevi had bowed to the American lady. Mataji : "You are quite right. There is only *Janardana*, none else. To whomever you bow, you bow only to Him.

Even animals, trees, stones—all are He." It then came to light that Simla Devi had fasted all day, as she had decided to eat only after having Mataji's *darśana*. In the morning she had tried in vain for it, now at last she had succeeded. Mataji gave her a large papita and a bag full of oranges, saying : "You have not taken even a piece of fruit all day, now go home and eat all these." Then she added : "You say you have four sons but no daughter. Tell your husband that today, on New year's day, you got a daughter. I am your daughter. A mother never forgets her daughter. Come and see me again." Needless to say that Simla Devi was beaming with happiness and moved to tears by Mataji's affection.

From April 14th-16th Satyanarayana Puja was performed in front of a picture of Lakshmi Narayana. On the 17th early morning Mataji had a 'vision' of a wonderful building not of this world. Several Mahatmas were staying in it. There was also a thatched hut for Mataji. In one of the rooms of the house a woman was singing kirtan with deep feeling, entirely absorbed in it. Mataji heard : "*Bhava bandhana mukti kāraṇa*", the next word was not clear and then "*dukha hāri.*" Mataji decided on "*sarva jayā Śiva*" for the missing word since Kankhal is the place, of *Śiva* and later changed it to "*Lakshmi Nārāyaṇa*" because of the Puja that had been performed for three days. Mataji went on singing to herself for about half an hour and then asked the Ashram girls to sing *akhanda kirtana* of the 2nd version until 9 p. m. The kirtan has a very beautiful melody. The next morning they sang the first version with "*sarva jayā Siva*" until 3 p. m. Mataji remarked : "Lakshmi Nārāyana has given this kirtana to this Ashram and it will remain here for ever."

Among the girls who sang was also Moroni, Bholanath's niece, whom he had adopted when she was one year old and who was thus brought up by Mataji herself. She had come with her two grown up children, her husband having passed away about a year ago.

On April 19th everyone dispersed and Mataji shifted to 'Santi Nivas', a house on the road between Hardwar and Rishikesh belonging the to Sri J. K. Birla. Mataji reached Dehradun on the full moon day, which was on the April 24th.

Sri Gurupriya Devi and a party of Ashramites are due to arrive in Kanpur on May 2nd to start Mataji's birthday celebrations which will be held this year in Kanpur at the cordial invitation of the Jaipurias. Mataji herself is expected Kanpur on May 12th and to stay there at the Swadeshi House until the 27th. to reach

Mataji is completing her 71st year. On this joyful occasion we all join in the fervent prayer that Mataji may keep her body in radiant health and vigour for many, many more years to come for the good of this sorrow-stricken world which so sorely needs the blessing of her presence.

Statement about ownership and other particulars about ANANDA VARTA

FORM IV

(*See* Rule 8)

1.	Place of publication	Mata Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi
2.	Periodicity of its publication	Quarterly
3.	Printer's Name	K. Bose
	Nationality	Indian
	Address	Mata Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi.
4.	Publisher's Name	K. Bose
	Nationality	Indian
	Address	Mata Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi.
5.	Editor's Name	K. Bose
	Nationality	Indian
	Address	Mata Anandamayee Ashram, Bhadaini Varanasi.
6.	Names and addresses of individuals who own the newspaper	Shree Shree Anandamayee Sangha, (Regtd). Bhadaini, Varanasi.

I, K. Bose, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Date March 31, 1967

(Sd) K. Bose
Signature of Publisher

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA

LIST OF PUBLICATIONS

Hindi

Mātri Darshan—"Bhaiji"	2-50
Sad Vāni ,,	1-00
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I to VII	16-50
Ma Anandamayee—Dr. Pannalal	2-50
Akhanda Mahāyajña—Gurupriya Devi	2-50
Kirtan Rasa Swarūpa	6-00
Sankirtan, Stav, Arati	0-50

Bengali

Matri Darshan—"Bhaiji"	3.00
Sad Vāni—"Bhaiji"	1-50
Mātri Vāni	0-75
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I–XII	29-00
Ma Anandamayee Upadeshamrita Sangraha	1-50
Akhanda Mahāyajña ,, ,,	2-50
Kirtan Rasa Swarūpa	6-05
Suno Bali Maer Kotha—Sailesh Brahmachari	1-25
Mātri Lila Sankirtan	0-31
Anandamayee Ma—Ganga Samiran	2.50
Namavali— ,,	0.50

Gujarati

Mātri Darshan—"Bhaiji"	1-50
Ma Anandamayee Ke Sannidhyame, Part I & II —Br. Kantibhai	
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand	2-00

English

Mother As Revealed to Me—"Bhaiji"	4.00
Mātri Vāni (Sayings)	1-50, Special edition 2-50
Words of Sri Anandamayee Ma	3-00, Special edition 5.00

Photoset

Album of Mother's pictures	1-50
Photos—various sizes	0-40 to 15.00
Lockets	1-25

श्रीश्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. N. 4726/57

ānanda VĀRTĀ

HINDI & ENGLISH

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Vol. XV. August, 1967 No. 2

Ānanda Vārtā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teaching of Mata Anandamayee and with other religio-philosophical topics

*

BOARD OF EDITORS

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M. A., D. Litt.
Padma Vibhushan
Kumari Lalita Pathak, M. A.
Kumari Padma Misra, M.A., Ph.D, Acharya
Kumari Bithika Mukerji, M. A., D. Phil.
Brahmacharini Atmananda.
Sri Sailesh Brahmachari.
Sri Amulya Kumar Dutta Gupta, M. A. B. L,
Sri K. Bose,—*Managing Editor.*

*

★ ANNUAL SUBSCRIPTION ★

India—(Postage free) Rs. 6/- only
Foreign—(By Sea Mail) Rs. 9/- or 15 shillings or $ 2·00
" (By Airmail)—Rs. 22/- or £ 1-10-0 (Europe etc.)
" " —Rs. 35/- or $ 5.50 (North & South America.

ĀNANDA VĀRTĀ

GENERAL RULES

1. The magazine is published in three separate editions—(1) Hindi-English (2) Bengali-English (3) English—in the months of May, August, November and February. The year begins from May.

2. Subscriptions are always payable in advance. Foreign subscriptions may be sent either by International Money orders or Postal orders.

3. Subscriptions to be sent to :—

The General Secretary, Shree Shree Anandamayee Sangha,
Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

4. All correspondence regarding 'Ananda Varta' should mention without fail the subscription number and be addressed to :—

The Managing Editor, "Ananda Varta", Shree Shree Ma
Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

5. Complaints about non-receipt of the magazine should be sent *within the month of publication.*

6. Any change of address should be intimated to the Managing Editor at the earliest possible opportunity.

7. Subscribers are requested not to dishonour any issue of the magazine sent by V. P. P., as this entails a loss to the Ashram fund. They may kindly inform us *beforehand* if they desire to discontinue subscribing to the magazine.

Published by Shri K. Bose, for
Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi.
Printed at the Indian Press (Pte.) Ltd., Varanasi-Branch VARANASI.

CONTENTS

Hindi Section

1—मातृ-वाणी 45
2--डायरी के कुछ पृष्ठ--गुरुप्रिया देवी 48
3—श्री आनन्दमयी मातृ स्तुति 56
4--कैलाश-मानसरोवर-प्रदक्षिणा--श्री "दत्त" 57
5--मातृ-सत्संग--स्वामी भागवतानन्द गिरि 68
6--गीता के अर्जुन--गंगा-समीरण 78

CONTENTS

English Section

1. Matri Vani 55
2. Conversations with Sri Sri Anandamayi Ma—Gangacharan Das Gupta 58
3. Quintessence of the Yogavasistha —Dr. B. L. Atreya 64
4. Sacred Places of Kashmir, Jammu and Ladhak—A devotee 68
5. Guru Nanak's Sikh Religion —Prof. A. N. Ghose 74
6. My First Meeting —Pt. Jiyalal Kaul Jalali 80
7. Evolution of Matter—D. S. Mahalanobis ... 83
8. The Sphere in Religion —Elwood Decker 92
9. Matri Lila 99

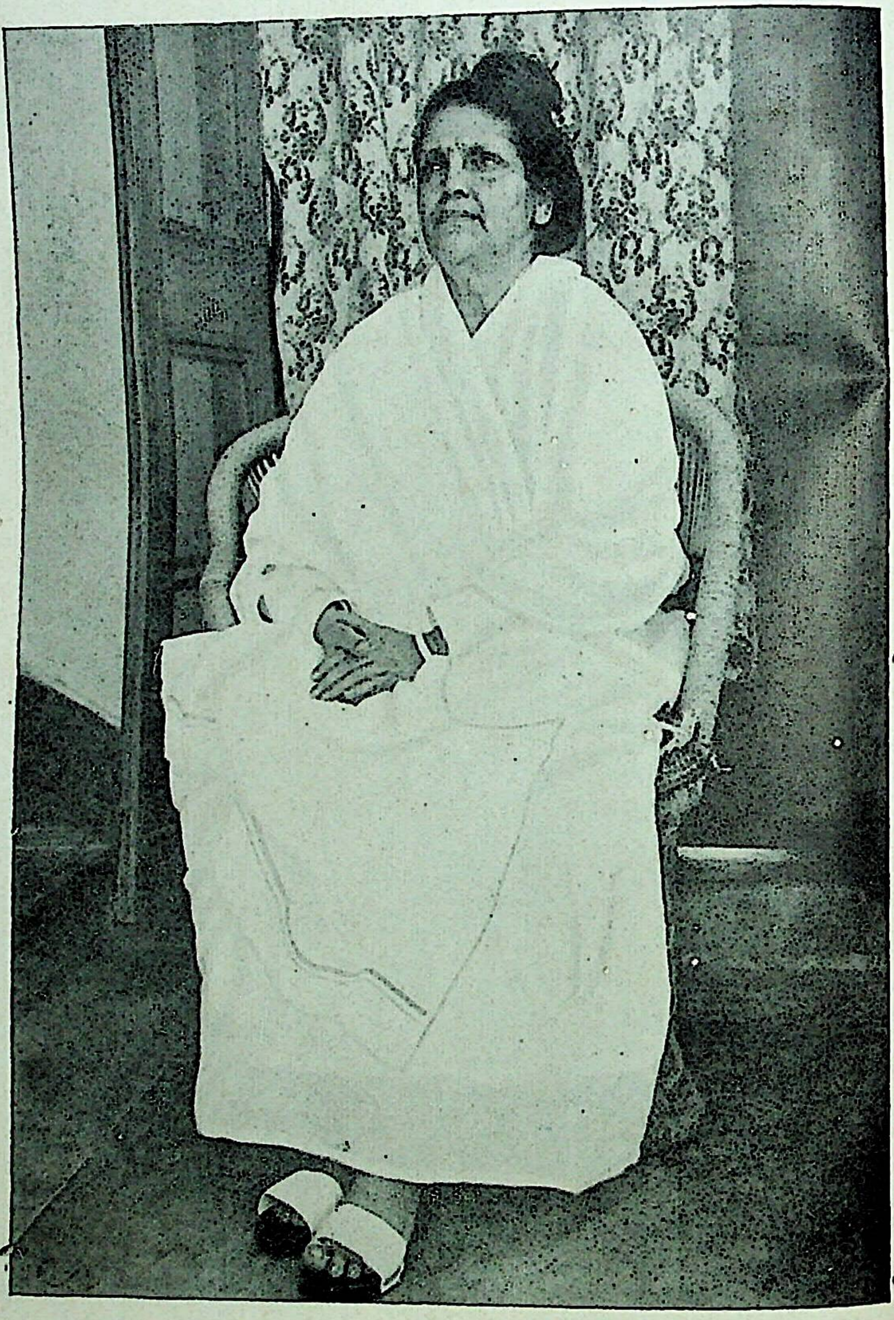

Ananda Vārtā

“अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपनेमें आप।”

VOL. XV] AUGUST 1967 [NO. 2

—मातृ-वाणी—

अशान्ति दो प्रकार की। संसार का काम लेकर अशान्ति और परम पथ पर अग्रसर होने के लिए अशान्ति। यह अशान्ति ही फिर शान्ति का एकमात्र उपाय। वे शान्त-आत्मा-भगवान् यह उपलब्धि होती है। परम शान्ति के लिए अशान्ति होने से ही शान्ति प्राप्त होती है। नित्य आनन्द भी वही है।

× × × ×

अपनी क्रिया के द्वारा ही अभाव की सृष्टि होती है और अपनी क्रिया के द्वारा ही वह अभाव दूर होता है। स्वयं ही करना स्वयं के प्रकाश के लिए। स्वयं ही विषय भोग करता है—फिर स्वयं ही धीरे-धीरे मृत्यु की ओर अग्रसर होता जाता है। अमृत-भोजी होओ, बाबा—अमर भोजी। अमर पथ पर चलो—वहाँ मृत्यु नहीं है, व्याधि नहीं है।

× × × ×

सेवा बुद्धि रहने से फिर भगवत् सेवा में लगा जाता है। मोह-बुद्धि से मृत्यु प्राप्ति। उनका विधान बड़ा ही अच्छा है। इसीलिए कहती हूँ सब महायात्रा करो—जिस यात्रा से यात्रा बन्द हो जाती है। समय जिससे नष्ट न हो। सब समय निज चिन्तन में ही रहना। मृत्यु का चिन्तन न करना। इसीलिए कहा जाता है कि जहाँ नहीं राम, वहीं व्याराम। राम माने आत्माराम शान्त स्वरूप, ज्ञानस्वरूप, आत्मस्वरूप।

× × × ×

भगवत् क्रिया ही क्रिया—और सब मृत्युपथ की क्रिया। आत्म चिन्ता ही स्व-गति की दिशा है। जागतिक क्रिया से अरूप प्रकाश। हरि चिन्ता के सिवा और जो कुछ है, सब वृथा-अक्रिया। स्वक्रिया में स्थित होना ही कर्त्तव्य।

× × × ×

मनुष्य अभाव रूप से प्रकाशित—अभाव की ही चिन्ता करता है—अभाव को ही प्राप्त होता है। अतएव स्वभाव की चिन्ता ही कर्तव्या अन्यथा अभाव—अक्रिय-अगति दुर्गति-मृत्यु। स्वयं में स्वयं ही। आने जाने के रूप में, स्वरूप में वे ही हैं। मैं ही तो आत्माराम। ज्ञानरूप में प्रतिष्ठित होना चाहिए। केवल तुम्हीं,—तुम ही,—तुम ही। सब कुछ में तुम ही। फिर तुम स्वयं ही। अनन्त एकमात्र वे ही—एकमात्र मैं ही।

× × × ×

उनको पुकारना वृथा नहीं जाता। जब तक प्रत्युत्तर न मिले, पुकारते जाना। अपने को अपने आप ही पुकारना। अपने को अपने आप ही पाना। अखंड पुकार से अखंड को ही पाना। अपनी आत्मा—प्राणों के प्राण प्रिय को ही तो पुकारना। कितने काल से भोग की पुकार कर भोग करते रहना हुआ है। जिनको पुकारने से त्याग भोग, पुकारने का द्वन्द्व मिट जाता है, वही पुकार प्रिय होनी चाहिए।

× × × ×

ऐसी अनेक क्रिया हैं, जिनमें मृत्यु होने से दुर्गति होती है—सद्गति नहीं होती। अन्धकार से और भी अन्धकार में जाना पड़ता है। ऐसा क्यों होता है, वह बात कही नहीं जाती। वह उनकी मौज। कर्म जैसा, फल भी वैसा ही।

× × × ×

इतने दिन विषयों में मन रखा है, अब भगवान की ओर मन लगाओ। देखोगे, धीरे-धीरे तुम्हारा रास्ता खुल जायगा। विषय चिन्ता भी छूट जायगी। वह तो छूट जाने वाली ही है। आवरण भी धीरे-धीरे हट जायगा। वह अनित्य है न, जो अनित्य है, उसका तो विनाश होगा ही।

× × × ×

भगवन्नाम से पाप हरण होता है। कहा जाता है कि मनुष्य इतना पाप नहीं कर सकता जो भगवन्नाम से दूर न हो। जैसे एक अग्नि की चिनगारी

(स्फुलिंग) जितना जला सकती है, उतना पदार्थ तुम संग्रह भी नहीं कर सकते। भगवत् चिन्तन, भगवान की ओर जाने की जो चेष्टा, वह तो तुम्हारे समस्त पाप नष्ट कर देगी। नाश का नाश होगा—स्वरूप का प्रकाश होगा।

× × × ×

विषय वासना से मुक्त होने के लिए जब तुम भगवान् की ओर लग जाओगे, तब तुम्हारी अन्तःशक्ति बढ़ जायगी। तुम अभ्यास करो। भगवच्चिन्ता में अपने को बाँध रखो—मन लगे या न लगे। आशा यह कि कभी मन लग जायगा, एवं लग जाता भी है।

डायरी के कुछ पृष्ठ

गुरुप्रिया देवी

१० जनवरी १९६६

माँ कुछ दिन से विन्ध्याचल में हैं। शाम के बाद माँ के कमरे में हम दो चार लोग बैठे हैं। बात-बात में बहुत समय पहले की चर्चा उठी। माँ कह रही हैं, "शहर में हैजे और चेचक के कारण सभी को इंजेक्शन दिया जा रहा था। इस शरीर की आयु उस समय १९-२०। इस शरीर के अन्दर उस समय योग की क्रियादि हो रही थी। भोलानाथ को अनेक बार निषेध किया गया कि इंजेक्शन न दिलवाए। पर सबों की बातें सुननी पड़ेंगी इस भय से वह राजी नहीं हुआ। इंजेक्शन देने के पहले यदि क्रियाएँ शेष हो गई होतीं तो कुछ न होता। देने के साथ ही साथ हाथ खूब मोटा होकर फूल उठा। तभी से शरीर की यह दशा जाने कैसी हो गई। अब भी है। यह जो शरीर में बीमारी आदि दीखती है, सभी उस इंजेक्शन के कारण। एक उपलक्ष्य तो होना चाहिए।"

माँ की बात सुन कर हम लोग स्तम्भित हो गए। प्रायः ५० वर्ष पहले दिये हुए इंजेक्शन की प्रतिक्रिया अब भी माँ के शरीर में स्पष्ट रूप से विद्यमान है चिकित्सा शास्त्र में क्या इसका कुछ उत्तर है?

११ जनवरी १९६६

प्रयाग में इस बार पूर्ण कुम्भ है। झूसी में साधु महात्माओं के कैम्प के पास गंगा के किनारे हमारे आश्रम का भी कैम्प बना है। माँ विन्ध्याचल से दोपहर के बाद इलाहाबाद आ पहुँचीं। स्वामी परमानन्द जी नैनी के पुल के पास अपेक्षा कर रहे थे। वे रास्ता दिखा कर माँ की गाड़ी कैम्प पर ले गए। कैम्प खूब बड़ा और अच्छा बना था। स्वामी परमानन्द ने गत मास कुछ समय अक्लान्त परिश्रम करके सब व्यवस्था करायी थी। किन्तु अकस्मात् दो तीन दिन पूर्व हमारे कैम्प की नौ फूस की कुटिया चौकी इत्यादि सब आग लग कर बिल्कुल भस्म हो गईं। सुना रात में बिजली के मिस्त्री काम कर रहे थे। कैसे आग लगी, ठीक से मालूम नहीं पड़ा। चारों ओर का भस्मीभूत रूप देख कर मन खूब ही खराब हो गया।

माँ के लिए नवीन कुटिया फिर से बनाई गई। माँ उसी में किसी प्रकार रह गईं। हमें शहर में बिन्दू के घर भेज दिया। क्योंकि यहाँ हमें ठंड में असुविधा हो सकती है।

१४ जनवरी १९६६

आज पौष संक्रान्ति—कुम्भ स्नान का एक प्रधान दिन है। माँ और दीदी माँ को एक पालकी करके खूब सुन्दर तरह से सजाकर त्रिवेणी पर ले जाया गया। साथ में बहुत भक्त पैदल चले। एक बड़ा बजरा पहले से ही ठीक कर लिया गया था। उसमें माँ को संगम ले जाया गया—चारों ओर जन समुद्र।

माँ के मुख से सुना कि कल माँ ने लेटे-लेटे देखा कि एक परमासुन्दरी स्त्री माँ को एक टुकड़ा कपड़ा दिखा रही है। समझीं कि गंगादेवी स्वयं। माँ को ख्याल हुआ कि भवानी ने गंगादेवी को देने के लिए माँ को एक साड़ी दी थी। माँ ने गंगादेवी से पूछा—कौन सी? गंगादेवी ने रंगीन एक साड़ी दिखा दी।

माँ आज संगम आते समय वही रंगीन साड़ी साथ लाई थीं। साड़ी माँ ने हँसते-हँसते गंगा के उद्देश्य से दे दी। पीछे सुना माँ ने और भी दो स्त्री मूर्ति देखी थीं। वे दूर खड़ी थीं। पहनने का कोई भी वस्त्र नहीं। माँ के कहने के ढंग से समझी कि एक यमुना—दूसरी सरस्वती। अमावस्या के दिन कुम्भ के प्रधान स्नान के समय यमुना और सरस्वती के उद्देश्य से वस्त्र देने की व्यवस्था की गई।

२१ जनवरी १९६८

आज अमावस्या—कुम्भ का सर्व प्रधान स्नान। आज भी माँ और दीदी माँ को सुसज्जित पालकी में शोभायात्रा के साथ ले जाया गया। कई लाख लोगों का समावेश—माँ ने स्नान नहीं किया। जल को स्पर्श करके सबको छींटा दिया।

कुम्भ मेले के भारप्राप्त प्रायः सभी कर्मचारी माँ को प्रणाम करने आए। इस बार समस्त व्यवस्था खूब सुश्रृङ्खला के साथ हुई—कहीं भी कोई गोलमाल वा दुर्घटना नहीं हुई। माँ ने भी उनकी विशेष करके प्रशंसा की। वह अवश्य बार-बार ही कहते रहे "सभी आपकी कृपा", इस बीच में एक दिन उत्तर प्रदेश के गवर्नर श्री विश्वनाथदास जी एवं बिहार के गवर्नर आदि भी माँ के दर्शन के लिए आए।

२५ जनवरी १९६६

आज प्रातःकाल से ही संगम पर लाखों लोगों का समागम शुरू हुआ। दिल्ली से परलोकगत प्रधान मन्त्री लालबहादुर शास्त्री की अस्थि और चिताभस्म संगम में डालने के लिए श्रीमती इन्दिरा गाँधी और भारत सरकार के मन्त्रियों में से अनेक ही आए हैं। हमारे कैम्प से देखा गया कि हेलिकौप्टर से पुष्पवृष्टि हो रही है।

प्रायः बारह बजे एक उच्चपदस्थ मिलिटरी अफसर आकर कह गए कि श्रीमती इन्दिरा गाँधी माँ के दर्शन के लिए आएँगी। देखते देखते कुम्भ मेला का

प्रांगण और विशेष करके हमारे कैम्प के आगे का रास्ता मिलिटरी और पुलिस से भर गया। सबसे पहले भारत सरकार के कानून मन्त्री श्री गोपाल स्वरूप पाठक माँ के दर्शन करने आए। उसके बाद आईं स्वास्थ्य मन्त्री डा० सुशीला नायर और उनके बड़े भाई प्यारेलाल जी।

उनके जाते न जाते श्रीमती इन्दिरा गांधी की मोटर ने कैम्प के अन्दर प्रवेश किया। माँ की कुटिया में जाकर उन्होंने प्रायः बीस मिनट माँ से बातचीत की। कल वे भारत की प्रधान मन्त्री निर्वाचित हुई हैं। आज ही माँ का दर्शन और आशीर्वाद प्राप्त कर सकीं इससे सभी आनन्दित हुए। नाना पुरातन स्मृति स्वभावतः ही उनके मन में जाग रही थीं। प्रायः ३५, ३६ वर्ष पूर्व उन्हें सर्वप्रथम माँ का दर्शन प्राप्त हुआ था। वे सब बातें कुछ-कुछ माँ के साथ हुईं। माँ के हाथ से फल, मिठाई लेकर प्रणाम करके बिदा हुईं। इसी समय दिल्ली लौट रही हैं। इतने काम और व्यस्तता के बीच में भी वे इस मेले में माँ के दर्शन को आईं इस से मैं मुग्ध हो गई।

शाम को प्रायः ५ बजे स्वराष्ट्र मन्त्री श्रीयुत गुलजारीलाल नन्दा माँ के दर्शन के लिए आए। वे माँ के पास देर तक बैठकर तरह-तरह की बातें करते रहे। उनके जाने के बाद धीरे-धीरे जनता की भीड़ हलकी हो गई। पुलिस और मिलिटरी की उपस्थिति होते हुए भी हमारे कैम्प का बेड़ा और फाटक प्रायः टूटने का उपक्रम हो गया था। माँ को बीच-बीच में दर्शन देने के लिए बार-बार कुटिया के बाहर आकर खड़ा होना पड़ता था। शत-शत दर्शनार्थियों के मुख में केवल एक बात—"इन्दिरा जी की माता जी के दर्शन करेंगे।" सन्ध्यापर्यन्त भीड़ का अन्त नहीं।

२६ जनवरी १९६६

आज सरस्वती पूजा है। भक्तों के आग्रह से हमारे कैम्प में ही पूजा की व्यवस्था हुई। माँ की उपस्थिति में विशेष आनन्द के साथ पूजा सम्पन्न हुई।

२९ जनवरी १९६६

गत तीन दिन माँ झूँसी में श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी के आश्रम में थी। दिन के समय कुछ देर के लिए कैम्प में आवेंगी। सबसे मिलकर फिर आश्रम लौट जावेंगी। आज सवेरे बिन्दू के घर आकर, भोग के बाद मोटर से काशी के लिए रवाना हुईं। कल सवेरे ही होशियारपुर जाने की बात है। वहाँ से बार-बार खबर आ रही है कि श्री हरिबाबा जी विशेष अस्वस्थ हैं। माँ का एक बार जाना नितान्त

आवश्यक है। हरिबाबा जी के भक्तों की इस प्रकार की चिट्ठी और तार बार-बार आ रहे हैं। अन्य प्रोग्राम बन्द करके भी इस कारण माँ का होशियारपुर जाना स्थिर हुआ।

८ अप्रैल १६६६

नाना स्थानों में घूम फिर कर माँ परसों सबेरे दिल्ली पहुँचीं। आज वृन्दावन जाने की बात है।

सवेरे श्री जयदयाल डालमिया जी सस्त्रीक माँ के दर्शन के लिए आए। यह दोनों ही हरिबाबा जी के विशेष भक्त हैं। हरिबाबा जी की बीमारी की बात उठी। माँ ने बात-बात में प्रायः दस वर्ष पूर्व की कथा—जब माँ ने अमृतसर जाकर हरिबाबा जी को प्लेन से लाकर दिल्ली में डा० सन्तोष सेन के नर्सिङ्ग होम में उनके ऑपरेशन की व्यवस्था करवाई थी—सब डालमियाजी को सुनाई। इस बार जब अनवरत चिट्ठी, तार आने के कारण माँ सब प्रोग्राम बन्द करके बाबा के पास होशियारपुर चली गईं तो बाबा जी ने हँस कर माँ से कहा, "माँ, आपको देखने की खूब इच्छा हुई थी इसीलिए यह बहाना किया।" बाबाजी उस समय एक दिन अज्ञान हो गए थे। बाबा ने सात दिन डाक्टरों के विधान के अनुसार सब कुछ करके जब सब बन्द कर दिया, तब उनके सेवक और भक्तों ने माँ से आने के लिए बार-बार अनुरोध किया।

बात-बात में माँ और भी बोलीं, "भुवनेश्वर में जिस विकट मूर्ति को देखकर इस शरीर ने उसे अन्य रास्ते से जाने को कह दिया था, फिर उसी रास्ते में ही एक विषधर सर्प के काटने से एक आदमी मर गया, ऐसी खबर आई। यह सब किन्तु स्वप्न नहीं। स्वप्न का यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं। फिर काशी में लेटे-लेटे पैर की अंगुली में जो खूब चोट लगी थी, उसका भी कारण है। किसी का शरीर नष्ट न करके इस शरीर पर से निकल गया। यह भी अच्छा हुआ। इसकी जरूरत भी थी। अवश्य उनकी इच्छा होने से कुछ न होकर भी किसी की बड़ी विपद कट सकती है। स्वयं ही सब ग्रहण। जैसे गाय का बछड़ा पैदा होने से गाय स्वयं ही उसका सब मैला अपने भोग में लगाकर (चाट कर) उसको साफ कर लेती है। इससे गाय को कुछ भी कष्ट या अस्वस्थता नहीं होती। इसी प्रकार वे सभी कुछ कर सकते हैं।

माँ हँस कर कह रही हैं, "यह जो चोट लगना, वा दूसरे रास्ते से भेज देना, यह जैसा, और चोट न लगाकर, कहीं न भेजकर, सब कुछ ग्रहण करना—यह सभी

समान, साधक को ही बाधक होता है। इसीलिए जो महान् साधक हैं, उनके लिए कुछ भी बाधक नहीं। इस शरीर के ऊपर कितना कुछ हुआ है। कितने भावों से चलना हुआ है, किन्तु एक खोंचा भी शरीर को नहीं लग सका। सभी उनकी इच्छा—उनका खेल।''

माँ फिर बोलीं, "आज अनेक बातें कह दी गईं। तुमने जैसा बजाया, वैसा सुना। इस शरीर की तो कोई बात ही नहीं। और कभी-कभी तो कितना पूछने पर भी बात नहीं निकलती। कहा जाता है, "कहना आ नहीं रहा।"

१० अप्रैल १९६६

वृन्दावन से माँ लौट आईं। शाम को सेठ युगलकिशोर बिड़लाजी, उनके वैद्य एवं नारायणदास जी आदि माँ के पास आकर बड़ी देर तक बैठे रहे।

युगल किशोर जी खूब ही धर्मप्राण पुरुष हैं। सनातन धर्म की उन्नति के लिए वे सदा ही सचेष्ट रहते हैं। भारत के नाना स्थानों में उन्होंने हिन्दू धर्म के लिए लाखों रुपया दान करके सब की कृतज्ञता अर्जन की है।

आज बात-बात में माँ बिड़ला जी को लक्ष्य करके बोलीं, "पिताजी के साथ तब तक मिलना नहीं हुआ था। एक बार बाँध में (हरिबाबा जी के आश्रम में) यह शरीर था। देवधरजी ने बिड़ला पिताजी की अस्वस्थता के सम्बन्ध में इस शरीर के निकट प्रार्थना की थी। हठात् इस शरीर का क्या ख्याल हुआ, इस शरीर के बदन पर एक तौलिया था, उसे देवधर जी को दे दिया। बिड़ला पिताजी को देने के लिए है यह बात किन्तु कही ही नहीं गई। भीतर एक ख्याल हुआ कि यह आदमी बिड़ला पिता जी के काम से आना जाना करता है, इसी से पिताजी का काम होगा।''

इस बात पर नारायण जी बोल उठे, "माता जी, इसके बीच में और भी एक विशेष बात है। देवधरजी ने मुझसे कहा था कि यदि माता जी बिना माँगे वह तौलिया स्वयं ही उसको दे दें तो वह समझेगा कि माताजी में शक्ति है। माताजी के हठात् पास आकर तौलिया फेंक कर देने पर वह आश्चर्य में पड़ गया।

माँ बोलीं, उन दिनों ऐसा अनेक समय हो जाता था। मुख से न माँगने पर भी, परिचय न होने पर भी, अन्तर का योग तो सबके संग है ही। इसीलिए भावना से भी काम हो जाता था। और बिड़ला पिताजी को तौलिया देने की बात क्यों नहीं कही गई, जानते हो ? जीव का स्वभाव तो, दोष नहीं। किसी-किसी के मन में शायद होता कि बिड़लाजी बड़े आदमी हैं। माँ के साथ परिचय भी नहीं, तब भी

तौलिया भेज कर बिड़लाजी को अपनी तरफ खींच लेना चाहती हैं मालूम होता है। क्यों लोगों के मन में मिथ्या भाव, खराब भाव लाया जाय।"

फिर कथा प्रसंगमें कह रही हैं, "ऐसा और भी हुआ है। ढाका में हिरन† बहुत बीमार थी। इस शरीर को उसे देखने के लिए ले गए। शरीर की चादर उसके ऊपर डाल दी गई। हिरन ने चादर सिर के नीचे रख ली। पीछे खबर आई कि वह अच्छी हो गई है। फिर सुकेत के राजा की लड़की बहुत बीमार है, ऐसा वहाँ जाकर सुना। एक कपड़ा गुप्त भाव से उसके बिस्तर के नीचे रख दिया गया। पीछे सुना वह अच्छी हो गई। ऐसा अनेक बार हो जाता है।"

१२ अप्रैल १९६६

भैया‡ की लड़की सुनयना ने कुछ दिन हुए जयपुर से दो अति प्राचीन गणेश मूर्ति लाकर माँ को दीं। मूर्तियाँ bronze की बनी, चार, पाँच सौ वर्ष पुरानी हैं सुना एक माँ को देने के लिए—दूसरी स्वयं पीछे से ले जायगी।

माँ कह रही हैं, "देखो कैसा सुन्दर! सबसे पहले आए अन्नपूर्णा, मा काली, शिव और विष्णु पीछे अखंडानन्द को देखा गया गणेश मूर्ति में। उसके बाद ही चाँदी के गणेश का प्रकाश हुआ। बाद में काशी आश्रम बनाने के समय ज़मीन के नीचे दो शिव पाए गए। इसके बाद आई सोने की दशभुजा मूर्ति—हरिबाबा की दी हुई। इसके बाद वृन्दावन आश्रम में पन्नालाल पिताजी की दी हुई महाप्रभु की मूर्ति एवं नर्मदेश्वर शिवगण। फिर काशी आश्रम में गोपाल आकर स्वयं प्रकाश हुए। वृन्दावन में चारुबाबा के गोपाल आए। फिर तुम्हारा देहरादून का मन्दिर और वृन्दावन में छलिया का प्रकाश। इस समय फिर जोड़ा गणेश। सभी उनका खेल।"

१४ अप्रैल १९६६

आज यहाँ माँ की उपस्थिति में गिरिजी महाराज का संन्यासोत्सव खूब धूमधाम के साथ सम्पन्न हुआ। महात्माओं में से किसी-किसी ने आकर भाषण दिया और आश्रम में भिक्षा ग्रहण की।

---

†श्री श्री माँ के अति पुरातन भक्त ढाका के स्व० रायबहादुर श्री प्रफुल्ल कुमार घोष की स्त्री श्रीमती हिरन बाला घोष।

‡श्रीयुत वी० के० शाह New India Assurance Co के Managing Director—आश्रम में सब उन्हें भैया कहते हैं।

बात हुई है कि परसों माँ देहरादून जायँगी। रास्ते में सम्भव है २, ३ दिन कनखल में रुक सकती हैं।

कल रात श्रीमती इन्दिरा गान्धी माँ के दर्शन के लिए आईं। उनके साथ उनकी एक मौसी भी थीं। वे मुझे दो तस्वीरें दे कर बोलीं कि कुम्भ के समय जब इन्दिरा जी माँ के पास गई थीं, उस समय यह तस्वीरें ली गई थीं। मैंने देखा कि दोनों तस्वीरें खूब ही सुन्दर हैं। एक में माँ इन्दिरा जी को नारायण की तुलसी दे रही हैं। कुछ देर एकान्त में माँ के साथ बातचीत करके उन्होंने प्रणाम करके बिदा ली।

१५ अप्रैल १९६६

आज सवेरे प्रायः ८ बजे माँ को श्रीमती इन्दिरा गान्धी के घर ले गए। साथ में स्वामी जी, मैं, पानु, चित्रा और पुष्पा। मकान के पीछे लौन के बीच में माँ के बैठने के लिए उत्तम व्यवस्था की गई थी। एक चौकी सफेद चादर से ढकी हुई थी और सामने दूध के समान सफेद खद्दर का फर्श बिछा था। बैठने के आसन के सामने धूप, दीप इत्यादि सजा हुआ था। सब के अन्दर इन्दिरा जी की सुन्दर रुचि का प्रकाश था। इन्दिरा जी के अनुरोध से दो लड़कियों के सितार के साथ दो सुन्दर भजन सुनाने के बाद इन्दिरा जी ने अपने हाथ से माँ को कुछ फल खिला दिया। उनकी मासी और उन्होंने माँ की आरती की। माँ को खद्दर सिल्क की धोती, तौलिया, चन्दन की माला इत्यादि दी। हम लोग जो साथ गए थे, उनको भी प्रत्येक को खद्दर की चादर, तौलिया और चन्दन की माला दी। माँ की मोटर के सामने जा कर प्रणाम करके बिदा दी। इन्दिरा जी के आतिथ्य और मधुर व्यवहार से हम लोग सभी विशेष रूप से मुग्ध हुए।

शाम के बाद डा० सुशीला नायर अपनी भाभी को लेकर माँ के पास आईं। इसके पहले भी वे देहरादून, वृन्दावन, काशी और दिल्ली में माँ के दर्शन को आई थीं। खूब सुन्दर स्वभाव। उनकी भाभी श्रीमती बेला देवी, श्रीयुत प्यारेलाल जी की स्त्री भी सदा ही दिल्ली में माँ के पास आती जाती हैं।

इस बीच में डा० नायर एक दिन आकर कह गईं कि किसी ने उन्हें एक कृष्ण मूर्ति दी थी। वे उसे माँ को देना चाहती हैं। आज नीचे नाम यज्ञ हो रहा था। उसी समय डा० नायर ने आकर माँ के हाथ में कृष्णमूर्ति दी। माँ ने सबको दिखलाई। बोलीं, "देखो, आज वर्ष का प्रथम दिन है। तुम लोग नामयज्ञ कर रहे

हो। ठीक इसी समय आकर कृष्ण ठाकुर उपस्थित देखो, अपने आप ही आए हैं।"

१६ अप्रैल १९६६

लगभग १२ बजे माँ आश्रम से बाहर निकलीं। ३-४ घरों में कुछ मिनट के लिए बैठकर माँ पालाम के रास्ते में प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी के नए आश्रम में गईं। प्रभुदत्त जी ने एक बार आने के लिए विशेष करके कहला भेजा था। वहीं माँ का भोग होने की बात थी। अभी भी आश्रम का काम चल रहा है, कमरे का काम भी पूरा नहीं हुआ। माँ ने इसलिए बाहर ही बरामदे में विश्राम की व्यवस्था कर ली। लगभग ४ बजे माँ प्रभुदत्त जी के आश्रम से रवाना हुईं।

इस प्रचंड गरमी में बाहर चलना फिरना ही कठिन है। पर इसी धूप में माँ सारा दिन घूमती फिरती रहीं इसी ख्याल से कि किसी के मन में व्यथा न हो। प्रभुदत्त जी के आश्रम से रवाना होने पर रास्ते में जितेन के घर दो घंटे विश्राम करके शाम के बाद हरिबाबा जी से मिलने पुरानी दिल्ली गईं। हरि बाबा आज ही यहाँ आए हैं। वहाँ कीर्त्तन में बैठकर रात को प्रायः ९ बजे माँ स्टेशन आ पहुँची। रात को दस बजे की गाड़ी से हम लोग माँ के साथ हरिद्वार के लिए रवाना हुए।

श्री आनन्दमयो मातृ स्तुतिः

साहित्याचार्य एम०-ए० भण्डारकरोपाह्व त्र्यम्बकशर्मणा विरचिता

लोके विलोक्य परितश्चरिते सदोषं
कोशैकमग्नमनसं जनसंघमुच्चैः ।
स्वार्थेन विस्मृतपरस्परबन्धुभावं
सावातरत्करुणया भुवि शक्तिराद्या ॥१॥

आनन्दपूर्णहृदयां सदयां प्रसन्नां
भक्तान्दृशैव शतशोऽपि समुद्धरन्तीम् ।
विद्या-यशः-सरलता-स्मृतिबुद्धिरूपां
सन्मातरं शिवकृते हृदि चिन्तयामि ॥२॥

अज्ञानदीर्घतिमिरावृतजीववृन्दं
दिव्योज्ज्वलैः स्वचरितैरवभासयन्ती ।
संस्थापयन्त्यनिशमूर्जितभक्तिमार्गे
माताऽनिशं विजयते ननु सानुकम्पा ॥३॥

संसारसिन्धुविपदां प्रशमार्थमेतां
सच्चित्सुखप्रकृतिकां सुकृतैकगम्याम् ।
लोकोपकारकरणाय धृतात्मदेहां
सन्मातरं हृदि शिवार्थमिमां भजामः ॥४॥

ज्ञानप्रकाशमधिगन्तुमलौकिकं हृ-
द्दोषान्तकौ कुपथवृत्तिनिवृत्तिरूपौ ।
साक्षात्सुखोद्भववशाच्चिरशान्तिहेतु—
मानन्दमातृचरणौ शरणं प्रपद्ये ॥५॥

"कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा"

श्री "दत्त"

The woods are lovely, dark and deep
But I have promises to keep,
And miles to go before I sleep
And miles to go before I sleep,
—Robert Frost

आज जून की ११ तारीख थी। अल्मोड़ा से यात्रा प्रारम्भ किये आज चौथा दिन था। मोटर-बस का आश्रय ग्रहण करने पर भी हम लोग अभीतक असकोट तक ही पहुँच पाये थे। प्रतिकूल हवामान, बिगड़े हुए मार्ग इत्यादि के समाचार मिलने पर मन उद्विग्न होना स्वाभाविक ही था। किन्तु इसके अलावा हमारे लिये और कोई चारा ही नहीं था। अब तो "बलीयसी केवलं ईश्वरेच्छा" सूत्र का चिंतन करते-करते "बलीयसी केवलं मोटरेच्छा" का चिंतन शुरू हुआ जो क्रमशः तीव्र से तीव्रतर होने लगा और इसका परिणाम यह मिला कि मोटर-बस कम्पनी के एक कर्मचारी ने आकर ताजा समाचार सुनाया, "आज भी मोटर-बस सेवा बंद रहेगी।" हमारे लिये तो यह वाक्य मानो "आग में घी गिरना" ही था। कुछ क्षण तक तो सब लोग नीचे मुंड रखे ही चुपचाप बैठे रहे, मानो पाषाण की प्रतिमाएँ हों। इस विषम बनती जा रही परिस्थिति को देख, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अब मोटर-बस के आशा में जितने ही दिन यहाँ पर बैठे रहेंगे, व्यर्थ ही होगा। इसलिये अब और विकल्प ढूँढ़ना उचित है। अपरिचित स्थान एवं प्रतिकूल ऋतु को दृष्टि के समक्ष रखते हुए कौन-से मार्ग का अवलंबन किया जाय, इस विषय में हम निर्णय नहीं कर पा रहे थे। मैं गंभीरतापूर्वक सोच ही रहा था कि एक सज्जन ने आकर समाचार दिया कि आप P. W. D. के जिन इंजीनियर साहब से मिलना चाहते हैं वे बाहर गाँव से अभी वापस लौट आये हैं। मेरे लिये तो यह शुभ संवाद एक महाशकुन ही था। अतः मैं वहाँ से सहसा उठा और रिमझिम वर्षा में भी पैदल ही साहब से मिलने के लिये चल पड़ा। वे बिहारी शिक्षित युवक धार्मिक मनोवृत्ति वाले थे और योग साधना में उन्हें विशेष रुचि थी। धर्म विषयक बातचीत से आनन्दित एवं प्रभावित होने पर नम्र वाणी में उन्होंने मुझ से

पूछा—"आपकी क्या सेवा की जाय?" यह सुन कर मुझे तो लगा कि सुवर्ण का चाँद निकल आया है। अनुकूल समय पाकर मैंने यात्रासंघ की तकलीफें सुनायीं और यहाँ से धारचूला तक पहुँचाने के लिये पी० डब्ल्यू० डी० के ट्रक की सहायता माँगी॥ यद्यपि मेरा प्रस्ताव स्वीकृत करना उनके लिये, सरकारी नियमों के अनुसार, कठिन तो था ही तथापि "कैलास-मानसरोवर के यात्रार्थ जा रहे इस प्रथम भारतीय यात्रासंघ को इस विषम परिस्थिति में सहायता करने के लिये मुख्य अभियंता की विशेष अनुमति प्राप्त करने का और बाद में यदि वर्षा बन्द रही तो संभवतः कल सुबह यहाँ से ट्रक द्वारा सभी यात्रियों को, जहाँ तक मार्ग अच्छा हो वहाँ तक, पहुँचवाने का प्रबन्ध करने का उन्होंने मुझे वचन दिया। उनके इस प्रकार के सौहार्दपूर्ण व्यवहार से मैंने उनके प्रति आभार व्यक्त किया और वहाँ से आनन्द उड़ेलता हुआ धर्मशाला में आ पहुँचा। मैं आज "लौट के बुद्धू घर को आया" नहीं था। मेरे चेहरे पर की मुस्कान सुज्ञ यात्रियों को परिस्थिति को समझने के लिये पर्याप्त थी, फलस्वरूप सभी आनन्द से उछल पड़े और भगवान् श्री कैलासपति के जय-जयकार किये।

आज १० बजे के पश्चात् वर्षा बन्द हो गयी। सूर्य भगवान् ने अपने सहस्ररश्मि अवनि पर उतारे। पहाड़-पर्वत में चेतना आ गई। कुछ यात्री, जो अभी तक बिछौनों में ही लेटे-लेटे करवटें बदल रहे थे, अब बाहर निकल आये और "पोटोबा की पूजा" की चिंता करने लगे। दो-तीन यात्री, जो बाजार में से कुछ खाद्य सामग्रियाँ ले आये थे, रसोई पकाने लगे। आज खाखी बाबा जी ही प्रधान रसोइयाँ होकर मैदान में उतर आये थे, यह देख मैं तो हैरान रह गया। रसोई के उनके अनुभव के विषय में पूछताछ करने पर वे बोल पड़े कि विश्व की ऐसी कोई भी सात्त्विक रसोई नहीं है जो वे जानते न हों। मुझे तो लगा कि यह रामजी आज कुछ अधिक "मूड" में हैं और उनकी बातें भी "कोटि कंगुरन चढ़ि गये, कोटि कोटि लंगूर" जैसी हो रही हैं अतः मैंने इस प्रसंग को आगे बढ़ाना उचित नहीं समझा। जब खाखीबाबा ने देखा कि उनकी बात का सभी यात्रियों पर अच्छा प्रभाव पड़ चुका है, सबने अपने दाँतों तले उंगलियाँ दबा ली हैं, तो वे पुनः कंठ साफ करते हुए बोले कि अब आज से शुरू करके प्रतिदिन वे ही सभी के लिये रसोई पकाने का कार्य संभालेंगे। उनकी इस घोषणा ने मानों हमारे सिर पर की कैलास की विकट यात्रा की चिंता का आधा बोझ हलका कर दिया। सभी ने सुख की साँस ली और भगवान् श्री कैलासपति का तो जयजयकार किया ही, बाबा जी के नाम का भी जयकार कर दिया। आज वे फूले नहीं समा रहे थे।

आज रसोई जल्दी तैयार हो गयी। भगवान् को प्रसाद निवेदन करने के उपरांत यात्री लोग भोजन करने बैठ गये। सभी आज की प्रथम बार की रसोई की मुक्तकंठ से प्रशंसा कर रहे थे। इतने में ही खाखीबाबा अपनी पाकशास्त्र में निपुणता प्रमाणित करते हुए बोले—"फिर भी अदरख, हरीमिर्च, हरी धनियाँ वगैरह कहाँ थे, अन्यथा आज ऐसी सुस्वादिष्ट रसोई पकाता कि आप लोग अपनी उँगुलियाँ ही चबा जाते।" दूर के एक कोने में बैठा हुआ मैं ये सब बातें सुन रहा था और मन ही मन हँस रहा था। मैंने अपने मन को कहा कि यदि यात्री लोग "जैसी बहै बयार, पीठ तब तैसी दीजै" के अनुसार यह खाखीबाबा की हाँ में हाँ करते रहेंगे, उनको "वाह-वाह" के पुष्पों की मालाएँ पहनाते रहेंगे, तो इसी प्रकार से प्रतिदिन गरम-गरम स्वादिष्ट भोजन पाते रहेंगे और कैलास की कठिनतम यात्रा बहुत आसानी से समाप्त कर सकेंगे। पिथौरागढ़ का रसोइयाँ गोपाल सिंह से तो यह "गोपालदास" यात्रियों के लिये कई गुना अच्छा है। (कैलासयात्रा की समाप्ति होने पर मैंने देखा कि मेरा उक्त मंतव्य सत्य सिद्ध हुआ है।)

भोजन के बाद जब यात्री विश्राम कर रहे थे तब चार-पाँच मजदूर पीठ पर बोझ ढोते हुए धर्मशाला में प्रविष्ट हुए। उनके पीछे-पीछे तीन पहाड़ी महिलाएँ और एक वृद्ध पुरुष भी आ पहुँचे। उनसे पूछताछ करने पर पता चला कि वे लोग हिमालय के चारधाम—यमुनात्री, गंगोत्री, केदारनाथ एवं बद्रीनाथ की पैदल ही तीर्थयात्रा समाप्त कर अपने घर को लौट रहे हैं। उनका घर धारचूला से करीब २० मील दूर स्थित, कैलास मार्ग के, एक पहाड़ पर बसा हुआ सोसा नामक गाँव में है। वे सब लोग कैलास के श्री नारायण स्वामी जी के भक्त हैं इत्यादि। इतने दूर के निवासी इन पहाड़ी लोगों ने हिमालय के चारधाम की यात्रा निर्विघ्न समाप्त की है यह जानकर मैं उनकी उत्कट श्रद्धा-भक्ति और अदम्य उत्साह धैर्य के अनमोल गुण-रत्नों की प्रशंसा किये बिना रह न सका।

मैंने मिस्टर शेरिंग का "वेस्टर्न तिब्बत" नामक बृहद् ग्रन्थ पढ़ा था जिसमें असकोट के 'राजी' लोगों के विषय में रसप्रद बातें थीं। इस विषय में यहाँ पर प्रसंगोपात्त कुछ लिखना मैं उचित समझता हूँ।

कुछ वर्ष पूर्व जब मैं दक्षिण भारत की यात्रा करता हुआ नीलगिरि पर्वत के पार्वत्य नगर "उदकमंडल" [उटकामंड, उट्टी] गया था तब मैं वहाँ के राजकीय उद्यान के समीप के पहाड़ पर निवास कर रहा 'टोडा' नामक प्राचीन जाति के अवशेषों को भी देखने के लिये गया था। उन लोगों के गुहा सदृश घर एवं विचित्र मुखाकृतियाँ, गुन्थन किये हुए बाल और देह पर अति अल्प वस्त्र को देखकर बड़ा ही आश्चर्य

हुआ था। मुझे कभी कल्पना भी नहीं थी कि ऐसे लोग अभी भी विद्यमान होंगे। कुछ धन देने पर उन लोगों में सम्मिलित होकर अपनी विचित्र-सी टोडी भाषा में एक गान, नृत्य करते हुए, गाया था। इस जाति से भी प्राचीन जाति; जो खसों, आर्यों, भोट लोगों से भी पहिले पहाड़ों में जाकर बसी, अभी तक कुमाऊँ प्रवेश के काली नदी [केलगंगा] के पश्चिम तट पर असकोट में विद्यमान हैं जो "राजी" [राज किरात] के नाम से प्रसिद्ध है। इसके विषय में कुछ इतिहासवेत्ताओं का मत है कि यह जाति किरात जाति का अवशेष है। इतिहासवेत्ता आगे कहते हैं कि ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के प्रारम्भ में खश लोग पूर्व मध्य-एशिया [कारगर खोतान] की ओर से आये। बाद में वैदिक आर्य उत्तरी भाग के मैदानी इलाकों [कुरु-पंचाल] में से हिमालय में पहुँचे। इन दोनों जातियों के हिमालय में आने से बहुत वर्ष पूर्व एक किन्नर [किरात] नामक जाति हिमालय में निवास करती थी। कहते हैं कि सारे हिमालय की तराई में निवास करनेवाले थारू, पूर्व के मेची, पश्चिम के भोगता, असकोट के-राजी, ऊपरी सतलज के कन्नौर [किन्नर] भी उसी विराट किन्नर जाति के अंश हैं। किरात जाति के अवशेष आज भी मलाया; वर्मा [केरेन या तलैंग]. इन्डोचीन तक में विद्यमान हैं।[1] ई० स० १००१ में असकोट के राजी [राजकिरात] की संख्या सिर्फ २२ थी।[2] राजी लोगों की भाषा बड़ी ही विचित्र है। इसमें तिब्बती भाषा के भी शब्द हैं। राजी लोग असकोट के राजा[3]

१—यह मत महापण्डित श्री राहुल सांस्कृत्यायन जी का है।

२—"वेस्टर्न तिब्बत" बाई मि० शेरिंग।

३—राजी लोगों की भाषा के कुछ नमूने महापण्डित श्री राहुल सांस्कृत्यायन जी ग्रन्थ में से, पाठकों की जानकारी के लिये, यहाँ पर उद्धृत किये जा रहे हैं—

सप्ताह के नाम		संख्याएँ	वाक्य	
रवि—	दे	१—ग	बैठो—	छूनी।
सोम—	किलेक	२—नी	आता हूँ—	बियर।
मंगल—	नीव	३—खुंग	पहचानता हूँ—	स्यकारलम्।
बुर्ध—	कुंव	४—पारी	यहाँ आओ—	हितला।
गुरु—	पारीख	५—पांच	कहाँ से आये ?—	खथा माँचिपीयन।
शुक्र—	पांच	६—तुरको	कहाँ जा रहे हो ?—	खथा जीगार।
शनि—	खात्रव	७—खात्त	आनन्द में हो ?—	नीकचिकुने।
		८—आट्ठ	कब आयेंगे !—	किना मि बियर।
		९—नौव	क्या कर रहे हो !—	हम घेला चिगुनिर।
		१०—दस		

[जिन्हें लोग राजबर कहते हैं] को अपनी जाति के श्रेष्ठ पुरुष मानते हैं और इसलिये उन्हें गर्व भी है। राजी लोगों के त्यौहार, विवाह पद्धति, मृत संस्कार, गान, नृत्य, इत्यादि बड़े विचित्र ढंग के हैं। इन सबके विषय में कुछ विद्वानों ने अनुसंधान भी किया है और कुछ लोग बड़ी ही रुचि के साथ अनुसंधान कर रहे हैं।

आज शाम को हम लोग असकोट के दर्शनीय स्थानों को देखने निकले। श्री राजदेव जी ने सुझाव दिया कि हम यहाँ से राजा साहब [राजबर] से भी मिलने जाँय क्योंकि कैलास यात्रा में जाते समय यहाँ के राजा से मिलना [राजदर्शन] बड़ा शकुन माना जाता है। मुझे इस विषय में न तो रुचि थी, न घृणा ही। 'मान न मान, मैं तेरा मेहमान' की तरह बिना निमन्त्रण ही राजदरबार में पहुँच जाना खाखीबाबा को भी पसंद नहीं था। फिर भी श्री राजदेव जी के आग्रह से हमें सबके साथ-साथ वहाँ पर जाना पड़ा। राजप्रासाद के मुख्य द्वार से हम लोगों ने भीतर में प्रवेश किया ही था कि दो जर्मन जाति के खूंखार कुत्तों ने भयंकर आवाज में भौंकते हुए हमारा स्वागत किया। हमारी तकदीर ही अच्छी समझो कि आज वे दोनों लोहे की सिक्कड़ी से बँधे हुए थे, अन्यथा हम लोगों के छक्के छुड़वा देते। यह सब कोलाहल सुनकर राजप्रासाद में से एक गौरकाय, युवक बाहर आया और उसने कुत्तों को पुचकारते हुए शान्त कर दिया। बाद में हम लोगों के समीप में आकर नम्रतापर्वक बातचीत की। यहाँ पर आने का हमारा आशय जानकर वह बोला कि इस समय तो युवराज श्री कुछ आवश्यक कार्य में व्यस्त हैं अतः यदि आप लोग एक घण्टे के बाद आवें तो अवश्य मुलाकात हो जायगी। श्री राजदेव जी ने उसकी बात सहर्ष मान ली और पाँच बजे पुनः आ पहुँचने का वचन दिया। अब हमें जैसे-तैसे एक घण्टा व्यतीत करना था इसलिये यहाँ से विदा होकर डाकतारघर की ओर चल पड़े। श्री राजदेव जी बहुत वर्षों तक देशी राज्यों में ठाकोर-राजाओं के परामर्शदाता के रूप में कार्य कर चुके हैं अतः राजाओं से किस तरह मिलना, उनसे किस प्रकार से बातचीत करना इत्यादि कलाओं के विशेषज्ञ हैं। आज हमें उनके दीर्घकालीन अनुभव का लाभ मिलनेवाला था। एक घण्टा का समय बिताने के लिये हम लोग गाँव में घूमते-फिरते डाक-तार घर के सन्निकट आ पहुँचे। रविवार की छुट्टी होने से वह बंद था। इसलिये यहाँ से आगे की, करीब दो फर्लाङ्ग की चढ़ाई तय कर हम असकोट के सरकारी अस्पताल में आ पहुँचे। दो यात्रियों ने 'महाजनो येन गतः स पंथः' के सिद्धांत का अनुसरण करते हुए कुछ दूरी तक हमारा अनुसरण किया किन्तु बाद में चढ़ाई चढ़ने में असमर्थता का बोध होने पर वे वहीं विश्राम हेतु बैठ

गये। खाखीबाबा और भगत जी ने तो डाक-तारघर से आगे प्रस्थान करने का साहस ही नहीं किया था, वहाँ की एक बड़ी शिला पर ही लेट गये थे। यह देख, एक यात्री ने व्यंग किया कि इन लोगों को इतनी-सी चढ़ाई चढ़ने में ही दिन में सितारे दिखायी पड़ने लगे तो फिर ये हिमाच्छादित लिपु-ला और तिब्बत का हिममय दोल्मा-ला कैसे पार कर सकेंगे। जब हम अस्पताल में पहुँचे तब वहाँ पर एक बंगाली डाक्टर थे, जो बड़े सीधे-साधे और आनन्दी स्वभाव के दिखाई पड़े। उनसे बंगला भाषा में बातचीत करने पर वे अत्यधिक प्रसन्न हो गये अतः मुझे वहाँ पर बैठाकर कुछ समय तक धर्मालाप करने का सविनय आग्रह करने लगे, जिसे मैं टाल न सका। मातृभाषा की कितनी बड़ी महिमा है इसका ज्वलंत प्रमाण यहाँ पर उपस्थित लोगों को देखने को मिला। अब यात्रियों को पता चला कि मैं बंगला भाषा भी जानता हूँ। हमें निश्चित समय में राजप्रासाद में पहुँचना था इसलिये डाक्टर साहब का आभार प्रदर्शित करते हुए हम वहाँ से वापस लौट पड़े। मार्ग में आनन्द से बातचीत करते हुए जब हम पुनः राजप्रासाद के समीप आ पहुँचे उस समय हमारी घड़ी में पाँच बजने में पाँच मिनट कम था। यहाँ पर वह गौरकाय युवक हमारी प्रतीक्षा कर रहा था। उसके संकेत के अनुसार हम उसका अनुगमन करते हुए राजप्रासाद में प्रविष्ट होकर जब राजबर के कक्ष में आ उपस्थित हुए तब हमारे स्वागतार्थ वहाँ की दीवार पर की घड़ी ने पाँच के कर्णप्रिय घण्टे बजाये। यह देख अपनी नियमितता के लिये सभी यात्री खुश हुए। उक्त युवक ने राजबर का परिचय करवाते हुए हमें समीपस्थ कुर्सियों पर अपना-अपना आसन ग्रहण करने की विनती की, जिसका हमने सहर्ष पालन किया। अब श्री राजदेवजी ने सभी यात्रियों का क्रमशः परिचय दिया। अधिकांश यात्री सौराष्ट्र के हैं यह सुनकर राजबर प्रसन्न हुए। हमें भी यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि युवराज्ञी साहेबा बाँसवाड़ा स्टेट की राजकुमारी हैं। श्री राजदेव जी इन स्टेटों से कुछ न कुछ अंशों में परिचित थे। इतने में हमारे स्वागतार्थ शर्बत, चाय, बिस्कुटादि परोसे गये। जिनको जिन-जिन वस्तुएँ स्वास्थ्य के अनुकूल थीं वे-वे उन लोगों ने ग्रहण कीं। मैं फलाहारी था अतः कुछ ग्रहण करने का मेरे लिये प्रश्न ही नहीं था। राजबर के साथ कैलास-यात्रा, धर्म इत्यादि के बारे में रसप्रद वार्तालाप कर अधिक समय हो जाने पर हम शिष्टाचार अनुसार उनका आभार व्यक्त करते हुए वहाँ से उठे। चलते समय उन्होंने हमें कहा कि कैलासयात्रा से वापस लौटने पर पुनः यहाँ आकर अवश्य मिलें। हमने उनका निमंत्रण सहर्ष स्वीकार किया और बिदा हुए।

धर्मशाला पहुँचते-पहुँचते रात्रि हो गई। हाथ-पैर धोकर और मुख मार्जन कर

भगवान् की आरती की। भगत जी ने थैली में से ढोलक और झाँझ निकाले। ढोलक तो गले में लटकाया, घुँघरू पैरों में बाँधे और हाथों में पकड़े झाँझ। जब उन्होंने वाद्य के साथ-साथ नृत्य करते हुए भगवान् श्री कैलासपति की धुन –"हरहर शिव शिव भोला, जय महादेवा"—गाना प्रारंभ किया तब वहाँ पर अल्प-समय में ही लोगों की भारी भीड़ जमा हो गयी। भगतजी का स्वांग एवं भावभंगिमा देखकर वहाँ पर उपस्थित सभी छोटे-बड़े लोग ऐसे तो हँस हँस के लोटपोट होने लगे मानों उनकी पसलियाँ चूर-चूर हो रही हों। यात्रासंघ के सदस्यों के लिये भी यह दृश्य नूतन था अतः वे भी मुक्त हास्य के फव्वारे उड़ाने लगे। किन्तु भगतजी तो आँखें मूँदकर जोर-शोर से गा ही रहे थे, चाहे फिर कोई सुने या न सुने। आखिर क्लांत होने पर वे विश्राम हेतु भूमि पर बैठ गये जब कि उनके अपूर्ण कार्य को पूर्ण करने के हेतु वहाँ पर बैठे कुछ लड़कों ने ढोलक और झाँझ पर कब्जा जमाया और गाने लगे—"जब शंकर गये कैलास, दुनिया बढ़ने लगी"। यह सुनकर कुछ यात्री ठहाका मार कर हँस पड़े। इतने में एक पहाड़ी आदमी ने वहाँ पर आकर लड़कों को अशुद्ध गाने से धमकाया और कहा कि—"दुनियाँ डुबने लगी" ऐसी पद्य रचना है। लड़कों ने अब शुद्ध रूप से धुन गाना शुरू किया किन्तु भगतजीने देखा कि इन लड़कों के हाथ में आज ढोलक का "बारह बज जायगा", अतः सबको डाँटते-फटकारते हुए उनसे ढोलकी और झाँझ छीन लिये और प्रसाद वितरण कर सबको वहाँ से बिदा किये। कुछ क्षण पहले का कोलाहल भरा वातावरण नीरवता में बदल गया।

आज रात्रि में बादलों की गड़गड़ाहट और विद्युत के चमत्कार के उपरान्त ही रिमझिम वर्षा शुरू हो गयी। धर्मशाला के बरामदे में सो रहे कुछ यात्री अपने-अपने बिछौनों को समेट कर कमरे में आ धमके और जहाँ कहीं छोटी-मोटी जगह खाली देखने में आयी वहाँ पर जैसे-तैसे बिछौने बिछाकर लेट गये। वर्षा रात्रि भर बरसती ही रही।

आज १२ तारीख थी दिन सोमवार था। आज शुभ दिन हम लोग यहाँ से प्रस्थान करने वाले हैं, यह जान कर सभी यात्री भोर में ही उठ गये थे। चारों ओर कुहरा छा गया था। कुछ समय के बाद ही धर्मशाला के नीचे से किसी महिला का शोरगुल सुनाई पड़ा। वह किसी को गालियाँ दे रही थी। श्री दामु भाई नामक एक यात्री ने मुझे धीमे स्वर से बताया कि वह महिला उसे ही गालियाँ दे रही है क्योंकि रात्रि के समय वह अस्वस्थ होने पर धर्मशाला के समीप शौचार्थ बैठ गया था। मैंने सभी को सूचित कर दिया कि इस विषय में कुछ भी प्रतिवाद करना, भयंकर झगड़ा मोल लेना ही होगा। अतः शान्त रहने में ही बुद्धिमत्ता है।

वह महिला कुछ समय तक बड़बड़ाहट करने के उपरान्त शान्त हो गयी जिससे सभी ने सुख की साँस ली। मैंने सभी यात्रियों को सावधान करते हुए कहा कि—भविष्य में यात्राकाल में किसी के घर, धर्मशाला, खेत, जलधारा इत्यादि स्थान के समीप कभी भी शौच करने न बैठें अन्यथा अपनी कैलास यात्रा का आनन्द किरकिरा हो जायेगा। अभी भी अँधेरा था। मुझे आज शीघ्र ही स्नानादि से निवृत्त होना था। अतः मैं चार्ट लेकर पगडण्डी पर सावधानी से चलता हुआ जलधारा पर जा पहुँचा। यहाँ पर आज मैं अकेला ही था। चारों ओर का वातावरण नीरव-सा था। कभी-कभी शीत वायु की लहर बहने से समीपस्थ चीड़ वृक्ष सू-सू आवाज करते हुए काँप उठते थे। जलधारा दिनरात अविराम गति से बहती जा रही थी। वह अस्पष्ट, मधुर गुनगुनाहट......। मैंने आनन्द से स्नान किया। यहाँ की एक स्वच्छ शिला पर बैठकर ध्यान-भजन भी किया। जब मैं अपने में नूतन चेतना भर के धर्मशाला की ओर वापस लौट रहा था तब उदित सूर्य भगवान् ने चीड़ वृक्षों के झुरमुट में से छन कर अपनी मृदु, पवित्र रश्मि आशीर्वाद रूप में मेरी ओर फेंकी। मैं आनन्द से रोमांचित हो उठा। पार्वत्यनगर के बाजार में से जब मैं गुजर रहा था तब एक पहाड़ी सज्जन ने मेरे निकट आकर विचित्र-सा समाचार सुनाया कि समीप के घर में एक चमत्कारी महात्मा साधना कर रहे हैं जो कुछ भी खाते नहीं हैं। उसकी बात से मुझे आश्चर्य होना स्वाभाविक था। इसलिए मैं निर्दिष्ट स्थान की ओर चल पड़ा। चीड़ के काष्ठ से निर्मित एक सीढ़ी का आश्रय लेता हुआ मैं उक्त गृह के प्रांगण में प्रविष्ट हुआ और "हरिः ओम्" के तीन बार शब्दोच्चारण किये। अन्दर के कमरे में बैठा हुआ एक पतला सा पीतवस्त्र परिधान किया हुआ व्यक्ति बाहर आया और स्वागत करता हुआ मुझे अपने साधना स्थान में ले गया। वहाँ पर मैंने देखा कि एक कोने में भगवती अम्बा की छवि थी जो सुगंधित फूलों से अलंकृत थी और समीप में दीपक जल रहा था। अगरबत्ती की सुवास से साधनालय सुवासित हो उठा था। चारों ओर दृष्टिपात करने पर मैं समझ गया कि वस्तुस्थिति क्या है। उसने जो पीतवस्त्र पहने थे वे भी अत्यधिक पीत थे। ललाट में सिन्दूर का बड़ा तिलक था। साथ में एक सूटकेस भी था। अब मुझे विश्वास हो गया कि यह कोई नया मुल्लाजी है। या तो त्यक्त संसार है या संसार द्वारा त्यक्त है। किसी ने ठीक ही कहा है कि 'नया जोगी अंग पै अधिक भभूत रमावै" कुछ समय तक मौन सेवन करने के पश्चात वह बोला—"मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ" मैं मौन ही रहा क्योंकि मुझे किसी भी प्रकार की सेवा की आवश्यकता नहीं थी। मुझे इस प्रकार शान्त देखकर वह अपने भक्तों पर

रोष प्रकट करता हुआ बोला—"महात्मा जी के स्वागतार्थ बाजार से विशुद्ध घृत की मिठाइयाँ ले आओ।" इतने पर भी उनके भक्तों में से कोई भी टस से मस नहीं हुआ। मैं तो यह सब तमाशा देख ही रहा था। कुछ समय बाद वह अपने मस्तक पर हाथ रखता हुआ जोर-शोर से रोने लगा, मानो कोई प्रेतात्मा का उसके देह में आवाहन हुआ हो। स्वयं को महापापी, दुष्ट, अभागा इत्यादि अपशब्दों से सम्बोधित करने लगा। ये सब देख, उसके सभी भक्त क्रमशः वहाँ से नौ दो ग्यारह होने लगे। उसने देखा कि कमरे में मेरे और उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है तब वह दिल खोलकर अपनी रामकहानी सुनाने लगा। सूटकेस में से एक तस्वीर निकाली और मुझे वह दिखाते हुए कहने लगा कि मैं डबल एम० ए० हूँ। सरकार के बड़े अफसर के रूप में रह चुका हूँ इत्यादि। मैंने देखा कि तस्वीर की आकृति का उसके साथ अत्यधिक साम्य था। अन्तर इतना ही था कि तस्वीर की आकृति सुन्दर, युवक, अच्छे वस्त्र पहने हुए थी। तस्वीर देखकर मैं प्रभावित हुआ हूँ ऐसा अनुमान करके वह आंग्ल भाषा में मेरे साथ बोलने लगा जिसका प्रत्युत्तर मैंने उसी भाषा में देना शुरू कर दिया। यह देख वह घबड़ा गया और पुनः हिन्दी भाषा में ही बोलना शुरू कर दिया, जिसमें कोई पूर्वापर संबंध नहीं था। क्या आप मुझे कैलास-यात्रा में अपने साथ ले जायेंगे ? मैं क्या यात्रा कर सकूंगा ? जीवित वापस लौट सकूंगा ?" आप मुझे अपना शिष्य बनायेंगे ? इत्यादि। इन सब प्रश्नों के प्रत्युत्तर में संक्षिप्त में जब मैंने कह दिया कि यदि आपको भगवान् में पूर्ण विश्वास है और अपने पास पर्याप्त धन है तो अवश्यमेव आप सफल हो सकेंगे। मेरी बात सुनकर उन्हें कौन जाने क्या हुआ कि सिर पीट-पीटकर रोने लगा। मैं तो पहले से ही समझ गया था कि यह बेचारा कोई महादुःखी जीव है जो जीवन-पथ पर चलते-चलते कितनी ही ठोकरें खाता-खाता विक्षिप्त-सा हो गया है। अब मुझे वहाँ पर अधिक ठहरना उचित नहीं लगा अतः वहाँ से चुपके से उठकर बाहर निकला और सीढ़ी द्वारा नीचे आ गया। मुझे नीचे आया देखकर एक आदमी, जो उक्त महात्मा का भक्त था, मेरे पास आया और धीमे स्वर से बोला—'स्वामीजी आपने तो देख लिया न इन महात्मा जी का चमत्कार। कभी रोता है तो कभी हँसता है। है न अवधूत। रुपये के नोटों के बंडल ही बंडल निकाल देते हैं'। मैं समझ गया कि ये भक्तलोग एजेण्ट का ही कार्य करते रहते हैं और भोले-भाले पहाड़ी लोगों को चमत्कारों के नाम पर ठगते हैं। मैं उनकी बातें सुनी अनसुनी करता बड़ी मुश्किल से उससे पिंड छुड़वाकर जल्दी-जल्दी धर्मशाला की ओर चल पड़ा। मार्ग के एक होटल के पास में पी० डब्लू० डी० की ट्रक देखते ही समझ गया कि आज यहाँ से आगे की यात्रा हो

सकेगी। धर्मशाला में पहुँचने पर यात्रियों ने मुझे इतना विलम्ब होने का कारण पूछा जिसके उत्तर में मैंने चमत्कारी महात्मा की रामकहानी सुनाई। श्री राजदेव जी हँसते हुए बोल उठे—कि कल वे और अन्य यात्री भी उन्हें देख आये हैं। वहाँ का वातावरण और उस आदमी का व्यवहार अजीब-सा मालूम पड़ा। इसलिये शीघ्र ही वहाँ से लौट आये थे। जगु भाई ने कहा—"वह तांत्रिक साधु है" इस पर मैंने उन्हें समझाते हुए कहा कि तांत्रिक लोग लाल वस्त्र पहनते हैं, हाथ में त्रिशूल, नर-कंकाल और अन्य अमङ्गल वस्तुएँ रखते हैं। उस आदमी के पास इनमें से कुछ भी दिखाई नहीं पड़ा। अतः वह तांत्रिक नहीं हो सकता किन्तु महादुखी संसारी जीव है जिसे प्रतिकूल संयोगवशात् ऐसा वेश बनाना पड़ा है। जो हो सो हो। हमें उससे क्या लेना-देना है। भगवान उसका कल्याण करें—खाखीबाबा जी बोले। अब हमने उसका अध्याय समाप्त कर दिया।

करीब ९ बज चुका था। ट्रक कब जायगी इस विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए मैं और जयन्ती भाई पी० डब्लु० डी० के इञ्जीनियर को मिलने के लिये निकले। उनके घर पहुँचकर देखा कि वे साहब इस समय डाढ़ी-मूँछ बना रहे थे। हमारे प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा, "आज अवश्य ट्रक चलेगी। मैंने ड्राइवर को आदेश दे दिया है कि करीब दस बजे यहाँ से रवाना हो जाय। यद्यपि ड्राइवर जिद पर अड़ा है और कहता है कि मार्ग में अभी बहुत कीचड़ है। वर्षा के कारण मार्ग कितने ही स्थानों पर टूट भी गया है। साहब के साथ में चलने पर मैं चलूँगा इत्यादि, फिर भी मैं उसे समझाऊँगा और यदि वह जाने में अपनी असमर्थता प्रकट करेगा तो मैं अन्य ड्राइवर की व्यवस्था कर दूँगा। इसलिए आप सभी यात्रियों का सामान मजदूरों द्वारा ट्रक में व्यवस्थित रूपसे रखवा दें तो अच्छा रहेगा।" इंजीनियर साहब की बात से हम प्रसन्न हुए और धर्मशाला में आकर सामान बँधवाकर मजदूरों के द्वारा ट्रक में रखवा दिया। आज वर्षा नहीं हुई थी, सूर्य का ताप था। सबने इसको भगवान् की महती कृपा समझी। हम बातें कर रहे थे कि इतने में ड्राइवर वहाँ आ गया और सीधा होटल में घुस गया। उसने अभी तक भोजन नहीं किया था, इसलिये खाना मँगवाया। मैंने उसके पास जाकर ट्रक का रवाना होने का समय पूछा। इस प्रश्न से वह आगबबूला हो गया और गालियाँ देते हुए भारत सरकार से लेकर इञ्जीनियर और ओवरसियर के दादा-परदादा तक की खबर ले ली। कहने लगा कि अभी तक मुझे तीन मास का पगार भी नहीं दिया गया है। अर्ज करने पर कोई सुननेवाला नहीं है। ये डाकू लोग मार्ग-बाँध-कार्य में से, पुल निर्माण में से, सरकारी भवनों के निर्माण कार्य में से धन खा जाते हैं और

हम गरीबों को दाँत दिखाते हैं। क्या इन असुरों को कहने वाला कोई नहीं है। स्वामी जी, हृदय की इन ज्वालाओं को कहाँ जाकर बुझावें।" इन परिस्थितियों को समझने में मुझे क्या देर लगती थी, किन्तु मैं इस समय इन पचड़ों में नहीं पड़ना चाहता था। अतः ड्राइवर को शान्ति से समझाने लगा। मैंने देखा कि मेरे उपदेश का उस पर प्रभाव पड़ रहा था। आदमी समझदार था किन्तु उसका अपने बड़े साहबों के साथ कुछ विचार-संघर्ष हो जाने के कारण वह उनका शत्रु बन गया था। जब मैं ड्राइवर को शान्त कर रहा था उस वक्त वहाँ पर ओवरसियर आ पहुँचे। मैंने उसे संकेत से समझा दिया कि अब वह कुछ भी न बोले अन्यथा सुधरी हुई परिस्थिति पुनः विषम हो जाना सम्भव है। मेरा कथन वह मान गया और हवा का रुख देखकर चलता हुआ ड्राइवर की प्रशंसा करने लगा। यह सब सुन ड्राइवर साहब कुछ समय तक हा-ना करने के बाद आखिर में तैयार हुए और बोले कि—मैं तो जहाँ तक अच्छा मार्ग होगा वहीं तक ट्रक ले जाऊँगा। आगे एक फुट भी नहीं। उसके इस प्रकार से राजी होने से यात्री लोग भगवान् के मङ्गलमय नाम का जय जयकार करते हुए ट्रक पर चढ़ गये। इतने में सामने की दिशा में से [पिथौरागढ़ से] प्राइवेट कैरियर आ पहुँचा। आज उसमें अन्न की बोरियों के स्थान पर मुसाफिर ठूंस-ठूंस कर भरे हुए थे। आने वाले मुसाफिरों ने बतलाया कि वर्षा के कारण मोटर-बस बन्द होने पर इस ट्रक को भाड़े पर ले आये हैं। ट्रक के धारचूला जाने वाले कुछ मुसाफिर हमारे ट्रक के ड्राइवर से मिले और आज्ञा पाकर हमारी ट्रक में चढ़ गये। स्थान कम था इसलिये बैठने की जगह कुछ ही लोगों को मिली जबकि अन्य खड़े रह गये। इतने में मेरे पास एक युवक आया और कहने लगा, "वह उसी सामनेवाली ट्रक द्वारा अभी पिथौरागढ़ से यहाँ पर आ पहुँचा है। वह भुवनेश्वर [उड़ीसा] का निवासी है, उमेशचन्द्र मिश्र नाम है और कैलास यात्रार्थ आना चाहता है। अल्मोड़े के पर्यटक केन्द्र के श्री जोशी जी ने आपका नाम बताया है अतः मैं आपके ही यात्रा संघ के साथ में कैलास यात्रा करना चाहता हूँ।" मैंने उसके उत्साह को बढ़ाते हुए कहा कि अवश्य हमारे साथ में आप आ सकते हैं। धारचूला में हम लोगों को मिलने पर और सब बातें तय करेंगे। मेरे उत्साहवर्धक उत्तर से वह प्रसन्नचित्त हो नमस्कार करने लगा। ड्राइवर ने ट्रक स्टार्ट कर दिया। अन्दर बैठे यात्री बहुत प्रसन्न हुए और भगवान् श्री कैलासपति महादेव के मङ्गलमय नाम का बार-बार जयघोष करने लगे।

अब हमनें असकोट को किया नमस्ते
और ट्रक से चल दिया आगे के रास्ते। (अपूर्ण)

॥ ॐ माँ ॥

मातृ-सत्संग

स्वामी भागवतानन्द गिरि

१६ जनवरी १६४८—समय रात ८ से १०

स्थान कृष्ण कुञ्ज

इलाहाबाद में मुट्ठीगंज में कृष्ण कुञ्ज नाम का एक कीर्तन भवन है। उसके मालिक श्री कन्हैय्या लाल जी श्री माँ तथा पूज्य हरि बाबा जी को वहाँ ले गए हैं। कीर्तन खूब सुन्दर चला। कीर्तन पूरा होने के बाद भक्त लोग पूज्य हरि बाबा को प्रयाग कुम्भ मेला में रहने के लिए प्रेमपूर्वक प्रार्थना कर रहे हैं लेकिन पूज्य बाबा को बाँध में विशेष आवश्यक कार्य्य होने से रह नहीं सक रहे हैं।

प्रश्न—महाराज ऐसा साबुन बता दो जिससे सब पाप ताप धुल कर साफ हो जाय और नए पाप बनें न ?

श्री हरिबाबा—यह प्रश्न माँ से पूछो।

माँ—आज इस शरीर से कुछ पूछो मत। आज तो पिता जी से ही पूछो।

प्रश्नकर्ता—(हरि बाबा जी को उद्देश्य करके) माँ तो यहाँ कुछ दिन रहनेवाली हैं। माँ ने जो उपदेश दिया था उसके अनुसार मैं अपना साधन भजन कर रहा हूँ। आज तो आप ही मार्ग बताइये। इससे बड़ा उपकार होगा।

माँ—तुम तो उपदेश सुनना चाहते हो या उपदेश सुनाना चाहते हो ? (सब हँसने लगे।) प्रश्नकर्ता ने माँ की बात मानो सुनी ही नहीं और बाबा से प्रार्थना कर ही रहे हैं "परोपकाराय सतां विभूतयः।" इसलिये महाराज आपको अवश्य उपदेश देना चाहिये।

माँ—उपदेश सुनने के पहले ही उन्होंने तो उपदेश देना शुरू कर दिया। (माँ हँस रही हैं।)

प्रश्नकर्ता—महाराज आप ५ दिन और रह जाइये, सबको बड़ा आनन्द होगा। आप से हम लोगों की शंका आदि का भी समाधान हो जायगा। आप जैसा उपदेश करेंगे वैसे ही हम लोग चलने की चेष्टा करेंगे।

पूज्य हरि बाबा—माँ से पूछो।

प्रश्नकर्ता—श्री रामकृष्ण परमहंस कहते थे कि "माँ को पुकारने से माँ जल्दी सुनती हैं। कोई भी प्रार्थना माँ सुन लेती हैं।"

डॉक्टर पन्नालाल—पाप धोने का साबुन बताइये।

पूज्य हरि बाबा—जब तक जीवात्मा अपनी बुद्धि के अनुसार अहङ्कार से चलता है तब तक बात मुश्किल है। अपना सर्वस्व माँ के श्री चरण कमलों में सम्पूर्ण रूप से समर्पण करता है तब सब पाप धुल कर साफ हो जाते हैं। माँ समर्थ हैं जो व्यक्ति शरणागत होकर माँ की शरण में जाता है उसको माँ स्वीकार करती हैं। फिर चाहे वह कैसा ही पापी तापी क्यों न हो जैसे माता अपने शिशु का मल मूत्र साफ करके अपनी गोद में ले लेती हैं वैसे ही यह माँ भी सच्ची शरणागति होने से सब पाप ताप धोकर अपनी गोद में ले लेती हैं। अपनी बुद्धि से कोई व्यक्ति पाप को नहीं धो सकता। रोज भगवान् से प्रार्थना करो 'हे हरि मैं जैसो तैसो तेरो ही हूँ!' जब ऐसा पूर्ण रीति से जाग्रत होगा तब काम बनेगा। माँ की शरण में जाओ। पिता की अपेक्षा माता की शरणागति प्राप्त करना अधिक सरल है। शक्तिमान एवं शक्ति एक ही है। माँ का हृदय कोमल होता है। बालक के कष्ट को माँ जल्दी समझ लेती हैं। जब तक शरणागत नहीं होते तब तक अपने पैरों पर चलना होता है। शरणागत होना माने माँ की गोद में बैठ गए। फिर तुमको चलना नहीं पड़ेगा। फिर तुमको गोद में लेकर माँ स्वयं ही चलेंगी। चाहे किसी भी प्रकार से माँ की गोद में चले जाओ। चाहे मल एवं पाप ताप इत्यादि से भरे हुए हो इससे डरना नहीं। माँ ही सब साफ कर देंगी। छोटा बच्चा कभी यह विचार नहीं करता कि मेरा शरीर गंदा है, कपड़े मैले हैं, माँ की गोद में कैसे बैठें। साधन भजन जो कुछ करो सब कुछ माँ के चरणों में समर्पण कर दो। कभी यह मत सोचो कि हम से भजन नहीं बनता। संसार सागर से कैसे पार होंगे ऐसी कोई चिन्ता मत करो। तुम जैसे भी हो अच्छे या बुरे—कोई विचार किये बिना ही माँ के श्री चरणों में चले जाओ। गंगा मइया में शहर का कितना ही गंदा पानी जाकर मिल के गंगा-जल बन जाता है। है न?

प्रश्नकर्ता—पूजन मानसिक करना अच्छा है या भौतिक? मुझे तो मानसिक पूजन ही बहुत अच्छा लगता है।

माँ—हाँ, कोट पतलून भी उतारना न पड़े। इसलिये न! मन मन में डुबकी लगाना अच्छा है।

हरिबाबा—तुम्हारे चित्त को जो अच्छा लगे वह करो।

प्र०—अरे! चित्त तो मुझको गहरे कुएँ में फेंक देगा।

हरि बाबा--साधना की प्रथमावस्था में बाहर की क्रिया, जैसे पूजन इत्यादि, की आवश्यकता है। झूठे भय से बाहर की क्रियाओं को छोड़ना ठीक नहीं।

प्र०--मुझे तो बाहर की क्रियाएँ अच्छीं नहीं लगतीं। कोट पतलून पहन के ही खाना अच्छा लगता है।

हरिबाबा--तुम यदि सच्चे ज्ञानवान हो तब तो कोई बात नहीं। लेकिन यदि आलस्य या प्रमादवश न करो तो ठीक नहीं।

× × × ×

१७ जनवरी १९४८

स्थल—प्रयाग त्रिवेणी तट–कुम्भ मेला।

सुबह १०॥ बजे तक माँ बहुत से भक्त लोगों के साथ बात करती रहीं। इसके बाद माँ सत्संग के पंडाल में आकर बैठीं। बहुत सुन्दर-सुन्दर भजन हो रहे थे। इतने में माँ ने अति सुमधुर कण्ठ से कीर्तन आरम्भ किया, "हे गोविन्द माधव जगन्नाथ दीन बंधु।" माँ का यह कीर्तन सब लोग सुनकर आनन्द से गद्‌गद हो रहे थे। इसी समय श्री हरिबाबा जी अपने परिवार सहित आ उपस्थित हुए। हरिबाबा जीके साथ एक बहुत बड़े पंडित भी आए जिन्होंने कुम्भ मेले के माहात्म्य पर प्रवचन किया। इसके बाद मनोहर ने माँ के लिये अपना स्वरचित एक भजन गाया।

"मूर्ति मती कृपा मात हमारी
दुर्गति नाशिनी दुर्गे मइय्या।
काल विनाशिनी काली।
उमा रमा ब्रह्माणी सीता,
राधा रुक्मिणी प्यारी।
जन हितकारी दयाकर पधारी,
मूर्ति-मती कृपा मात हमारी॥
भक्त प्राण रूपा जन हितकारी
राज राजेश्वरी सर्व्व अधीश्वरी,
जगदम्बे सुखकारी॥
भुवन उज्ज्वला जननि निर्मला,
उज्ज्वल कीर्ति तुम्हारी॥
मूर्ति मती कृपा मात हमारी॥

वारि-वारि में तन मन धन सब वारि,
दीन हीन मैं बालक मइय्या
आयो शरण तिहारी ।
पूजा भेंट कछू नहिं जानत
यह मनहरण भिखारी ।
मूर्ति-मती कृपा मात हमारी ।।"

कथा प्रसंग में पूज्य हरिबाबा जी ने एक घटना सुनाई । एक चोर चोरी करने जा रहा था । रास्ते में उसने एक महात्मा को कथा कहते सुना । कथा सुनकर चोर का हृदय बदल गया । उसने महात्मा जी की शरण में जाकर उनसे गुरु मन्त्र ले लिया । गुरुजी ने कहा, "आज से तेरा नया जन्म हुआ है । अब चोरी मत करना ।" राजा के सिपाही चोर को पकड़ने पीछे-पीछे आ रहे थे । उन लोगों ने चोर को पकड़ लिया और राजा के पास ले गए । राजा ने पूछा तुमने चोरी की है ? चोर ने उत्तर दिया, महाराज मैंने इस जन्म में चोरी नहीं की । उन दिनों में चोर की परीक्षा करने के लिये लोहे का तपाया हुआ गोला चोरी करने वाले के हाथ में दिया जाता था । यदि वह व्यक्ति निर्दोष होता तो वह तपा हुआ गोला हाथ में रखने से ही अपने आप शान्त हो जाता । उस चोर से भी लोहे का गोला अपने हाथ में लेने के लिये कहा गया । चोर ने वह गोला हाथ में लेते हुए कहा, "यदि मैंने इस जन्म में चोरी न की हो तो तू शान्त हो जा ।" आश्चर्य के साथ देखा गया कि उसके मुँह से यह शब्द निकलने के साथ ही गोला शान्त हो गया । अहा, गुरु के वचनों में कितनी अगाध श्रद्धा ! गुरु दीक्षा होने के बाद उसका नया जन्म हो गया था । चोरी तो वह दीक्षा लेने के पहले करता था ।

शाम को ४ से ६ के सत्संग में माँ की उपस्थिति में सुन्दर-सुन्दर भजन हुए और रात में पूज्य हरि बाबा जी व उनकी भक्त मण्डली का सुन्दर कीर्तन हुआ ।

१८ जनवरी १९४८

आज सुबह प्रायः ५½ बजे पूज्य हरिबाबा जी के कीर्तन की आवाज सुनते ही मा भी आ गईं । सुन्दर कीर्तन हो रहा था, "श्री कृष्ण चैतन्य प्रभु नित्यानन्द, हरे कृष्ण हरे राम श्री राधे गोविन्द ।" सब लोग खड़े होकर कीर्तन कर रहे हैं । श्री बाबा बीच में कीर्तन की ताल पर लट्टू की तरह घूम घूमकर घण्टा बजाते जाते हैं तथा सब भक्तगण गोलाकार में ताली एवं खोल बजाते हुए आनन्द विभोर हो घूमते घूमते कीर्तन कर रहे हैं । माँ वहाँ पूरा १ घण्टा खड़े खड़े कीर्तन सुनती

रहीं। उसके बाद श्री हरिबाबा जी बाँध जाने के लिये तैयार हो गये तथा सम्मानपूर्वक उनको बिदाई दी। पूज्य बाबा ने माँ को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। माँ ने भी प्रतिप्रणाम किया। पूज्य बाबा माँ के बाँध पर आने के लिये आग्रह कर रहे थे। माँ ने कहा यदि कोई आकस्मिक बाधा विघ्न न हुआ व शरीर ठीक रहा तो जाने की कोशिश करेंगी। इसके बाद माँ व बाबा डॉ० पन्नालाल के घर गये।

शाम को पूज्य गोपाल ठाकुर माँ के दर्शन के लिये आए। खबर सुनते ही माँ फौरन बाहर आ गईं। माँ की कुटिया में उनको आसन पर बैठाया गया। दोनों में सामान्य वार्तालाप हुआ। उसके बाद इलाहाबाद हाईकोर्ट के न्यायाधीश श्री शंकर शरण जी आए। माँ के कमरे में, डॉ० पन्नालाल एवं श्री शंकर सरन के बीच वार्तालाप हो रहा है। कथा प्रसंग में माँ कह रही हैं कि, "एकमात्र भगवान् ही सर्वत्र हैं। एक आत्मा ही है।" डॉ० पन्नालाल शंकर शरण जी से माँ से प्रश्न पूछने लिये कह रहे हैं।

शंकर शरण—मैं किसी महात्मा के पास जाता हूँ तो मैं कभी प्रश्न नहीं पूछता। क्योंकि महात्मा लोग तो Ph. D. हैं और मैं तो अबोध बालक हूँ। मैं क्या प्रश्न पूछूँ? मैं थियोसोफिस्ट हूँ। एनी बेसेन्ट, श्रीकृष्ण मूर्ति आदि के सम्पर्क में आया लेकिन मैंने किसी से प्रश्न नहीं किया।

माँ—तुम्हारा नाम क्या है?

शंकर शरण—मेरा नाम शंकर शरण है।

माँ—वाह! नाम तो बड़ा सुन्दर है।

शंकर शरण—मुझे शंकर भगवान् बहुत प्रिय लगते हैं। मेरे दादा जी बचपन में सुनाते थे कि भगवान् राम ने सीता का त्याग किया। कृष्ण भगवान् ने भी बहुत छल कपट किये लेकिन शम्भु बाबा बेचारे बड़े भोले भाले हैं वही स्वयं अपने भक्त भस्मासुर के हाथ में फँस गए। उस समय भगवान् विष्णु ने आकर रक्षा की। हमारे घर में सबके नाम शंकर पर रखे हैं।

माँ—बहुत सुन्दर बात है। तुमने जो कहा Ph. D. महात्माओं के पास जाकर मैं क्या प्रश्न करूँ। यह ठीक है लेकिन अभी सच्ची आध्यात्मिक तृष्णा नहीं लगी है। यदि सच्ची प्यास हो तो व्यक्ति कहीं से भी जल पाने की कोशिश करता है।

शंकर शरण—आपकी बात सुनकर आध्यात्मिक प्यास बढती मालूम हो रही है। माता जी बताओ महान् आत्माओं से पर वस्तु क्या है?

माँ—महात्माओं से पर वस्तु के माने क्या?

शंकर शरण—महात्माओं और परमात्मा में क्या फर्क है ?

माँ—"पिताजी ! महान् आत्मा ही है परमात्मा है। सबमें आत्मा तो एक ही है। जैसे गन्दा जल एवं शुद्ध जल। ऐसे ही जीवात्मा और परमात्मा।" शंकर शरण बीच में ही बोल उठे। माता जी ! आप मुझे पिता जी कह के मत बुलाइये। पुत्र कहकर बुलाइये। मेरे में क्या गन्दगी है यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। मेरे सिवाय दूसरा कोई मेरी मलिनता नहीं समझ सकता। मेरी मलिनता को दूर करने के लिये सब प्रयत्न मुझको करना पड़ेगा यह क्या शक्य है ?

माँ—संसार में शारीरिक व्याधियों को दूर करने के लिये डाक्टर होते हैं। तुम्हारे अन्दर क्या रोग है तुमको पता नहीं। अच्छा डाक्टर तुमको देखते समझ लेता है कि तुममें क्या रोग है और उसके लिये औषधि देता है और पथ्य भी ठीक कर देता है। इसी तरह से भगवत् राज्य में भी डाक्टर होते हैं। वह डाक्टर तुमसे अधिक खबर रखते हैं। वे भव व्याधि की दवा देते हैं। वह भगवान् रूपी डॉक्टर की दवा लेने से ठीक हो जाता है।

शंकर शरण—हम लोग तो कभी होम्योपैथिक एवं कभी एल्योपैथिक दवा लेते हैं।

माँ—नहीं एक ही डाक्टर को पकड़ना चाहिये।

इतने में माँ के भोजन के लिये जाने का समय हुआ। शंकर शरण जी ने माँ से कहा माता जी, तकलीफ के लिये क्षमा करना।

माँ—इस शरीर को तकलीफ कैसी ? यह तो लेटा ही हुआ है। तकलीफ तो तुमको होगी कि अभी चल के जाना है। इसके बाद वे माँ से बिदा होकर चले गए। माँ ने सब लड़कियों से कहा सुबह तुम लोग बारी बारी से कीर्तन करना। सुबह ९॥ बजे तक लड़के लोग कीर्तन करेंगे। यहाँ त्रिवेणी-संगम तथा कुम्भ मेले में समय नष्ट नहीं करना चाहिये। ध्यान, जप, कीर्तन आदि अपने अपने नियम के अनुसार करना चाहिये। इस कुम्भ में कम से कम हर एक को एक लाख जप तो करना ही चाहिये।

१९ जनवरी १९४८

माँ सत्संग मंडप में बैठी हैं। भक्त लोग माँ से विविध प्रश्न कर रहे हैं।

प्र०—माँ ! जब सिर में दर्द होता है तब पूजा करने का मन नहीं होता। जप ध्यान भी बन्द हो जाता है। क्या किया जाय ?

माँ—यह तो मन की बात है। जब तक बोलनेकी शक्ति है, संसार के अन्य-

अन्य कर्म्म सिर में दर्द होते हुए भी करते हैं। तो फिर भगवान् की पूजा क्यों नहीं हो सकती ? सिर्फ भगवान् का नाम जप करते समय ही अशक्ति आ जाती है ?

प्र०—दुनिया का काम तो करना ही पड़ता है। बिना किये छुटकारा नहीं।

माँ—यह काम भी करना ही चाहिये। मन में हर समय तुलना करनी चाहिये कि जब तक मुझमें काम करने की शक्ति है। इधर-उधर घूम रहा हूँ—खाने के लिये उठ सकता हूँ—हाथ पैर हिला सकता हूँ। तो फिर सिर्फ भगवत् नाम जप क्यों छोड़ूँ।

प्र०—नौकरी पर तो जाना ही पड़ता है। स्त्री जो काम कहे करना ही पड़ता है तो एक दिन पूजा न करने से क्या हर्ज ?

माँ—तुमको जो समझना हो वह समझो। इस शरीर का तो दिमाग खराब है। यदि कोई कर्म छोड़ना है तो खराब कर्म को छोड़ दो। दुःखमय कर्म का त्याग करो। तुम जो कह रहे हो वह तो संसार दृष्टि है इसलिये ऐसा दिखता है। परमधन परमात्मा की ओर दृष्टि में ऐसी बातें नहीं आतीं। परमधन परमात्मा के लिये जो कुछ सम्भव हो करना चाहिये।

एक बहिन—जो परमधन परमात्मा की ओर एकतान भजन करते जाते हैं तो पति और पुत्र गुस्सा करते हैं।

माँ—भगवान् भजन में बैठी हो तो फिर पति और पुत्र का डर कैसा ? मन पति पुत्र में रहे तो फिर वह पूजा ही कैसी ? संसार में रहते हुए पति पुत्र की सेवा भी भगवत् भाव से करनी चाहिये। पति की सेवा भगवान् की सेवा की तरह ही करनी चाहिये। पुत्र की सेवा करते समय ख्याल रहे कि बाल गोपाल की सेवा कर रही हूँ। जब तक मन में डर है तब तक सेवा नहीं होती। तद् दृष्टि से सेवा करनी चाहिये।

प्र०—परमधन की प्राप्ति करने जायँ और स्वामी व पुत्र भूखा रह जाय तो वह कैसा। स्वामी नाराज होगा।

माँ जब भूखा रहेगा तब देखा जायगा पहले तुम तद्बुद्धि से सेवा तो करो। तद्बुद्धि से सेवा करते करते पति भूखा नहीं रहेगा। माला लेकर जप करने बैठो और पति पुत्र भूखा रह जाय ऐसा नहीं हो सकता। तुम तद्बुद्धि से सेवा करती जाओ।

प्र०—पूजा के समय यदि पति की धमकी की आवाज कान में जाय तो क्या किया जाय।

माँ—तो समझना चाहिये कि अभी तक परमधन परमात्मा में मन रहा नहीं। पूजा पाठ करते समय यदि पति मारे भी तो समझना भगवान् ही मार रहा

है। सुनो एक छोटी सी कथा सुनाऊँ। एक बार एक मातृभक्त महात्मा रास्ते में चले जा रहे थे। वह अपने सम्पूर्ण ज्ञान की मस्ती में विभोर होकर चले जा रहे थे। वह कभी हँसता कभी नाचता। उसी समय रास्ते में एक फैशनेबल पति पत्नी जा रहे थे। महात्मा तो अपनी मस्ती में आस्ते आस्ते चले जा रहे थे। उस स्त्री को ऐसा प्रतीत हुआ कि वह महात्मा मुझे देखकर हँस रहे हैं व मजाक कर रहे हैं। उन्होंने अपने स्वामी से शिकायत की। पति को बहुत गुस्सा आ गया वे उन निर्दोष महात्मा को मारने लगा। उनके शरीर से बहुत रक्त निकला। इतनी मार खाने पर भी महात्मा जी तो हँस ही रहे थे। इतने में एक भक्त उसी रास्ते से निकला। भक्त ने महात्मा जी से पूछा —महाराज आपको किसने मारा और इतना खून कैसे निकला। महाराज जी ने हँसते हँसते उत्तर दिया —मुझको मां ने मारा। ऐसा सुन्दर निस्पृह उत्तर सुन कर उस फैशनेबल दम्पति को आश्चर्य्य एवं दुःख हुआ। वह दोनों ही महात्मा जी के चरणों में गिर कर क्षमा याचना करने लगे। शत्रु भाव से भी यदि कोई भगवान् की शरण में जाता है तो उसका काम हो जाता है। मारा तो माँ ने ही मारा। यदि पति मारे तो समझना है भगवान् तुम्हीं को इस रूप मार रहे हैं।

एक बार भोलानाथ जी इस शरीर के पास बैठे थे। इतने में इस शरीर का खूब हँसना (अट्टहास) शुरू हो गया। किसी उपाय से हँसना बन्द नहीं हुआ भोलानाथ जी ने खींच कर कहा, "अपना ब्रह्म ज्ञान अपने पास रखो।" इस शरीर ने कहा "हे भगवान् तुम्हीं इस रूप में आकर इस शरीर से ऐसे कह रहे हो।" ऐसा सुनकर भोलानाथ जी ने फिर कहा कि अपना ब्रह्म-ज्ञान रहने दो।

दोपहर के विश्राम के बाद माँ प्रायः ४॥ बजे सत्संग के पण्डाल में आकर बैठ गईं। भक्त लोगों ने प्रश्न करने शुरू किये।

प्र०—हम लोग गंगा जी के किनारे रहते हैं फिर भी कुँए का पानी क्यों पीते हैं? ऐसे भाग्यहीन क्यों?

माँ—यही तो बात है तुम लोग अमृत की सन्तान होकर मृत्यु की ओर क्यों जा रहे हो?

प्र०—अमृत को ढूँढ़ने की इच्छा ही हम लोगों में नहीं है।

माँ—तुम राजा की संतान होकर भिखारी की तरह क्यों घूम रहे हो?

प्र०—माँ तुम ही बताओ हम लोग क्यों ऐसे घूम रहे हैं?

माँ—ऐसा तो नहीं होना चाहिये। राजा के पुत्र को राजा की तरह ही रहना चाहिये। तुम अपनी जिम्मेदारी को समझो। जिम्मेदारी माने अपना स्वरूप। अपने स्वरूप को पाने की कोशिश करो।

प्रश्न —स्वरूप का प्रकाश कैसे हो ?

मां—कैसे प्रकाश हो यही प्रश्न बार-बार मन से पूछा करो। बचपन में पिता माता बच्चों के लिये सब व्यवस्था करते हैं। जो पढ़ाने से ज्ञान बढ़ता है वह विद्या पढ़ाते हैं। वैसे ही तुम भी अपने मन को समझाओ पढ़ाओ। ऐसा करने से स्वरूप-प्राप्ति में सहायता होगी। भगवान् तो स्वयं-प्रकाश है। उनको प्राप्त करने की सर्वदा कोशिश करनी चाहिये। कोशिश करने से भगवान् का प्रकाश अवश्य होगा। अपने स्वरूप-प्राप्ति के लिये यदि मन को एकाग्र नहीं कर रहे हो तो जीवन में बड़ी भूल कर रहे हो। तुम लोग अपने असली घर जाने की चेष्टा ही कहाँ कर रहे हो। तुम तो बाहर ही बाहर घूम रहे हो। अपने सच्चे घर में जाओ तो वहाँ प्रकाश ही प्रकाश है। अपने घर जाने के लिये "कब जाना" इसका प्रश्न ही नहीं उठता। जब ख्याल आ जाय उस तरफ चलना शुरू कर दे।

प्रश्न—यदि गृहस्थाश्रम त्याग नहीं किया गया तो साधना में विक्षेप आता है ?

मां—तुम साधन भजन शुरू तो कर दो। पहले एक बार विक्षेप को आने तो दो विक्षेप हटाने की बात पीछे। रास्ते में बिना चले ही विक्षेप की बात क्यों लाते हो ? यही मुश्किल बात है। पहले से ही तुम विक्षेप का ध्यान करते हो इसलिये जैसा ध्यान करते हो वैसा पाते हो। विक्षेप का ध्यान कर रहे हो इसलिये वही पा रहे हो। ध्यान करना है तो भगवान् का ध्यान करो। ख्याल रखना चाहिये कि चौबीसों घण्टे अपने लक्ष्य की ओर ध्यान रहे। ध्यान से लक्ष्य पूर्ण होता है। लक्ष्यपति भगवान् हैं वही सब का लक्ष्य पूर्ण करते हैं।

प्रश्न—लक्ष्यपति माने क्या ?

मां—स्वयं भगवान् ही पूर्ण करते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा है। अखण्ड ज्ञान, अखण्ड जप, अखण्ड स्मरण से क्या होता है। अखण्ड प्रकाश अखण्ड भगवान् की प्राप्ति होती है।

प्रश्न —क्या एक ही जन्म में लक्ष्य-प्राप्ति हो सकती है ?

मां—जन्म तुम किसको कहते हो ? जन्म कितना लम्बा चौड़ा है ?

प्रश्नकर्ता—बहुत छोटा।

मां—यदि भगवान् की कृपा हो जाय तो एक क्षण में भी लक्ष्य-प्राप्ति हो सकती है।

प्रश्न—ऐसी कृपा कैसे हो ?

मां—तुमने अभी बीज तो बोया नहीं और फल की आशा कैसे कर रहे हो ?

प्रश्न—बीज ही कहीं मिलता नहीं है।

मां—बीज कहीं मिलता नहीं है यह बात गलत है।

प्रश्न—आपकी बिना आज्ञा कैसे हो सकता है।

मां—तुमको आज तक जो जो आज्ञा मिली उनको पहले अमल में लाओ। सब काम में फुर्ती आनी चाहिये। ढील-ढाल से ढीला हो जाता है। भगवत्-प्राप्ति के लिये हमेशा फुर्ती से चलना चाहिये।

प्रश्न—किसी भी परिस्थिति में हिंसा करनी चाहिये कि नहीं ?

मां—हिंसा कभी नहीं करनी चाहिये। किसी भी परिस्थिति में हिंसा नहीं करनी चाहिये।

प्र०—फिर पिस्तौल रखने की क्या आवश्यकता है ?

मां—भगवान् पर निर्भर रहना ही सच्ची पिस्तौल है।

प्रश्न—फूल तोड़ना क्या हिंसा नहीं है।

मां—फिर कोई पूछेगा क्या साग खाने में हिंसा नहीं है। जब तक साग खाने में हिंसा मालूम न पड़े तब तक फूल तोड़ सकते हो।

प्रश्न—क्या मछली खाने में हिंसा नहीं है ?

मां—जिस देश में मछली, फल, साग, इत्यादि खाते हैं वहाँ यदि हिंसा दृष्टि से देखें तो हिंसा ही है। दूसरी दृष्टि से प्राण-रक्षा के लिये जो लोग लेते हैं उसमें हिंसा नहीं है। यदि भगवत्-प्राप्ति के लिये प्राण-रक्षा करना है तो ठीक है। इस शरीर ने सुना है जैन धर्म्म में रात में खाने की मनाई है क्योंकि रात में कीट पतंगादि की हिंसा होने की सम्भावना है। शास्त्र का विधि, निषेध मानकर चलोगे तो सब पता लग जायगा। यदि हिंसा का विचार करने जाओ तो किसमें हिंसा नहीं है ? बीमारी के समय दवा लेते हो उसमें भी हिंसा है। इन्जेक्शन लेते हो उसमें भी हिंसा है। कौन कर्म्म करना चाहिये और कौन नहीं करना चाहिये उसका भी नियम है। फिर ऐसा भी एक नियम है "आतुरे नियमो नास्ति"। आपद्काल में नियम का अपवाद हो सकता है। बीमारी की अवस्था में नियम का पालन न भी करे तो क्षम्य है। पशु-वध भी हिंसा ही है। भिन्न भिन्न स्थान में भिन्न भिन्न नियम होता है। जैसे बंगाल में नियम है कि कुर्ता पहनकर पूजा नहीं हो सकती परन्तु यदि पहाड़ी प्रदेश में जाओ तो कोट, पाजामा, टोपी आदि पहनकर पूजा की जाती है। किस देश में क्या नियम पालन करना चाहिये यह सब शास्त्र में लिखा है। भगवत् प्राप्ति के लिये भी उसके अनुरूप आहार, विहार, वस्त्र धारण इत्यादि का नियम होता है। भगवत् प्राप्ति के लिये जो कुछ किया जाय सब ठीक है। नियम भी अधिकार के अनुसार होता है। अधिकार प्राप्त होने से सब वस्तु प्राप्त होती है। जिसको जिस बात में हिंसा मालूम हो उसके लिये उसी में हिंसा है। यदि हिंसा को विचार की दृष्टि से देखोगे तो सभी बातों में हिंसा आयगी।

गीता के अर्जुन

गंगा-समीरण

(१) श्रीकृष्ण को प्रणाम

"प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥"

किसी अज्ञातनामा द्रष्टा कवि का ध्यानलब्ध यह श्लोक है। इस गीता ध्यान के छन्द में श्रीमद्भगवद्गीता के श्रीकृष्ण मूर्तिमान हुए हैं। इनके ४ विशेषण हैं। प्रत्येक विशेषण गीता के माध्यम से श्रीकृष्ण और अर्जुन का निकट सम्बन्ध, भक्त और भगवान का सम्बन्ध, रथी और सारथि का सम्बन्ध तथा गुरु और शिष्य का सम्बन्ध बता रहा है।

श्रीकृष्ण का प्रथम विशेषण है "प्रपन्नपारिजाताय"— वे शरणागत के लिए कल्पतरु हैं। जो मनुष्य जो कुछ माँगता है वे उसे उसी वस्तु को दिया करते हैं। भक्त के प्रपन्न होने से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। श्रीभगवान् ने अपने श्रीमुख से ही कहा है—"आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी जो मेरे निकट जिस भाव को लेकर आता है मैं उसे ठीक उसी भाव का फल देता हूँ"[1] प्रपन्न भक्त को लेकर भगवान् की जो लीला है उसी का कीर्तन गीता का यह श्रीकृष्णार्जुनसंवाद है। गायक स्वयं श्रीकृष्ण हैं और श्रोता अर्जुन।

द्वितीय विशेषण है—"तोत्रवेत्रैकपाणये।" गीतामें श्रीकृष्ण अर्जुन के रथ के सारथि हैं इस कारण उनके बायें हाथ में घोड़ों का लगाम और छड़ी हैं। दोनों वस्तुयें ही शासन और ताड़न के प्रतीक हैं।

तृतीय विशेषण है—"ज्ञानमुद्राय।" श्रीभगवान् के दाहिने हाथ में अंगुष्ठ और तर्जनी सम्मिलित ज्ञान-मुद्रा है। ज्ञान-मुद्रा गुरु की विशेषता का सूचक है। कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण अर्जुनके केवल सारथि ही नहीं बल्कि एकाधार में गुरु और सारथि थे। अर्जुन ने कहा भी था—"मैं आपका प्रपन्न शिष्य हूँ, आप मुझे उपदेश दीजिये" (शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्— गीता २।७)।

---

(१) "चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥"
"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"

चतुर्थ विशेषण है "गीतामृतदुहे" अर्थात् जिन्होंने गीता ज्ञानरूप अमृत को दुहा था। इस विशेषण का विस्तार गीताध्यान के परवर्ती श्लोक में हुआ है

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥"

समस्त उपनिषदें गौ हैं, उन गौवों का दोहन किया था गोपाल-नन्दन ने। वृन्दावन की वंशी छोड़कर उन्होंने कुरुक्षेत्र में आकर हाथ से घोड़ों का लगाम पकड़ा था, किन्तु रणक्षेत्र में भी गोपालनन्दन दूध दोहने का स्वभाव नहीं छोड़ सके–यहाँ भी गोष्ठलीला का अभिनव स्वादग्रहण है। उपनिषद् रूप गौवों का दोहन कर जो निर्गत हुआ वह दूध नहीं था, महादुग्ध अमृतमयी गीता थी। भागवत में जिनके मुख में वंशी थी, कुरुक्षेत्र में उन्हीं के कण्ठ में था गान। गीता शब्द का अर्थ ही है गान। उस अमृत के पीने के प्रथम अधिकारी के वत्सरूपी अर्जुन। सुधियों के स्वादग्रहण के लिए अर्जुन के प्रसाद रूप से उस अमृतधारा का अखंड प्रवाह युगयुगान्तरों से निरवच्छिन्न चल रहा है। उपनिषदों की जलदगम्भीर पटभूमिका की ओट में गीता-गान के भीतर वृन्दावन की वंशी का सुर छिपा है।

गीता के गायक उन गोविन्द को प्रणाम करता हूँ।

(२) श्री अर्जुन को प्रणाम

अर्जुन को केन्द्र में रखकर धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण की लीला का जो विकास हुआ था संसार में वह अतुलनीय है। श्रीकृष्ण की कृपा से अर्जुन को जो लाभ हुआ था, और किसी के भाग्य में वह नहीं प्राप्त हुआ था। अर्जुन के प्रति प्रसन्न होकर श्री भगवान् ने योगप्रभाव से उन्हें जो ईश्वरीय विश्वरूप दिखाया था उसके विषय में उन्होंने कहा था --तुम्हारे सिवाय और किसी ने इस विश्वरूप को नहीं देखा है।" भगवान श्रीकृष्ण के इस 'परं' अर्थात् श्रेष्ठरूप का वर्णन उन्होंने स्वयं ही 'तेजोमय', 'अनंत' और 'आद्य' इन तीन विशेषणों के द्वारा किया है।[1]

विश्वरूप तेजोमय अर्थात् ज्योतिर्मय है। उस दीप्तिशील की दीप्ति से सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत्, अग्नि आदि सभी दीप्तिमान हो रहे हैं—"तंमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वंमिदं विभाति (कठोपनिषद् २।२।१५)। वह ज्योतिष्कों के

---

(१) मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोंमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥" गीता ११।४७

ज्योतिःस्वरूप हैं। वह समस्त अन्धकार से अतीत तथा श्रेष्ठ हैं। वही ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य रूप से सभी के हृदय में सुप्रतिष्ठित हैं।[1]

विश्वरूप अनन्त-असीम है। विश्वरूप आद्या अर्थात् समस्त कारणों के भी कारणरूप है।

विश्वरूप दर्शन। ऐसा देवदुर्लभ सौभाग्य अर्जुन को कैसे प्राप्त हुआ था? चार वेदों से अध्ययन के कारण?—नहीं। यज्ञविज्ञान के कारण?—नहीं। दान के कारण?—नहीं। अग्निहोत्रादि वेद-विहित कार्यों के कारण?—नहीं। उग्र तपस्या के कारण?—नहीं। श्री भगवान् ने कहा है—ऊपर लिखित साधन मार्गों में किसी मार्ग से कोई भी आज तक विश्वरूप दर्शन करने में समर्थ नहीं हुआ है। विश्वरूप दर्शन की योग्यता केवल अर्जुन में ही है।[2]

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि वेद, यज्ञ, दान, क्रिया या तपस्या के द्वारा उन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता तो ऐसा कौन उपाय है जिससे वह मिल सकते हैं।

ऐसा प्रश्न उठ सकता है जानकर श्रीभगवान् ने स्वयं ही एक बात में उत्तर दिया है—"अनन्या भक्ति। जो व्यक्ति अनन्या भक्ति के अधिकारी हैं वही मुझे जानने, मेरा दर्शन करने तथा मुझे लाभ करने में समर्थ है और वही मेरा सारूप्य लाभ कर सकता है।[3]

अनन्या भक्ति रहने से जो दर्शन प्राप्त होता है वह कैसा दर्शन है? तत्त्वतः। वह जिस प्रकार हैं ठीक उसी भाव का दर्शन। माँ की भाषा में "जो वह।" तत्त्वतः दर्शन होने से ही उनके भीतर 'प्रविष्ट' हुआ जा सकता है। उन्हें जानना, बुद्धि के द्वारा, उनका अनुभव होना, हृदय के भीतर, उनमें प्रविष्ट होना, आत्मैकता में"—इसी प्रकार की साधना की शिक्षा श्रीभगवान् ने अर्जुन को दी थी। अर्जुन के भीतर श्रीभगवान् की दिव्य विभूति का विशेष विकास था—पाण्डवों में मैं धनञ्जय हूँ (गीता १०।३७)। अर्जुन का एक नाम कृष्ण भी था।

विश्वरूप के प्रत्यक्षदर्शी अर्जुन को प्रणाम करता हूँ।

---

(१) "ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥" गीता १३।१७

(२) "न वेदयज्ञाध्ययनैर्नं दानैर्नं च क्रियाभिर्नं तपोभिरुग्रैः।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ गीता ११।४८

(३) "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥"—गीता ११।५४

(२) श्रीमत् मधुसूदन सरस्वती को प्रणाम

श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वती की 'गूढ़ार्थदीपिका' नामक संस्कृत टीका ही प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रधान अवलम्बन है। इसमें आलोचित श्लोकों का भावानुवाद उसी गूढ़ार्थदीपिका के प्रकाश से किया गया है। ४ सौ वर्ष पूर्व सरस्वती के इस वरपुत्र मधुसूदन सरस्वती ने जिस दीपिका को प्रज्वलित किया था उसकी दीप्ति से आज भी सारा भारत समुज्ज्वल है।

मधुसूदन सरस्वती भारत के चिरस्मरणीय विद्वानों में शीर्ष स्थानीय थे। उनके अगाध पांडित्य के सम्बन्ध में लोकोक्ति है।

"सरस्वत्याः पारं वेत्ति मधुसूदन सरस्वती।
मधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती।"

ज्ञानाधिष्ठात्री देवी सरस्वती की सीमा केवल मधुसूदन सरस्वती ही जानते हैं और सरस्वती माता ही स्वयं जानती हैं कि मधुसूदन सरस्वती की विद्या की सीमा कहाँ तक है?

मधुसूदन सरस्वती अद्वैतवादी वैदान्तिक संन्यासी थे। उनके द्वारा रचित 'अद्वैतसिद्धिः' एक सुविख्यात प्रामाणिक ग्रन्थ है। किन्तु वह शुष्क ज्ञान लेकर ही सन्तुष्ट नहीं थे। भक्तिरस से तथा कृष्णप्रेम से उनका हृदय विगलित तथा उद्वेलित था। उनकी अपनी रचना में ही उसका प्रकाश है—

"वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥"

भक्तिशास्त्रों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त 'भक्तिरसायन' ग्रन्थ भी मधुसूदन सरस्वती की अतुलनीय रचना है।

गीता में मधुसूदन सरस्वती ने अपने हृदय की बात पायी थी—ज्ञान, कर्म और भक्ति का अपूर्व समन्वय। स्वाभाविक प्रेरणा से उन्होंने अपने हृदय भण्डार को उड़ेल कर 'गूढ़ार्थदीपिका' की रचना की थी। इस अपूर्व टीका में गीता की एक भी बात नहीं छूटी है। प्रत्येक शब्द तथा उसके भीतर के रहस्य की उन्होंने आलोचना की है, जिससे प्रत्येक श्लोक के अन्तर्निहित गूढ़ार्थ प्रगट हुआ है।

---

* दुर्भाग्य से आज वह टीका दुष्प्राप्य है।

उनकी रचना में ज्ञान और भक्ति की गंगा-यमुना की धारा प्रवाहित है। उसके पवित्र प्रवाह में भारत के गीताध्यायी लोग पुण्यस्नान करके धन्य हो रहे हैं।

गीताध्ययन में आलोक-पात करने वाले दिव्यदर्शनकारी श्रीमत् मधुसूदन सरस्वती को प्रणाम करता हूँ।

(४) अर्जुन के मोह से मोक्षयोग

अर्जुन विराट् पुरुष थे। उनका कर्मक्षेत्र विशाल, उनका आधार विराट्, उनका संवेदन भी गम्भीर था, वह ब्राह्मण नहीं, मन्त्रद्रष्टा ऋषि नहीं, यहाँ तक कि मुमुक्षु भी नहीं थे। किन्तु जिस दैवसम्पद्[1] के रहने से मुक्ति की प्राप्ति होती है उस दैवीसम्पद् के अधिकारी अर्जुन थे।

श्रीभगवान् ने कहा है—दैवीसम्पद् संसार से मुक्ति का कारण और आसुरी-सम्पद् बन्धन का कारण है।[2]

मुक्तिलाभ की योग्यता रहने पर भी अर्जुन में ब्रह्म जिज्ञासा नहीं थी, यह श्रीकृष्णार्जुन संवाद की भूमिका है। गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन के मन में जो समस्या थी वह किसी बिशेष स्थान में सीमाबद्ध थी, विशेष काल और विशेष लक्ष्य के भीतर भी। किन्तु उस समस्या के सूत्र में श्रीभगवान् ने जो उत्तर दिया था वह स्थान, काल या किसी घटना के द्वारा सीमाबद्ध नहीं था। अर्जुन की समस्या का स्थान कुरुक्षेत्र का रणांगन था, किन्तु श्री श्रीभगवान् के समाधान केवल कुरुक्षेत्र के भीतर सीमाबद्ध नहीं थे, उनके प्रयोग के क्षेत्र समस्त मनुष्यों के जीवन हैं। अर्जुन की समस्या उनके मन में सामयिक रूप से उत्पन्न हुई थी। वह भी युद्ध के ठीक पहले और उनके कल्पित दुःख के उपलक्ष्य से जो स्वजन वध का अमङ्गल-जनक परिणाम था।

---

(१) "अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥" गीता १६।१-३

(२) "दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥" गीता १६।५

अर्जुन के इस तुच्छ मोह—सामयिक समस्या पर दृष्टि रखकर श्रीभगवान् ने मनुष्यों की अनादि काल से प्रचलित दुःख रूप भीषण समस्या की अवतारणा की। उन्होंने उस दुःख के आत्यन्तिक और ऐकान्तिक समाधान का निर्देश दिया।

गीता के आरम्भ में अर्जुन का विषाद योग और अन्त में मोक्ष योग। इन दोनों सीमाओं के बीच में यात्रा पथ पर अर्जुन पैदल यात्री हैं। श्रीकृष्ण उनके कपिध्वज रथ के सारथि हैं, जीवन-रथ के भी सारथि तथा जीवन-मरण में भी नित्य साथी हैं। स्वजनवध के भय से अर्जुन शोकाच्छन्न, मोहाच्छन्न तथा कर्तव्य-विमुख हो गये। श्रीकृष्ण के साथ अर्जुन तर्क करते हैं, विद्रोह करते हैं और निर्बोध की तरह एक ही बात बार बार उठा रहे हैं। किन्तु उससे भगवान् की धैर्यच्युति नहीं हुई। अर्जुन विभ्रान्त, संशयापन्न और बार बार पथभ्रान्त हुए। बार-बार ही श्रीभगवान् उन्हें परम मङ्गलमय मार्ग में लौटा लाये हैं, जो जीव को परमपद तक पहुँचा देता है।

कुरुक्षेत्र का परिवेश रहस्य-विद्या के अनुकूल नहीं था। तो भी उसी परिस्थिति में श्रीभगवान् के कंठ से सर्वशास्त्रमयी गीता—उपनिषदों की उपनिषद् निकलने लगी। श्रीकृष्ण की कृपा से अर्जुन कर्म में प्रेरणा ज्ञान का उन्मेष तथा भक्ति का संचार प्राप्त हुए। १८ वें अध्याय में अर्जुन का मोह टूटा और सन्देह दूर हुआ। उसी समय वह बिना शर्त और निस्सन्देह होकर कह सके कि—"करिष्ये वचनं तव"—तुम्हारी बात के अनुसार मैं काम करूँगा।

अर्जुन की चेतना में जो क्रम विकास हुआ था उसकी एक एक रेखा गीता के हर एक अध्याय में, अर्जुन के आचरण, कथन और युक्ति में अंकित है।

श्रीकृष्णार्जुन-संवाद में श्रीकृष्ण के अनुग्रह से अर्जुन के मानस लोक के क्रम विकास की आलोचना करना ही इस निबन्ध की साधना है।

(५) युद्धोद्यत अर्जुन

कुरुक्षेत्र में अर्जुन की प्रथम कीर्ति है--शंखनाद। कौरव पक्ष से रणवाद्य सुनाई पड़ा। वह शब्द तुमुल हो उठा—"स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।" उस समय श्रीकृष्ण और अर्जुन एक विराट् रथ पर उपविष्ट थे--अग्निदेव प्रदत्त वह कपिध्वज रथ अन्यों के द्वारा अजेय था। उन दोनों ने एक ही साथ दो शंख बजाये—हृषिकेश ने पांचजन्य और धनञ्जय ने देवदत्त। धनञ्जय—जिन्होंने दिग्विजय के समय सारे राजाओं को पराजित करने विपुल धन संग्रह किया था, जिन्होंने कुबेर को भी युद्ध में हराया था और जो सर्वथा अजेय थे।

माधव और अर्जुन की शंखध्वनि के अनन्तर पाण्डव पक्ष से भीम, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा और भी अनेकों के प्रबल शंख बज उठे। उस समवेत शंखध्वनि से कौरव पक्ष के हृदय विदीर्ण हो गये, आकाश और मेदिनी कम्पित हो उठी।

उस समय तक भी अर्जुन आत्मविश्वास में प्रतिष्ठित और युद्ध के लिए प्रस्तुत थे। शत्रुपक्ष के प्रति अस्त्रक्षेप करने में उद्यत होकर उन्होंने सारथि श्रीकृष्ण से कहा—"मेरे रथ को दोनों पक्षों की सेनाओं के बीच में ले जाकर रखो।" अर्जुन के मन में ऐसा भाव था कि—आँखें फेर कर एक बार देख लेना चाहता हूँ कि शत्रु पक्ष में कौन कौन हैं? दुर्योधन की बुद्धि दुष्ट है उसे प्रसन्न करने के लिए जो लोग युद्ध क्षेत्र में उपस्थित हैं वे अवश्य ही युद्ध करेंगे, सन्धि का कोई प्रश्न ही अब नहीं है। अतः शत्रुपक्ष की शक्ति का अनुमान कर लेना आवश्यक है। इस प्रकार के सिद्धान्त से अर्जुन ने सुदक्ष सेनापति का परिचय दिया।

सामने आसन्न युद्ध, अर्जुन निडर। कुरुक्षेत्र रूप धर्मक्षेत्र में वह धर्मयुद्ध में व्रती हैं। वह वीर श्रेष्ठ क्षत्रिय हैं। स्वधर्म के लक्षण उनमें सुपरिस्फुट हैं।[1] उनमें शौर्य और तेज अतुलनीय थे। वह धृति के अधिकारी थे। अर्थात् महान् विपत्ति के समय भी वह अवसन्न नहीं होते थे। युद्ध में पृष्ठप्रदर्शन उनके स्वभाव के विरुद्ध था।

क्षत्रियोपयोगी इन गुणों के अधिकारी अर्जुन कुरुक्षेत्र-युद्ध के पूर्व तक क्षत्रिय के कर्तव्य के सम्बन्ध में पूर्णतया सावधान थे। उस समय भी उनका कपिध्वज रथ, देवदत्त शंख और गांडीव धनुष सार्थक थे।

(६) वीरश्रेष्ठ अर्जुन का शरीर और मन अवसन्न, बुद्धि विभ्रान्त

जो अर्जुन पूर्ण उद्यम से रणांगन में उतरे थे, एकाएक उनमें सम्पूर्ण रूपान्तर हुआ। दोनों दलों के बीच में रथ को स्थापित करके श्रीकृष्ण ने कहा—"हे पार्थ, समवेत कौरवों को देखो।" अर्जुन ने उस समय जो दृश्य देखा उससे वह अपने को सम्भाल न सके। उन्होंने देखा जो लोग मृत्यु का वरण करके खड़े हैं वे सभी अपने प्रिय कुटुम्बी हैं।

इन स्वजनों का युद्ध में वध करना होगा! अति निष्ठुर भाव से स्वयं ही इन लोगों का स्नेहबन्धन काटना होगा? स्वजन-हत्या की तांडव लीला नेत्रों के सामने देखनी होगी! उस भयंकर रुधिर लिप्त परिणाम की कल्पना करके अर्जुन

---

(१) "शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥—गीता १८।४३

को अपने मन में बड़ी चोट लगी। असहनीय होगी उसकी प्रतिक्रिया ? स्वयं महेश्वर के साथ संग्राम करके जिनका विपुल विक्रम संसार में विख्यात हुआ है, वही अर्जुन क्षणभर में भयभीत, बलहीन, अवसन्न और विभ्रांत हो पड़े।

स्वजन-वध के कल्पित शोक ने अर्जुन के देह-मन-बुद्धि के ऊपर किस प्रकार भयंकर प्रभाव डाला था उसका दुःखद चित्र अर्जुन के मुख से निकले हुए ४ श्लोकों में प्रगट है।[१]

अर्जुन कातर भाव से अपने शरीर और मन के लक्षणों को श्रीकृष्ण के सामने निवेदित कर रहे हैं। उनकी भाषा अति करुण तथा अवस्था नितान्त असहाय है।

अर्जुन के शरीर के लक्षण हैं—हाथ-पैर अवसन्न, चेहरा सूखा, शरीर में कम्पन, रोंगटे खड़े, हाथ से गाण्डीव गिर पड़ा, सारे शरीर में जलन, मूर्छा का आक्रमण। इस प्रकार के अवसन्न शरीर में अर्जुन के मन के लक्षण हैं—वह अब खड़े नहीं रह सकते, उनका चित्त उद्विग्न और अस्थिर है।

उस समय अर्जुन का शरीर तो एकदम अवसन्न हो गया है, मन का उत्साह भी टूट गया है, यहाँ तक कि उनकी बुद्धि भी लुप्त हो गयी है, वह जो कुछ देख रहे हैं सबमें ही अमंगल की सूचना है। स्वजन-वध से कुछ भी मंगल नहीं दीख पड़ता। ऐसी परिस्थिति में अर्जुन राज्य नहीं चाहते, सुख की कामना नहीं करते, युद्ध में जयलाभ भी उन्हें आकांक्षित नहीं है।

मोहग्रस्त अर्जुन केवल अमङ्गल ही देख रहे हैं पर वहाँ परममङ्गलमय श्रीभगवान् उनके सामने ही रथ पर बैठे हुए हैं। इससे बढ़कर मतिभ्रम और क्या हो सकता है ?

(७) स्वजनवध के विरुद्ध अर्जुन की युक्ति

स्वजनवध से अर्जुन को कोई भी शुभ फल नहीं दिखाई पड़ता और न मङ्गल ही प्रत्यक्ष होता। इस प्रकार के शत्रुओं के वध में कोई तृप्ति नहीं है और न कोई

---

(१) दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति ॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥
गीता १।२८-३१

सुख ही है, बल्कि पाप है। अर्जुन अपने सिद्धान्त के समर्थन में युक्तियों पर युक्ति की अवतारणा करते चल रहे हैं। श्रीभगवान् चुपचाप सुनते जा रहे हैं। अर्जुन लगातार बोलते जा रहे हैं–"कुलक्षय में दोष है, मित्रद्रोह में पाप होता है। दुर्योधन तथा उसके साथी लोभ के कारण इस पाप को नहीं समझ पाते, किन्तु हम लोग जानकर क्यों ऐसे पापकार्य में लिप्त होते हैं? कुलनाश का परिणाम बहुत ही अशुभ है। जो धर्मकार्य कुलपराम्परा से चले आ रहे हैं करनेवालों के न रहने के कारण वे लुप्त हो जाते हैं। धर्म का लोप होने से वंश के बचे-खुचे आदमियों में अधर्म छा जाता है, तो वह कुल ही अधर्म में डूब जाता है। फलस्वरूप कुल स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं और वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है। कुल में इस प्रकार संकर उत्पन्न होने से कुलनाशक नरक में जाते हैं और श्राद्ध तर्पण आदि क्रिया बन्द होने से उस कुल के पितरों को नरक में जाना पड़ता है। जो लोग कुल का नाश करके वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होने का मौका देते हैं उनके सनातन वर्ण-धर्म तथा कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं।

विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करके अर्जुन स्वजन-वध के समर्थन में कोई युक्ति नहीं देख सके। खासकर उन्हें पितामह भीष्मदेव तथा अस्त्रगुरु द्रोणाचार्य की बात याद आयी—पूजनीय इन दो गुरुजनों के शरीर पर मैं कैसे बाण-प्रहार करूँगा, वध करना तो दूर की बात है। ये लोग 'महानुभाव' गुरुजन हैं. इनके प्रभाव के मूल में शास्त्राध्ययन और तपश्चर्या हैं। खासकर भीष्मदेव ने काल और काम पर विजय प्राप्त कर ली है। तपस्या द्वारा मृत्यु को जीतकर वह कालजयी हुए हैं, चिरकुमारव्रत का अवलम्बन करने से वह कामजयी भी हैं। यदि इस प्रकार के गुरुजनों का वध न करने से हमें भिक्षा करके जीवन निर्वाह करना पड़े तो वह भी अच्छा है और राज्यलाभ के लिए यदि गुरुहत्या अपरिहार्य हो तो उस प्रकार के राज्यलाभ से कोई मंगल नहीं है। धनसम्पद्, काम्य वस्तु आदि जिन जिन विषयों का हम भोग करेंगे सभी [रुधिर लिप्त रहेंगे। वैसे भोग में सुख कहाँ और शान्ति ही कहाँ है? अतः इस लोक में ही जब इतने दुःख अनिवार्य हैं तो परलोक में कितने दुःख हमारे भाग्य में मिलेंगे उसका क्या ठिकाना!

(८) शोकाकुल अर्जुन का अस्त्रत्याग

गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन ने सिद्धान्तः निश्चय कर लिया कि—हम लोग महापाप करने में उद्यत हुए हैं, राज्यसुख लाभ करने के लिए स्वजन वध में प्रवृत्त हुए हैं। इसकी अपेक्षा यदि युद्ध में मेरे हाथ में कोई अस्त्र न रहे और मैं जीत

की कोई चेष्टा भी न करूँ, ऐसी स्थिति में यदि दुर्योधन आदि मेरी हत्या कर डालें तो करें, उसी में मंगल है। इन बातों को दृढ़स्वर से श्रीकृष्ण को जताकर अर्जुन धनुष-बाण छोड़कर तथा शोक से विह्वल होकर रथ पर बैठ गये। जो गाण्डीव धनुष विश्व का विस्मय है, जो कपिध्वज रथ शत्रुओं के लिए विभीषिका है, उस गाण्डीव को छोड़कर वीरश्रेष्ठ अर्जुन कपिध्वज रथ पर शोकाकुल चित्त से बैठे हुए हैं—"शोकसंविग्नमानसः" (गीता १।४६) कैसा मर्मविदारक करुण दृश्य ?

संजय के वर्णन में इसी अर्जुन को तीन विशेषणों से विशेषित किया गया है—कृपयाविष्टं', 'विषीदन्तं' और 'अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्'[१]।

अर्जुन कृपा के द्वारा आविष्ट यानी अभिभूत हैं। इस क्षेत्र में कृपा का अर्थ दया नहीं है। दया एक दैवी सम्पद् है (गीता १६।२)। दया की प्रेरणा से मनुष्य प्रेम, ज्ञान और शान्त-शक्ति से लोगों का दुःख दूर करते हैं, दुर्बल को सहायता देने के लिए अग्रसर होते हैं। अतः अर्जुन की यह कृपा अन्य वस्तु है। 'ये लोग मेरे हैं' इस प्रकार मोहजनित स्नेह के अर्थ में यहाँ कृपा शब्द का व्यवहार हुआ है। अर्जुन की यह कृपा एक प्रकार की स्वार्थपरता है। अर्जुन का प्रतिवाद हत्या के विरुद्ध नहीं है दूसरी ओर बुद्धदेव या अशोक की अहिंसा नीति भी अर्जुन के स्वभाव विरुद्ध है। अर्जुन की आपत्ति है स्वजनवध में। स्वजनों का वध करना होगा इसी दुःख से अर्जुन शोकार्त और मोहमुग्ध हैं। इस प्रकार की कृपा और विषाद के कारण अर्जुन के दोनों नेत्र आँसुओं से भर गये हैं। इसलिए उनके नेत्रयुगल आकुल अर्थात् सामयिक भाव से दृष्टिहीन हो गए हैं। प्रपन्नपारिजात सखा साक्षात् श्रीकृष्ण सामने हैं, किन्तु अर्जुन के नेत्र दृष्टिहीन और अन्धकार से आच्छन्न हैं। इसके कारण हैं—बाहर आँसू और भीतर अज्ञान। ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप जो पूर्ण ब्रह्म नारायण हैं उन्हें इतने समीप, ऐसे अन्तरंग रूप से पाकर भी अर्जुन गीता के प्रथम अध्याय में व्यर्थ, विफल काम, अज्ञानतिमिरान्ध तथा शोकसंविग्न मानस हैं।

क्रमशः

---

(१) "तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥"—गीता २।१

Just as there is a veil of ignorance for the individual, so there is also a door to Knowledge.

MĀTRI VĀNI

There are two kinds of restlessness: one due, to worldly activity and the other, the restlessness to advance on the spiritual path. The latter is the very means to real peace. He who is peace, *Atmā*, God—He becomes known. Only when there is intense hankering after it, Supreme peace will be found. Eternal bliss is also one and the same thing.

* * *

By one's own doing want is created and by one's own doing this want will again be removed. You yourself have to actively aspire after Self-realization. Having chosen to feed upon the objects of the senses, you by your own volition thereby gradually move towards the realm of death. Become a taster of ambrosia, father, feed on the immortal! Tread the path of immortality where no death, no disease exist.

* * *

Only if there is a spirit of service can God be served. When the intelligence is clouded by delusion, death is the outcome. His Law is very wise. Therefore I say let everyone undertake the pilgrimage to the Highest—the pilgrimage by which all travelling comes to an end. Time must not be wasted in idle pursuits. At every moment remain engaged in the meditation on your true Self. Do not allow your mind to dwell on the fleeting. Because it is said that where *Rāma* is not, there is *Be-aram* (disease). *Rāma* means *Atmārāma*, delight in the Self, repose in the

Self, the essence of Peace, the essence of Knowledge, the Self in its own nature.

* * *

The action that aims at God is alone real action, all the rest is activity belonging to the path of death. The contemplation of the Self takes one in the right direction. Worldly pursuits lead to His manifestation as absence. Everything, with the sole exception of the thought of God is useless--wrong action. Man's duty is to become steady in the practice that helps toward the revelation of his own true Self.

* * *

Man appears to be all want—it is by contemplating want that want is earned. Therefore it is incumbent on man to contemplate his real nature. Otherwise there will be want, wrong action, wrong aiming, misfortune, death. HE is the Self reposing in Itself. In coming and going as well as in true Being is He alone. The blissful Self am I, I have to become established in Knowledge. There is none but you and you and you alone. You are present in everything whatsoever. You are He Himself. In the infinite many there is He alone—am I alone.

* * *

To invoke Him does not go in vain. So long as you do not receive any response, continue to call out to him. Is it not your own Self to whom you are appealing ? And it is your own Self whom you have to realize. By ceaseless prayer He, who is whole, who is undivided is reached. It is your own Self (*Atmā*), the heart of your heart, your dearly Beloved to whom you are praying. The prayer to Him, by which the conflict between renunciation and enjoyment is dissolved, that prayer must become dear to you.

* * *

There are many kinds of action that lead to death and misfortune—that do not take one in the right direction. From darkness one proceeds to even deeper darkness. Why this should be so cannot be explained. It is His play. As one sows, so one reaps.

* * *

For long enough have you given your thought to worldly matters, now turn your mind towards the Eternal. Look, gradually the path will become clear to you and the thought of worldly things leave you as well. It is fated to disappear. The veil of ignorance will also wear out slowly. The One Who IS, is eternal : what is fleeting must needs be destroyed.

* * *

By God's name sin is vanquished. There is a saying that it is impossible for man to commit as many sins as can be annulled by God's name. Just as a single spark of fire can consume more things than you are ever able to accumulate. By the contemplation of God, by the endeavour to approach Him, all your sins will be obliterated. The destructible will be destroyed and Reality stand revealed.

* * *

When you turn to God in order to be liberated from your desires for sense objects, your inner strength will grow. You must take to some spiritual practice. Keep yourself bound to meditation on God – whether you are able to concentrate or not. There is hope that some time or other you will get interested and also remain absorbed in it.

Conversations with Sri Sri Anandamayi Ma*

GANGACHARAN DAS GUPTA

Question : Mataji, is a vision of God possible in these days ?

Mataji : Why in these days ? It has always been possible.

Question : I mean direct vision with our eyes.

Mataji : A vision as clear as daylight. There is no doubt about it. It is His nature; if you call Him He is ever ready to appear. He manifests Himself visibly, it is on this account that there goes a saying that *Bhagavan* (God) is ever at the disposal of his *bhakta*. It is the nature of a living being to create life. The human soul is called *jīvātmā* and not *Paramātmā*. The *jīva* moves in a closed circle of birth and death. In a stagnant pool germs of life thrive and develop into living beings. Strain that water through a filter and it will be pure. There was pure water originally and it becomes pure again. So *jīvātmā* is in reality *Paramātmā*. It is *Atmā* all along, before and after.

The belief that God does not exist in you is the chain by which the *jīva* is bound; it is the smoke screen called *māyā* that covers your real Self. Remove it and God will stand revealed in all His glory.

Pitājī, there is no peace in the world. You get just a drop of happiness in your family life and your face beams with joy. When it is gone there come sorrows and doubts and despair. A child is born and there are shouts of joy. When it passes away, darkness clouds your mind. All your happiness has turned into mourning. Pain and pleasure go together like your body and its shadow. Such is human life.

---

* Reprinted from Ananda Varta. Vol. I/3 (1953.)

How to avoid this dilemma, this swinging of the pendulum between happiness and misery ? You lose yourself in the little happiness you obtain in your worldly life but care not at all to discover the source from which all happiness springs—which is called *Paramānanda* (Supreme Bliss). How long will you move in a vicious circle in this way ? Choose one line of spiritual practice. Can you hope to indulge in all the enjoyments of the world and capture at the same time the supreme source of joy by living a worldly life ?

There must surely be a way to find the source of supreme happiness. You all desire it. *Ānanda* is the very essence of your life; you are by nature pure and immortal; *Jñāna chit* is the sole basis of your being.

You don't want ignorance and affliction nor decay and death, because you are by nature enlightened, blissful, immortal. But the course of events in the world gives a different turn to your life and this causes you grief and despair. You are not asked to retire to the forest or to become inert, unresponsive like a stone to what goes on about you.

You have to start your search from the position God has placed you in. If you repair to the forest let your mind feel that it is your own home for the time being From there the way will open out to a higher life. Look upon your son as *Bāla Gopāla* (the child Krishna), your little daughter as *Kumāri*, your wife as *Griha Lakshmi*. Don't do any harm to anybody. Let the attachment you have developed for people around you diminish to its minimum limit. When the call comes for your final exit, all the ties of your life will have to be snapped up and you won't have a moment's delay. Why do you weep ? Don't you see that this world is only a *dharmasāla* (traveller's inn) ? We meet people there who are on the way. The goal of your final re-union is the Self (*Ātmā*). Forgetting this you identify yourself with your own body and that is the root of all bondage, of all the miseries of life. World means perpetual motion, and the ego is that which is bound. You want to know your birth-right. You desire to be free, to throw off your chains. Try to inquire from where you have come! When the body is seriously ill, the thought of your son, wife, brother or friend vanishes. You are engrossed with the sole idea of saving yourself. From this you can see that your self is the highest object of your love. The Self is none other than *Rama* who dwells in everyone of us. Animals spend their lives enjoying only food and sleep and procreation. But how should a human being pass his life?

Just as there is a veil of ignorance over you all, there is also a way to escape. Gird up your loins and say: "I must try my best to find a way out!" This will-to-be-free is your sheet anchor. "God is and I must find him" should be the motto of your life. See that not a single breath is wasted on worldly pursuits.

Haribhajan or worship of God is one way that should lead you to His presence. It does not mean that there are no other ways. You can go to the station from every house in the locality. What is important is to stick fast to one way and march. Let truth be your refuge. For God is Truth. Abide by truth in all matters of life and God will stand revealed. He is Truth, Knowledge, Beauty. You have such a fine body; God forbid that such an asset be wasted with the poison of the feeling of worldly enjoyment!

Mother continued: "This little girl of yours, *Pitāji*, implores you all to choose one path, here and now. You must not nibble away your time in idle pursuits. You cannot be sure of the next breath. It may stop at any moment. At all times think of the One. This will give you peace. When we desire things of the world we obtain them easily. In your quest of Him do not pray for anything except His grace. He is indivisible, perfect, complete—the one goal of all men.

Question: In what part of the body is the heart-centre located?

Mataji: Is there any place in the body where it is not? Think of a tree: from the roots right up to the leaves—all was contained in one seed. Is there any spot in the tree from where a branch cannot shoot up and put forth flowers and fruits? The seed that you sow in the soil lies potentially everywhere in the grown-up tree.

Question: There are centres of sight and hearing in the body. Is there not any spiritual centre where God reveals Himself?

Mataji: Just as in the tree there are centres of circulation, of rest, of expression, such centres are everywhere in the body.

Question: Does the word 'centre' not mean the heart of something?

Mataji: (laughing) Let it be the heart then. Wherever God reveals Himself that is the heart. It is one and many at the same time. One person says: "My heart is here!" Another says: "It is there!" But what is called 'heart' is one in reality.

Question: The *Śāstras* tell us where the heart lies.

Mataji: *Pitājī*, you have not taught your daughter the *Śāstras*. The location of the heart is at one place. According to popular belief it lies in one's breast.*

Question: When the heart fails, is it not all over with the man?

Mataji: The heart that fails and the heart centre are different things. The point from where the physical organ originates is its centre. But everywhere in the tree you find the potential seed. From this point of view the heart is everywhere : One expanding into Infinity—Infinity condensing into One. The point from where 'life unfolds' is your heart.

---

* Note the difference between the physical organ called heart (हृद्यन्त्र) and the heart centre हृत्मर्म्म).

Question : How does the seed come into being ?

Mataji : It is He expressing Himself as seed. There is no seed without Him.

Question : In the *Srimad Bhāgavata* what is the secret of His *Lilā* ? Why does He enter into *Lilā* ?

Mataji : In all walks of life these questions crop up: Whence ? How ? What ? Why ? To solve the riddle what have you to do ? When you observe a thing directly with your eyes, your query ceases to disturb you. Direct Vision of the Divine is what is wanted. One who is ignorant has no questions to ask ; one who has reached the Goal has no questions to disturb his mental poise. But one who studies, one who is on the way has queries and problems. What is the *Bhāgavata* ? *Bhāgavan* (God) and *Bhāgavata* (His expression) are one and the same. All the expressions of his *Lilā* in forms and modes of being are in the *Bhāgavata*.

Question : Why did He express Himself as He did in His *Rāsa Lila* ? Does it not minimize His dignity ?

Mataji : This body has no personal opinion to offer. *Bhagavān* staged a play with Himself in these *Lilās*. Some call it His *māyā* or power of illusion. He splits Himself into two. One cannot play with oneself. There must be two or more. So He divides Himself into these forms to intensify His Divine enjoyment by the game of union, separation and re-union. His counterpart in the game is His own *Swarupa, Śakti* or *Māyā Śakti*, which is ever present in Him and under His control. It is said that during the *Lila* of *Rāma* the *Rishis* desired to enjoy union with Him. But He promised such union when He would incarnate as *Krishna*. All are the creative activities of God;

thus He delights, in His play. He has absolute power to do as He pleases. All are His own images.

Question : At one place in the *Gita* we are asked to engage in *Karma* or perform sacrificial rites and at another place to give up *Karma*. How are we to reconcile these two contradictory injunctions ?

Mataji : Judge for yourself at what stage you are, when to practise sacrificial rites and when to give them up, throwing yourself wholly unto His mercy. These are different stages with their appropriate duties and responsibilities. If you are asked to rely absolutely on Him, is it possible for you to do it all at once ? You have to train your mind and body by constant practice and to purify yourself by spiritual exercises. Read the *Bhagavad Gita* every day. You will find God revealing Himself through His words recorded there. A doubt may arise in your mind : "How can words reveal Him?" You know before the *Gita* is read the book has to be worshipped. By "book", His words and their import are meant.

As you continue to practise day after day, you will gradually reach a stage when absolute reliance on God will be your final achievement. There is nothing higher than that.

This body tells you again : read the *Gita* daily and do some spiritual exercise, you will find answers to your queries revealing themselves in your mind. If your desire to know Him is sincere and earnest and comes directly from the heart, the solution must come. It is inevitable.

Without steady concentration on one aim no result can be achieved. The word *ekāgra* (one pointed) is a combination of *eka* (one) and *agra* (pointed). Our mind is the swiftest thing in creation. Let the mind move at its own speed constantly towards the One Aim which is God. He will shine forth. As long as He is not revealed through His words in the *Gita*, never give up the practice of reading sacred texts.

Quintessence of the Yogavasistha

DR. B. L. ATREYA

Practical Self-realization.

Knowledge, for Vasistha, is not merely an intellectual affair. It must be lived, otherwise it cannot stay. We have not only to know, but also to be and to feel and to expand *pari passu*. To truly know the Absolute, we have to expand into the Absolute (VIb.22.1.5) How actually to effect this expansion is therefore as important a problem as to know the nature of Reality. The practical method of Self-realization is called Yoga by Vasistha. (VIa. 13.3 ; VIa. 128. 50-51). This Yoga is a process along two lines, namely, denial of individuality, which is the same as limitation and imperfection, and affirmation of the Self, which is Perfection and Peace. As our individuality does not consist only of intellect but also of feeling and activity and as the Self is not only Absolute Consciousness, but also Absolute Peace and Bliss, the practice of Self-realization may proceed along three ways or any one of them, for they are only three aspects of the same process, namely (1) Intellectual conviction of not being an individual, but of being the infinite Absolute (*Brahmabhāvana*). (2) Negation of desire, attachment, like and dislike, of imagining to get this or that, of possessing this or that, and of feeling to be an individual, etc. — all of which are various aspects of our affective nature. Along with this negative process, we require positive cultivation of equanimity, universal brotherhood, cosmic feeling of oneness with all beings and love of the Self verging on ecstacy. (3) Practice in stopping of the perpectual activity of life manifesting itself in the constant rising and setting of the vital current (*prāṇa*), which is an external expression of our being in perpetual flux internally. This stopping of the activity of the *prāṇa* can be brought about by practice in lengthening the usually unnoticed moments of rest which occur when one current of the vital breath has set in and the other has not yet taken its rise. This moment of rest in breathing activity corresponds to that experience of rest in consciousness, however fugitive it may be in our ordinary life, when one idea has ceased to occupy the focus of consciousness and the other has not yet appeared therein. (Vasistha Darisanam, pp. 204-237 ; The Philosophy of the Yogavasistha, pp. 434-488).

Seven Stages on the Path of Self-realization

Although in reality the Self is ever realized and the individual ever identical with the Absolute, yet from the point of view of the individual himself, it is a gradual process which may extend over any length of time or over several lives of the individual in accordance with the intensity of his aspiration and the earnestness of his efforts. Several stages may be marked on this progressive path of evolution of the individual consciousness into the Absolute. Vasistha notices seven. The first stage is when the individual, having come to the consciousness of the evils of individual and selfish living, aspires to transcend it (*Shubhechchha*). The second, when he philosophizes over and investigates into the nature of the Self and the world (*Vichārana*). The third, when on account of the knowledge of its ultimate unreality revealed by philosophical thinking, the individuality (mind) becomes less and less assertive and is little experienced (*Tanumānasa*). The fourth, when the aspirant begins to feel the being of the real Self within him (*Sattavapatti*). The fifth, when clinging to the objects of the world is finally given up by rising above all desires (*Asamsakti*). The sixth, when all things are realized to be unreal from the absolute point of view (*Padarthabhāvana*), or (according to another reading) when the individual affirms himself to be the Ultimate Reality (*Padaratha-bhāvana*). And the seventh, the mystic experience of being one with the Reality in consciousness (*Turiya*). This is the last door which opens into the unspeakable *Nirvāṇa.* Those who live at the 7th stage are called *Jivanmuktas* (the liberated living ones). After the death of their physical body they enter the disembodied liberation (*Videha-mukti*).

The Life of Liberation

The person who has become liberated from individuality and is still living is called a *Jivanmukta.* His way of living is described in great detail in the Yogavasistha. For want of space we shall quote only a summary statement of the life of *Jivanmukti*, made by us elsewhere. "He or she (for we must remember the Yogavasistha is not prejudiced against the fair sex and admits that women have an equal right to be liberated) is the happiest person on earth. The *Jivanmukta* is neither delighted in prosperity nor dejected in distress. Outwardly discharging all the duties of life, he is free within. He is free from the bonds of caste and creed and is polite and friendly to all. He is busy with the affairs of life, but is free from desires. He has nothing to attain, nor has he anything to give up. He is in solitude even in the midst of worldly activities and is always above the turmoil of life. (The Philosophy of the Yogavasistha, p. 72) "Having seen him, having heard about him, having met him, and having remembered him, all creatures feel delighted. (V. 39. 54) He has no longer any struggle for livelihood. The guardian angels of the world protect and support him, as they do the entire cosmos (IV. 32. 38, 39.)" ('Yogavasistha and Its Philosophy', p. 47).

Nirvana or the Final Liberation from the World Experience

Such a man (or woman) is no longer bound by the universal law of Karma to undergo another birth or experience another objective world as a consequence of his thoughts and activities in this life. He is outside the pale of the law of Karma, because only those acts, mental or physical, have to germinate or fructify into future lives and experiences which are done with a motive, with a conscious desire to attain or avoid something. But the actions which are performed spontaneously, without any desire, motive or attachment, are above retribution, fructification and bondage. (VIa. 87. 19. 21; VIb. 199. 7. 33; IV. 38. 16. 17). Thus the sage who has transcended all desires, is free from attachment and is above selfish willing is beyond the pale of the law of *karmaphala*. He is not bound by any of the actions done in his freed life to experience its consequences in this or any other life (VIa. 10. 31; VI a. 2. 43; V. 42. 14). His personality (mind, individuality, finitude, etc.) will be dissolved in the infinite ocean of Bliss, after the death of the present body—the effect of his previous *sankalpas* (IV. 42. 13). It has also to be noted here that according to Vasistha. "It is not necessary or compulsory that the liberated individual should totally cease to continue as an individual (after the death of the physical body). He may or may not do so. Some freed sages continue to exist as individuals, of their own accord, and take part in the Cosmic activities, disseminate knowledge and help other individuals in working out their Liberation. Vasistha, Krishna and Buddha are some examples." (The Philosophy of the Yogavasistha, p. 548) The kernel of Liberation according to him is conscious realization of complete oneness with the Brahman. It makes little difference whether this occurs in an embodied state or in a disembodied one (II. 4. 5) (Ibid, p. 548).

—–—

Sacred Places of Kashmir, Jammu and Ladhak

by a Devotee

Kashmir with Jammu and Ladhak forms the northernmost state of India. Situated on the mighty Himalayas it is the head of the holy Aryavarta, the crown of India and an elysium on earth.

According to the ancient scriptures, the Himalayas were under water long, long years ago. In that water there lived a demon called Jalodbhaba, who committed attrocities in the neighbouring regions. The gods and the goddesses killed this demon, desiccated the water, opened up the valley and bequeathed the beautiful land to the great sage Kashyapa after whom it is called Kashmir.

He performed meditation for thousands of years. Indeed Kashmir is a place "very suitable for meditation." The Nagas (divine serpents), which are much respected and worshipped in Kashmir, are said to be the descendants of the great sage Kashyapa.

There are many references about Kashmir and its rivers and mountains in the Vedas and Puranas. Lord Narayana incarnated in Kashmir as the great Fish (*Matsya Avatār*) in order to save the Vedas from destruction during the great deluge which occurred in ancient times. Later the Lord incarnated as the great Boar (*Varāha Avatāra*) here in order to save the earth from the clutches of the mighty demon Hiranyaksha.

It is said that the throat and the right ankle of the dead body of the goddess Sati, wife of Lord Shiva, fell somewhere in Kashmir and Ladhak. The goddess Shârdadâ, one of whose other names is Saraswati, is ever present in the sacred soil of Kashmir which in ancient times was referred to

Shāradā Desha, the land of Shāradā. The actual spot which is the seat of the goddess is called Shāradāpith. It is in Shārdi village, now under the occupation of Pakistan.

From ancient times till 1342 A. D., Kashmir was ruled by the Hindu and Buddhist kings. From 1342 to 1818 A.D. it was ruled by the Muhammadans, who demolished most of the famous ancient temples of Kashmir. In 1819 A.D. it was conquered by the Sikhs and from 1892 A. D. till independence, it was under the protectorate of the British. After independence a part of Kashmir was invaded by Pakistan and, as a result, a portion of this holy land is still under Pakistan's occupation.

There are many sacred spots and shrines in Kashmir. Although the ancient temples have been ruined, partly due to the ravages of time and mostly due to the fanaticism of alien rulers, yet the spots are there, no one could snatch them from the bosom of mother earth. The places have not been forgotten. Tradition, as everywhere else in India, preserved them from generation to generation. New shrines, though small, have sprung up in many of these places, and pilgrimages have been restored whenever peaceful conditions prevailed.

In the paragraphs that follow, a very modest attempt has been made to narrate in brief about the sacred places and shrines in Kashmir, the holy mountains, lakes, pools and springs, which are regarded as the emblems of gods and goddesses by the followers of a faith that sees the omnipotent God manifested in all good things of life and nature. Some quotations from ancient scriptures together with their English translation have also been given.

AHRĀBAL

Ahrābal is a celebrated waterfall formed by the Veshan river in a rocky gorge situated at a distance of about ten kilometers south-west of Shupiyan, which is about forty-six kilometers south of Srinagar. It is about three kilometers south of Sedan village.

The waterfall is regarded as very holy.

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामयां सर्वाणि भूतानि
मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो
यश्चायमध्यात्मं रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः
पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥

"These waters are like honey for all beings, and all beings are like honey for these waters. The shining immortal person who is in these waters and the shining immortal person who is ensouled in oneself and is existing as the seed-he is indeed just this Self, this Immortal, this Absolute, this All."

AMARĀVATI

Amarāvati is a small sacred stream situated at a distance of about twenty-five kilometers north-west of Srinagar in the Kashmir valley. It falls into the Mansabal lake at its northern extremity. The ground over which it flows looks like a foaming cataract.

The stream is sacred to Karkotaka Nāga who turned its waters into milk. Karkotaka Nāga is held in great esteem by the Hindus. There is a reference about him in the story of Nala and Damayanti in the Mahābhārata. The utterance of his name destroys all sins."

कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्नस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥

"The recital of the names of Karkotaka Nāga, Damayanti, Nala and the king Rituparna destroys the evils of Kali."

---

* Brihadāranyakopanishad, Second chapter, fifth 'Brāhmana', second mantra'.

AMARNĀTH

The shrine of Amarnāth is situated in a picturesque cave of the Bhairabghāti range of the Himālayas at a distance of about one hundred and forty-two kilometers east-north-east of Srinagar by road. The cave is on the western side of a snowy peak, locally, called Kailās, nearly 17.300 feet high. The cave is at an altitude of about 13.000 above sea-level. It is about fifty feet long, fifty-five feet wide and forty-five feet high. A small stream called Amaragangā flows by the left side of the cave.

The Shiva-linga in the middle of the cave shrine is formed by nature due to the freezing of water which oozes from the rock day after day till it attains its full size on the full moon of Shrāvana when the special worship is performed. Two other images of ice, one of the goddess Pārvati and the other of Ganapati, are also formed inside the cave.

It is said that in ancient times some devoted people approached the great sage Bangrish and requested him to tell them the quickest way of attaining salvation (moksha). The sage told them to go to Amarnāth and worship Lord Shiva there. As advised by him they proceeded on a pilgrimage to Amarnāth but were unable to reach the sacred spot because of the demons (*Rākshasas*) on the way. They therefore returned and told the sage about this. He then advised them to pray to Takshaka Nāga, the divine serpent-king of the Nāgas, for safety. Accordingly the devotees prayed to Takshaka, who, pleased at their devotion, gave them the staff of Lord Shiva and asked them to carry it on their way to Amarnāth so that the *Rākshasas* might not be able to harm them. The devotees then safely went to Amarnāth, worshipped Lord Shiva and attained their objective. The practice of carrying a staff, which is locally called *chhari*, by the pilgrims on their way to Amarnāth is still in vogue. The following important places fall on the route to the shrine.

1. Pāhālgām. It is a picturesque town situated ninety-seven kilometers east of Srinagar by road. It is about 9500 feet above sea-level. At Mamal near Pāhālgām there are the ruins of an ancient temple of Shiva called Mammeshwara.

2. Chandanvāri. It is only thirteen kilometers from Pāhālgām.

3. Shesh Nāg. It is a sacred mountain lake situated at a height of about 11700 feet above sea-level at a distance of about eight kilometers from Chandanvāri. Pilgrims bathe in its deep blue waters.

4. Wāvjān. It is about 12,200 feet above sea-level situated at a distance of only five kilometers from Shesh Nāg.

5. Panchatarani. It is a confluence of five rivulets at a height of about 12,800 feet above sea-level. It is thirteen kilometers from Wāvjān. Amarnāth is only six kilometers from here.

According to the *Amarnāth Mahātmya* (the book describing the glory of Amarnāth) the goddess Pārvati was once alone in Kailāsh. At that time the sage Nar da came there sthit. In order to create a quarrel he told the goddess that Lord Shiva himself, was immortal but he purposely had not made her (Parvati) immortal. Pārvati was very sad to hear this from the sage. When Lord Shiva returned to Kailāsh, he, finding Pārvati in that state of grief, understood it to be the doing of Nārada. He tried to pacify the goddess by all means. When Shiva agreed to give her what she wanted, Pārvati requested Shiva to teach her the very essence of all know-ledge so that by listening to it she could become immortal. Shiva agreed but said that such an invaluable talk could only be given at a very lonely place so that no one could over hear it. The Lord with his consort then came to Amarnāth, struck the mountain with his trident and the cave was formed. Both of them then sat inside the cave and Lord Shiva got absorbed in *samādhi* After awaking from that state of infinite bliss the God said to the goddess, "I am now beginning that sacred talk by listening to which you will become immortal. Please utter the word 'hum' at every stage of the narrative so that I may know that you are following it". Pārvati gave her assent and the talk began. Soon after Pārvati fell asleep and could not indicate to Shiva by uttering 'hum' that she was listening. At that time there was a parrot in that cave. The bird in its previous life had been a virtuous king, who due to the curse of a sage had become a parrot in the next life. The bird was all along listening to the talk. When Pārvati fell asleep the parrot, fearing that Lord Shiva might discontinue the talk, began to cry 'hum' at every stage of the narrative. When Lord Shiva finished his talk, he was surprised to see that Parvati was asleep. He then woke her up and enquired from her whether she had heard all he had said. Pārvati sorrowfully replied that she had not. Shiva then wondered who had uttered the word "hum" and had listened to his immortal talk; looking around in anger he perceived the parrot and ran after it with his trident. The bird flew away in fear for its life, and seeing the wife of the sage Vyasa on the bank of the river with her mouth open while performing tarpan* entered into her body through her mouth. Lord Siva had no alternative but to control his anger and he left the place. The parrot is said, to have been born as the famous Sage Shuka, the son of Vyāsa.

When pilgrims visit the shrine they very often see one or two pigeons fluttering in the cave. This is regarded as a good omen. The *pāndas* (priests) of Amarnāth say that the pilgrimage is considered successful after seeing the pigeons. In olden days a Muslim shepherd first saw a pigeon here and then discoverd the cave shrine. Only after this happened, Amarnath became a place of pilgrimage. For this reason the descendants of that Muslim shepherd still get one fourth of the collections, which the pilgrims offer to the deity at Amarnâth. (To be continued)

---

* 'Tarpan is religious offering of water to the deceased relatives.

Guru Nanak's Sikh Religion

PROF. A. N. GHOSE.

Dense forest. A thick veil of solitude enveloped in darkness. All still, all silent. Endless, ghostly. A forlorn passer-by gliding along with slow steps on the dismal forest path. He hears a distant call, he shudders.

Question : What can I do for you ?

Answer : I pray for *Mukti* (liberation).

Question : But what is your promise ? What can you sacrifice ?

Answer : Why, my life is ready for the sacrifice, for its attainment.

Question : Life ! It is insignificant. Anybody can sacrifice it. Anything more ?

Again silence, pin-drop silence. The passer-by stumbles. He is bewildered. He mutters; "Even sacrifice of life is not sufficient to attain liberation ? O my Lord !"

It is pitch dark. Long extended deep forest valley—endless. He stands face to face with the Infinite. Beside himself with despair, he suddenly drops down senseless He is in the lap of Mother Earth. He sleeps peacefully and dreams—liberation. Liberation ! He hears a *mantra*. A gentle hand touches him. He dreams : "Liberation is greater than life, and it is attained by *bhakti*."

This was the inspiration of Guru Nanak, this was his life long slogan to his disciples and to the world, this was the Sikhism of Guru Nanak, the pious founder of the Sikh religion.

To think of Guru Nanak one has to go back to the 15th and 16th centuries in the history of India, the age in which he was born. It was an age of ignorance and strife. The advent of Islam had shaken Hindu society to its very foundations. The temples were turned into mosques and the Hindus indiscriminately put to the sword. The Mohammedan conquerors raised pyramids of human heads as they advanced from one place to another in their victorious career. The Punjab was the centre which was much affected when the "firmness of the Islamic government was acutely felt." It was a time of unrest, the religious pursuits were mostly formal. Nanak's pious heart revolted. He uttered in deep despair : "Men are men only in appearance, in behaviour they are dogs*." It is found in history that "the unity of the Godhead was lost in the worship of numerous *Avatāras* and divinities, *pirs* and *dāryahs*. Pilgrimages and empty ritualistic practices had taken the place of real devotion; blind faith and superstition had driven away the search after Truth. The *Brahmins* and the *Mullas* wrangled, social and political inequalities reigned and there was strife everywhere."

Nanak was restless and cried out : "There is no Hindu, no Mussalman. How will deliverance come ?" About the Brahmins he says : "You Brahmin, you wear a loincloth yet you earn your living from the Mlechhas". And about the Mohammedans : "You devour men, you Muslims, yet you recite the Namaz !" Nanak's message was definitely Upanishadic, i.e. faith in One God and he was dreaming of universal brotherhood. His declaration was, "Everybody is primarily a man and only afterwards a Hindu or Mussalman." He wanted to organize a Band of Pious Warriors who would be revolutionary in action to convert the hypocrites and the fanatics to the path of righteousness. In the opinion of the English critics, Sikhism was almost like a church religion, which wanted to get rid of the dry formalities of the existing creeds. It may thus be compared to the cult of Gautama Buddha of the olden days and to the Theosophical teachings of modern times. When Guru Nanak visited Sheikh Brabun at Pak Pattan, the latter asked: "There is only one Lord and two ways; which shall I adopt and which reject ?" In reply Nanak said: "There is but one Lord and one Way; adopt one and reject the other. Why should one worship a second who is born and dies? Remember the one God who pervades sea and land."

---

*Ref. Macauliffe cp cit. Vol I, pp. 75-76.

He wanted to save humanity from *avidyā* and *himsā* (ignorance and hatred), his mind was not only reactionary, it was also revolutionary, though it was saturated with the nectar of heavenly devotion to the Name of the One, the Supreme Cause of the universe. The singing of the Name as we call *Nāma Kīrtana* in Hindu religion is pure and simple and brings communion with God and this Name and Word is the essence of the Sikhism founded by Guru Nanak. He goes beyond Hindu Vedanta and says: "Purity is the supreme test of true religious life and this purity is inward devotion. Impurity of mind keeps man enmeshed in worldly desires and he pays the price for his indiscretion by sufferings through repeated rebirths."

So Nanak's religion was a religion of faith and devotion for God and in this bhakti cult he was influenced by contemporary reformers, such as Ramanand, Gorakhnath, Chaitanya, Kabhir, Vallabh etc. His inspired mind wanted to bring about a wholesale reform of the age of conventionalism hypocrisies and superstitions.

There is a school of critics, both Hindu and Mohammedan, which remarks that Nanak's idea was destructive and that he wanted to establish his new faith in disregard of the ruling religions of the time, and we find such statements also in Sikh literature. But the historians do not support this view. According to them Nanak was neither against Hinduism nor Mohammedanism. He was against the hypocrites of all religions and had no mercy for them. Mohsin Fani says: "Nanak praised both the Hindu as well as the Muslim religions, their *Avatāras* and Divinities, but he knew that their objects of veneration were created and not creators and he denied their descent from Heaven."* He says: "The more one wandereth in pilgrimages the more he bableth," his criticism is directed more against the man than the practice itself. "One *Māyā* in union with God gave birth to three acceptable children. One of them is the Creator, the second the Preserver, the third the Destroyer. This is the Trinity in toto, but God directeth them by His orders.† By hearing the name of God, man becometh as Siva, Brahma and Indra."‡

"The thousands of Purānas and Mohammedan books tell that in reality there is but one Principle.........If God can be described by writing, then describe Him, but such description is impossible.§ "The four Vedas........came down from the High under the orders of the Lord God."‖ He advised Mian Mithan. "Act according to the Koran and thy sacred books."** "What availeth thee to read the Vedas and Purāṇas ? It is like loading a donkey with sandal wood whose perfume he valueth not."

From the above (mostly gathered from his own writings) it may be safely concluded that he had no disregard or hatred for Hinduism or Islam. History also supports "that his idea was neither destructive nor revolutionary." He did not believe in the caste system. He said: "Even an outcaste with real devotion to God is superior to the Brahmin without devotion." Guru Nanak was an eager student of the medieval bhakti movement which believed that "the supreme impulse of love dominates everything. Love preaches equality and the question of caste does not arise there. "Nanak came not to kill but to heal, not to destroy but to conserve".

---

* Debistan, Vol II, pp. 248-249.

† Ref. Japaji

‡ cp. Mundakopanishad: "He who knows Brahman becomes Brahman indeed".

§ Japaji XXII.

‖ Ref. Kharan Singh P. 343.

** Ref. Macauliffe pp. 23,123.

The question naturally arises as to how such a religion of catholicity and simplicity could later develop into a military order and how the religious devotees of Monism and Universal Brotherhood could convert themselves into "soldier saints." Every student of Sikh history knows about this development. It is clear that the seed of this militarism for personal safety was found imbedded in the bhakti religion advanced by Guru Nanak.

The term "Guru" is an important factor for the understanding of Sikh religion. Sikhism says that the spirit of surrender to the Name or God is not possible without the instructions of the Guru. The Guru only can show that the abode of God is the heart of man." "The Guru giving God's name is my ladder, my boat, my raft. There could be no salvation without the Guru." But—

"Only that man finds peace who meets the true Guru,
And enshrines the name of God in his heart;
And that too, Nanak, if God sends him Grace."

Nanak says: "Man need not worry about fate, karma or God. He has only to surrender himself to the true Guru and depend on what the Guru does for him. The Guru is thus the pivot upon which everything else hinges."

Hence Guru worship was sown in the hearts of the disciples when he said: "That man finds peace who meets the true Guru and that too if God sends him Grace"—a definite Hindu conception. The *Granth Sahib* of the Sikhs is nothing but a "Collection of the preachings of the Gurus from Nanak to the present day" and the Sikh language is known as "Gurumukhi" (coming from the mouth of the Guru). Some call Sikhism destructive or one-sided when the question of Guru is raised. But all religionists hold the view that a superb magnified mind makes its appearance in every religion to serve as a bridge between God and man for showing the path of redemption to the fallen.

No need to go further into Sikhism as founded by Guru Nanak. He was a devotee at the feet of God and was searching for pure *bhakti* in all religions. We find in *Grantha Sahib* hymns by Jayadeva, who was a worshipper of Krishna, by Ramananda who adored Rama as Vishnu, Pipa, Sain........It is also said that the pantheistic teachings of Sikhism were simply meant for faith but its actual slogan was Monotheism.

Modern Sikhism is different from the preachings of non-violence of its founder Nanak. The present Sikh is a soldier-saint on whom the sword is imposed as an obligation for self-protection.

It goes without saying that this brief survey of Guru Nanak's religion is not meant to cover the wide field of historical research. It is a small presentation trying to convey to the reader that it was the Hindu Vedic influence based on the medieval Bhakti School of India which influenced the 'simple' Guru to preach his religion as a protest to the conventions and hypocrisies of his time.

——

My First Meeting

PANDIT JIYALAL KAUL JALALI, M. A.

And it was at Dehradun. Sri Ma had wished it and Chitraji had informed me. The immersion ceremony of the sacred ashes of my dear wife, Dhanavati, my life's partner, at Hardwar was over and the next day on June 15th, 1967, we drove into the Ashram at Kishenpur. Sri Mā was at Kalyanvan. She was expected back from Sri Hari Baba's every moment. My daughter Uma, better known as Didi, had come a day earlier. Somaji and I had a wash, and then waited in the hall of audience cooling our uncoolable impatience. Half an hour later the sounding horn, the loud whispers, the automatic rising up of the Ashramites, callers and others indicated that Mataji had returned. She did not come straightaway into the hall. She had given time to some 'waiters'. Our impatience grows more and more intense; and lo! the Divine Mā robed in spotlessly clean white, with shining black hair falling from her uncovered head on either of her shoulders, slips in noiselessly amidst bowing heads and folded hands. We raise our eyes; there Sri Mā is seated on her white *āsana* on the wooden couch (with a vacant *āsana* on her right meant for her own revered mother), and the first meeting begins.

Followed by my two daughters and two grandsons I present our humble offering of love and devotion. Surprisingly, Sri Mataji interests herself smilingly in the little Kashmiri saffron and *kasturi* and at her bidding two open-mouthed glass phials are fetched. She has by then separated the *kasturi* from the *kesar* on the silver plate. Now with the end of her *sāri*, she cleans the inside of the phials, and the incense is 'stocked' and "kept with *ādar*" as Mataji would say. It at once reminds me of Sri Krishna's "*Patram pushpam phalam toyam yo me bhaktyā prayachhati tadaham bhaktyopahritam ashnāmi prayatātmanāh*". I am spell-bound by the super-physical and physical effulgence mystically radiating and elevating spiritually. It is a joy, an inexplicable ecstasy. I feel myself diving in and out like the great Markandeya roaming in the spiritualized labyrinths of the *Bālamukunda's* unfathomable depths of universality on the huge Ashvatha tree rising out of the depthless Ocean of Eternity.

I am a Kashmiri. Kashmiris have been Mother or Sakti worshippers. Siva came later, and Siva-Sakti worship dominated. A few years ago, a devotee of Swami Ram Krishna Parmahansa had wanted me to take initiation. Mother worship as a Kashmiri Brahman was in my blood: So it was nothing new to me. But physical time wheels on, and today something impels me. I owe it to my own revered mother, Devamali, that I have been fortunate enough to meet many saints, *fakirs, yogis sanyāsis* and other spiritual persons and mystics. Black magicians, necromancers, *jafaris* and *tantric* athletes, I have come across plenty of them. And if my mother were living today, she would have seen something ecstatic, something quite different. I wonder why we should not have known Sri Mā then: Spiritual search would have ended. But there is nothing that is not bound and circumscribed by time physically—time, the infinite infinity of the seeker.

I am not recording impressions with the idea of comparison. An obstreperous poster from Kerala advertising Ghulam Ahmad of Qadian as the Kalki Avatar of the Hindus had amused me, when I had seen it reproduced in the "Organiser of Delhi". Then I had come across a pamphlet dealing with a great soul, Meher Baba, as "the Avatar of this age" and his injunction "to surrender to ME completely echoed the divine words of Lord Krishna's "*Sarvadharmān parityaya māmekam sharanam vraja*". I had in the meanwhile read of some other saints and yogis these two or three weeks before going to Dehra Dun. But when I found myself in the super-physical presence of Mataji, I forgot myself in the infinity of Love and Peace. Sri Mā invited me to tell my tale and she listened to me and my daughters with an affectionate smile rippling on her sweet lips, a smile which a mother alone can smile, with an inviting patience, replying calmly in terms of physical *sadāchar*, physical norms of domesticity, and self-surrender.

In the late afternoon, in the same hall, women and men gather, some offer garlands and bouquets which are touched and returned : Other offerings are distributed among those present. Sri Hari Babaji of Vrindaban is expected. A chair with a footstool is decked up for him. In the big audience Mataji enquires about Didi. The women are singing *bhajans* and reciting hymns to the accompaniment of music until Hari Babaji is ushered in. In the interval I had bought a few books on Mā. There was a foreigner among the audience called Uma Hari Baba's party gave an elevating demonstration of prayers and *kirtana* in Sanskrit, explained in Hindi by the Bābāji himself. We were all standing. Sri Mā who had received him was also standing until Haribabaji bade her to take her seat. When it was done Babaji and party left the hall.

With *Mataji's* permission I took leave the next morning, a changed man. I felt the divine presence of Mā, all through. "Have you had your *dīksā*" asked Neogi, "or are you still thinking about it ?" I did not want to tell him that without formal initiation, my initiation had already taken place. The aura of peaceful light and calm radiance beaming from the very presence of Mā was enchanting and captivating. With a woman's frame, a mother's face, but a maiden's physicality, the inveterate smile invariable, talking in Bengali, but in Hindi with non-Bengalis. Her effulgence is so pervading that the longer you stay, the longer you taste the nectar of her speech, of her very presence, you forget in the affectionate atmosphere of motherhood all your uncertainties and doubts, woes and sorrows, riddles and puzzles for they have been all answered and solved. Her greatness is too great for me to describe. Mā is all-round, all Power, all Light and all you want.

Evolution Of Matter

4

CONSTITUENTS OF MATTER

By D. S. Mahalanobis

At the beginning of the cycle of our universe, as we have seen, there was only the unmanifested primordial stuff *Avyākta*. It was in a state of unruffled stillness. There is a beautiful allegory in one of our Purānas, describing this quiescent state. The subdued sky, it says, empty of its contents,—sun, moon and wind,—lay a motionless infinitude, as if in a state of profound sleep, and unfathomable darkness reigned everywhere. In this ocean of darkness, the allegory continues, in the guise of another darkness *Kārana-salila* appeared. *Kārana-salila* is the prime cause, described here as the causal fluid. It is the primal energy, which must be a tenuous fluid of some sort. Sri Aurobindo has elaborated the same idea : "It is out of this silence that the word which created the worlds for ever proceeds, for the word expresses that which is self-hidden in the Silence. It is an eternal passivity which makes possible the perfect freedom and omnipotence of an eternal divine activity in innumerable cosmic systems". This is the way the word manifests at the beginning of a cycle out of *Avyākta*. *Sabda-Brahma*,, i. e., the word, is on top of the evolution series; from '*sabda*' the world began. '*Sabda*' is the first *tanmātrā*, designated as the attribute of derivative *ākāsa* residing in the original *ākāsa* i. e., *Sabda-Brahma*.

Matter, we now know, is a quinary product of five components, viz., corpuscular ether, kinetic energy, light energy, electricity and gravitation, in their unalloyed state. *Sabda* represents this corpuscular ether-principle. It is the earliest of the quintette : *sabda*, *sparsa*, *rupa*, *rasa* and *gandha*.

Sabda is the first phenomenal formulation of the formless. The other four *tanmātrās* evolved by its progressive involutions and modifications. An ancient authority, Parāsara, explains that "The Tanmatras originate from one another in one linear series, and each Bhuta originates in a separate line from its own Tanmatra".[1] We may try to trace back their origin.

Sabda expresses itself as a *parispandic* motion in the derivative *ākāsa*, i.e., *ākāsa*-11. *Parispandic* motion must be traced to the principle of kinesis inherent in the original *ākāsa* or *ākāsa*-1, which is beyond our range of perception. The original *ākāsa* may be compared to a fecundated womb[2] with its life-processes at the imperceptible minimal line, and consequently it is as if in a state of inactivity. In due time the impregnated *ākāsa* like the conjugated cell is roused from its inactivity as if to begin the process of cell-division called mitosis. Or, in other words, the original *ākāsa* is energized out of its passivity to initiate the process of atomicity and the result is the birth of corpuscular space or *ākāsa*-11. The principle of kinesis is thus manifested as *parispandic* motion, which is the source of original *sabda*. That is to say cultural motion in ether (*ākāsa*) is the initiator of creative evolution. Out of it a modified form emerged and was designated as *sparsa*, 'contact principle', which exists on a grosser plane than that of *sabda* and has a different kind of motion, i.e., lateral motion. Lateral motion is in fact a magnified form of circular motion, for, a segment of a great circle appears to us as straight. This is how the 'contact principle' operates. The 'contact' particles move in ether as if contacting all ether particles in their paths, they move from one particle to another in straight lines or geodesics. In fact, that is the only way all free bodies move: "All free bodies pursue geodesics, or the straightest of paths, through space-time, regardless of whether we are considering regions in the neighbourhood of matter or remote regions in inter-stellar space."[8]

---

[1] Dr. B. N. Seal.

[2] Cf. Gita 14.3

The third constituent *rupa* or 'luminosity' is another mode of its predecessor, *sparsa*, and is characterized by vibratory motion. The subsequent *tanmatras* too, evolve in the same way, each developing a characteristic motion of its own and each is on a different plane. Thus, all the *tanmātrās* evolve in a linear descent,each from its predecessor, and is born with a special function, for example, *rasa* functions as 'affinity' characterized by attraction-repulsion of differential selectivity, and *gandha* is characterized by inertia or mass-formation, which is the characteristic of gravitational forces.

The principle of kinesis is the basic element in each *tanmātrā*, that is, in every kind of motion. But, as the *ākāsa* particle has no lateral motion, it is not called kinetic energy by the ancient cosmogonists. It is noteworthy that the original circular motion is the source of all kinds of movements, straight, vibratory, differential (in electricity) and gravitational. We know from the theory of Relativity that straight lines do not exist in our finite world and we live in a world of circles. Hence, what we call straight lines are but sections of great circles. Thus, rectilinear motion is a circular motion, magnified from its *parispandic* micro-form. A sense of finiteness is thus created by turning back of the Infinity (e.g. straight line) on itself. We can see that it is this *parispandic* device by which limitation is created in the Illimitable. And what is 'luminosity', i.e., vibration ? It is a periodic motion in alternately opposite directions, that is, it is a circular motion through an arc, first in one direction, then in the opposite direction. Clearly, it is a more involved form of its simpler predecessor. The next principle, 'affinity'; and its differential behaviour, attraction-repulsion (in electricity), still remain a mystery to science. Electricity, accord-

---

8. A. d' Abro.

ing to ancient conception, is made up of light-energy reorientated as particles of opposite impulses stepped down on a lower plane. One particle represents 'attraction', and the other its opposite counterpart. Light has been found to possess electrical properties, that is to say, light is regarded by modern scientists as electro-magnetic waves. This is not to say that light and electricity are the same thing. Scientists today believe, says James A. Coleman, that the rest mass of the photon (light-particle) is zero. In any case, the mass of a photon in grams is negligible, whereas that of an electron or positron is 9×10^{-28}. It is known that: "If a positron gets too close to an ordinary negative electron, a process takes place which is called annihilation. The two particles neutralize their electric charges and disappear; their mass is converted into energy, in the form of electro-magnetic radiation (X-rays)."[4] It follows therefore, that X-rays or photons of the requisite quanta can be converted, if suitable conditions can be created, into electrons and positrons, i.e., electricity. It is conceivable how the opposite characteristics appears in electrical particles, electrons and positrons. We may think of two whirlpools spinning in opposite or same directions in relation to each other, in any medium. In one case they will attract each other, in the other they will repel each other[5]. This spinning or circular motion is the fundamental characteristic of ether corpuscles, as we already know. But how electricity is converted into gravitation, as claimed by the ancients, is not easy to trace. Electricity is Differential Energy, whereas gravitation is characterized by forces of inertia, mass-formation. That they are allied forces is apparent, because the ancient physicists trace the birth of gravitation to electricity. The magnetic properties generated by an electric current seems to indicate that gravitation is of the nature of magnetism, though imperfectly. The two electricities, positive and negative, are complementary forces. Gravitation, *gandha*, according to these authorities, is a unifying force and operates to maintain the stability of the cosmic order. This integrating effect of gravitation may perhaps be inferred from atoms and molecules, which are neutralized bodies. This neutralization seems somehow to generate the gravitational field. We know that when two opposite gamets unite, the conjugated cell shows characteristics of the two nuclei, which are drawn together by a force akin to "smell". The zygote too, must therefore, inherit the nuclear "smell sense", which is the biological counterpart of gravitation. Gravitation is the unknown result of equilibrated electrical forces.

---

[4] O. R. Frisch.

[5] Cf. "The difference between positive and negative electricity may be appreciated by considering that they are each a kind of vibration, that the positive is the one kind and the negative another—and that the two opposite vibrations harmonize, so that positive is attracted by negative, but that two of the same kind, two positives or two negatives, are out of step and so are repelled by one another."—V. Wallace Slater, B. Sc., F. R. I. C., M. I. Chem. E.

It comes to this, then, that *ākāsa* is the mother and reservoir of all creation, as Plato observed, substantiating the Indian conception. Out of its corpuscular bodies, specialized step by step to fit into an evolving cosmic system, arose the five categories known to us as sound, touch, colour, taste and smell, each possessing a characteristic kinesis, namely circular, rectilinear, vibratory, 'differential' and gravitational respectively. And matter is the result of their intricate architectonic. The gradual involvement of these subtle forces are not perceptible to us. We recognize only a few results, which are our cognizable sense objects. A sense of finiteness is thus figured up in an infinite continuum.

How the whole cosmic system evolved out of a single principle is a matter of inference, basing on meagre ancient materials. Nevertheless, a few high-lights of empiric importance in the shadowy Unknown, probed by the ancient mystics, may inspire us to keep up faith in the search, in which the psysical world presents to us one set of enigmas of the Unknown bifurcated into two spheres, the non-living and the living. It may be helpful to understand the one by means of the other. If we shift our explorative quest in the biological sphere, we can see how a single fecundated cell, as if by prescience and magic, grows into an embodied being. The single conjugated cell is multiplied again and again by dividing itself, and its split-parts, each of which becomes a complete cell, identical with the original, to specialize later to form the different tissues that build our muscles, skin, bone, nerve, blood, hair, brain, sense organs and every part of the animal body. This is the life-story of the foetus, a unique self-configuration, self-planned, self-assembled, of a cytular speck. It is a marvel of planned development. There is a parallel to it in cosmogenesis.

The original *ākāsa* it fecundated in the same way and the result is the birth of our universe. All this happens by the self-modification of the *ākāsa* - corpuscles, i.e., by differentiation and specialization, in a series of evolutionary changes. Where does this life's urge come from ? The process is essentially the same in either case.

Swami Vivekananda summarises the genesis in the following way: "According to the philosophers of India, the whole universe is composed of two materials, one of which they call *Ākāsa*. It is the omnipresent, all-penetrating existence. Everything that has form, everything that is the result of combination, is evolved out of this *Ākāsa*. It is the *Ākāsa* that becomes air, that becomes the liquids, that becomes the solids; it is the *Ākāsa* that becomes the sun, the earth, the moon, the stars, the comets; it is the *Ākāsa* that becomes the human body, the animal body, the plants, every form that we see, everything that can be sensed, everything that exists. It cannot be perceived; it is so subtle that it is beyond all ordinary perception; it can only be seen when it has become gross, has taken form. At the beginning of creation there is only this *Ākāsa*; at the end of the cycle the solids, the liquids, and the gases all melt into *Ākāsa* again, and the next creation similarly proceeds out of this *Ākāsa.*

"By what power is this *Ākāsa* manufactured into this universe? By the power of *Prāna.* Just as *Ākasa* is the infinite, omnipresent material of this universe, so is *Prana* the infinite, omnipresent manifesting power of this universe. At the beginning and at the end of a cycle everything becomes *Ākāsa* and all the forces that are in the universe resolve back into *Prāna*; in the next cycle, out of this *Prāna* is evolved everything that we call energy, everything that we call force. It is the *Prāna* that is manifesting as motion; it is the *Prāna* that is manifesting as gravitation, as magnetism. It is the *Prāna* that is manifesting as the actions of the body, as the nerve currents, as the thought force. From thought down to the lowest force, everything is but the manifestation of *Prāna.* The sum total of all the forces in the universe, mental or physical, when received back to their original state, is called *Prāna.* When there was neither aught nor naught, when darkness was covering darkness, what existed then? the *Ākāsa* existed without motion. 'The physical motion of the *Prāna* was stopped, but it existed all the same. At the end of a cycle the energies now displayed in the universe quiet down and become potential. At the beginning of the next cycle they start up, strike upon the *Ākāsa*, and out of the *Ākāsa* evolve these various forms, and as the *Akāsa* changes this *Prāna* changes also into all these manifestations of energy."[6]

Summary and Conclusion

If we look back to the universe through its evolving stages from the day of its birth as inchoate matter, to its ageing as a cosmos, we can fix upon a few things of more than usual interest. From the circumference across the centre, our world (not the Super-world) is a vast stretch of quinary matter of every description between very rarefied ether and the densest Inertial Matter. These graded formations are not uniformly distributed on the basis of density extending out to tenuity. Material bodies lie scattered here and there. Towards the border of our universe space must be very rarefied, as we have seen in the last chapter. Things must have become ship-shape over an immense period of time, and there must have been a cosmic frame behind them all, which seems to be the same thing as the space-time metrical field of modern science. We can see that *ākāsa*-11, quinary ether, is the rarefied extremity of the cosmic series, and Inertial Matter the other, the grossest of the gradations. Between them there are three other cognizable formations, viz., *vāyu*, *tejas* and *ap*; each a different product. Leaving aside the Super-spheres, our world is an enormous tract of these five categories, that is, atomic ether, kinetic energy, light energy, electrical energy and matter all—matter of a kind, rarefied or gross.

---

[6] Raja-Yoga, Vivekananda.

Now, what is Inertial Matter ? Atoms and molecules. They resulted from the integration or collocation of electrical particles, positive and negative. Do we know what are electrical particles, intrinsically ? They are made up of photons, modified and reorientated for the purpose, in Nature's laboratory. The energy of light is an involved mode of kinetic energy, which again is a specialized mode evolved from ether particles. Theoretically, therefore, if not practically, the atoms, electrical particles, photons, and kinetic particles (quanta) are all transformable to their mother form, i. e., ether corpuscles, in the reverse way to that of their origin.

The ether particles are the product of subliminal *Ākāsa* and *parispanda* (cf. *Ākāsa* and *Prāna* cited by Vivekananda). They are the corpuscles that specialize out to become other *tanmātrās* in the making of matter, just as the fertilized cell and its splitparts specialize to become the different tissues of the animal body. The animal cells at origin occupy the same status as the corpuscular *ākāsa*. There appears to be a dual principle, positive and negative, or male and female, Purūsha and Prakriti, which, in different formulations, seems to be at the root of all creation. This duality is traceable to *ākāsa* and *parispanda*. When this duality resolves back to absolute Unity, the cycle of phenomenal existence ceases, and primal energy reverts to its uncognizable status.

"*Pervading Himself by Himself,*
reposing in Itself—this verily is THAT"

—Ma Anandamayee

The Sphere In Religion

ELWOOD DECKER

On page 138 in the inspiring book, *Mother as Revealed to Me* by Bhaiji, She mentions Her perception of the light radiating from Her body gradually shrinking to a ball of light on Her forehead. Surely it will be a blessing to give some thought to an object worthy of Mother's inner attention. May it be our good fortune to gain some insight into Her assignment of this primary form to such a high position.

Our Occidental civilization is still reeling from the psychic blow it received when the Greeks underestimated the Sphere, and wandered off into geometry and intriguing mathematical relativities found in the maze of the Minotaur, which is nothing more than a symbol for the sense-dominated mind. Notwithstanding their passionate interest in form, neither Paul Cezanne nor Claude Bragdon could conceive of the primary importance of the Sphere and prevent the descent of the idea of individuality into the devastation of politics. Attachment to motion stopped Buckminster Fuller from doing anything about it.

In our Orient the perfect Sphere was also snubbed, although the normal pre-eminence of Consciousness in its Formless Aspect was wisely acknowledged. In formal matters a sentimental preference for multitudinous, anthropomorphic Personifications imaginatively relegated the uncomplaining Sphere to the somewhat subordinate position of a Magic Egg, responsible merely for the production of the universe. It is painfully obvious to almost every thinking person that the sensational universe is the number one trap of the mind and the grossest obstacle to its salvation.

Thus the glorious power of the silent Sphere as a suitable Ideal for contemplation, to restore consciousness to its Pristine Balance, was underestimated. The consequence to potential purity of human thought was a world-wide catastrophe continuing to be so up till the present moment. Now is a good time to set the record right.

Whether visualized in or around the universe, there is only one concievable form equally balanced in all directions, the Sphere.

No points, edges. planes or variation of equality in the curving Sphere accent the unique convexity of its surface. Therefore the Sphere is the plenum of directional balance possible to single forms ; and all other forms, including the human form; can be accurately thought of primarily as dimensional divisions, or directional accents, of the perfect equal balance of this most primary form. Unlike any other form, no matter in what position the Sphere is placed, it presents the same perfect symmetry to the eye. As a pure beam of colorless sunlight contains in balance the potential, vibrational division of all colors ; and as the mind at rest, in nirvikalpa samadhi, contains all the potential accents of thought- so the unaccented, completely balanced Sphere is the primary standard, by which the different degrees the dimensional accent of other forms can be measured at a glance, understood and related.

Thus far no scientist or artist in East or West has accomplished this rudimentary procedure to build for civilization a basic, comprehensive, form 'alphabet.' The occasional 3rd dimensional, abstract sculpture of our time, resulting from intuitive flashes like in a game of hide and seek, is but a hint of what is probably to come in future ages when the Sphere is scientifically appreciated as a signature of Consciousness rather than a detail of appearance.

If you are an artist, well aware of the advantages gained from transforming chaos into order and beauty, you may be powerfully attracted to such a challenge, but if you wish to extract yor mind from the relative trap of sensation—the Sphere offers you much more. As long as you do not retrieve your mind from all spherical attractions that are functionally fascinating instead of primary....the clamp and crimp of frustration persists. If you wish perfect freedom...complete balance must come first.

Our hesitation vanishes when we realize how we have been led to believe in our weakness rather than our strength. As soon as we are physically strong enough to grasp a Sphere, we use it to distract rather than free the mind. In our infantile state, the bounce, roll or resistance of the ball seems more engaging than its superior structure. Imagine over the surface of our ample earth all the busy ballgames going on.... balls flying in all directions........baseballs, basketballs, volleyballs........ billiard balls, bowling balls, pingpong balls........ tennis balls, golf balls, polo balls........and pinballs........thousands of players and millions of spectators........and the mind of each rolling along, following a favorite ball, bounced meaninglessly from resistance to resistance. Good health from sport could be an aid to peace of mind if one is capable of such a dichotomy of interest; but where is a gift so rare?

Though we marvel at the power and precision of a small, steel ball-bearing held in the tender hand, we are apt to quickly place it where we can watch it move. The hand is unaccustomed to being held still enough or long enough for the significance of its perfect balance to seep into the mind. We do not wish to be left out of the cosmic ball-game of rotating stars affecting the slow yugadominated evolution of the world-mind from the minutiae of its desires........if we prefer motion to balance. We then also suffer the humilation of thinking our volatile, delicate bodies seeming so weak in comparison to a huge, far-away, spherical star we have to *imagine* in orbit, controlling our spherical sun, which in turn furnishes its light power to the spherical planet we live on.... so big to our eyes it appears flat to us while we are on its surface. It is not easy to believe at first that our power to think *can* set us free from such bewildering impressions. All the while the greatest power of balance portrayed by the friendly Sphere is in us, unused.

Motion-dominated, hurrying modern man clinging to the idea that man was intended for dominion but experimenting for the know-how, wants to try it with more tangible excitement. Excitement he does get........his mind like a gadget-loaded missile going several thousands of miles an hour, trying to stretch out into the illusionary infinitude of physical space while moving backwards and forewards in the fantasy of psychological time....yet feeling more and more like a lost speak driven dangerously by uncontrollable compulsion, in an incomprehensibly vast obstacle-course ....a predicament from which only a transcendent ideation of form can save him.

This trap of illusionary dimensional division has been neatly tightened by our inheritance of distracting instincts from a pre-human past, involving subtler levels of energy than either our crude bodily senses or our beguiled, slowly awakening, mental faculties can be aware of.

How physically enticing is the lovable Sphere! It moves at the slightest touch for one and all, whether the mover is aware of, or oblivious to, any special significance in its absolute balance. Also through the bare awareness of our uneducated human bodies the illusion of energy, time and space allow a flood of obscuring sensations to enter our consciousness before we have a chance to think.

Latticed in your crib, baby dear, your reaction was mostly chemical as you let fall your soft rubber ball. When it bounced, you bounced with it and chortled like H_2O.

Sister likewise, filled with molecular energy, snatched her jacks between the bounces of her hard rubber Jack-ball, giving her whole attention to ceaseless, molecular-like motions.

In little brother's busy brain electrons and protons bounced, while he shot solid marbles, intent on every impact that meant colorful loss or gain. When big brother pulled his life-energy together, to put the 16 pound shot with a mighty effort of will, the driving concentration of his mind followed every inch of the distance gained by the final bounce.

Dad, did you ever think of the soothing sphere at Rest as you puffed and pushed a heavy, stuffed-leather medicine ball in the gym, cleverly calculating with your cosmic intelligence to save your quivering flesh a little longer ? And what chance had Mom...darling, unselfish Momsie....patiently coaxing out of her dwindling ball of yarn an always-something-different quality....her divinely radiant heart lovingly clinging to the cares and the charms of her family ?

We have been so wondrously made with the magical properties of cosmic energy, it is exhilarating to merely be alive in ignorance. Our first youthful impulse is to think of understanding in terms of physical enjoyment, and consider a generous amount of possession as an aid to such understanding. Gradually we learn that for a skillful experience of sensation an aquired practical knowledge of accented balance is necessary to control subconscious instincts. We do not suspect a lack of balance with division involved. Unless we are beaten by hard blows and deeply humiliated we will not give up one iota of the slavery and suffering of distraction's unbalance....we love the ball-game as long as we believe that with a little more skill a more enjoyable experience is possible for a few fleeting moments, hours, days, or years. When age forces us out of the more exuberantly passive material joys we are consoled by the subtler, creative mental joys but our attention is still divided by a multiplicity of interests under the powerful spell of universal diffusion of form. Hypnotized by energy we give no thought to the wholeness of the sphere. Its changeless perfection is available as an inspiring influence, but as long as we ignore it we remain unaffected.

No universe will ever be large enough to give the Sphere its primary due. We alone can accomplish this by the proper use of our mind. Size has nothing to do with it. To an appreciative mind, the uniquely primary sphere, large or small, in its unmatched, conceptual fullness... *unassociated* with the vagaries of physical energy, is far more attractive than all the stars, suns and planets together, whirling through vast stretches of space, pouring out the powerful vibration of light that gives tangible form to countless creatures. A long time ago GOD was quoted as having said, "BE STILL AND KNOW THAT I AM GOD." No other heroics were mentioned.

Prince Dhruva followed this advice and was blessed with the privielege of exchanging his human form for a sphere....its magnetism providing a heavenly social life far more extensive than an earthly kingdom...even on the tangible plane, but there is much more. Abiding in the Balance rather than the function, Sri Dhruva can coast peacefully along the river of time into the next *pralaya* without feeling any difference.

So is with us all. Hidden in the depths of our mind, the Natural Background of Peace that Passeth Understanding is instantly available to anyone who will give up all else on a lower rate of vibration. In this holy endeavor it might be very helpful to contemplate the unique perfection of spherical balance with the kind of attention ordinarily given to breakfast, lunch and dinner. Partial interest will not do. It must be whole interest to match the whole balance of the Sphere. Let us be grateful for the magnificent materialization of forms in time and space offered to us by Nature as an introduction...giving us a chance to get ready to appreciate primary character.

I do not wish to minimize the GOD-given privilege of having a human form, but it is the quality of consciousness within that makes it important. Fortunately with Sri Sri Anandamayi Ma in our midst we have a perfect example. For Her devotees Her human body is the immediate Grace of GOD and the History of Yoga. The quality of Her Consciousness from birth makes it so. For us it is the opportunity to unify our sense of everything, including, form. Being the Mother of the universe, She could have just as easily incarnated as a Sphere, but She Mercifully considered *our* limitations.

The Annunciation to Didima that both Goddesses Kali and Durga would be born as her Child was a prelude to the revelation of Her true Identity during sadhana when all the Gods and Goddesses appeared and disappeared in Her Being. To benefit by the Sphere we must identify our consciousness with its wholeness of balance...which takes a lot of impersonal concentration. With Mother there is an advantage. With the Sphere we cannot afford to lapse into partial consideration. For those ready to be Blessed by it, Mother's Lila on earth was complete at the moment of Her Birth. In any part of Her Compassionate Life the life-work of the universe is perfected. Devotion to Her Feet dissolves all divisions into Infinite Bliss and Eternal peace.

To play my part
With balanced mind
Like the Sphere–
May all my heart
Be wholly Thine
Mother, Dear.

Matri Lila

(*May—July*, 1967)

We have already mentioned in our previous issue that Mataji arrived in the Kishenpur Ashram by car from Hardwar in the early afternoon of April 24th 1967 just before the lunar eclipse set in. Thus, almost immediately after her arrival kirtan was started in the hall and kept up for four hours with half an hour's silent meditation in between. Mataji however went upstairs to rest in her room. After the eclipse was over she sprinkled Gangeswater on all present.

From April 26th to May 5th Mataji kept *mauna* all day long talking only in the evening after the completion of the *ārati* in the temples. Yet it was not a stone-like silence such as she had observed on occasions for long periods in her youths, when one could neither from her facial expression nor even from her eyes guess whether she recognized the people around her. This time Mataji communicated with her companions by signs and gestures whenever convenient. During *darśana* time nobody dared to utter a sound and so there was pindrop silence. Many delighted in the deep hush that would envelop the gathering.

On April 28th Sri Gurupriya Devi with a number of ashramites left Dehradun for Lucknow, proceeding from there to Kanpur on May 2nd to commence Mataji's birthday celebrations.

On April 29th, Mataji paid a visit to the Raipur Ashram, returning to Kishenpur the next day. On May 1st the newly built kitchen for *Rama Mandir* at Kalyanvan was inaugurated and *kitchuri* distributed on leaf plates to all present. Mataji remained in Kalyanvan from early morning until the afternoon, supervising every detail.

Rāma Nāma was kept up for several hours in the open space in front of the temples.

As far as we remember Mataji always used to be present for the whole of the period wherever her birthday celebrations were held. This year however she came to Kanpur only on May 12th. The devotees of Dehradun, highly pleased at their good fortune of having Mataji in their midst on her birthday, May 3rd, arranged for an all-night kirtan and for a solemn puja in the *Matri Mandir* between 3 and 4 a. m. on May 4th. Mataji gave *darsāna* in the beginning of the kirtan. In the small hours she came to the hall to see to the preparation for the *Akhanda Rāmāyana* that was started on May 4th continuing until 1 p. m. on May 5th. On May 4th a feast was given to all. On the 5th evening Mataji, Didima and a few companions entrained for Varanasi. There also Mataji's birthday was celebrated by the girls of the Kanyapith and others. On the 11th night Mataji proceeded to Kanpur with a large party.

In Kanpur the Jaipuria family had made very elaborate and excellent arrangements for the birthday celebrations that were held in the extensive compound of their property called "Swadeshi House". In the midst of a lawn a very charming thatched hut had been erected for Mataji's use, with a lotus pond and a picturesque little bridge just behind it, which reminded one of a Japanese painting. The cottage was air-conditioned and Mataji jokingly remarked, "You have made Simla here". But she hardly used the air-conditioning. In front of the hut there was a place under canvas for Mataji to meet small groups. A very spacious, beautiful pandal which served as a satsang hall had been put up at a short distance. It was equipped with coolers, fans, loudspeakers, etc. and proved most comfortable in spite of the broiling heat of May. There was another huge lawn where *satsang* could be held in the open and attended by countless people. Pandit Ram Kinker gave very lucid and interesting discourses on the Ramayana there for several hours every evening from May 3rd to 15th. Mataji's party and some of the visiting Mahatmas were accommodated in buildings within the compound, while several hundred guests stayed in a Boys' college half a mile away. Inspite of the large crowd and the excessive heat, everyone was comfortable, fit and in excellent spirits.

Mataji's health was not very satisfactory. In spite of this she was unbelievably active and not only attended the *satsang* for long hours every day, but also gave *darsana* privately and in small groups to innumerable people.

On May 12th, the day Mataji reached Kanpur, the well-known saint Sri Sitaramdas Omkarnath came to see her with some disciples. He left for Vrindaban the same evening. In the afternoon of May 13th, Kanpur experienced one of the heaviest hailstorms within living memory. Some of the hailstones were the size of small oranges. The pandal had to be abandoned and partly dismantled. But in no time another one was temporarily erected on a different lawn and the programme continued. A lady from Allahabad who during the raging storm was sitting in a corner of the pandal doing japa, refused to budge from her place and persevered in her practice undaunted. Believe it or not, no rain fell on her and the spot on which she sat remained dry.

On May 15th Sri Hari babaji Maharaj arrived and with him the Rāsalilā party. From May 16th Sri Goruanga Lila was performed every day from 9-11 a.m. and Sri Krishna Lila from 9-11 p.m. During those performances all available space was tightly packed and at night the tent had to be opened out and the crowd overflowed into the spacious lawns. Almost all the Mahatmas, who do so much to make our yearly Samyam Vrata a success, gradually arrived. Sri Chetan Giriji, Sri Maheshwaranandaji, Sri Vishnuashramji, Sri Krishnanand Avadutaji and others daily delighted the audience by their inspiring talks, while Sri Krishnanandaji of Bombay put in short humorous interludes in his original way of singing kirtana. Swami Akhandanandaji of Vrindaban delivered a series of most interesting talks on the efficacy of the Name. An amazing lot of new light was thrown on the subject by what he said. For a few days Mataji replied to questions at the end of the programme and several times she sang. *Ārati* was performed early morning and late at night. In a special room in the garden *japa* was kept up without interruption from May 3rd to 27th.

On May 19th *Kumāri Pujā* was performed and 108 little girls were entertained to a feast. Mataji sat among them and played with them for a while and distributed presents to them. On May 20th Mataji visited a famous Radha Krishna temple which contains scenes from the Ramayana in inlaid stone work, that are exquisite pieces of art. During the full-moon night, on May 23rd perpetual *kirtana* was sung by woman devotees. Mataji was present until midnight and returned again towards morning. The *Tithi pūjā* that marks the climax and end of the functions was celebrated from 3—5 a. m. on May 27th. The evening before, the satsang was shifted to another pandal, so that preparation for the puja could be made and the platform suitably altered and decorated. The attendance was truly enormous and but for the efficiency and foresight of our hosts, chaos might well have resulted. However, everything proceeded in order and solemnity and everyone was given the chance to ascend the platform after the puja and do *pranāma* at Mataji's feet. Mataji remained lying without the slightest movement until 2 p. m. while the Rāsalilā was performed at the usual time in the other pandal. About thousand people partook of the dinner served at midday under canvas. The *satsang* continued daily until Mataji and Sri Haribabaji left for Dehradun on May 29th. On May 27th late at night, *Nāma yajña* was started by our Delhi Kirtan party and others. Mataji had not left her room the whole afternoon and evening, still under the impact of the state that appears to enter during the *Tithipūja*. At midnight when most people had dispersed, some of the *kirtana* singers went to entreat Mataji to come to the pandal. She responded and joined the *kirtana* in one of her rare moods. After midnight the women continued the *Nāma yajña* up to sunrise and then the men until sunset. The celebrations at Kanpur will remain unforgettable to all who took part.

* * *

When Mataji arrived in Dehradun on May 30th, she went straight to Kalyanvan where Sri Haribabaji and his party were put up in 3 houses. Mataji remained at Kalyanvan all that day, attending Sri Haribabaji's *satsang* at 4 p.m. and 7-30 p. m. In the first days Mataji used to go to Kalyanvan often two or three times daily for Haribabaji's *satsàng*, but later used to attend only the evening function that was held in the open air as long as weather permitted. Towards the end of June the monsoon broke with great vigour and the evening *satsang* had to be shifted to the Ashram hall. Sri Haribabaji, as usual, daily related a new story from the life of bhaktas. His stock of these often stimulating and inspiring stories seems inexhaustible.

Many devotees arrived by turns from all over North India to be with Mataji in Dehradun for varying periods. About the middle of June Swami Sadanandaji of Paramarth Niketan came to invite Mataji to Rishikesh, but she declined as she would not leave while Sri Haribabaji was at Dehradun. Sri Sitaramdas Omkarnathji came one evening for a short time. Mrs. Talyarkhan of Tiruvannamalai arrived for a couple of days with a relative who had in vain sought cure of a disease in the U. S. A. Mataji enjoined on him and his wife to put their faith in God rather than in doctors, to renounce all personal desire and surrender their lives completely to God's Will, whatever it be. Within two days the gloom had disappeared from their faces. They left, changed beings, a new light shining in their eyes.

Amongst the visitors there were two or three from South India and a good number from various foreign countries. Occasionally questions would be asked by them and several times interesting conversations ensued that were greatly relished by everyone present. The Charge d'Affairs of the Embassy of Peru with his aunt came three times from Mussoorie, and one day remained for the evening *satsang*. The Desjardins family arrived by "landrover" for a few days. Mataji never gets tired of playing with their two children. Mr. Desjardins told us an interesting detail which we failed to report at the time. In December 1965, while His Holiness the Tibetan Lama Gyalwa Karmapa of Rumtek Monastery in Sikkim was in Delhi as the guest of the Indian Government, he paid a visit to Mataji at our Kalkaji Ashram together with the senior interpreter of His Holiness the Dalai Lama, and had a lengthy private interview with Mataji. Mataji, as she always does called herself his little daughter, to which His Holiness objected saying that she was the mother and he her son. They wrestled over this for a little while. The famous Lama invited Mataji to Sikkim for the opening of his new monastery.

On June 27th the Mahant of Radhavallabh Temple, Vrindavan, Sri Vraj Jivan Goswami arrived and remained until July 15th. Goswamiji is a good speaker as well as a fine musician and both his talks and melodious singing were greatly enjoyed by the audience.

On July 2nd, Sri Kalyandevji of Sukhtal arrived with some others to invite Mataji to Hastinapur, a new refugee-town, on behalf of Swami Vishnuashramji who was holding a *Bhagavat Saptaha* there, to end on July 19th.

On July 5th birthday of Sri Haribabaji's Guru was celebrated by Kirtana and a feast. During the *satsang* Sri Haribabaji related many interesting details from the extraordinary life of his Guru. On July 9th the day of the *Rathayatra* (car festival) at Jagannath Puri, *kirtana* of the *Mahāmantra* was sung all day by Karanpur *kirtan* party and the ashramites. Sri Swami Chidanandaji, the Head of the Divine Life Society, Rishikesh came to see Mataji and remai- with us for several hours. Late that night, when only very people were present. Mataji of her own *kheyāla* sang four kirtans, which an American devotee was fortunate enough to tape record.

Both at Kanpur and at Dehradun, Mataji was quite often running a high temperature. One day at the beginning of July Sri Haribabaji told the assembled people that he had made up his mind (sankalpa) that Mataji's health again become quite perfect. He requested everyone to join him in this determination and to dedicate at least 15 minutes of every day to *japa, dhyāna,* reading of a scripture etc. for Mataji's recovery. From that day on, 15 minutes *kirtana* of *Rāma Rāghava* were added to the daily evening programme. On July 13th *Rāmarchā* was performed for the same purpose. On July 24th the 3rd anniversary of the consecration of *Rāma Mandir* was celebrated at Kalyan-van. On July 16th there was again all day kirtan attended by a large number of devotees from Dehradun.

Mataji left Dehradun on the 18th early morning after more than six week's stay in our Ashram at Kishenpur. She first motored to Hastinapur and stayed there for one night reaching New Delhi Ashram the next afternoon. Although Mataji was there for a very short period the Prime Minister came to meet her. Mataji reached Vrindavan Ashram on the 20th morning to be present there for the *Gurupurnima,* which was celebrated on the 21st.

Although Mataji's programme in August and September is not yet definitely known, it is, however, presumed that the *Jhulan* and *Janmasthami* festival will be held in her presence in our Ashram at Vrindaban. The Durga Puja is also expected to celebrated in the Vrindaban Ashram from October 10th to 13th. The next *Samyam Saptah Mahavrata* is likely to be held in Patna (Bihar) from 9th to 15 November.

"*Knowing the Mother means realizing Her, becoming the Mother*".

—*Ma Anandamayee*

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA

LIST OF PUBLICATIONS

Hindi

Mātri Darshan—"Bhaiji"	2-50
Sad Vāni "	1-00
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I to VII	16-50
Ma Anandamayee—Dr. Pannalal	2-50
Akhanda Mahāyajña—Gurupriya Devi	2-50
Kirtan Rasa Swarūpa	6-00
Sankirtan, Stav, Aratī	0-50

Bengali

Matri Darshan—"Bhaiji"	3.00
Sad Vāni—"Bhaiji"	1-50
Mātri Vāni	0-75
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I–XII	29-00
Ma Anandamayee Upadeshamrita Sangraha	1-50
Akhanda Mahāyajña " "	2-50
Kirtan Rasa Swarūpa	6-05
Suno Bali Maer Kotha —Sailesh Brahmachari	1-25
Mātri Lila Sankirtan	0-31
Anandamayee Ma—Ganga Samiran	2.50
Namavali— "	0.50

Gujarati

Mātri Darshan—"Bhaiji"	1.50
Ma Anandamayee Ke Sannidhyame, Part I & II —Br. Kantibhai	
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand	2-00

English

Mother As Revealed to Me—"Bhaiji"	4.00
Mātri Vāni (Sayings)	1-50, Special edition 2-50
Words of Sri Anandamayee Ma	3-00, Special edition 5.00

Photoset

Album of Mother's pictures	1-50
Photos—various sizes	0-40 to 15 00
Lockets	1-25

श्रीश्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. N. 4726/57

547

ānanda VĀRTĀ

HINDI & ENGLISH

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Vol. XV. November, 1967 No. 3

New Publication :

MOTHER

AS SEEN BY HER DEVOTEES

REVISED AND ENLARGED EDITION.

A symposium on Ma Anandamayi consisting of masterly articles from the pens of M. M. Dr. Gopinath Kaviraj, Sanjiva Rao, Dr. Nalini Brahma, Dr. Adolphe Weintrot, Jean Herbert, Dr. Collin Turnbull, Arnaud Desjardins, Melita Maschmann and a host of others.

- ★ **Beautiful pictures of Mother.**
- ★ **Attractive get-up.**
- ★ **Printed on costly paper.**

: Price :

Board bound—Rs. 5.50
Rexin bound—Rs. 6.50

★

Ānanda Vārtā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teaching of Mata Anandamayee and with other religio-philosophical topics

❋

BOARD OF EDITORS

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M. A., D. Litt.
Padma Vibhushan
Kumari Lalita Pathak, M. A.
Kumari Padma Misra, M.A., Ph.D, Acharya
Kumari Bithika Mukerji, M. A., D. Phil.
Brahmacharini Atmananda.
Sri Sailesh Brahmachari.
Sri Amulya Kumar Dutta Gupta, M. A. B. L,
Sri K. Bose,—*Managing Editor.*

❋

★ ANNUAL SUBSCRIPTION ★

India—(Postage free) Rs. 6/- only
Foreign—(By Sea Mail) Rs. 9/- or 15 shillings or $ 2·00
" (By Airmail)—Rs. 22/- or £ 1-10-0 (Europe etc.)
" " —Rs. 35/- or $ 5.50 (North & South America.

ĀNANDA VĀRTĀ

GENERAL RULES

1. The magazine is published in three separate editions—(1) Hindi-English (2) Bengali-English (3) English—in the months of May, August, November and February. The year begins from May.

2. Subscriptions are always payable in advance. Foreign subscriptions may be sent either by International Money orders or Postal orders.

3. Subscriptions to be sent to :—

The General Secretary, Shree Shree Anandamayee Sangha,
Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

4. All correspondence regarding 'Ananda Varta' should mention without fail the subscription number and be addressed to :—

The Managing Editor, "Ananda Varta", Shree Shree Ma
Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

5. Complaints about non-receipt of the magazine should be sent *within the month of publication.*

6. Any change of address should be intimated to the Managing Editor at the earliest possible opportunity.

7. Subscribers are requested not to dishonour any issue of the magazine sent by V. P. P., as this entails a loss to the Ashram fund. They may kindly inform us *beforehand* if they desire to discontinue subscribing to the magazine.

Published by Shri K. Bose, for
Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi
Printed at the Indian Press (Pte.) Ltd, Varanasi-Branch VARANASI.

CONTENTS

Hindi Section

1—मातृ-वाणी 89
2—डायरी के कुछ पृष्ठ—गुरुप्रिया देवी ... 91
3—मातृ-कथामृत—नीलमणि 99
4—कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा—श्री "दत्त" ... 101
5—मातृ-सत्संग—स्वामी भागवतानन्द गिरि ... 114
6—आनन्दमयी माँ क्या कहती हैं ?
—डा० प्रफुल्लचन्द्र दत्त ... 119
7—गीता के अर्जुन महाभारत की पटभूमिका में
—'गंगा समीरण' ... 127

★

CONTENTS

English Section

1. Matri Vani 107
2. Conversations with Sri Sri Anandamayi Ma— 110
3. From the Diary of a European —Melita Maschmann 113
4. Sacred Places of Kashmir, Jammu and Ladhak—A devotee 120
5. Sri Thirumangalai Alvar —T. Krishnaji 128
6. Psychosynthesis and the Ishopanishad —Prof. Bireshwar Ganguly 135
7. Charity—K. G. Ambegaokar 142
8. Matri Lila 149

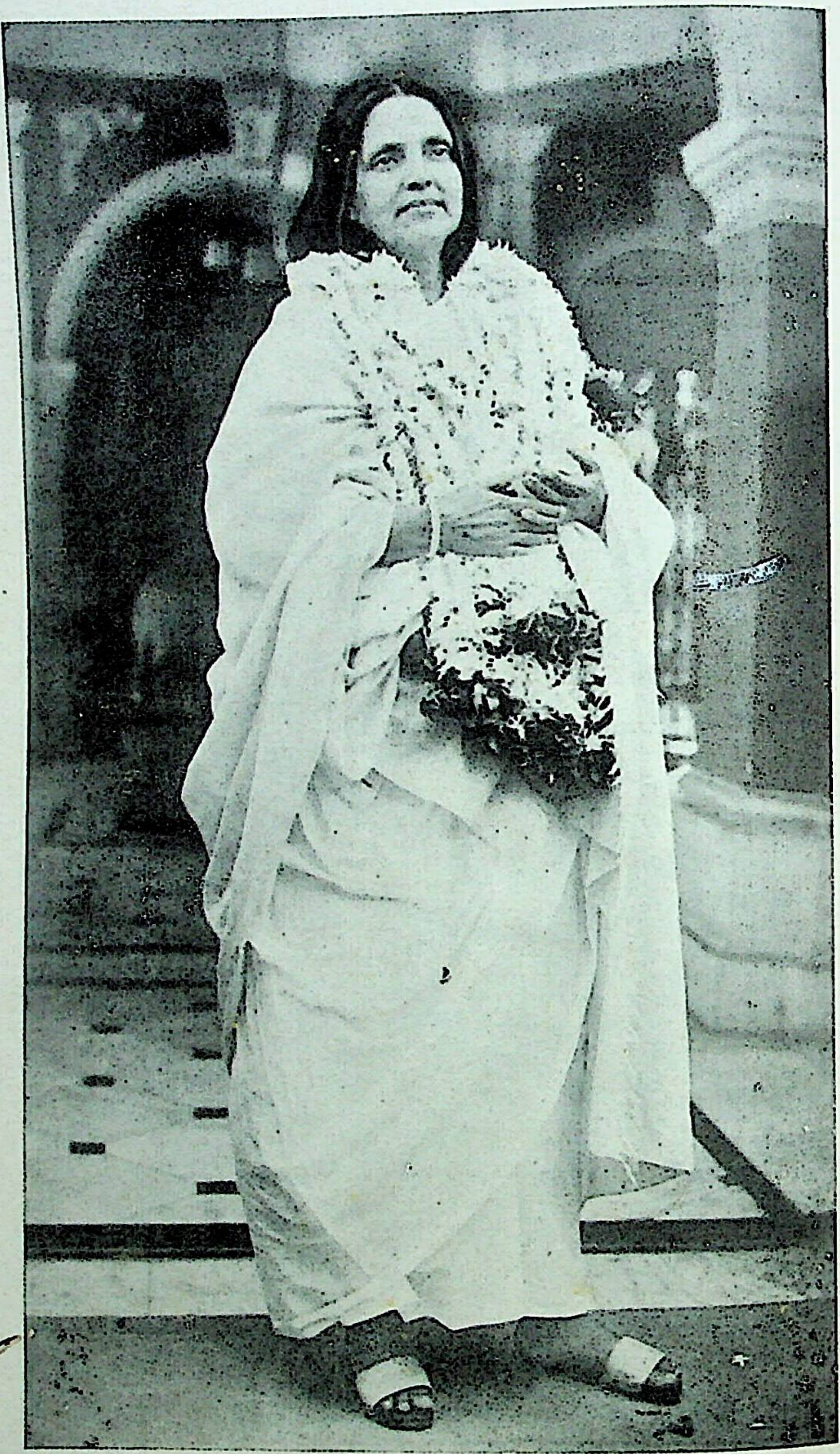

Ānanda Vārtā

"अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपनेमें आप।"

VOL. XV] NOVEMBER, 1967 [NO 3.

—मातृ-वाणी—

महात्मा कहते हैं – शास्त्र भी कहता है—परमार्थ चिन्तन में लग जाओगे और तुम्हें मिलेगा नहीं, यह कभी नहीं हो सकता। चेष्टा—जब तक न मिले चेष्टा छोड़ना नहीं। सत्यस्वरूप भगवान् तुम्हारे अन्दर ही हैं न इसलिए अपना चिन्तन, अपना ध्यान छोड़ना नहीं – अपनी चीज अपने आप पाने के लिए, आनन्द ही आनन्द है। निरानन्द कहाँ वही एकमात्र हैं।

× × × ×

अपने को पाने का जो रास्ता, जो छोड़ा नहीं जाता, वही धर्म है। प्रत्येक के ही प्रकाशित होने का अलग अलग रास्ता है। तुम जहाँ हो, वहीं से ही चलो। एकमात्र वे ही तो। वे ही पकड़े हुए हैं। छोड़ा तो नहीं। फिर भगवत् प्रकाश की क्रिया को ही धर्म कहते हैं। जो अक्रिया वही अधर्म, धर्म तो एक ही है।

× × × ×

मनुष्य कर्म पूरा करने के लिए जन्म लेता है, फिर जन्म पूरे करने के लिए भी जन्म लेता है। शक्तिशाली पुरुष या जिसके अन्दर भगवत् शक्ति प्रकाशित हो रही है, वह अपना कर्म स्वयं ही बदल सकते हैं।

× × × ×

गुरु भीतर से ही होता है। असली खोज होने पर ही असली प्रकाश होता है। प्रकाश के बिना रहा ही नहीं जाता। वे स्वयं गुरु रूप से आकर, स्वयं ही अपना प्रकाश कर देते हैं या प्रकाशित हो जाते हैं।

× × × ×

भगवत्प्राप्ति का रास्ता सरल सहज ही है। गुरु जो बोलें, वही श्रेष्ठ मंत्र। ठीक-ठीक गुरु मंत्र जपने से प्रकाश न हो ऐसा हो नहीं सकता। भगवान् का राज्य ऐसा सुन्दर है। गुरुशक्ति प्रकाश होने पर और फल नहीं होता। अग्नि में प्रवेश करने से जलेगा ही। सर्वनाम, सर्वरूप फिर अनाम और अरूप। यदि नाम अच्छा लगता है तो सर्वनाम सर्वरूप तो है ही। और यदि निराकार अच्छा लगता है तो अनामी अरूप।

× × × ×

उनके साथ दुकानदारी वैश्यवृत्ति (बनियागिरी) मत रखना। इतने दिन तक ध्यान किया पर कुछ नहीं मिला, यह बुद्धि नहीं रखनी। वे प्राणों के प्राण, आत्मा की आत्मा, वे अपने से भी अपने हैं।

× × × ×

नाम नामी अभिन्न। स्वयं वे ही नाम रूप में। अक्षर भगवान् का ही रूप है। जिस नाम करने से चैतन्य होता है, बीज बोने से जैसे वृक्ष उत्पन्न होता है। जो नाम अच्छा लगता है वही नाम लेते-लेते, सब नाम जो उन्हीं के नाम, सब रूप जो उन्हीं के रूप हैं इसका प्रकाश होता है। और वे अनामी, अरूप, इसका भी धीरे-धीरे प्रकाश होता है।

× × × ×

धन में तो शान्ति नहीं। शान्ति किसमें है? मैं शान्तस्वरूप, ज्ञानस्वरूप चैतन्य स्वरूप हूँ—यह बोध जब तक नहीं, तब तक शान्ति कहाँ? अपने को पाने के लिए अपने को प्रकाश करना। कितना सुन्दर है!

डायरी के कुछ पृष्ठ

गुरुप्रिया देवी

२० अप्रैल १९६६,

आज प्रायः साढ़े बारह बजे माँ खेतान साहब की गाड़ी से कनखल से देहरादून आ पहुँचीं। भोग के बाद कल्याणवन चली गईं। सुना कि अभी कुछ दिन माँ वहीं रहेंगी।

इस बीच में एक दिन बात-बात में विद्यापीठ और कन्यापीठ के सम्बन्ध में माँ के मुख से कुछ बातें प्रकाश में आईं। पहले भी इस सम्बन्ध में कुछ-कुछ बोली थीं पर इतना विस्तार पूर्वक नहीं।

एक बार माँ मसूरी पहाड़ पर घूमते हुए एक जगह बैठ गईं। साथ में भाई जी और कुछ और लोग भी थे। सामने एक स्कूल। देखा गया कि सामने एक मैदान के समान जगह में छोटे छोटे लड़के लड़कियाँ खेल कूद रहे हैं। इसी समय हठात् घंटे की आवाज होते ही सब बच्चे तत्क्षणात् खेल छोड़कर जो जहाँ जिस अवस्था में था, वहीं से दौड़कर लाइन बनाकर स्कूल के भीतर घुस गए।

यह देख कर माँ भाईजी से बोलीं, "इस तरह यदि शिशुकाल से ही थोड़ा ध्यान, जप और धर्मानुष्ठान में रहे, और इसी तरह की स्फूर्ति और आनन्द रहे और ध्वनि (आवाज) आने पर तत्क्षणात् आकर्षित होकर उस सत्क्रिया में योगदान–तो कैसा सुन्दर हो। शिशुकाल से ही अपने को गढ़ने की ओर।"

माँ की यह बात सुनते ही भाईजी के अन्तर्जगत् में आलोडन आरम्भ हुआ। उसके बाद उन्होंने किसी किसी से इस विषय में आलोचना की कि किस तरह माँ के इस खयाल को कुछ रूप दिया जाय। अध्ययन के साथ-साथ कैसे धर्म जीवन का भी बीज बोया जाय—यह सब उन्होंने सोचा, वे सोचते थे कि माँ को हम जिस भाव से पाते हैं—सरल, सीधा, स्वयं अपने में अपने आप।

माँ सब समय कहती हैं—भगवान् स्वयं प्रकाश। यह कुमारी सेवा, बाल गोपाल सेवा—माँ कभी-कभी हँस कर कहती हैं—कु जहाँ मर गया वहीं कुमारी। स्वयं भगवती, आत्मस्वरूपिणी हमारी वही आत्मसत्ता ऐसा सोचना होगा। हमारा सौभाग्य कि इस भगवत्स्वरूप और भगवत्स्वरूपिणी विग्रह की सेवा अक्षुण्णभाव से हो। हम सदा यही चेष्टा करेंगे, उनकी समस्त सेवा ही हमारी साधना का अंग है। स्वयं संयमित जीवन तितिक्षा, धैर्य इत्यादि का आश्रम यथोचित—जहाँ जितना

प्रयोजन, आदर, आग्रह, प्रेम के साथ ठाकुर सेवा समस्त पूरी करना। जहाँ जितना शासन आवश्यक, उतना ही, और शुद्ध, सत् शिक्षा और स्वभाव के लिए इसको भी अपनी सेवा का अंग समझना। ठाकुर, तुम्हारे हाथ का यन्त्र, तुम्हीं इस तरह अपनी सेवा पूर्ण किए ले रहे हो। धर्म भाव से सब शिक्षकों की जलप्रवाह के समान धारा सुरक्षित रखने की आप्राण चेष्टा। किसी भी ओर अनीति, अविधि का चिह्न दिखाई न दे, इस ओर तीक्ष्ण दृष्टि रखना, इस प्रकार की जो सेवा जिसके भाग्य में जुटे, वे महाभाग्यवान, भाग्यवती, याद रखो कि वे अपने आत्मप्रकाश के लिए महापथ के यात्री हैं।

भाईजी कभी-कभी माँ से कहते थे, 'वर्तमान समय में पूर्वकाल की तरह शुद्ध पवित्र भाव की गतागति बहुतों के अन्दर दिखाई नहीं देती। इस समय परिस्थिति ही ऐसी है। माँ कहतीं, ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम की क्रम गति, स्थिति की क्रिया यदि न रहे तो उच्छृङ्खलता स्वाभाविक। प्रथम भित्ति स्थापन ही हुआ ब्रह्मचर्याश्रम। इसका अभाव में ही यह भाव।"

३ मई १९६६

आज माँ का शुभ जन्मदिन—१९ वैशाख। ७० वर्ष आज पूर्ण हुए। खेतान भाई और उनकी स्त्री राजा के एकान्त आग्रह से इस बार कल्याणवन की पार्श्ववर्ती नयी जमीन पर माँ के जन्मोत्सव की व्यवस्था हुई। विशाल जमीन के मध्य में फूस की कई कुटिया बनाई गई हैं माँ और दीदी माँ के लिए। सब भक्तों के लिए बहुत से तम्बू लगाए गए थे। कुम्भमेला का एक बड़ा कैम्प मालूम हो रहा था। कलकत्ते से एक आदमी को लाकर अति सुन्दर प्रवेशपथ, एवं सत्संग के लिए पंडाल बनाया गया। चारों ओर का प्राकृतिक दृश्य अति मनोरम, अति अल्प समय के अन्दर सब कुछ तस्वीर की तरह अंकित हो गया।

८ मई १९६६

आज सवेरे माँ की तिथिपूजा सम्पन्न हो गई। खेतान भाई और उनकी स्त्री के एकान्त आग्रह, अक्लान्त परिश्रम एवं अकुंठ अर्थव्यय के कारण उत्सव खूब अच्छी तरह सम्पूर्ण हुआ। शतचंडीपाठ, १०८ कुमारी भोजन, वटुक भोजन, रोगियों का भोजन, महात्माओं की सेवा यत्न किसी बात में कोई त्रुटि नहीं हुई।

२८ मई १९६६

माँ किशनपुर आश्रम में ही हैं। गत एक सप्ताह के भीतर काशी आश्रम की दो संन्यासिनियों के देह त्याग का संवाद आया। २३ ता० को दोपहर सर्वानन्द

गिरि एवं २६ ता० मध्य रात्रि में सत्यानन्द काशीधाम में गंगा के तट पर माँ के आश्रम में सज्ञान अपने-अपने साधनोचित धाम में चली गईं। माँ के मुख से २-३ दिन पूर्व ही हम लोग सुन रहे थे "खराब-खराब दिखाई दे रहा है। देखो, कहाँ क्या हो।" स्वामी भूमानन्द ने भी लगभग ३ महीने पूर्व काशी आश्रम में देहत्याग करी थी। इन तीनों ने ही मुक्तानन्द गिरि जी (दीदी माँ) से संन्यास ग्रहण किया था। तीन महीने के अन्दर ही गिरिजी के संन्यासी शिष्य शिष्याओं में से तीन चले गये। सोचकर मन व्यथित होता है।

सर्वानन्दजी का पूर्वाश्रम का नाम था ज्योतिर्मयी, कुमारी रहकर सारा जीवन साधन भजन में ही काटती थीं। कई वर्षों से हमारे आश्रम में थीं, आश्रम में आने के कुछ दिन बाद ही उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया था। वे पहले से ही हृद् रोग से पीड़ित थीं। आश्रम में आने के बाद भी गत कई साल से नाना स्थानों में रखकर उनकी सेवा, यत्न और चिकित्सा की व्यवस्था माँ करवा रही थीं। अल्पवयस में ही विश्वनाथजी ने उन्हें अपनी गोद में ले लिया, वे बड़े शुद्ध और पवित्र स्वभाव की थीं।

सत्यानन्द गिरि थीं मेरी बड़ी बहिन। बहुत साल संसार धर्म पालन करके अपने ऐकान्तिक आग्रह से वे आश्रम जीवन यापन कर रही थीं। पीछे दीदी माँ से संन्यास भी ग्रहण कर लिया। शेष जीवन उन्होंने जप, ध्यान, व्रतपालन आदि लेकर ही काटा। यह सभी कहते हैं।

इन दोनों का मृत्यु संवाद पाकर माँ ने रोज एक अध्याय गीतापाठ और १ घंटा संन्यासोचित कीर्तन और १३ दिन बाद संन्यासियों के नियम के अनुसार षोड़शोपचार शिव पूजा और सौ साधुओं के भोजन की व्यवस्था करने को कहा, माँ की करुणा से ही इतनी सब व्यवस्था हो गई।

संन्यासिनियों की मृत्यु के कई एक दिन आगे से ही माँ का शरीर काफी खराब था। ऐसा और कभी हुआ नहीं। आँख नहीं खोल पा रही थीं, बात भी प्रायः बन्द। हरि बाबा और कविराजजी भी यहीं हैं। वे अक्सर माँ को देखने आते हैं। माँ कहती हैं—"यह रूप हुआ है पर किसी प्रकार का कष्ट वा ग्लानि नहीं है।

१ जून १९६६

एक ब्रह्मचारिणी को माँ ने एक चिट्ठी लिखवाई। बात सभी के ग्रहण करने योग्य है।

"जो श्रेष्ठ पथ लिया है, उसमें कौन क्या कहता है, सुनने से क्या चलता है?

जो सत्य श्रेयः कर्तव्य वही करते जाना। किसके पास आई हूँ, किस उपलब्ध्य से आई हूँ—वही सर्वदा मनमें रखना। तब दुःख और ग्लानि का कोई कारण नहीं रह जाता—रास्ते में चलने के मार्ग में सुख-दुःख, मान, अपमान बोध जब तक है, तब तक यह काँटे का खोंचा लगेगा ही। सहन करके, धैर्य रखकर, इसके अतीत जाने के लिए जो महान् आसन लिया है, वहीं बैठकर पूर्ण करने की चेष्टा करना। "कर नहीं सकती"? नहीं कहते। करना ही पड़ेगा। स्तुति-निन्दा, विष्ठा-चन्दन, समज्ञान होगा कैसे? जिस पथ पर आई हूँ उस पथ के अनुकूल बात सफलता के लिए क्या प्रयोजनीय नहीं है?"

माँ और बोलीं, "मोहयुक्त अपनों को पराया बनाना होगा। और जिन्हें हम पराया समझते हैं, उन सबों को ही अपना करना होगा—आत्मस्वरूप, ज्ञानस्वरूप। यह बोध स्थिति लाभ के लिए होना। विश्वजगत् में सभी एक आत्मा—तत्। इस स्थिति की प्राप्ति के लिए ही तो बाहर होना। मृत्यु की मृत्यु होना। अहंकार, अभिमान को कितना और प्रश्रय देना?"

५ जून १९६६

हरि बाबा, माँ आदि सब सन्ध्या समय हौल घर में बैठे हैं। तभी शान्ति बहिनजी आदि एक योगी को ले आईं माँ से मिलने के लिए। सुनती हूँ उनके अनेक भक्त शिष्य हैं। अधिकतर चुप-चाप बैठे रहते हैं। दूध, फल का रस और मट्ठा पीते हैं। हौल में भी लगभग दो घंटा वज्रमुष्टि होकर बैठे रहे। पहनते हैं केवल एक लंगोटी और कोई वस्त्र नहीं।

उनके जाने के बाद किसी के पूछने पर माँ ने कहा, हर एक को अच्छी दिशा ही लेनी चाहिए। इस भाव से रहता है। त्यागी पुरुष भगवत्-ध्यान में अधिक समय बैठा रहता है यह भी तो विशेष बात है। तुम सबको दर्शन मिला है—यह सौभाग्य की बात है।

६ जून १९६६

माँ कल ऊपर के कमरे में कहती थीं, "एक जन खबर दे गया" कमरे की दीवाल दिखा कर बोलीं, "यह सब रुकावट कुछ भी नहीं।" माँ के कहने के ढंग से हम लोग स्पष्ट समझे कि कोई दुःसंवाद आ रहा है। आज सबेरे ही उदास से कहा कि दो पुरुष मिलने आए थे। समझ गई कि सूक्ष्म में।

सबेरे करीब साढ़े दस बजे दो तार आए। कल सबेरे काशी आश्रम में ठाकुर

माँ ने शरीर छोड़ दिया और मध्य रात्रि में मनादा* भी हठात् परलोकगामी हो गए।

यह संवाद पाने के बाद माँ ने बताया कि उन दो पुरुषों के बीच में एक मनादा थे। दूसरे को भी पुरूष मूर्ति से देखा गया था। ठाकुरमाँ सात वर्ष की विधवा हो गई थीं। उनके अन्दर पुरुष भाव ही अधिक था।

एक के बाद एक यह दो दुःसंवाद सुनकर हम सभी विशेष मर्माहत हुए। ठाकुर माँ का असली नाम था चिन्तामणि देवी, माँ की ठाकुर माँ से चेहरा मिलता था इसलिए माँ ने उन्हें 'ठाकुर माँ' नाम दिया था। सब उन्हें इसी नाम से जानते थे। बालविधवा—अत्यन्त कठोरता के साथ सारा जीवन काट दिया था। पहले काशी में अन्यत्र रहती थीं। पीछे हमारे काशी आश्रम बनने के कुछ साल के अन्दर ही वे आश्रम के सेवाकार्य में व्रती हो गईं। अक्लान्त भाव से प्रायः २० वर्ष से अधिक ठाकुर सेवा कर गईं। सामान्य कुछ दिन ही रोग भोग कर गंगा तट पर सदा के लिए मुक्तिलाभ कर लीं। उनकी अस्वस्थता की खबर पानू की चिट्ठी से मालूम हुई थी, माँ ने साथ ही साथ फोन कराया कि उन्हें ऊपर से उतार कर नीचे कन्यापीठ के बरामदे में पूर्व दिशा में गंगा के सामने रखा जाय। सुना वहीं उन्होंने देह त्याग किया।

मनादा की बात भी माँ बार-बार कर रही हैं। आज माँ ने बताया कि मनादा भी कल माँ के निकट आए थे। माँ कह रही थीं, "मना बाबा के अन्दर का भाव स्पष्ट देखा गया ऐसे और रहने से क्या होगा। अब चले जाना ही अच्छा है (स्त्री की बात मन में आने से) चले जाने पर उसे खूब कष्ट होगा (फिर दूसरे क्षण ही) फिर ऐसा कष्ट तो अनेकों को ही होता है। वह भी तो जायगी—बचेगा तो कोई भी नहीं : जो होना है, होगा।" माँ बोलीं, "यह भाव होने पर मन जैसे सबके ऊपर से उठकर इस शरीर के प्रति ही "माँ, माँ" यह भाव हुआ। उसके बाद ही चला गया। योगवासिष्ठ लेकर कितने बरस रहा। यह विचार उसी का फल।"

मनादा के अन्तिम समय के भाव की बात सुन हम सभी उनके भाग्य की प्रशंसा करने लगे। अवश्य उनके चले जाने से मालूम होता था कि आश्रम का एक

---

* स्व० मनमोहन घोष—ये ढाका यूनिवर्सिटी के अवसरप्राप्त Steward थे। पाकिस्तान बनने के बाद सपरिवार काशी में आश्रम के निकट रहने लगे थे। समस्त परिवार ही माँ का विशेष भक्त है।

विशेष व्यक्ति आज और नहीं है। स्वस्थ अवस्था में जो उन्होंने आश्रम के लिए किया उसकी तुलना नहीं।

६ जून १९६६

आज काशी से आई हुई पानू की चिट्ठी से विस्तारित संवाद मिला। ठाकुर माँ की चिकित्सा में कोई त्रुटि नहीं हुई। २०, २२ दिन पहले गिरने से उनकी कमर की हड्डी टूट गई। उसके बाद ही अस्वस्थ हो गईं। मृत्यु के करीब डेढ़ घंटे पूर्व फोन से माँ का निर्देश पाकर उन्हें नीचे ले आया गया। नहीं तो सबके लिए बड़ा कष्टकर होता। इतनी दूर पर भी माँ की दृष्टि के बाहर तो कुछ भी नहीं है। यहाँ से ही माँ सारी व्यवस्था कर रही थीं। मनादा के सम्बन्ध में लिखा कि २-३ दिन से मनादा का शरीर ठीक नहीं था। डाक्टर ने भी देखा था। किन्तु कोई नहीं समझ पाया कि हठात् हार्टफेल हो जायगा। काशी में उनका कोई लड़का नहीं था। इसलिए पानू ने ही सब व्यवस्था करके शेष क्रिया समाप्त की।

२१ जून १९६६

रावतजी* और बम्बई के मनुभाई माँ के दर्शन के लिए आए। दोनों ने आश्रम में ही प्रसाद ग्रहण किया।

माँ के कमरे में बैठकर रावतजी ने एक खूब सुन्दर घटना सुनाई। मथुरा में गोवर्धन पहाड़ पर सरकार की ओर से काँटे के वृक्ष लगाना स्थिर हुआ। उस उपलक्ष्य में वे गोवर्धन गए थे और पेड़ लगाने की व्यवस्था कर रहे थे कि एक अत्यन्त साधारण आदमी ने आकर कहा, "बाबूजी, इस स्थान पर क्यों काँटे के पेड़ लगाओगे? फल-फूल के पेड़ लगाना ही अच्छा है।" तब रावतजी को लगा कि ठीक ही तो कह रहा है। श्रीकृष्ण की इस लीला-भूमि में फल-फूल के वृक्ष ही शोभन होंगे। यही सब सोच रहे थे। इसी बीच में देखा कि वह आदमी वहाँ नहीं है। बहुत ढूँढ़ने पर भी उसको पहाड़ के ऊपर नहीं पाया गया।

थोड़ी देर बाद रावत जी ने देखा कि कुछ दूर पर एक जगह दो मयूर नाच रहे हैं और उन्हें घेर कर अर्धचन्द्राकार घेरा बनाकर बहुत से हरिण खड़े हैं। दोनों मोर जब घूम कर रावतजी की ओर मुख करके खड़े हुए, साथ ही साथ हरिणों का दल भी मुड़ कर ठीक उसी तरह खड़ा हो गया। कुछ क्षण बाद एक काले रंग के हरिण के आने पर वे सब, मयूर, हरिण आदि कहाँ अदृश्य हो गये

---

* उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मंत्री श्री जगन प्रसाद रावत—ये बहुत दिनों से माँ के पास आना-जाना करते हैं।

फिर दिखाई नहीं दिए। घटना बड़ी ही सुन्दर है। सबको लगा कि उस स्थान में कुछ विशेषता है।

रावतजी के साथ बात हुई कि वृन्दावन आश्रम में आगामी जन्माष्टमी के दिन श्रीकृष्ण छलिया और राधा के मन्दिर का उद्घाटन होगा। योगीभाई* और ग्वालियर की राजमाता**के आग्रह और आर्थिक सहायता से एक विशाल मंदिर का निर्माण हो रहा है। उस मन्दिर में योगीभाई के राधाकृष्ण, ग्वालियर की राजमाता के दिए श्री कृष्ण छलिया एवं रंजीत और भवानी की राधामूर्त्ति प्रतिष्ठित होंगे। यह सब मूर्त्ति कलकत्ते के प्रसिद्ध शिल्पी निताई पाल का पुत्र मोहन पाल बना रहा है। उसके तत्त्वावधान के लिए स्वामी परमानन्दजी कलकत्ते गए हैं। मन्दिर के निर्माण-कार्य का भार है दिल्ली के अवसरप्राप्त इंजीनियर नारायणदास जी के ऊपर। इसके अलावा देख-भाल करने के लिए माँ ने अवसरप्राप्त इञ्जीनियर विधुभूषण चौधुरी को वृन्दावन भेज दिया है। माँ का विशेष खयाल है कि मन्दिर और विग्रह सर्वांग सुन्दर हों।

२५ जून १९६६

आज हम कई एक जन माँ के कमरे में बैठे हैं। पानू भी काशी से कुछ समय के लिए माँ के पास आया है। बात बात में माँ बोलीं, "देखो, चाहे जितना भी कहो, आश्रमवासी और गृहस्थों के बीच में कई विषयों में अन्तर स्वाभाविक क्रम से हो ही जाता है। आश्रमवासियों को इच्छा से हो या अनिच्छा से हो अनेक समय भगवान् का नाम पाठ सुनना ही पड़ेगा मोह का सम्पर्क नहीं। तब भी सबके लिए सबको ही करना होता है। धर्म सम्पर्क ही बड़ा हो जाता है। बेगार शोध नहीं—प्राणपण से करते हैं पर स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं। इसके बीच में कितना अनुयोग अभियोग भी सुनना पड़ता है। उसके कारण वे सेवा तो छोड़ नहीं देते। एक लक्ष्य लेकर सभी कुछ सह्य करते जाते हैं।

और कह रहो हैं, "आश्रमवासी यदि कोई दोष करे तो दस जन आकर सुनाने की सुविधा पाते हैं—आप लोग आश्रमवासी. आप लोग ऐसा करते हैं इत्यादि इस निन्दा के भय से भी वे संयत होकर चलने की चेष्टा करते हैं। पर

---

* सोलन के राजा श्रीमान् दुर्गासिंह जी, ये श्री श्री माँ आनन्दमयी संघ के वर्तमान सभापति हैं। श्री श्री माँ के बहुत पुरातन भक्त।

** ग्वालियर की वर्तमान राजमाता श्रीमती विजया राजे सिंधिया एम-पी०। इनके स्वामी स्व० महाराजा भी माँ के भक्त थे।

गृहस्थ तो अपने-अपने घर में बहुत कुछ स्वाधीन हैं। अगर कोई दोष निकाले तो हो सकता है जवाब देता है, "हम तो साधु हुए नहीं हैं, हम तो गृहस्थ हैं। बहुतों में अनेक दोष होते हैं। हमसे कहने वाले तुम कौन ? इत्यादि। आश्रम जीवन में सदा दस जनों की आँखों के सामने रहना पड़ता है। सबका ही जैसे बोलने और दोष निकालने का अधिकार है। दस लोगों की व्यवस्था में हैं न ? इसलिए दस जनों का होकर चलना पड़ता है। सुना है एक महात्मा थे। उनके सामने जब गृहस्थ अपना दुःख सुनाते थे तो वे कहते, "तुम्हें क्या भय ? तुम तो दुर्ग के अन्दर हो। हम ही लोग खुले मैदान में आकर खड़े हुए हैं। चारों ओर से गोली खानी पड़ती है। इस मार्ग में इसीलिए सब सहन करके रहना पड़ता है नहीं तो पथ की अमर्यादा होती है।"

मातृ-कथामृत

(पूर्वानुवृत्ति)

नीलमणि

स्थान : राँची आश्रम काल : ७-५-६५

प्रश्न—संसारी भक्त के लिए कोई कष्ट होने पर उसके लिए भगवान् से प्रार्थना करना उचित है कि नहीं ?

माँ—दो तीन तरह की गति होती है। कोई-कोई भगवान् को सब समर्पण करके बैठा है। वह कहता है, हे भगवान्, तुम जो करो, जैसे रखो सब ठीक है। मन की स्थिति अनुयायी विभिन्न अवस्था होती है। किसी की अवस्था ऐसी है कि वह प्रार्थना करे बिना रह नहीं सकता। और कोई-कोई ऐसा होता है कि दुःख के समय भगवान् के ऊपर अभिमान करके पूजापाठ छोड़ देता है। कोई-कोई दुःख के समय भगवान् को अधिक स्मरण करता है, पुकारता है। कोई सुख के समय भगवान् को अधिक पुकारता है। सबसे बड़ा डाक्टर (डाक तार) भगवान् है कि नहीं। इसीलिए कष्ट के समय अनेक पुकारते हैं। और ऐसी भी स्थिति आती है जब हारी बीमारी, कष्ट आदि में उन्हें पुकारने की इच्छा नहीं होती। ईश्वर को पुकारना ही श्रेष्ठ, किन्तु किसी भी कारण से हो, जिस भाव से ही हो, उन्हें पुकारना शुरू करना चाहिए। आर्त होकर हो, जिज्ञासु होकर हो, और चाहे अर्थ के लिए ही हो और ज्ञानी भी उन्हें पुकारते हैं।

८-५-६५ प्रातः ११।१५

प्रश्न (हरप्रसाद)—जो कर्मयोगी हैं, कर्म के पथ को ही धर्म कह के मानते हैं, वे कहते हैं, ईश्वर, गुरु साधुसंग इत्यादि का प्रयोजन नहीं। यह क्या ठीक है ?

माँ—सांख्यमत तो यही है। ईश्वर तो मन के द्वारा प्रमाणित नहीं हो सकते। मुनि ईश्वर में मन लगाते हैं अमन अर्थात् उन्मना होने के लिए। बुद्धदेव ने 'ईश्वर हैं कि नहीं'—इस विषय में कुछ भी उत्तर नहीं दिया। जिस स्थिति से, जिस साधना से जिस भाव से हो वह साफ करके ग्रहण करना होगा। स्थिति अनुसार नाम, साधन पथ अनुसार काम। जहाँ मानने और बोलने का प्रश्न है, वहाँ ऐसा ही है। नमक की गुड़िया समुद्र नापने जाकर गल कर जल हो जाती है।

मन और बुद्धि के ऊपर जो स्थिति है वहाँ जवाब नहीं। कहाँ किस की बात कहेगा, कौन बात करेगा? वहाँ मैं किसी को देखता नहीं, कहीं जाता नहीं, किसी का लेता नहीं, किसी का खाता नहीं। इस स्थिति में बोलने का प्रश्न भी नहीं। जड़, अजड़, इस सम्बन्ध में जो कहो वही ठीक। यहाँ प्रश्न अप्रश्न बराबर। केवल सुनी हुई बात से नहीं होगा। साधना की अग्रगति रुक जायगी। स्वयं अनुभव करना होगा।

एक घटना बताती हूँ, सुनो। एक आदमी ने पूजा करते समय घट में प्राणप्रतिष्ठा करी। हठात् घट ने बोलना शुरू किया अपनी आत्मकहानी। "मैं एक जगह पड़ा था। कोई मेरे शरीर के ऊपर पैर रखकर कुचल कर चला जाता, कोई मेरे ऊपर मल मूत्र त्याग करता। सब सहन करता। एक दिन एक आदमी कुदाल लेकर मुझे काटने लगा—वह भी सह लिया। उसके बाद उसने टोकरी में भर कर मुझे सिर पर उठा लिया। ले जाकर एक जगह रखा। कुछ देर बाद एक लाठी लेकर उसने मुझे खूब पीटा। उसके बाद मेरे ऊपर ठंडा जल डाल दिया। डाल कर चला गया। कुछ क्षणों के लिए प्राणों को शान्ति मिली। फिर मुझे पैरों से रौंदकर वह मसलने लगा। उसने हाथ से मुझे खूब मला। एक गोल पिडी बनाई। फिर कुम्हार के चाक पर चढ़ाया। उसके बाद वन् वन् करके मुझे घुमाने लगा। हाथ से यत्नपूर्वक एक कलसी बनाई। धीरे से मुझे उतार कर नीचे रक्खा। मैं उसी अवस्था में कई दिन धूप में पड़ा रहा। कभी ठंडे में, कभी गरमी में, मुझे नाना अवस्थाओं में रखा। फिर मुझे आग पर चढ़ाया। वह कितना बड़ा अग्निकुण्ड था और उसकी कितनी भीषण गरम लौ की जिह्वा थी आग में जल-जल कर जब मैं लाल, सख्त, पक्का हो गया तब मुझे साफ करके उतार कर रखा। एक दिन मुझे बाजार ले गया और कलसियों के साथ। जो खरीदने आता वही उठाकर मुझे ठङ्-ठङ् करके बजाता। अन्त में एक आदमी ने पैसे देकर मुझे खरीद लिया। और अब मैं छाती और पेट में गंगा जल भर के बैठा हूँ। देखो ऐसी सहनशीलता होने से तुम भी प्राणों में गंगाजल धारण कर सकोगे। मिट्टी के समान धैर्यशील होओ। तब तुम भी मेरे समान लोगों की पूजा पाओगे। तुम में भी ठीक-ठीक प्राणप्रतिष्ठा होवेगी।"

(क्रमशः)

कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा

श्री "दत्त"

जय शंकर पार्वतीपते मृड शंभो शशिखण्डमण्डन ।
मदनान्तक भक्तवत्सल प्रिय कैलासदयासुधाम्बुधे ॥

(श्री उपमन्यु कृत शिवस्तोत्रम्)

असकोट से जौलजीबी तक का मोटर-बस मार्ग जो उतराई का है. साढ़े छः मील है। किन्तु गरजीया के पुल जैसी कठिन उतराई नहीं है। वर्षा के कारण मार्ग में कई स्थानों में कीचड़ हो गया था। उसमें से ट्रक बड़ी मुश्किल से बाहर निकालनी पड़ती थी। कई जगह तो कच्ची लाल मिट्टी वाले पहाड़ के अंश के गिर कर मार्ग पर छा जाने से और उस पर वर्षा हो जाने से जो चिकना कीचड़ बन गया था उसमें से ट्रक बाहर निकालने के लिये उस पर वृक्षों के पत्ते, घास, पत्थर आदि बिछाने पड़ते थे। इतने पर भी बड़ी ही कठिनाई से ट्रक बाहर निकल सकती थी। इस प्रकार धीमे-धीमे मार्ग तय करते हुए करीब ३. मील जाने पर ड्राइवर ने सहसा ब्रेक लगाई और ट्रक खड़ी कर दी। आगे मार्ग के बिलकुल बीच में बड़ा भारी पत्थर पड़ा हुआ था। हमारे लिये यह आकस्मिक घटना "सिर मुँड़ाते ही ओले पड़े" सी थी। वहाँ पर मार्ग की मरम्मत कर रहे मजदूरों से पूछने पर पता चला कि कल तो मार्ग अच्छा था किन्तु रात्रि की वर्षा ने ही सब कुछ चौपट कर डाला है। जब तक पत्थर हटाया नहीं जाता तब तक ट्रक आगे बढ़ नहीं सकती। ट्रक के कुछ सशक्त यात्री एवं मुसाफिर सम्मिलित होकर मजदूरों को मदद करने के लिये नीचे उतर पड़े। सब इस बात पर एकमत हो गये कि इतने बड़े पत्थर को हटाना असंभव है। इसलिये Gunpowder द्वारा उसको चूर-चूर कर दिया जाय। मजदूरों के पास यह सब व्यवस्था थी ही इसलिये वे इस कार्य में लग गये। करीब दो घण्टे के भारी परिश्रम से पत्थर तोड़ कर हटाने में सफलता मिल सकी। यह सब कठिन कार्य होता देखकर अधिकांश यात्रियों ने पैदल ही जौलजीबी के लिये प्रस्थान कर दिया। चाहे देरी से ही क्यों न हो, सफलता मिली है यह सब भगवान् की कृपा का ही परिणाम मैं समझता हूँ। जयन्ती भाई ने प्रसन्न होते हुए मजदूरों को पुरस्कार दिया और ट्रक यहाँ से आगे के लिये रवाना हुई। आगे का रास्ता पहले की अपेक्षा कई गुना अच्छा था।

इसलिये ट्रक द्रुतगति से दौड़ रही थी। किन्तु यह गति अधिक समय तक न रह सकी। जौलजीभी गाँव के समीप के गौरीगङ्गा पर के लौह निर्मित नूतन पुल के पास में पहुँचते ही ट्रक को रोक देनी पड़ी क्योंकि यहाँ पर मार्ग में एक गहरा गड्ढा था। ओफ! 'ताड़ से गिरकर खजूर पर आ अटके'। ग्रह चक्र के इन खेलों को समझने में असमर्थता बोध कर रहा था। 'हिम्मते मरदा तो मददे खुदा' के अनुसार मार्ग में चाहे जितने भी अवरोध आवें किन्तु हमें तो हिम्मत से आगे बढ़ना ही है। इसलिये यहाँ पर कार्य कर रहे मजदूरों की सहायता से इस गड्ढे को पत्थर-मिट्टी से भरने में करीब एक घण्टा तो लग ही गया। इतने समय में तो सहयात्रियों ने यहाँ के होटल से चायपान का आनन्द ले लिया और कुछ विश्राम भी कर लिया। किन्तु हमारे ड्राइवर साहब नौ-दो-ग्यारह हो गये थे। इधर-उधर खोज करने पर भाई साहब एक टीन के छप्पर वाली कुटिया में सुख से सोते हुए पाये गये। हड़बड़ाते हुए जब मैंने उसे जगाया और आगे चलने के लिये कहा तो जवाब दिया कि आगे का मार्ग बहुत ही बिगड़ गया है, मैं जाने का साहस नहीं करूँगा। इस प्रकार की विपरीत परिस्थिति देखकर मैंने मन ही मन कहा, "पता नहीं हमारा यह संघ कब द्वारिका पहुँचेगा।" अब इसमें से निकलने का एक ही उपाय मेरे दिमाग में जँचा जो चाणक्य-नीति अनुसार साम, दाम, दंड और भेद का था। मैंने जयंती भाई से पाँच रुपये के नोट लेकर ड्राइवर के जेब में यह कहते हुए सरका दी कि इसको घूस मत समझना। यह तो तुम यात्रा संघ के लिये जो कुछ सेवा कर रहे हो उसका फल है। आगे कालीका गाँव में जाकर और भी पुरस्कार देंगे। इसलिये यहाँ से जल्दी-जल्दी चल। मेरी बात का असर उस पर पड़ा ही। वह खड़ा होकर बोला कि स्वामी जी आपके सम्मान के खातिर मैं यात्रा संघ को बलुवाकोट तक पहुँचा सकूँगा, और आगे नहीं। मैंने कहा चलो, बलुवाकोट डाक-बँगला तक पहुँचा दोगे तो भी गनीमत है। उसने मेरी बात मान ली और हम लोग ट्रक द्वारा आगे बढ़े। दो तीन मिनिट के बाद ही हमलोग एक ऐसे सुन्दर एवं पवित्र स्थान के समीप में आ पहुँचे जहाँ पर आम वृक्ष के नीचे एक प्राचीन-सा शिव मंदिर था। यहाँ गौरीगङ्गा और कालीगङ्गा नामक दो नदियाँ आ मिलती हैं, इसलिये धार्मिक दृष्टि से भी इस संगम स्थान का अत्यधिक महत्त्व है। नदियाँ भी इस प्रकार से मिलती हैं मानो श्वेत और श्याम जल मिश्रित कर जल की जिह्वा बनाती हों। इसीलिये इस स्थान का नाम "जौलजीभी' पड़ा है[1]। इन दो नदियों में से काली गङ्गा नदी तो लिपुला नामक बर्फानी घट्टा के समीप से

---

[1] १—शुद्ध शब्द है 'जलजिह्वा'।

आती है जब कि गौरीगंगा सिलम हिमशिला खण्ड से आती है। गौरीगंगा के तट पर स्थित शिव मन्दिर के कुछ नीचे के भाग में जौलजीभी नामक छोटा-सा गाँव है, जिसकी अधिकांश जनसंख्या मुसलमानों की है। यह गाँव समुद्र की सतह से करीब २१०० फुट की ऊँचाई पर है।[१] यहाँ पर प्रतिवर्ष की मार्गशीर्ष प्रतिपदा से (करीब १५ नवम्बर से) तीन-चार दिन तक बड़ा भारी मेला लगता है जिसमें कुमाऊँ, गढ़वाल, नेपाल, तिब्बत के व्यापारी लोग कितने ही प्रकार की वस्तुएँ लाकर बेचते हैं। कहते हैं कि इस मेले में १५००० से भी अधिक संख्या में लोग सम्मिलित होते हैं। व्यापार (खरीदना-बेचना इत्यादि) के अतिरिक्त नृत्य, गान, नाटक इत्यादि मनोरञ्जन कार्यक्रम भी होते हैं। तिब्बत से जो वस्तुएँ आती हैं उनमें ऊन, ऊनी कपड़े, सुहागा, कस्तूरी, चमर, चमड़े इत्यादि हैं। नेपाल के व्यापारी लोग घृत, मधु, अनाज, फल, चमड़े, कस्तूरी इत्यादि वस्तुएँ विक्रय के लिए ले आते हैं। भारत के व्यापारी लोग कपड़े, बर्तन, नमक, गुड़, चीनी, फल, सौन्दर्य प्रसाधन की सामग्रियाँ—जैसे कि तेल, इत्र, पाउडर, इत्यादि लाते हैं।[२] जौलजीभी की ही तरह बागेश्वर (बाघ्रेश्वर) में मकरसंक्रान्ति (१४ जनवरी) को चार दिन का और थल में वैशाखी पूर्णिमा (करीब मध्य अप्रैल) को सात दिन का मेला लगता है। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि जौलजीभी का मेला ई० स० १९१४ से शुरू हुआ है किन्तु वहाँ के वृद्ध लोग उसे इससे भी कई वर्ष पूर्व का प्रारम्भ हुआ बताते हैं।

जौलजीभी से अब हमें कालीगङ्गा के तीरे-तीरे आगे बढ़ना है। इस समय धारचूला पर्यन्त ही मोटर-बस मार्ग है, जो कुछ दिन पहले की मूसलाधार वर्षा के कारण टूट गया है। इसीलिए ट्रक लेकर वहाँ तक पहुँच पाना असम्भव था। असकोट में सुना था कि सरकार की ओर से कई मजदूर भेजे गये हैं और आशा की जाती है कि वे शीघ्र ही मार्ग को अच्छा बना देंगे। हम लोग तो जहाँ तक मार्ग अच्छा हो वहाँ तक ट्रक द्वारा जाना चाहते थे, इसीलिए सावधानी पूर्वक आगे बढ़ते हुए साढे छः मील पीछे छोड़कर बलवाकोट (ऊँचाई ३००० फुट) नामक स्थान पर आ पहुँचे। आगे का मार्ग अत्यन्त खराब हो गया था अतः अब आगे ट्रक ले जाना खतरे से खाली नहीं था। बलवाकोट पहुँच कर ड्राइवर ने भी "बलवा" (आगे नहीं चलने की जिद्द) कर दिया। इन सब प्रतिकूल परिस्थितियों में तो हमारे लिये बलवा-

---

[१] १—यहां पर जोहार, नेपाल, असकोट, दरमा के रास्तों का मिलन होता है।

[२] २—कहते हैं कि इस मेले में दो लाख रुपये से भी अधिक का माल बिकता है। जब से चीन ने तिब्बत पर अवैध रूप से अधिकार कर भारतीयों एवं नेपालियों का तिब्बत प्रवेश निषिद्ध कर दिया है तबसे इन मेलों का महत्त्व बहुत कम हो गया है।

कोट डाक-बंगले में ही आराम से रात्रि व्यतीत करने के अलावा और कोई चारा ही नहीं था। ट्रक डाक-बंगले के पास ले जाई गई। डाक बंगले के नौकर ने आकर सब सामान नीचे उतार दिया और क्रमशः सभी को अन्दर ले जाकर कमरों के व्यवस्थित रूप से रख दिया। मार्ग के ऐसे सरकारी बंगलों में स्थान प्राप्त करने के लिए जिला अधिकारी से विशेष अनुमति पत्र साथ में रखना आवश्यक होता है। हमारे पास में तो ऐसा कुछ था ही नहीं, फिर भी हमें डाक बंगले में स्थान मिल गया क्योंकि हम आज असकोट से पी० डब्ल्यू० डी० के सरकारी ट्रक द्वारा यहाँ पर आ पहुँचे थे। सिर्फ इतना ही था कि हमें प्रतिदिन के प्रति कमरे के दो रुपये के हिसाब से किराया देना पड़ेगा। हम दो क्या, अधिक अच्छा स्थान मिलने पर अधिक धन देने के लिये प्रस्तुत थे। भगवान् की कृपा ही समझो कि हमारे लिये सब काम, बिना कुछ कहे सुने, अपने आप ही हो गया। आज की कम फासले की फिर भी झंझटों से भरी अतीव कष्टप्रद यात्रा से सभी यात्री क्लांत एवं अशांत हो गये थे, इसलिये विश्राम के हेतु बिछौनों में पड़ गये। खाखीबाबा ने ठीक ही कहा था, "बलुवा पहुँचते-पहुँचते तो हलुवा निकल गया।"

कुछ समय तक विश्राम करने के पश्चात् उठकर जब मैं कमरे से बाहर निकला तो सामने से खाखीबाबा को आते देखा। इस समय वे कालीगङ्गा में स्नान कर वापस आ रहे थे। मुझे भी स्नान करने का जी हुआ अतः कमंडलु और तौलिया लेकर मैं चटपट कालीगङ्गा की ओर चल पड़ा। नदी डाक-बंगले से वाम भाग में प्रायः आधा फर्लाङ्ग दूर थी। यदि कोई प्रवासी कालीगङ्गा तक जाने में एवं उसके अतीव शीतल जल में अवगाहन करने में असमर्थ है तो वह या तो कालीगङ्गा का जल मजदूर द्वारा मँगवाकर डाक बंगले के सुन्दर स्नान गृह में ही स्नान कर सकते हैं या समीप की स्वच्छ एवं मधुर जल की जलधारा में स्नान कर सकते हैं। यात्रियों के कल्याण के लिये यात्राकाल में स्नान, जल का पान इत्यादि के बारे में मैं यहाँ पर अनुभव की कुछ बातें कहना चाहता हूँ। नदी में स्नान करना अधिकांश लोगों को स्वास्थ्य के प्रतिकूल महसूस होता है क्योंकि एक तो यह नदी लिपु के हिम पर्वत में से आती है इसलिये इसका जल अत्यन्त शीतल है और दूसरा पहाड़ पर्वतों में से गर्जना करती हुई नीचे आती है इसलिये इसमें बारीक रेत उछलती रहती है जो नये स्नानार्थी के कान, नाक, आँख इत्यादि में प्रविष्ट हो जाती है। अतः अच्छा तो यह है कि बाल्टी में नदी का जल लेकर कुछ समय तक उसे स्थिर रखे जिससे अन्दर की रेत तल में जाकर जमा हो जायगी। बाद में स्वच्छ वस्त्र से जल को अन्य पात्र में छान लें ताकि सूक्ष्म रेत-कण भी जल से दूर हो जायँ। यदि किसी यात्री का

स्वास्थ्य अच्छा हो, उसमें शीत सहन करने की क्षमता हो और पार्वत्य प्रदेश की नदी में स्नान करने का इच्छुक हो तो उसे नदी तीर के ऐसे स्थान में जाकर पानी में धीमे-धीमे उतरना चाहिए जहाँ पर पकड़ने के लिये बड़े-बड़े पत्थर हों, जल शांत हो, फिसलन न हो। स्नान करते समय हाथ की उँगलियों से आँख, नाक, मुख बन्द करने के बाद ही जल में डुबकी लगानी चाहिये। बहुत से अनभिज्ञ लोग आनन्द में आकर जल्दी-जल्दी नदी में कूद पड़ते हैं और कटि तक जल में चले जाते हैं। ऐसे बिना सोच समझकर किया हुआ साहस दुर्घटना को निमन्त्रण देता है क्योंकि पार्वत्य प्रदेश की हिम जल भरी नदियाँ देखने में तो छोटी लगती है किन्तु उनका प्रवाह बड़ा भारी वेगवाला होता है, जो नये-नये असावधान स्नानार्थी को अल्प समय में ही गहरे जल में खींच ले जाता है और मार्ग के पत्थरों में टकरा-टकरा कर मार देता है। फिर ऐसी वेगवान नदियों में से स्नानार्थी का शव प्राप्त करना भी असम्भव हो जाता है। पर्वत के जल के विषय में एक और विशेष बात लक्ष्य में लेने की यह है कि यात्री को अपने मार्ग के नदी, निर्झर, जलप्रपात, कुण्ड इत्यादि में से जल पीने से पहले देख लेना चाहिये कि जल अशुद्ध, अति ठण्डा, मटमैला तो नहीं है। जल को बिना छाने पीने पर पेट के एवं चमड़ी के भयंकर रोग होने की पूरी सम्भावना है। मैंने पश्चिम नैपाल के ऐसे दो तीन गाँव, जो मुक्तिनाथ यात्रा मार्ग में हैं, देखे हैं जहाँ के अधिकांश लोग कण्ठमाला (कंठ फूल जाने का रोग) से पीड़ित हैं। जल-विशेषज्ञों ने इसका पता लगाकर लोगों को सूचित कर दिया है कि वे गाँव के समीप के जलप्रपात, जलधारा इत्यादि के जल का उपयोग न करें क्योंकि इनके जल में आयोडीन की कमी है। कुछ जलधाराएँ तो पर्वत की विषैली जड़ी-बूटियों में से होकर नीचे आती हैं जो पानी पीने वालों को भयङ्कर रोगों से ग्रस्त कर देती हैं। इसलिये यात्री को जल के विषय में तो विष से भी अधिक सावधानी बरतनी चाहिये क्योंकि विष तो शीघ्र ही मृत्यु देता है जब कि अशुद्ध जल रोगों से व्यथित कर करके मारते हैं। जल को उबालकर, छानकर, ठण्डा होने पर पीना सबसे उत्तम है। ऐसा जल थर्मस में भर लेने से यात्री को मार्ग में कोई तकलीफ नहीं झेलनी पड़ती।

कालीगङ्गा के तट पर एक स्थान में बड़े पत्थर के समीप एक गड्ढा-सा बन गया था जहाँ पर पानी ठंडा होने पर भी बहुत कुछ शान्त एवं स्वच्छ था। बीच-बीच में नदी का जल इस गड्ढे में भरता रहता था और अधिक जल उछल कर नदी में मिल जाया करता था। मेरे लिये यह स्नान के लिये उपयुक्त स्थान था। वस्त्र नदी तट पर छोड़कर सावधानीपूर्वक इस गड्ढे में मैं उतरा। अहा...हा...हा... क्या ठंडा जल है। पसलियाँ कड़-कड़ होने लगीं, फिर भी हिम्मत रखकर दो-

चार डुबकियाँ तो लगा ही दीं। जय माँ काली—'जय बाबा विश्वनाथ—' कैलासपति की जय... । बाहर निकलकर जल्दी-जल्दी वस्त्र बदल लिये और समीप की एक बड़ी शिला पर आसन जमाया। कुछ समय बाद शरीर में उष्णता की वृद्धि होने पर शरीर मानो हलका पुष्प-सा मालूम पड़ने लगा, जैसे कि कोई अदृश्य शक्ति का अवतरण हुआ हो। चारों ओर का प्राकृतिक दृश्य मनमोहक तो था ही दिव्य आंदोलनों से विकम्पित भी था। नदी के सामने पार के नेपाल राज्य के हरे-भरे पहाड़-पर्वतों में से बहते तरल रजत जैसे सुन्दर जलप्रपात चक्षुओं की उष्णता हर लेते थे और हृदय में शीतलता का अभिसिंचन करते थे। ऊपर की ओर श्याम-श्वेत बादलों की पंक्ति पहाड़ों के कर्णकुहरों में कुछ कहती हुई धीमे-धीमे चली जा रही थी। नीचे कालीगङ्गा इस गुप्त बात को जानने के लिये उछलती-कूदती गर्जना करती मानों बादलों के पीछे-पीछे दौड़ी जा रही थी। क्या अद्भुत है यह दृश्य! इसने मुझे आज सचमुच ही धन्य कर दिया। ओम्...ओम्...ओम...।

सायं धीमे-धीमे रात्रि में परिणत होती जा रही थी। चारों ओर अंधकार व्यापक हो रहा था। अब काली का भयंकर फिर भी मधुर, अस्पष्ट फिर भी आनन्दप्रदायक, वर्षों पुराना फिर भी नया संगीत चारों ओर के वातावरण को झंकृत करने लगा। आह! कितना दिव्य है यह स्थान! कुछ समय तक ध्यान करने के बाद मैं वहाँ से उठकर डाक बंगले में आया। यात्री लोग आनन्द से गरम गरम रसोई पा रहे थे। यद्यपि आज खाखीबाबा ने मेरे लिये फलाहारी पूड़ी और साग बनाया था तथापि मुझे भोजन करने की कोई रुचि नहीं थी। इसका अर्थ यह नहीं था कि मैं अस्वस्थ था। सच बात तो यह थी कि यहाँ का विशुद्ध वायुमंडल ही कुछ अद्भुत सा था जो मुझे ध्यान-भजन करने की प्रेरणा दे रहा था। इसीलिए मैं भगवन्नामोच्चारण करता हुआ बरामदे में टहल रहा था। भोजन के उपरान्त यात्रियों में से कुछ ने तो अपना-अपना बिस्तर कमरे में लगाया जब कि कुछ ने बाहर-बरामदे में लगाया। अभी तक तो श्याम मेघ ने आकाश को आच्छन्न कर रखा था किन्तु कुछ समय के बाद ही रिमझिम वर्षा होने लगी। गर्जना के साथ-साथ विद्युत् भी दमकने लगी। गड़गड़ाहट की प्रतिध्वनि पहाड़-पर्वतों में कई मिनट तक सुनायी देने लगी। अब तो बरामदा भी भीगने लगा। खाखीबाबाजी तो कब के ही अपना बिस्तर गोल कर भीतर चले गये थे। अनिच्छा होते हुए मुझे भी उनका अनुसरण करना पड़ा। वर्षा धीमे-धीमे बढ़ने लगी। चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा था। कमरे में एक छोटी लालटेन जल रही थी जिसके सीमित प्रकाश में कमरे की वस्तुएँ स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। ससीम और असीम शक्ति के बारे में मैं विचार कर ही रहा

था कि इतने में तो असीम महाशक्ति भगवती श्यामा ने आकाश में अट्टहास किया। पहाड़-पर्वत काँप उठे। वसुंधरा एवं उसकी गोद में निर्भयता से शयन कर रहे उनके बच्चे (छोटे-बड़े जीव) भी विकंपित हो उठे। तुरन्त ही शब्द तेज में परिणत हो गया। श्यामा विद्युत् रूप में चमक उठी। पहाड़ के पत्थर-पत्थर तथा तृण-तृण स्पष्ट रूप में दीख पड़े। पृथिवी पर आलोक राज्य। वर्षों से कठिन साधना कर रहे कोई योगी जब सुषुम्णा में प्रवेश पाता है तब क्या वहाँ पर ऐसा ही महा प्रकाश अनुभव में आता होगा। कुछ क्षण तक तो महा आलोक रहा किन्तु पुनः घोर तिमिर छा गया। मानों अवनि ने काली कमली ओढ़ ली। आह! प्रकृति का कितना अद्भुत खेल! आकाश में से नाद और नाद से प्रकाश का आविर्भाव। कितना गूढ़ रहस्य!

यात्री लोगों को भी ऐसे दिव्य वायुमंडल में सोना अच्छा नहीं लगा होगा इसीलिये भगवान् के भजन कीर्तन में कुछ समय बिताने के हेतु सब उठ बैठे। फिर तो भगतजी ने ढोलक और झाँझ निकाले और भजन गाना शुरू किया। आज सब और ही रंग में रंगे हुए थे। एक के पश्चात् एक मधुर भजनों में काफी रात्रि बिता दी। आखिर जब हम "अच्युतम् केशवम्" करके सोने जा रहे थे तब वहाँ पर एक अपरिचित आदमी ने आकर कहा, "मैं घोड़ेवाला हूँ। कल भोर में ही यहाँ से खाली घोड़े-खच्चर लेकर धारचूला जानेवाला था किन्तु अभी-अभी सुना कि आप लोग भी कल धारचूला जाना चाहते हैं और सामान के लिए पशुओं की आवश्यकता है इत्यादि। तो मैंने सोचा कि आपसे इस विषय में पूछ लूँ और यदि आप आना चाहते हैं तो सुबह में कुछ देर में यहाँ से आपका सामान लेकर चलूँ।" इस आदमी की इतनी बिती रात्रि में यहाँ पर उपस्थिति और खाली घोड़े-खचरों के बारे में शुभ समाचार देना इत्यादि को हमने भगवान् का अपने ऊपर अनुग्रह ही समझा। आनन्दित होते हुए हमने उसके पशुओं की मजदूरी निश्चित कर ली और सुबह में आने का आदेश दे दिया। वह भी आज अपने भाग्य पर प्रसन्न होता वहाँ से बिदा हुआ। सब भगवान् के गुणगान करते-करते लेट गये।

आज १३ वीं तारीख थी। नित्य नियमानुसार सभी यात्री आज भोर में ही उठ गये थे। वर्षा कब की ही बन्द हो चुकी थी। आकाश निरभ्र था। कुछ-कुछ उजाला भी होता जा रहा था। उठकर कोई यात्री चाय बनाने में व्यस्त था तो कोई शौचादि के लिए बाहर चला गया था। करीब आध घण्टे बाद यात्रियों ने समूह में बैठकर चाय, पान, बिस्कुट और पूड़ी-कचौड़ी का नाश्ता किया और स्वस्थ हो गये और अपना-अपना सामान बाँधकर तैयार कर दिया। उसी समय डाक

बंगले का दरवान श्री चम्मर सिंह ने आकर एक अतिथि-पुस्तिका मेरे हाथ पर रख दी और कहने लगा कि इसमें अपना नाम, यात्रियों का नाम, सब यहाँ पर कब और कितने दिन तक ठहरे, कितने कमरे उपयोग में लिये गये इत्यादि के विषय में लिख दीजिये। मैंने तदनुसार सब बातें लिख दीं। जयंती भाई ने जब दो कमरों का दो दिन का किराया और एक रुपया बख्शीश का, कुल पाँच रुपया, चम्मर सिंह को दिया तब वह प्रसन्नता प्रकट करता हुआ आभार व्यक्त करने लगा। यात्रा संघ के सदस्यों ने जो अपना-अपना कार्यभार स्वीकार किया था वह इस प्रकार है। खाखी-बाबा का कार्य रसोई पकाना। जगुभाई का कार्य रसोई के लिये जो कुछ आवश्यक सामग्री लानी हो, ले आना और साग-सब्जी काट कर तैयार कर देना। भगतजी और दामुभाई का कार्य पड़ाव पर पहुँच कर रसोई के लिये बर्तन, अन्न इत्यादि को डिब्बों में से बाहर निकाल देना और भोजन के उपरान्त जब बर्तन माँज लिया जाय तब दूसरे पड़ाव के लिये चलने से पहले ही सबको गिनकर पुनः डिब्बों में, थैलों में अच्छी तरह से बन्द कर लेना इत्यादि। जयंती भाई कोषाध्यक्ष थे जब कि राजदेव जी का कार्य था कोषाध्यक्ष को अधिक धन की आवश्यकता पड़ने पर पूर्ति करना, यात्रियों को यात्रामार्ग में आपस में वाद-विवाद, कलह, मनदुःख इत्यादि अशोभनीय व्यवहार होने से पूर्व उनको समझा-बुझाकर शान्त एवं सम्मिलित रखना इत्यादि। यात्रासंघ के नेता की हैसियत से मेरा कार्य था आगे के पड़ाव पर पहले पहुँच कर यात्रियों के लिये अच्छा स्थान, लकड़ी, जल, इत्यादि की व्यवस्था करना इत्यादि। यहाँ से सब यात्रियों ने अपना-अपना कार्य यथाशक्ति अच्छी प्रकार से करने का और एक-दूसरे के साथ स्नेह सद्भाव से और मिलजुल कर रहते हुए आगे बढ़ने का संकल्प किया।

अरुणोदय हुआ। सुवर्णमयी कृपा-किरणें चारों ओर फैल गयीं और पहाड़-पर्वत को जगमगाने लगीं। वृक्ष-लतादि को प्राणदान देने लगीं, मानव, पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि को मानों चिर निद्रा से प्रबुद्ध करने लगीं। लहलहाते खेतों पर क्रीड़ा करता हुआ मंद समीर उत्साह में वृद्धि करने लगा। आज धरती का क्या अद्भुत रूप है! थोड़ी दूर, पहाड़ की ओर से, घण्टिका के मधुर रव सुनाई दे रहे थे; मानो प्रकृति का यशोगान हो रहा है। हमने उस दिशा में दृष्टि दौड़ाई तो देखा कि घोड़े वाला अपने पशुओं के साथ हमारी ओर आ रहा है। सब सामान तो तैयार ही था और हम उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। कुछ समय बाद वह आ पहुँचा। उसके सभी घोड़े-खच्चर हृष्ट पुष्ट थे। सबके मस्तक के ऊपर सुन्दर पंखों का मुकुट था और कंठ में घण्टिकायें लटक रही थी। पहाड़ी लोग अपने पशुधन की

इस प्रकार से रक्षा करते हैं यह देखकर मुझे आनन्द हुआ किन्तु जब मैंने शहर के घोड़े-गाड़ी वालों के अधमरे घोड़ों की और दूध के ही स्वार्थी लोगों की अस्थिपंजर-सी गायों की दुर्दशा के विषय में सोचा तो मन व्यथित हो उठा। हमारा घोड़ेवाला एक के बाद एक, सब सामानों को पशुओं पर लादने लगा। आज मैं और दामु भाई सामान की देखभाल करने के हेतु पशुओं के साथ-साथ रहने वाले थे अतः अन्य सभी यात्रियों को धीमे-धीमे आगे जाने के लिए कह दिया। आधा घंटा के बाद जब सब सामान पशुओं पर अच्छी तरह से लाद कर रस्सी द्वारा बाँध लिया गया तब हम वहाँ से चल पड़े। कर्णप्रिय घंटीनाद से वातावरण को गुञ्जित करते हुए भार लादे हुए पशु क्रमशः डाकबँगले के फाटक में से बाहर निकले और धारचूला के मार्ग पर आगे बढ़ने लगे। यहाँ से ही आज हमारी पद यात्रा शुरू हुई। यदि मार्ग अच्छा होता तो हम धारचूला तक मोटर-बस द्वारा गये होते।

बलवाकोट के डाक बँगले से थोड़ी ही दूर एक डाकघर और अस्पताल है जहाँ पर मोटर-बस स्टैण्ड है। वहाँ से कुछ ऊपरी भाग के एक मैदान में बलवाकोट नामक छोटा-सा गाँव बसा हुआ है। उसे बलुआकोट या बल्वाकोट भी कहते हैं। वहाँ स्कूल, होटल, दो-तीन दूकानें हैं।

धारचूला की ओर करीब एक फर्लाङ्ग चलने पर मार्ग में एक दूध की दूकान देखी जहाँ पर ताजा दूध गरम हो रहा था। दामु भाई ने कहा कि सुबह में थोड़ा दूध पी लेने से धारचूला तक चलने की शक्ति रहेगी। मैं उनके आग्रह को टाल न सका। हिमालय के तीर्थों की यात्रा में मैंने अनुभव किया है कि सुबह में तो मार्ग की होटलों में ताजा दूध कुछ अधिक दाम देने पर मिल सकता है किन्तु दोपहर में या शाम को मिलना असंभव है क्योंकि होटल वाले इस दूध को सिर्फ चाय तैयार करने के लिये ही सम्हाल कर रखते हैं। चाय बेचने से अधिक धन कमा सकते हैं। घोड़ेवाला पहाड़ी गीत गाता हुआ सामान लादे हुए घोड़े-खच्चरों को लेकर आगे आगे जा रहा था जब कि मैं और दामु भाई उनके पीछे पीछे आनन्द से बातचीत करते हुए चल रहे थे। अब तो सूर्यदेव धीमे धीमे अपना रुद्र रूप धारण करते जा रहे थे। मानों अग्नि बरसाना चाहते हों। यद्यपि हम अभी समुद्र सतह से ३००० फुट की ऊँचाई पर चल रहे थे फिर भी गरमी से बदन लाल होने लगा, बदन पर का कपड़ा पसीने से भींगने लगा, श्वास की मात्राएँ भी लघु होने लगीं। चारों ओर का दृश्य था तो लुभावना ही पर सूर्य का ताप सब मजा किरकिरा कर रहा था। धूप से बचने के लिये अब तो हमने भी माथे पर "घोघनी" [एक छोटा सा कपड़ा जिससे भोट स्त्री-पुरुष अपना मस्तक बाँधते हैं] बाँध ली और जल्दी-जल्दी चलने

के लिये धोती से कमर कस ली। पेट में "कोयला" तो भर ही लिया था अतः अब हमारा "इंजन" तीव्र गति से आगे बढ़ने लगा। कुछ आगे जाने पर मार्ग के बायें हाथ के पहाड़ पर से एक सुन्दर निर्झर नीचे की ओर बह रहा था, मानों पथिकों की तृषा निवृत्ति के लिए ही उसका नीचे उतरना हो। जब वायु उसके साथ खेलता हुआ उसे असंख्य जल-बिन्दुओं के रूप में इधर-उधर बिखेर देता है तब सूर्य की किरणों से वे बिंदु मौक्तिक सदृश प्रतीत होते हैं और उनके नीचे आने पर लगता है कि मौक्तिकों की वर्षा हो रही हो। और साथ-साथ में सुन्दर मेघ धनु भी दिखाई पड़ता है। हमलोगों ने भी यहाँ पर मुखमार्जन किया। थोड़ा सा अमृत-सा जल भी पिया और पैर धोकर क्लांति की बहुत कुछ अंशों में निवृत्ति की। इस निर्झर के समीप एक छोटा-सा पुराना मंदिर है जिसकी आकृति बंगाली मंदिरों जैसी है। यहाँ से दक्षिण भाग में, सामने ही, कालीगंगा घू-घू गर्जना करती हुई बह रही थी। उसके सामने के किनारे नेपाल का राज्य है जब कि इस पार भारत का राज्य है अर्थात् यह काली नदी ही दोनों देशों की सीमा-रेखा है। नेपाली सीमा के नयनाभिराम पहाड़ भी दर्शनीय हैं। धारचूला की ओर आगे बढ़ते हुए हम मार्ग में कूचीया गाँव में आये। यहाँ पर होटल, दूकान इत्यादि हैं। दायें हाथ की दिशा में कुछ दूर नदी के समीप एक हरे रंग का डाक-बँगला है। गाँव के हरे-भरे खेत, चारों ओर के हरे पहाड़, मार्ग के हरे वृक्ष इत्यादि नयनों की उष्णता हर लेते हैं। डाक्टर लोग कहते हैं कि इस प्रकार के प्राकृतिक दृश्य देखने से निर्बल आँखें भी अच्छी हो जाती हैं और स्वास्थ्यलाभ होता है। आश्चर्य तो इस बात से होता है कि आँख की बीमारी वाले लोग ऐसे पहाड़ पर्वतों में प्रवास, यात्रा एवं कुछ दिनों के निवास स्थान क्यों नहीं बनाते होंगे? रोग का मूलोच्छेदन करने वाली सस्ती प्राकृतिक चिकित्सा को त्याग कर दवाइयाँ, आपरेशन, इंजेक्शन इत्यादि द्वारा अस्थायी रूप से रोग की निवृत्ति करने के फेर में क्यों पड़ते होंगे। मैंने हिमालय के हरे-भरे मनमोहक पहाड़ों में निवास करने वाले लोगों को आँख पर अभी तक चश्मा लगाये हुए नहीं देखा। इस दृश्य ने हमें अत्यधिक प्रभावित किया। अतः हमने घोड़ेवाले को पीछे छोड़ते हुए आगे बढ़ने के लिए गति बढ़ाई। मार्ग के पहाड़ों पर सुन्दर छोटे-बड़े घर, उनके पास के केल वृक्षों के झुंड के झुंड बड़े ही सुहावने दिखायी पड़ते थे। नेपाल राज्य के चित्ताकर्षक हरे पहाड़, उन पर के सीढ़ीवाले सुन्दर खेत, पहाड़ों पर से बह रहे मधुर जलवाले जलप्रपात इत्यादि कितने सुहावने लग रहे थे।

इन दृश्यों को देखते-देखते हम नंगाड़ी [नंगतड़], छरछूम, छत्तामेल, इत्यादि गाँवों को पार कर कदली वृक्षों से सुशोभित कालिका नामक गाँव में आ पहुँचे।

यहाँ पर दो होटल हैं। उनके सामने ही, मार्ग के बाँयें हाथ पर ग्रामोद्योगशाला है जो उत्तर प्रदेश की सरकार की सहायता से चलती है। यहाँ पर ऊनी कपड़े, कम्बल, चुटके, थुल्मे, शाल, आसन इत्यादि तैयार होते हैं और विक्रय के लिये बाहर भेजे जाते हैं। इस ग्रामोद्योगशाला के समीप में एक दूकान है। और भी दो तीन लकड़ी की नई दुकानें बन रही हैं। इनसे कुछ कदम आगे बढ़ने पर मार्ग के वाम भाग में अभी हाल में ही बनी हुई जल चालित लकड़ी की चक्की है और दक्षिण भाग में हरे-भरे सुन्दर खेत हैं जो कालीगंगा के किनारे तक फैले हुए हैं। पहाड़ों पर असंख्य हरे-हरे ध्वज फहराते हुए केलवृक्ष मानों यात्रियों का स्नेहभरा स्वागत कर रहे हों, ऐसा प्रतीत होता है। कहते हैं कि उस गाँव में बारहो मास अच्छी जाति के स्वादिष्ट पहाड़ी केले सस्ते एवं सुलभ हैं। यहाँ से प्रायः दो फर्लांग आगे जाने पर मार्ग के दायें भाग में एक पीपल वृक्ष के नीचे छोटा सा सुन्दर निर्झर दिखाई पड़ता है। वृक्ष की शाखा-प्रशाखा में कई रंग-बिरंगे चिथड़े बँधे हुए हैं जिसे देखकर पता चल जाता है कि यहाँ पर कोई देवस्थान होगा। मैंने वहाँ जाकर देखा तो बात सच्ची निकली। इसी निर्झर को यहाँ के लोग काली माता का निर्झर कहते हैं और इस स्थान को काली माता का देव स्थान कहते हैं। यहाँ से निकलने वाले सभी लोग यहाँ पर श्रद्धाभक्ति व्यक्त करते हुए प्रणाम करते हैं और विश्राम करके मधुर जल का पान करते हैं। इसी निर्झर के नाम से इस गाँव का नाम कालीका गाँव पड़ा है। कालिका माता के दर्शन एवं आशीर्वाद प्राप्त कर हम लोगों ने यहाँ से प्रस्थान किया। यहाँ के मधुर जलपान से हमारी तृषा एवं क्लांति दूर हो गई थी अतः सूर्य की धूप अधिक तीव्र होने के पूर्व ही हम धारचूला पहुँचना चाहते थे। हम दोनों के सिवा अन्य यात्री तो बहुत ही आगे निकल चुके थे और हम उन लोगों के साथ होना चाहते थे। इसलिये हमने भी अपनी गति को "टाप-गेयर" में कर दिया। फिर तो कहना ही क्या था, कुछ समय में ही गोठीबगड़ होकर निगलपानी आ पहुँचे। मध्याह्न का समय समीप था। धूप मानों हमें पिघलाना चाहती थी। लगा कि अब अकेली "घोघनी" से काम नहीं चलेगा। इसलिये सिर पर तौलिया बाँध ली और चल पड़े। मार्ग में एक जगह पर छोटी दूकान थी, जो बन्द थी। वहाँ पर विश्राम के हेतु दामुभाई बैठ गये। प्यास से उनकी जिह्वा तालु के साथ चिपकने लगी किन्तु कहीं जल दिखाई नहीं पड़ रहा था। काली गंगा महान् जलराशि उछाल रही थी किन्तु वह दूर थी और इतनी नीची थी कि वहाँ उतर कर प्यास बुझाना मुश्किल तो क्या, असंभव था। झट से दामु भाई के दिमाग में कुछ विचार

आया और मुस्कराते हुए उन्होंने अपनी जेब से एक शक्करखण्ड निकाला और उसका कुछ भाग मुझे भी दिया। इससे कुछ शान्ति मिली। अब यहाँ पर अधिक समय तक विश्राम करना हमें हितकर न लगा। क्योंकि एक तो सूर्य का ताप प्रखर होता जा रहा था और दूसरे मार्ग में जल मिलने की संभावना नहीं थी। जैसे-तैसे आगे बढ़ रहे थे। मार्ग के गलाती और हाट नामक दो गाँवों को, एक के बाद एक, पार करके जब हम देओल नामक कुछ घरवाले छोटे से गाँव में आ पहुँचे तब वहाँ पर मार्ग में एक बीमार भैंस पड़ी हुई देखी। उसका पेट फूल गया था, आँखें उलट गयी थीं और मुख में से फेन-सा कुछ निकाल रही थी। ग्रामीण लोगों ने बताया कि उसे "कीड़े" ने काट लिया है। पहाड़ी लोग सर्प को कीड़ा कहते हैं। इस व्यथित प्राणी की दशा देखी नहीं जा रही थी किन्तु किया भी क्या जाय। न तो हम पशु चिकित्सक थे न किसी प्रकार की जड़ी-बूटियों या औषधियों के विशेषज्ञ ही। किसी साधु महात्मा से सुना था कि जहाँ पर सर्पदंश हुआ हो उस भाग के चारो ओर मजबूत धागे से बाँध दिया जाय जिससे विष नाड़ियों द्वारा रक्त में न पहुँचने पावे और घाव पर सतत जलधारा शुरू रखी जाय तो कुछ घंटों में विष का प्रभाव क्षीण हो जाता है। पीपल के पत्ते का भी एक अद्भुत प्रयोग है किन्तु यहाँ पर जल और पीपल इन दोनों में से किसी एक को भी प्राप्त करना अत्यन्त परिश्रम का कार्य था। यह सब जानते हुए भी ग्रामीण के दिल की बात जानने के लिए मैंने इन बातों को ग्रामीण को बताया। सब सुनकर मौन ही रहा। शायद उसने सोचा होगा कि यदि इस विषय में रुचि दिखलाऊँगा तो बाबा जी मुझे काली नदी में से ही जल के डब्बे भर-भर के लाने का आदेश दे देंगे। कौन इतनी बड़ी आफत को मोल ले। जब वहाँ से खिसक गया तब मैंने भैंस के कल्याण के लिए प्रार्थना करते हुए अपने कमंडलु में से जल के कुछ बिन्दु भैंस के मुख में गिराये। यह सब तमाशा देखने के लिए वहाँ पर गाँव के कुछ बच्चे इकट्ठे हो गये। दामु भाई ने सभी को एक-एक पैसा वितरित किया। मुस्कराते हुए चेहरे अब खिलखिलाकर हँस पड़े। ऐसा निर्दोष और मुक्त हास्य क्या शहरों के बच्चों में देखने को मिल सकेगा?

अब हम यहाँ से चल पड़े। मार्ग में दो छोटी बालिकाएँ सिर पर जल से भरे मिट्टी के घड़े उठाती हुई सामने से आ रही थीं। और धीमी आवाज में कुछ बातें कर रही थीं। यद्यपि उन दोनों के वस्त्र मलीन तथा कुछ फटे-पुराने थे तथापि वे स्वस्थ एवं आनन्दी थीं। निर्दोषता उन दोनों की आँखों में चमक रही थी। यात्रा-काल में ऐसी सुन्दर एवं सस्मित बदन वाली, साक्षात् भगवती-सी, इन बालिकाओं

ने कुमारी पूजा का सौभाग्य हमें, उन्हें धन देकर, प्रदान किया। इससे वे इतनी तो प्रसन्नचित्त हुईं कि उसे व्यक्त करने के लिए वे एक दूसरे को कानों में कुछ कहती हुई, हँसती हुई, अपने घर की ओर बढ़ने लगीं। यह देख हम भी हर्षित हुए और यहाँ से रवाना हुए। चलने में तो जैसा मैं तेज था वैसे ही कुछ दामुभाई थे। अतः हम लोग देखते-देखते ही ग्वाल गाँव और ताडाकोट को पीछे छोड़कर, बलवाकोट से करीब ११ मील दूर के, धारचूला गाँव के समीप आ गये। यहाँ पहुँचने पर मेरे मस्तिष्क में फिर वही विचार आ धमका कि यदि हम लोगों ने अल्मोड़े से कुछ दिन पूर्व ही यात्रा प्रारम्भ कर दी होती तो धारचूला तक मोटर बस द्वारा दो-तीन दिन में ही पहुँच गये होते। देरी से निकलने में जितना कष्ट सहन करना पड़ा वह सब कुछ न होता। किन्तु इन सबको दुहराना, समय नष्ट करना ही था।

'होनी होके रही'।
"नर का चेता होत नहिं, प्रभु चेता तत्काल"।

(क्रमशः)

॥ ॐ माँ ॥

मातृ सत्संग

(४३)

स्वामी भागवतानन्द गिरि

स्व० श्री सेठ जमनालाल बजाज जो उस समय के कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी के सदस्य थे और परम पूज्य महात्मा गांधी जी के बहुत ही कृपापात्र पुत्रवत् शिष्य थे—वे जब सर्वप्रथम परमपूजनीया श्री श्री माँ आनन्दमयी के दर्शन के लिये १६ अगस्त १६४१ में रायपुर—देहरादून आश्रम में पधारे थे, उस समय का वर्णन उन्होंने अपनी डायरी में लिखा था तथा पत्रों में भी 'माँ' के बारे में जो उन्होंने लिखा था, वे सब बातें अब प्रकाशित हो चुकी हैं। मैंने इस लेख में दो पुस्तकों से सहायता ली है। (१) बापू स्मरण (२) पत्र व्यवहार भाग—५। इन दोनों पुस्तकों का सम्पादन श्री जमनालाल बजाज के सुपुत्र श्री रामकृष्ण बजाज ने किया है। जिनकी आज्ञा से उन पुस्तकों में से श्रीं श्री माँ के बारे में श्री जमनालाल जी ने जो लिखा था उनको मैं यहाँ मातृभक्तों के लिये लिख रहा हूँ।

श्री जमनालाल बजाज जी जब ता० १६-८-'४१ को रायपुर आश्रम में पधारे थे तब मैं भी उस समय 'माँ' के रायपुर आश्रम में रहता था। उस समय सुना था कि परम पूज्य श्री महात्मा गांधी जी के आदेश से सेठ श्री जमनालाल जी माँ के दर्शन के लिये पधारे थे। माँ की प्रथम मुलाकात से ही उनको बड़ी प्रसन्नता हुई थी। पहले तो सुना था कि वे एक दफे दर्शन करके चले जायेंगे लेकिन जैसे-जैसे माँ से उनका आंतरिक परिचय बढ़ता जा रहा था, वैसे-वैसे उनकी माँ के आश्रम में रहने की अभिलाषा भी बढ़ती जा रही थी। सिर्फ १ दिन रहने के बदले वे ता० १६ अगस्त '४१ से ता० २-६-४१ तक माँ के पास रहे। माँ के आश्रम में उनको कैसा लगा था वह तो आप लोग उनकी डायरी तथा उनके पत्रों से समझ लेंगे। आश्रम में सबके साथ खूब हिल मिल गये थे। आश्रम का शां और सात्त्विक वातावरण और परम कृपामयी 'माँ' के कृपा प्रसाद से वे हर समय आनंद में रहते थे। माँ के साथ प्रायः घण्टों तक एकान्त में माँ से सत्संग करते रहते थे। उनको 'माँ' और माँ का आश्रम इतना अच्छा लगा कि उन्होंने आश्रम के पास ही रहनेके लिये एक जमीन भी खरीद ली। उनके जीव

की बड़ी अभिलाषा थी कि वे जमीन में छोटी सी कुटिया बनवा कर वहाँ माँ की छत्रछाया में साधन भजन करें। आज भी उस जमीन पर आश्रम की तरफ से एक मौन मन्दिर और कुछ कुटियाएँ भी बनी हैं जिसमें साधु महात्मा लोग वहाँ साधन भजन करते हैं।

× × × ×

ता० २६ अगस्त '४१—रायपुर

आज सुबह माँ के कमरे में जाकर देखा कि माँ और मातृ भक्तों के साथ श्री जमनालाल जी भी बैठे हैं। खूब हँसा-हँसी हो रही है। श्री सेठजी ने 'माँ से कहा,—"माँ, मुझको आश्रम में सब लोग सेठजी कहकर बुलाते हैं तो अच्छा नहीं लग रहा है। आश्रम के अनुरूप नया कोई नाम माँ दे दें तो अच्छा है।

माँ—पिताजी, तुमको जो नाम अच्छा लगे बोलो। वही नाम दिया जा सकेगा।

सेठजी—माँ, आप जो नाम देंगी वही अच्छा है।

माँ—अच्छा तुम लोग बोलो। कोई नाम पसंद करो।

सेठजी—माँ,—दो तीन नाम पसंद करके उन्हें एक-एक कागज में लिखवा कर उसकी पुड़ियाँ बनायी जाय।

सेठजी के कहने से तीन नाम तीन कागजों पर लिख कर रखवा दिया और फिर किसी भाई ने उसमें से एक पुड़िया उठा ली—उसमें नाम निकला "भैयाजी"। तब से आश्रमवासी सब लोग सेठजी के बदले "भैयाजी" कहकर पुकारते थे।

× × × ×

ता० ३१ अगस्त '४१ को माता जी के साथ श्री सेठ जी भी हरद्वार-कनखल गये। और वहाँ सेठ श्री नारायणदास बाजोरिया ने 'माँ' और भैयाजी तथा मातृ भक्तों के लिये रहने की व्यवस्था की थी। हरद्वार में 'माँ के साथ वे ता० २ सितम्बर ४१ तक रहे। फिर 'माँ' विन्ध्याचल आश्रम की तरफ जा रही थीं और श्रीजमनालालजी उसी रात को उसी गाड़ी से ही नैनीताल जा रहे थे। माँ और सेठ जी की अन्तिम बिदाई—मोरादाबाद रेलवे स्टेशन पर हुई। वहाँ तक दोनों एक साथ गाड़ी में आये थे। सेठ जी मोरादाबाद उतर गये। वहाँ से नैनीताल, अल्मोड़ा होकर वर्धा पहुँच गये। उनकी बहुत इच्छा थी कि माँ को वर्धा ले जाँय और परम पूज्य महात्मा-गाँधी से मुलाकात हो। माँ को वर्धा जाने के लिये बहुत चिट्ठियों में आन्तरिक प्रार्थना करते थे। लेकिन माँ को वहाँ जाने का ख्याल ही नहीं हुआ। अन्त में माँ को वहाँ जाने के पहले ही श्री जमुनालाल बजाज का ता० ११ फरवरी १९४२ में

वर्धा में देहावसान हो गया। उनके देहावसान के करीब २० दिन बाद माँ वर्धा में पहुँच गईं और बजाजवाडी में कुछ दिन ठहरीं। उस समय सेवाग्राम में परम पूजनीय माँ और परम पूज्य महात्मागांधी जी की सर्व प्रथम मुलाकात हुई।

× × × ×

“बापू-स्मरण”

(श्री जमुनालाल जी की डायरी)—पृ० २२६–२२७

(१) ता० १६–८–४१, देहरादून

“स्नान आदि से निवृत्त होकर माता आनन्दमयी (कमला नेहरू की गुरु) से रायपुर में मिलना हुआ। इनसे मिलने के लिये बापू (श्री महात्मा गांधी जी) ने भी लिखा था। १०। से १२। तक दो घण्टे करीब वहाँ ठहरीं व बातचीत की। इनके प्रति आकर्षण हुआ। अपनी मनःस्थिति कही—सभी के सामने। बाद में एकान्त में भी। उन्होंने प्रेम पूर्वक कुछ समझाया। मेरे शिर पर हाथ फेरा। शायद गोद में सुलाने का भाव हो। गोद की इजाजत दी। जाने के पहले फिर मिलने की इच्छा। स्थान रमणीय व सुन्दर मालूम दिया।”

(२) ता० २०–८–४१, रायपुर

“माँ आनन्दमयी से एकान्त में मनःस्थिति पर विचार विनिमय। माँ पर ठीक श्रद्धा बढ़ती जा रही है। परमात्मा की बड़ी दया है। बापू सरीखे ‘पिता’ व माता आनन्दमयी का माँ के प्रेम का सौभाग्य मुझे इसी जन्म में प्राप्त हो रहा है। अब भी मैं नालायक रहा तो मेरा ही दोष या पाप समझना चाहिये। सम्भव है कि अब मेरा जीवन शुद्ध हो जाय।”

(३) ता० २२–८–४२, रायपुर

“बापू का तार मिला। “Glad stay at will—BAPU” (खुशी है। जब तक इच्छा हो माँ के पास ठहरो—बापू)। माँ से एकान्त में बातचीत। १४ मई को जो डायरी नागपुर जेल में लिखी थी और बापू को वर्धा में सुनाई थी, वह डायरी माँ को पढ़कर सुनाई व समझाई। वैसे उसका सार तो पहले कहा ही था।”

(४) ता० २६–८–४१, रायपुर

“माँ का प्रेम, प्रसाद अमृतपान मिला। इससे खूब सुखद-समाधान मिला। आशा हो गई कि भावी जीवन समाधान कारक व शान्तिपूर्वक बीतेगा।”

(५) ता० ३१-८-४१, हरिद्वार-कनखल

पू० बापू का तार आया। माँ आनन्दमयी के साथ वर्धा आने को लिखा। परन्तु माँ की इच्छा विन्ध्याचल वगैरह होकर बाद में आने की है।"

× × × ×

पत्रव्यवहार (५)

(जमनालाल बजाज का अपने परिवार वालों से —पृ० १३६—१३८

(१) ता० १८-८-४१, देहरादून

"परसों हम यहाँ से श्री माता आनन्दमयी जी, जो कमला नेहरू की गुरु हैं, और यहाँ से ५ मील दूर रायपुर नाम के देहात में रहते हैं, से मिल आए। पूज्य बापू ने इनसे मिलने के लिये लिखा था। करीब दो घण्टे उनके पास रहा। उनसे खासी बातचीत हुई। मुझे उनके पास बैठकर बातचीत करने से सन्तोष मिला। करीब आध घण्टा एकान्त में भी बातें हुईं। मैंने माँ से कहा—"

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ॥
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ॥

इस प्रकार की मेरी भावना इस जन्म में जिस प्रकार हो सके, वह मार्ग बतावें। उन्होंने प्रेमपूर्वक कुछ बातें बताई हैं। मैं आज फिर उनके पास जा रहा हूँ। वहाँ एक दिन व रात रहने का विचार है। वहाँ स्थान आदि देख आऊँगा। बाद में पूज्य बापू की इजाजत लेकर कुछ समय वहाँ और रहने की भी इच्छा हो रही है। वहाँ का वातावरण सात्त्विक दिखाई देता है।"

(२) ता० २१-८-४१, देहरादून।

"बापू के नाम मेरा पत्र पढ़ ही लिया होगा। इस स्थान व यहाँ के वातावरण तथा पू० माता आनन्दमयी जी के स्वच्छ प्रेम आदि के कारण ज्यादा समय तक यहीं रहने की मेरी इच्छा व उत्साह मालूम होता है।

मेरे तार के जवाब में आज पूज्य बापू का तार मिल गया। मेरी इच्छा हो तब तक यहाँ ठहरने का लिखा सो पढ़ कर सुख मिला।

मुझे बाद को बापू मिल ही गये थे। माँ आनन्दमयी मिल गईं। अब भी मुझे शान्ति नहीं मिली तो मेरा ही कोई भारी पाप आड़े आता होगा, ऐसा सम्भव है। मुझे आशा है कि शान्ति जरूर मिल जायगी। माँ आनन्दमयी

से मिलने की सूचना तो पूज्य बापू ने ही की थी। उनके बारे में बँगला भाषा में तो काफी लिखा गया है। हिन्दी में नहीं के बराबर। मैंने एक छोटी सी पुस्तिका भेजी है। उससे थोड़ी कल्पना होगी। पूज्य बापू को पढ़ा देना। ज्यादा तो वहाँ आने पर माँ के बारे में बताऊँगा।"

(३) ता० २३-८-४१, देहरादून

"मेरा समाचार तो वहाँ मिलते ही रहते हैं। माँ आनन्दमयी की पुस्तिका देख ली होगी। मेरा मन यहाँ खूब लग रहा है। इन वर्षों में इतनी शान्ति, जितनी अब मिल रही है, कहीं नहीं मिली। मेरा अभी ८-१० रोज तो और यहाँ ठहरने का विचार है। शायद ज्यादा भी ठहर जाऊँ। पू० बापू का तार मिल गया। मेरी दिनचर्या ठीक चल रही है। सुबह अंदाजन चार बजे उठता हूँ। माँ के पास बैठता हूँ। नाम स्मरण की कोशिश के साथ माँ के पाँव दबाया करता हूँ। बाद में साढ़े पाँच बजे करीब एक माल अंदाज घूमते हुए जंगल में ही निवृत्त हो लेता हूँ। यहाँ से लगभग तीन फर्लाङ्ग पर सुन्दर झरना व रमणीक स्थान है। जल स्वच्छ व पीने में उत्तम है। वहाँ मुँह हाथ धोकर झरने के नीचे ठंडे जल से स्नान कर लेता हूँ। लौट कर ८ बजे के करीब नाश्ता करता हूँ। फिर अढाई घण्टे—माँ के पास बैठकर जो चर्चा, विचार विनिमय होता है, वह सुनता रहता हूँ। खूब शान्ति मिलती है। साढ़े ग्यारह के करीब भोजन कर लेता हूँ। भोजन के बाद थोड़ा आराम। फिर कभी-कभी एकाध पत्र लिखता हूँ। फिर २ बजे करीब झरने पर जाकर निपटता हूँ। वापस आकर माँ के पास एकाध घण्टा एकान्त में विचार-विनिमय शंका समाधान होता है। बाद में चर्खा यहाँ रोज कातता हूँ। फिर हरि-कीर्तन में बैठता हूँ। यहाँ मौन भी रखा जाता है। सब ठीक चल रहा है। स्थान रमणीक व सुन्दर है। अगर कोई जमीन मिल जाय तो लेने का विचार कर रहा हूँ। स्थान तो तपोभूमि जैसा मालूम देता है। पूज्य बापू को इसमें से जो समाचार सुनाना चाहो सुना देना।"

(४) ता० १-९-४१, हरिद्वार कनखल

"पूज्य बापू जी का तार कल मिला था। पूज्य आनन्दमयी माताजी का पहले ही दिल्ली होकर विंध्याचल जानेका निश्चय हो गया था। इसलिये इस बार तो माँ वहाँ नहीं आ सकेंगी। कुछ समय बाद शायद आ जावेंगी। माँ का प्रोग्राम अनिश्चित सा रहता है।

आनन्दमयी माँ क्या कहती हैं ?*

डा० श्री प्रफुल्लचन्द्र दत्त

श्री माँ आनन्दमयी का परिचय प्राप्त होने के बाद से स्वभावतः अधिकतर लोग प्रश्न करते रहते हैं—उनकी क्या व्यवस्था है ? विश्ववासियों के लिए उनका निर्देश क्या है ? "किम् प्रभाषेत ?"

इन प्रश्नों का उत्तर देते समय अक्सर कहता हूँ—"माँ का कोई विशेष व्यवस्था-पत्र नहीं है, वैशिष्ट्यहीनता ही उनकी विशिष्टता है।" इसके आगे जब कुछ नहीं सोच पाता तब कहता हूँ—मेरे कान जिस मातृ वाणी को ग्रहण करते हैं, आपके कान भी उन्हीं वाणियों को सुन सकते हैं, यह कैसे कहा जा सकता है ? इससे अच्छा है कि आप स्वयं ही माँ की बातें सुनने का प्रयत्न करें। सुनिये उनके मुँह की भाषा, हँसी की भाषा, दृष्टि की भाषा, स्पर्श की भाषा और सुनिये उनकी भाषा के द्वारा कही जानेवाली बातें, सुनिये उनकी भाषा विहीन बातें।

मैं जब माँ के निकट पहले पहल पहुँचा तब मेरी दृष्टि उन लोगों की ओर आकर्षित हुई जो माँ के श्री चरणों के साथ अपने जीवन के सुरों को बाँध चुके हैं। देखा—कोई संन्यासी है तो कोई गृहस्थ, किसी के गले में कण्ठी है तो किसी के गले में रुद्राक्ष की माला, किसी के हाथ में त्रिशूल है तो कोई दण्ड-कमण्डल लिये हैं। और किसी के पास कुछ भी नहीं है। कोई होम गीत में ही व्यस्त है, कोई धीर-स्थिर ज्ञानी है, कोई भाव में विगलित है - प्रेमाश्रु परिप्लुत। किसी से परिचय प्राप्त कर लेने पर ज्ञात होगा कि वे तीर्थ सम्प्रदाय के सन्यासी हैं। अगर उनका इतिहास जानना चाहेंगे तो वे कह उठेंगे—माँ ने ही एक दिन यह आदेश दिया था कि तुम तीर्थ सम्प्रदायं के अमुक संन्यासी के निकट जाकर संन्यास दीक्षा ले लो। उसी दिन से यही रूप है। एक दूसरे सज्जन से पूछने पर ज्ञात हुआ कि वे सरस्वती-सम्प्रदाय के संन्यासी हैं। शायद वे अपने ढंग का इतिहास बताते। इसी प्रकार कोई गिरि, कोई पुरी कोई वैष्णव, कोई शैव, कोई शाक्त है। सभी एक ही बात कहते हैं—"मैं कुछ भी नहीं जानता। माँ मुझे इस पथ पर ले चल रही हैं।" माँ को देखने के बाद न जाने कितने शुद्ध सन्तान घर छोड़कर संन्यासी बन गये। दूसरी ओर बचपन से घर छोड़नेवाले तपोनिष्ठ अनेक बालक माँ का

---

* चन्दन नगर "संस्कृति और प्रार्थना मन्दिर" में कथित।

निर्देश पा गृहस्थ बन गये हैं। उनसे कहा गया है—"याद रखना, चाहे जहाँ भी रहो, यह शरीर साथ-साथ रहेगा।"

यह जो इतना वैचित्र्य है, इसके केन्द्र में किन्तु माँ हैं। मानो माँ ही इन सभी वैचित्र्यों के बीच अजस्र धारा की भाँति प्रवाहिता हैं।

विश्व के धर्म संस्कारों तथा धर्म प्रवर्तवादों के बीच एक नयी धारा ने जन्म लिया था जैसे श्री रामकृष्ण का आविर्भाव। संभवतः उन्होंने सर्वप्रथम किसी विशेष संस्कार का बिना अनुसरण किये, विश्व की समस्त साधना की धाराओं को स्वीकृत कर लिया था। इस वैचित्र्य के बीच उन्होंने एक मोहन रूप का आविष्कार किया और उसे श्रद्धा करते रहे।

माँ आनन्दमयी में उसी विचित्र धारा का परिपोषण दिखाई देता है। संसार की सभी माताओं की सन्तान-पोषण की तरह हमारी श्री माँ भी मानों विश्व कीविचित्र भाव धारा के परिपोषण के लिए नियुक्त हैं। ऐसी माँ में हम सब विशेष व्यवस्था का आविष्कार कैसे कर सकते हैं ?

माँ का कहना है—"पथ अनन्त, अनन्त गति अनन्त स्थिति," अनन्त स्थिति भी ? माँ दृढ़ स्वर में कहती हैं—"निश्चित"। स्थिति और अनन्त। पर इसके बाद भी है, जहाँ गति नहीं है, स्थिति भी नहीं है, गति-स्थिति का प्रश्न ही नहीं है।

सृष्टि की विशिष्टता ही वैचित्र्य है। सब कुछ उन्हीं का प्रकाश है, वे ही, विचित्र संस्कार हैं, विचित्र जीवों में। जिसका जो संस्कार है, जो जहाँ है, वहीं से उसे आगे बढ़ना है। अपने को पाना, सत्य को पाना, पुण्य को पाने के लिए, स्वधन को पाने के लिए जो चेष्टा की जाय, वही है—साधना। स्वधन को पाने के लिए जो जिसके लिए अनुकूल है, माँ के कथनानुसार वही उसका स्वधर्म है। प्रतिकूल वर्जनीय है। आत्म प्रवंचना जरा भी न रहे।

एक छोटी सी घटना लीजिये। एक कम उम्र की विवाहित लड़की, सामान्य प्रेरणा से ही उसे 'समाधि' हुई। कम से कम लोग यही कहते थे। उस वक्त वह प्राणहीन-सी लगती, उसके हाथ-पैर ठण्डे हो जाते थे। श्री माँ के साथ मुलाकात करने आयी तब भी उसे समाधि हुई। माँ ने देखा फिर समाधिस्था के कान के पास मुँह ले जाकर एक मंत्र कहा, चुपके से बोलीं—"कुछ दिनों के बाद तुम अपने पति के पास से पत्र प्राप्त करोगी। माँ के मंत्र ने असर दिखाया। समाधिस्था की समाधि टूटी। उस दिन से उसका सब कुछ बन्द हो गया। स्वस्थ होकर स्वाभाविक रूप से घर का सारा काम काज करने लगी। समाधि के आवरण में

उसके निकट जो आया था, वह सत्य नहीं था। जो जहाँ है, वहीं से उसे आगे बढ़ना पड़ेगा – यही है माँ की बातें।

अनुरूप एक घटना और है। एक युवक था जिसे विभिन्न प्रकार के दर्शन होते थे। वह देखता था कि श्रीकृष्ण अर्जुन को गीता बता रहे हैं इसी तरह के विभिन्न दर्शन वह देखा करता था। उन दर्शनों ने उसे विगलित कर रखा था। उसकी आँखों से बराबर अश्रुपात होता रहता था। माँ ने उसे समझाया "आत्म संयम से हाथ मत धोओ। सत्य सन्धानियों के लिए किसी प्रकार भी कुछ के वश में नहीं रहना चाहिए! पूर्ण सचेतन और जाग्रत रहते हुए, अपने आप में प्रतिष्ठित रहते हुए, द्रष्टा की भाँति सभी घटनाओं का प्रवाह देखते चलो।"

एक उच्च भावनावाली महिला की चर्चा चल रही थी। उन्हें कीर्त्तन के समय भाव होता है। उनकी आध्यात्मिक स्थिति को लेकर ही संभवतः चर्चा चल रही थी। माँ ने कहा—वह स्वयं कह चुकी है कि और समय की अपेक्षा "भाव" का समय उसे अधिक अच्छा लगता है। इसीलिए उसमें "अभाव" बोध है। और भी कहा, जगत् में प्रायः सोना को पीतल और पीतल को सोना समझने में गलती हो जाती है।

सत्य बनकर सत्य के पथ पर चलना—साधना की समस्त व्यवस्थाओं का समर्थन माँ करती हैं। अभी उस दिन रासबिहारी एवेन्यू में नाग महाशय के निवास स्थान पर श्रीयुक्त योगेश ब्रह्मचारी कहते रहे – बंगाली बड़े भावप्रवण होते हैं। क्षण भर के लिए वे लोग नाम-कीर्त्तन में नृत्य करने लगते हैं और फिर सहसा उदास हो जाते हैं। क्षण भर के लिए नाचना क्या अच्छा है?

माँ ने कहा —"क्षणिक का नृत्य ठीक नहीं होता, यह सत्य है, फिर भी ना ने दो—जो लोग नाच रहे हैं, बिलकुल नाचते तक नहीं। क्षण भर ही सही जरा नाचने दो, जरा उधर की ओर जाने दो।"

उधर के यात्रियों के लिए माँ का अजस्र उपदेश है। एक सज्जन ने पूछा—"माँ घर जाऊँ?" माँ हँसती हुई बोलीं—"हाँ, घर जाने का प्रबन्ध करो। यह घर तो श्वासों का घर है। देखो कितने चमत्कार की बात है कि सभी घर जाना चाहते हैं, घर के लिए सभी व्यस्त हैं। सिर्फ उन्हें इसकी खबर नहीं कि उनका घर कौन सा है।" इतना कहने के बाद माँ उनकी ओर देखती हुई कहने लगीं—"पिताजी, उसे धर्मशाला बना दो। कर सकोगे?"

जो लोग घर जाना चाहते हैं, उनके आधार के अनुसार व्यवस्था होती है—माँ के माध्यम से। यही माँ बता रही थीं—"किसी के लिए भी हो, चाहे वह किसी

भी सम्प्रदाय का साधक हो, इस मार्ग के लिए जितनी सहायता की दरकार है, इस शरीर के द्वारा वह होता जा रहा है। सहायक कर्म अर्थात् अपनी सेवा और क्या—दया करके करवा ले रहे हैं।"

कितनी सुन्दर हैं माँ की बातें! कह रही थीं—"मुँह में एक टुकड़ा मिश्री रखा करो। एक बार गाल के इधर तो एक बार उधर।"

इससे क्या होगा? दफ्तर में काम करता हूँ, पढ़ता-लिखता हूँ, दोस्तों में गलचौर करता हूँ, मेरी चेतना का एक हिस्सा मिश्री के रस के आस्वादन में नियुक्त रहेगा, अनविच्छन्न रूप में। मिश्री का टुकड़ा क्या है? नाम। भगवान् का प्रिय नाम। कह रही हैं—"नाम में भी वे प्रकाशित होते हैं। उनका अन्य जो कुछ प्रकाश है, उसे पाने के लिये मन्दिर में जाना पड़ेगा, आश्रम में जाना पड़ेगा, लेकिन नाम का साथ करने पर कहीं दौड़ना नहीं पड़ेगा। उसी परमप्रिय का अनविच्छन्न सङ्ग प्रत्येक क्षण और प्रत्येक समय में उपलब्ध होता है।"

माँ कह रही हैं—"ठाकुर का नाम है—इमली। जितना नाम लोगे, उतना ही चित्त शुद्ध होगा। इमली के प्रयोग से मैल साफ होता है न? बर्तन साफ हो जाने पर उसमें मुँह दिखाई देता है। नाम करने का अर्थ है—माँजना। माँजकर स्वरूप देखो—यही है ज्ञान। ज्ञान-गंगा आकर कर्म-सर्म सब कुछ धो देती हैं।"

मार्ग तो अनेक हैं, नये मार्ग की क्या जरूरत है? माँ कहती हैं—"खिलौने ही तो, माँ, अनेक प्रकार के हैं। वे कितने तरह से खेल चुके हैं—वही खेल लो। जिस खेल को लोगे, वह खेल है यह समझ लिया जाता है। हो नहीं रहा है, नहीं होगा, कहकर आलस नहीं करना चाहिए। जो दिन चला जाता है, वह फिर वापस नहीं आता। खेल के माध्यम से ही खेल को बिगाड़ा जाता है।"

लेकिन इस खेल में इतने व्यस्त हैं कि उस खेल के लिये वक्त नहीं मिलता। "माँ, तुम्हारे निकट आकर भी तृप्ति नहीं मिलती।" एक महिला ने शिकायत की।

माँ हँसकर एक कहानी सुनाने लगीं—"एक आदमी गया था बाजार में सामान खरीदने। जाकर देखा कि वहाँ काफी गोलमाल और शोरगुल है। उसने सोचा—गोलमाल जरा कम हो जाय तब सामान खरीदूँगा। काफी देर तक वह बाहर खड़ा प्रतीक्षा करता रहा। जब गोलमाल बन्द हो गया तब वह हाट के भीतर आया तो देखा—गोल भी नहीं है और माल भी नहीं है।"

संसार के खेल में गोलमाल की असुविधाएँ रहती हैं। इसमें ही जरा खेल को बिगाड़ने का खेल है। यहाँ तो गोल और माल मिलकर हैं।

"माँ मन स्थिर नहीं रहता, क्या करूँ ?" एक प्रश्न। माँ का सहास्य उत्तर—"मैं तो देख रही हूँ कि मन अस्थिर होता ही नहीं। उनके लिये अस्थिर कहाँ है ? अस्थिर होने पर ही स्थिर होगा।"

एक गृहस्थ महिला का प्रश्न—"माँ, मेरे घर में पूजा, जप, ध्यान कोई पसन्द नहीं करता। स्वामी, श्वसुर, भसुर सभी इसका विरोध करते हैं। क्या करूँ माँ ?"

माँ का उत्तर—"तुम लोग अपनी गृहस्थी में अनेक व्रत पालन करती हो मंगलचण्डी व्रत, शिवरात्रि का व्रत आदि। एक व्रत का पालन करोगी, माताजी ? महीने में एक दिन, सवेरे से रात को सोने जाने के पहले तक सभी को भगवान् की तरह मानोगी। स्वामी को, श्वसुर को, भसुर को, भगवान् के भिन्न-भिन्न रूप हैं, समझोगी। उस दिन बच्चों को बालगोपाल के रूप में मानोगी। उस दिन जितने अतिथि, भिक्षुक, आगन्तुक आदि आयेंगे; सभी को नारायण के रूप में देखोगी। उस दिन अगर कोई दुःख आया तो समझना वे ही आये हैं। आघात लगने पर समझना कि वे ही आये हैं। तब देखोगी कि सब कुछ अनुकूल होता जा रहा है। पहले महीने में एक दिन, बाद में सप्ताह में एक दिन। तब यह अनुभव करोगी कि सप्ताह के एक उसी दिन का आनन्द पूरे सप्ताह भर छाया हुआ है।"

मार्ग के सम्बन्ध में आगे कहने लगीं—"एक लाइन पकड़ कर चलना चाहिये। जो प्रेम की लाइन पर चलेगा, वह प्रेम स्वरूप "आनन्दमय" भगवत् रूप का प्रकाश प्राप्त कर सकेगा। जो ज्ञान की लाइन पर जायगा, वह ज्ञान स्वरूप "सत्ब्रह्म" का प्रकाश पायेगा। जो कर्मयोग की लाइन पर जायगा, वह चित्स्वरूप ब्रह्म या जगन्माता की कृपा प्राप्त करेगा। दूसरी ओर एक ही व्यक्ति पिता, पति, पुत्र आदि बन सकता है। उसी प्रकार एक ही ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द स्वरूप है। जिस किसी भी लाइन में जाओ, उसी एक को पाओगे—जो एक ओर सब कुछ हैं। योग के माध्यम से नित्ययुक्त होना पड़ेगा। योग-वियोग के ऊपर उठकर नित्य योग में रहने पर नित्य स्वरूप प्राप्त होता है। दूसरी ओर जहाँ नित्य अनित्य का, अतीत-अनतीत का प्रश्न ही नहीं है, ऐसी चरम-परम अवस्था है।"

श्री रामकृष्ण देव की भाँति—"जितने मत उतने ही पथ।" माँ के कण्ठ में भी वही एक ही सुर। लेकिन माँ, सभी मार्ग कैसे एक स्थान तक पहुँच गये ?

मैं बैकुण्ठवासी हूँ. मुझे कैलास कैसे मिल सकता है ? मैं चाहता हूँ मोक्ष; कैसे कर सकूँगा नित्य प्रेम का आस्वादन ? माँ कहती हैं—"सभी के भीतर सब है। बीज के भीतर जैसे अनन्त वृक्ष रहता है।"

सत्य क्या है ?

उस दिन राँची के आश्रम में एक भक्त ने प्रश्न किया था "माँ, पाश्चात्य जगत् के एक वैज्ञानिक ने यह घोषणा की है कि भगवान् मनुष्य के मन के विकार की सृष्टि है, उसका कोई अस्तित्व नहीं है। दूसरी ओर एक विख्यात दार्शनिक ने कहा है–भगवान् का अस्तित्व इतना सत्य है जैसे अंगुली से स्पर्श किया जा सकता है। किसे सच मानूँ माँ ?"

माँ का उत्तर "यह शरीर कहता है कि दोनों ही सत्य है। जो जिस स्थिति में है उसके लिये वही सत्य है।"

तुरत प्रश्न हुआ—"तब क्या दोनों ही स्थिति है ?"

माँ का उसी प्रकार दृढ़ उत्तर है—"जरूर।" यह एक रफा नहीं, सत्य का प्रकाश है।

माँ कहती हैं—"एक पर्वत को चार व्यक्ति चार दिशा से देखते हैं। उनमें इस बात पर तर्क चलता है कि कौन सा रूप सत्य है। किन्तु उन सबका देखना तो सत्य है।"

किन्तु जो देखा, उसे नहीं कहूँगा, कहूँगा दूसरों का देखा हुआ—यह तो प्रवंचना है, सत्य सन्धानी नीति का विरोधी। मैंने जो कुछ देखा है, वही कहूँगा। उसी मार्ग पर मेरी यात्रा होगी।

मन से जब किसी समस्या की मीमांसा होती है, गोकि वह तब एक विशेष भूमि से होती है, अतएव उसके विरोध का प्रश्न रहता है, क्योंकि तुम्हारा समाधान एक विशेष दिशा को लेकर है। तब तुमने क्या मीमांसा की ? एक विशेष दिशा से विचार करने पर तुम सभी प्रश्नों की एक पूर्ण और चरम मीमांसा प्राप्त करोगे। पर एक ऐसी स्थिति है जहाँ सभी समस्याओं का पूर्ण समाधान है। वहाँ विरोधी का प्रश्न नहीं है। वहाँ मीमांसा-अमीमांसा का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ "हाँ" और "ना" सब वही है।

सभी विभेदों के ऊपर परम सत्य क्या है ? देखते हैं पारमार्थिक सत्य एवं व्यावहारिक सत्य के रूप में सत्य की श्रेणी विभाजन किया है बौद्धों के एक सम्प्रदाय

ने। भगवान् शंकर और एक तत्त्व को पारमार्थिक सत्य कहा है। अन्य दार्शनिकों ने इसे अस्वीकार भी किया है। जड़वादियों को देखने पर लगा जैसे वे द्वान्द्विक पद्धति से सत्य के भीतर से सत्य में जाना, स्वीकार करते हैं, किन्तु चरम सत्य परिसमाप्ति उनके निकट कभी नहीं आ सकता। परन्तु Ultimate Reality ? उस परम एक वही "एकमेवाद्वितीयम्" ?

माँ ने कहा है—जो दुई है, वही दुनिया—सत्य-मिथ्या, अच्छा-बुरा, अंधकार-प्रकाश आदि दुनिया का द्वन्द्व है। दो की आहुति एक में देना होगा।

माँ कहती हैं – "चरम में एक भी नहीं है, एक भी तो आपेक्षिक है, एक-दो-तीन का प्रश्न नहीं है। द्वन्द्व ही दुनिया का नियम है—द्वन्द्व माने दुइ अन्ध।"

द्वन्द्व की भूमि में यह सत्य है, वह मिथ्या है। आपेक्षिता की पूर्णाहुति जहाँ है वहीं Real भी नहीं, Unreal भी नहीं। जहाँ सत्य नहीं है, मिथ्या भी नहीं है, सत्य-मिथ्या का प्रश्न नहीं है।

माँ और भी कहती हैं—"वहाँ सापेक्ष-निरपेक्ष का प्रश्न नहीं है।" माँ की एक छोटी सी बात मानों एक छोटा बीज है, इसके अन्तर्गत भी है—"अनन्त वृक्ष" संभावना के रूप में।

पूर्णता क्या है ? श्री अरविन्द के मुँह से सुन चुका हूँ। विद्या या भगवान् के एकत्व के ज्ञान को अलग कर अविद्या या यही आपेक्षिक वैचित्र्य की अनुभूति ही है तामसावृत महानिशा, भ्रान्तिमय छन्दहीनता। उसी प्रकार यही अज्ञान या अविद्या के जगत् को, अस्तित्वहीन या असत्य समझते हुए परिवर्जन कर जो ज्ञान है, वह कुंजटिका की तरह एवं अपूर्ण है। अति प्रकाश में आलोकित वस्तु दिखाई नहीं देती, उस वक्त वही अवस्था होती है।

पूर्णता के बारे में माँ बता चुकी हैं—"पूर्णता कैवल्य नहीं, पूर्णता एक में नहीं; पूर्णता में एक और बहु, खण्ड और अखण्ड युगपत्।" माँ ने कहा है—"तुम लोग जिसे कैवल्य आदि कहते हो, जिस अवस्था में जगत् का खण्ड-खण्ड ज्ञान-लोप होकर एकात्मबोध हो जाता है, वह भी पूर्णता नहीं है। पूर्णता में अंश एवं पूर्ण का ज्ञान युगवत् वर्तमान रहता है। अनन्त सृष्टि, अनन्त स्थिति, अनन्त लय, पूर्ण रूप से प्रति क्षण अनन्त काल से चल रहा है। इसे अपर का बाधक नहीं, जब कि सभी पूर्ण है। जहाँ माया-मोह जो कुछ सुन्दर है, जो कुत्सित है, सब है। अथवा क्या है, क्या नहीं, बताया नहीं जा सकता, जो—वही।"

माँ की बातें, बातें नहीं जैसे फूल हैं, अपूर्व उसका सौरभ है। माँ की बातें, बातें नहीं जैसे स्फुलिंग—अनन्त अग्नि उसमें समाहित है। माँ की बातें, बातें नहीं जैसे गीत हैं, भाव के हिल्लोल में वह तरंगायित हैं। वह मानो मंत्र हैं, जिसकी शक्ति से जीवन प्रसूत हो प्रस्फुटित होता है। वह मानो प्रकाश का प्रस्रवण है, वितर्क के झंझावातों को दूर कर देता है वह। वही सौरभ, वही अग्नि, वही तरंग, वही मंत्र शक्ति उसी प्रकाश के झरना की धारा को कैसे मैं ले आऊँ आप लोगों के निकट। जो लोग सुन चुके हैं, सिर्फ वे ही जानते हैं—"अति अद्भुत मधुर माँ" की बातों में कितने माधुर्य का जादू है।

——

गीता के अर्जुन महाभारत की पटभूमिका में *

‘गंगा समीरण’

(६) क्या श्रीकृष्ण समवेदनशील हैं ?

गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन युद्ध से पराङ्मुख हैं, किन्तु युक्ति में पञ्चमुख । प्रथम अध्याय में सर्वत्र अर्जुन केवल वक्ता हैं तब तक उनमें सुनने की आकांक्षा उत्पन्न नहीं हुई थी और श्री भगवान् श्रोता मात्र हैं; तबतक उनके कहने का समय नहीं आया था ।[१]

अर्जुन के सुदीर्घ भाषण को श्री भगवान् नीरव, धैर्य, और सौजन्य के साथ सुनते रहे । अर्जुन का वक्तव्य जब समाप्त हुआ तब प्रारंभ हुई श्री कृष्ण की वाणी । किन्तु सखा के निकट जिस तरह की समवेदना की आशा की जाती है, क्या अर्जुन को वैसी समवेदना प्राप्त हुई थी ?

अर्जुन ने अपने मन की व्यथाओं का वर्णन पूर्ण आवेग के साथ किया था, पर क्या श्री कृष्ण के मुख से कण मात्र भी सान्त्वना की वाणी निःसृत हुई थी ? नहीं । अर्जुन के अन्तर की व्यथाएँ झलक उठीं नयनों के जल बिन्दुओं में । क्या श्री भगवान् के नयन कमल से इस कारण एक बूंद भी आँसू निकला था ? नहीं ।

गीता के द्वितीय अध्याय के प्रथम श्लोक में अर्जुन को कृपाविष्ट, विषाद एवं अश्रुपूर्ण लोचन लिए देखकर संजय कहते हैं—“उवाच मधुसूदनः” । किन्तु मधुसूदन ने जो कुछ कहा, उनकी बातों में मिठास खोजना दुष्कर है । इस प्रसंग

---

* प्रस्तुत धारावाहिक लेख में उल्लेखित गीता के श्लोकों का भावानुवाद और विश्लेषण, मुख्यत: श्रीमत् मधुसूदन सरस्वती द्वारा रचित “गूढ़ार्थ दीपिका” नामक ग्रन्थ से गीता व्याख्या के आधार पर है । पादटीका में मूल श्लोकों को ही उद्धृत किया गया है । इसके साथ ही श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् कृत अंग्रेजी अनुवाद और कहीं कहीं उन्हीं की टीका उद्धृत की गई है ।

[१] —गीता के प्रथम अध्याय में श्री भगवान् ने सिर्फ एक वाक्य कहा है—“पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ।” गीता १।२५

Behold, O Partha, these Kurus assembled here

में भगवान् ने दो श्लोक कहे ।[2] श्लोकों में निहित तात्पर्य को समझने के लिये महाभारत से प्रकाश-सन्धान करना पड़ेगा । आसन्न कुरुक्षेत्र युद्ध को केन्द्र बनाकर व्यासदेव ने उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण तथा अर्जुन की जिस भूमिका का चित्रण किया है, उसका परिचय जानना आवश्यक है, तब यह स्पष्ट हो जायगा कि क्यों उन दोनों श्लोकों की भाषा में श्रीकृष्ण की स्निग्धता, सान्त्वना और समवेदना का अभाव है। अपने प्रिय सखा की भाव प्रणवता को श्रीकृष्ण ने अपनी भावप्रणवता के माध्यम से दृढ़ नहीं बनाया । उन्होंने जिन शब्दों का प्रयोग किया था, वे मानो सुतीक्ष्ण वाक्य वाण थे—तीव्र, निर्मम निरावरण और मर्मान्तक ।

तो क्या श्रीकृष्ण में समवेदना का अभाव था ? नहीं । वे तो प्रेममय करुणा-सिन्धु हैं । समग्र गीता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है ? समवेदनशील कौन है ? जो सुख-दुःख का अंश ग्रहण करता है ? एक ओर जो जनक, जननी, सुहृद् और परमपति हैं, उनसे बढ़कर कौन अधिक समवेदनशील हो सकता है ? उन्होंने अपने श्री मुख से कहा है—"मैं ही जगत् का पिता, माता और सर्व प्राणियों का कर्मफलदाता हूँ, मैं ही पितामह अर्थात् पिता का पिता हूँ, सभी कारणों का कारण भी हूँ ।[3]

श्रीकृष्ण ने बार बार कहा है—"मैं सभी का सुहृद् हूँ ।" गीता के नवम अध्याय में उन्होंने कहा है—"मैं सभी की गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण

२—कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।। गीता २।२

Where has come to thee this stain (this dejection) of spirit in this hour of crisis ? It is unknown to men of noble (not cherished by the Aryans); it does not lead to heaven; (on earth) it causes disgrace, O Arjuna. अनार्यजुस्टं un—Aryan. The Aryans, it is contended by some, are those who accept a particular type of inward culture and social practice, which insists on courage and courtesy, nobility and straight dealing.

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।। (११) गीता २।३

Yield not to this unmanliness; O Partha, for it does not become thee. Cast off this petty heartedness and arise, O oppressor of the foes.

३— 'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः'' गीता ९।१७

I am the father of this world, the mother, the supporter and the Grandsire.

और सुहृद् हूँ।"[४] पंचम अध्याय में इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं—"मानव उसी समय शान्ति अनुभव करता है जब वह यह समझ लेता है कि मैं ही यज्ञ और तपस्या के देवता के रूप में सभी का पालन करता हूँ, मैं ही सर्वलोक महेश्वर हूँ और समस्त प्राणियों का सुहृद् हूँ, अर्थात् मैं उपकार की अपेक्षा न करते हुए उपकार करता रहता हूँ।"[५]

सुहृद् शब्द ही समवेदना का प्रतीक है। महाभारत में सनत् सुजात ने सौहार्द के षड्धर्मों का उल्लेख किया है।[६] इन षड्लक्षणों में प्रथम लक्षण है—सुहृद् के सुख में सुख अनुभव करना, द्वितीय लक्षण है—दुःख में दुःख अनुभव करना।

श्रीकृष्ण जैसा समवेदनशील सुहृद् इस त्रैलोक्य में और कौन है?

(१०) अर्जुन का कश्मल

अर्जुन के आँसुओं का जवाब श्री भगवान् ने एक छोटा सा प्रश्न करते हुए दिया है—"कहाँ से (किस कारण) तुम्हारे निकट यह मोह (कश्मल) आ गया और इस भयंकर समय में?"[७]

जो सर्वज्ञाता हैं, उसी अन्तर्यामी भगवान् ने ऐसा भाव प्रदर्शित किया जैसे वे अर्जुन के इस अप्रत्याशित आचरण से विस्मित हो उठे हैं। यह उनका व्यावहारिक रूप है। जीव के कल्याण के लिए, स्वीय लीला के रसास्वादन के लिए, अपने को छिपाकर वे इस तरह बन जाते हैं जैसे वे हमारी तरह कोई एक हैं। संभवतः इसीलिए जिनके निकट विस्मय का कोई प्रश्न ही नहीं है, उन्होंने ही विस्मय सूचक भाव से प्रश्न किया—"कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्?"

यहाँ अर्जुन के अप्रत्याशित आचरण में विस्मय का कारण था, क्योंकि परिस्थिति संगीन है, युगान्तकारी आसन्न युद्ध में अर्जुन का दायित्व अपरिसीम

---

[४]—"गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृद्" गीता ९।१८

(I. am) the goal, the upholdar, the lord; the witness; the abode, the refuge and friend.

(५) भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ ५।२९ ॥

And having known me as the enjoyer of sacrifices and austerities, the Great Lord of all the worlds, the friend of all beings, he (the sage) attains to peace.

[६]—महाभारत उद्योगपर्व—पंचचत्वारिंश अध्याय १२-१३।

[७]—कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ॥ २।२

है और वे कश्मल द्वारा हैं आक्रान्त अर्थात् समग्र भारतवर्ष का भविष्य अन्धकारमय है।

कश्मल शब्द का भी विशेष तात्पर्य है। कृपा ("ये लोग मेरे हैं" यह मोह सम्बन्धी स्नेह विशेष), अश्रुपात, स्वधर्म विमुखता--इन सबसे घिर जाने के कारण अर्जुन के चित्त में जो कलुष—मलिनता उत्पन्न हुई है, उसे ही कश्मल कहा गया है। यह कश्मल शिष्ट जनों के लिए निन्दित है।

श्रीकृष्ण के प्रश्न का तात्पर्य है--"हे अर्जुन, तुम साधारण मानव नहीं हो, तुम हो वीर श्रेष्ठ, तुम्हारा आधार जितना विशाल है, उतना ही कर्त्तव्य विशाल है। उसी प्रकार तुम्हारा आदर्श-निष्ठा भी विशाल होनी चाहिए और तुम्हारे चित्त में यह मलिनता है? क्या तुम यह समझ नहीं पा रहे हो कि किस महान् संकट के सम्मुख उपस्थित हुए हो?"

श्रीकृष्ण के उपरोक्त प्रश्न का तात्पर्य स्पष्ट हो जायगा महाभारत की पर्यालोचन करने पर। उद्योग पर्व की कई घटनाओं की पटभूमिका से समझा जा सकता है कि गीता के द्वितीय अध्याय में, द्वितीय श्लोक के प्रश्न में था--अर्जुन के आचरण के विरुद्ध श्रीकृष्ण का तीव्र प्रतिवाद। वही प्रतिवाद स्पष्ट रूप में प्रकट हो उठा द्वितीय अध्याय के तृतीय श्लोक में--धिक्कार और तिरस्कार की मूर्त्ति में। मानो वह एक "मोह मुद्गर" था। धिक्कार और तिरस्कार की आलोचना हम आगे करेंगे।

अर्जुन के जन्म के समय की देववाणी ने कुन्ती से कहा था--"तुम्हारा यह पुत्र शिव और विष्णु की भाँति होगा पराक्रमी, परशुराम की तरह उत्साही और इन्द्र की भाँति अजय होगा। यह बालक महायुद्ध में कौरवों का संहार कर राज्य प्राप्त करेगा। भाइयों के सहयोग से तीन महायज्ञ करेगा और कुरुवंशीय राजलक्ष्मी को वर्द्धित करेगा।[८]

इस देववाणी को सार्थक करने के लिए जिन उपकरणों की आवश्यकता है, वे सब अर्जुन को देवताओं से प्राप्त हो गये थे। स्वयं शंकर ने दिया था पाशुपत अस्त्र और अग्नि ने दिया था आग्नेय अस्त्र। अग्नि के अनुरोध पर वरुण ने दिया था--कपिध्वज, रथ और गाण्डीव-धनु। वारुण-अस्त्र, वायव-अस्त्र, पार्ज्जन्य-अस्त्र, पार्व्वत-अस्त्र और अनेक प्रलयंकर अस्त्रों के अधिकारी थे--अर्जुन।

धर्मयुद्ध में भाग लेने के पहले ही अर्जुन ने, युद्ध में विजयी बनने के लिए, श्रीकृष्ण को अपना लिया था। कुरुक्षेत्र युद्ध आसन्न है। दुर्योधन और अर्जुन गये

---

[८] महाभारत, आदि पर्व; ११७।४०-५० तथा उद्योग पर्व, त्र्यशीतितम अध्याय, ६७।

द्वारका में, दोनों ही श्रीकृष्ण की सहायता के आकांक्षी हैं। नारायणी सेना पाकर दुर्योधन प्रसन्न हो उठा, किन्तु अर्जुन ने साक्षात् नारायण का वरण किया अयोधि भाव में। नारायण ने, जो अज होकर भी अपनी इच्छा से मर्त्यलोक में जन्म लिया है, उन्हें पाकर अर्जुन धन्य हो गये।

दुर्योधन के जाने के बाद श्रीकृष्ण ने पूछा—"मैं यह कह चुका हूँ कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, फिर भी तुमने मुझे क्यों चुना ?" अर्जुन ने जवाब दिया—"हे पुरुष श्रेष्ठ, तुम समस्त शत्रुओं का संहार करने में समर्थ हो, इसमें कोई सन्देह नहीं और अकेले मैं भी इस विषय में समर्थ हूँ। जगत में तुम यशस्वी और नियत कीर्तिमान हो। मैं यश का प्रार्थी हूँ। इसीलिए मैंने आपको ही चुना।[९] अर्जुन श्रीकृष्ण के साथ-साथ रहना चाहते थे।

अर्जुन केवल इतना ही कहकर शान्त नहीं हुए। उन्होंने कहा—"मेरे मन में सर्वदा एक आकांक्षा रही कि तुम मेरे सारथी बनो। यह कार्य तुम करो।" जो त्रिभुवन के चालक हैं, उन्हें रथ चलाने जैसा तुच्छ कार्य कराने की आकांक्षा थी। इस तरह की अद्‌भुत आकांक्षा अर्जुन ही कर सकते थे। ऐसी आकांक्षा श्री भगवान् के निकट निवेदन करने का दुस्साहस भी केवल अर्जुन ही कर सकते थे। श्री भगवान् का उत्तर भी प्रिय सखा के लिए उपयुक्त रहा "अर्जुन, तुम तो मेरे साथ स्पर्द्धा करते रहते हो। ठीक है, मैं तुम्हारा सारथी बनने को तैयार हूँ। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।[१०] जो भक्तवांछा कल्पतरु हैं, क्या वे अपने प्रिय सखा की आन्तरिक इच्छा को अपूर्ण रखेंगे ? पंच पांडवों में एकमात्र अर्जुन के साथ श्रीकृष्ण का एक विशेष सखा-सम्बन्ध था। अर्जुन का अन्यतम नाम था—कृष्ण। युधिष्ठिर और भीम को कृष्ण प्रणाम करते थे। नकुल और सहदेव श्रीकृष्ण को प्रणाम करते थे। श्रीकृष्ण और अर्जुन आपस में आलिंगन किया करते थे। अर्जुन की स्पर्द्धा की मूल में था—प्रेम।

श्रीकृष्ण ने वादा किया कि वे अर्जुन के रथ का सारथी बनेंगे, इस कारण अर्जुन आनन्द में मग्न हो गये। व्यासदेव ने कहा है—"एवं प्रमुदितः पार्थः"। प्रमुदित माने प्रकृष्ट रूप में मुदित अर्थात् आनन्दित। यह आनन्द-समाचार राजा युधिष्ठिर को बताना होगा। "प्रमुदित पार्थ" चल पड़े युधिष्ठिर के समीप। अब उन्हें देर सहन नहीं हो रहा है। अर्जुन को चारों ओर से घेरे हुए हैं सात्यकि

---

[९] —महाभारत, उद्योग पर्व, सप्तम अध्याय ३७-३८।

[१०] —महाभारत, उद्योग पर्व, सप्तम अध्याय ३९-४०।

इत्यादि दाशार्ह वंश के श्रेष्ठ पुरुषगण। और अर्जुन के साथ हैं—पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण। वे कभी भक्तों का साथ नहीं छोड़ते।

अर्जुन सर्वप्रथम युद्ध में सहायता देने के लिए श्रीकृष्ण को चाहते थे। वे इसी बात पर कृतार्थ हो गये कि श्रीकृष्ण सारथी बनने का वचन दे चुके हैं। किन्तु युद्ध के पूर्व जिन्हें वरण कर अर्जुन अपने को धन्य समझते रहे, उसी नारायण के निकट अस्त्र-त्याग के समय उन्होंने कोई निवेदन नहीं किया। यही है—कश्मल का फल, जब कि श्री भगवान् साथ-साथ हैं जैसे द्वारका में, वैसे ही कुरुक्षेत्र में, वैसे ही सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा।

(११) मोक्ष, स्वर्ग और कीर्त्ति का प्रतिबन्धक वही—कश्मल

अर्जुन का यह कश्मल कितना गर्हित है, उसे स्पष्ट करने के लिए श्री भगवान् ने तीन विशेषणों का प्रयोग किया है—'अनार्यजुष्टं', 'अस्वर्ग्यं' तथा 'अकीर्त्तिकरं'। अर्जुन की मानसिक भूमिका में इन तीनों विशेषणों की विशेष सार्थकता है। अन्तर्यामी भगवान् अर्जुन के अवचेतन मन की छिपी बातों को जान गये थे। अर्जुन यह सोचते रहे कि वे एक महान् आदर्श का अनुसरण करने जा रहे हैं—स्वजन वर्ग के लिए मंगल कामना, सुख-साम्राज्य, विजय के प्रति वैराग्य दिखाना आदि। इस विश्वास पर प्रतिष्ठित होते हुए अर्जुन सगौरव बोले—"प्रतिकार रहित और निरस्त्र स्थिति में शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्रगण अगर युद्ध में मेरा वध करें तो इससे मेरा अधिक कल्याण होगा। मेरे लिए जीवन धारण की अपेक्षा मृत्यु ही प्रियतर है।"[११]

---

[११]—यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ गीता १।४६

Far betrer would it be for me if the sons of Dhritarastra, with weapons in hand, should slay me in battle, while I remain unresisitng and unarmed.

Arjuna's words are uttered in agony and love. He has his mind on the frontiers of two worlds. He is struggling to get something done as man has struggled from the beginning. and yet he is incapable of decision because of his inability to understand rather himself or his fellows or the real nature of the universe in which he is placed. He is stressing the physical pain and the material discomfort which war involves. The main end of life is not the pursuit of material happiness- We are bound to miss it as we approach the end of life, with its incidents of old age, infirmity, death. For the sake of an ideal, for justice and love, we must stand up to tyranny and face pain and death. On the very edge of the battle, Arjuna

सखा की भूमिका से श्रीकृष्ण ने सुनाया अर्जुन को अप्रिय सत्य और स्पष्ट रूप से समझाया कि उनमें भ्रान्ति कहाँ है? अर्जुन की युद्ध-विमुखता की मूल में था—मोह। किन्तु अर्जुन इस तथ्य से अपरिचित थे। मोह का धर्म है—जीव को अवचेतन रखना। जब तक ज्ञान का उन्मेष नहीं होता तब तक रहता है—मोह का अन्धकार। अज्ञानान्ध अर्जुन अपनी कापुरुषता को सुविन्यस्त युक्ति के माध्यम के द्वारा समर्थन करने का प्रयत्न करते रहे। वे बड़ी-बड़ी नीति-कथाओं का सहारा ले रहे थे।

श्री भगवान् ने उपरोक्त तीन विशेषणों के द्वारा अर्जुन की भ्रान्त धारणा की जड़ में आघात किया। इन विशेषणों का तात्पर्य है—"अर्जुन, युद्ध में पृष्ठ प्रदर्शन कर तुम किस लाभ की आशा करते हो? मोक्ष? स्वर्ग? यश? सब वृथा आशा हैं।

अनार्यजुष्टं माने आर्यजनोचित नहीं। आर्यों की चरम आकांक्षा है—मोक्ष। किन्तु अर्जुन का यह आचरण मोक्ष-लाभ के अनुकूल नहीं है। मुमुक्षु आर्य गण कभी भी स्वधर्म विमुखता को प्रश्रय नहीं देते। आर्यशास्त्र में इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि चित्त शुद्धि के बिना मोक्ष का अधिकारी नहीं बना जा सकता तथा चित्त शुद्धि का प्रशस्त उपाय है - स्वधर्म पालन करना। फलस्वरूप क्षात्रधर्मत्यागी अर्जुन के मोक्ष की आशा कहाँ है?

अर्जुन का जो आचरण है, उसमें उनके लिये स्वर्ग की आशा भी सुदूर पराहत है; क्योंकि स्वर्ग-लाभ का उपाय है-धर्माचरण। क्षत्रियों का धर्म है—दुष्टों का दमन और शिष्टों का पालन करना। प्रकृतिजात त्रिगुणानुसार ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के कर्त्तव्य, कर्म पृथक्-पृथक् रूप में विभक्त हैं। क्षत्रियों की प्रकृति में है—सत्त्व मिश्रित रजोगुण। उसके लक्षण हैं—पराक्रम, तेज, धृति, कर्मकुशलता, युद्ध में अपराङ्मुखता, दान में मुक्तहस्तता और शासन में क्षमता।[१२] अगर अर्जुन शास्त्र-वर्णित क्षात्र-धर्म से भ्रष्ट होते हैं तो कैसे वे स्वर्ग-लाभ कर सकेंगे?

---

loses heart and all worldly considerations persuade him to abstain from the battle. He has yet to realise that wives and children, teachers and kinsmen are dear not for their own sake but for the sake of the self. Arjuna has still to listen to the voice of the teacher who declares that he should lead a life in which his acts will not have their root in desire, that there is such a thing as निष्काम कर्म—desireless action.

[१२]—शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभवजम्॥ गीता १८।४३।

इस लोक में ही वे कैसे कीर्त्ति का दावा कर सकते हैं? अगर इस धर्मयुद्ध में वे नहीं लड़ते तो न केवल धर्म से हाथ धो बैठेंगे, अपरंच कीर्त्ति को भी खो देंगे। सभी लोग हमेशा उनकी अख्याति करते रहेंगे। कर्णादि महारथी यह कल्पना करेंगे कि अर्जुन भय के कारण युद्ध से विमुख हो गये। जो लोग अर्जुन का सम्मान करते हैं, उनकी दृष्टि में वे हेय बन जायँगे। दुर्योधन आदि अर्जुन के सामर्थ्य की निन्दा करते हुए अनेक निन्दाजनक बातें कहते फिरेंगे। यही वजह है कि श्रीकृष्ण ने इस कश्मल को कहा है—"अकीर्त्तिकरम्"।

इस कश्मल के कारण एक भयंकर विषमय फल हुआ—अर्जुन में स्मृति-विभ्रम। वे यह भूल गये थे कि कुरुक्षेत्र युद्ध को धर्मयुद्ध कहा है—स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने। वे अपनी इस प्रतिज्ञा को भूल गये कि "धृतराष्ट्र के पुत्रों का मैं संहार करूँगा।" वे भूल गये—श्रीकृष्ण की वह सत्य प्रतिज्ञा जिसे द्रोपदी के निकट किया गया था—"द्रोपदी, अश्रु संवरण करो। थोड़े ही दिनों के भीतर तुम देखोगी कि तुम्हारे पंचपतियों के शत्रु निहत हो गये हैं और वे पुनः राज्य प्राप्त कर चुके हैं।" इस विषय पर आगे विवेचना की जायगी।

(१२) धर्मयुद्ध के आयोजन की मूल में श्रीकृष्ण

मोहग्रस्त अर्जुन गीता के प्रथम अध्याय में "निःसंशये" इस सिद्धान्त में पहुँचे थे कि स्वजन के वध में श्रेय नहीं, सुख नहीं, बल्कि है पाप। किन्तु श्रीकृष्ण गीता में बार-बार अर्जुन को कहते रहे —"युद्ध करो--युद्ध करो।"

महाभारत युग में एक सर्वग्रासी युद्ध की आवश्यकता थी। दुर्योधन के दोर्दण्ड प्रताप के कारण संसार कम्पायमान था। पाण्डवों के प्रति उनका आचरण अन्यायपूर्ण था। उनकी दुष्कृति क्षमा-हीन थी। इस अन्याय के विरुद्ध प्रतिवाद की आवश्यकता थी; किन्तु भीष्म और द्रोण जैसे महानुभाव व्यक्ति भी मूक रहे। पाण्डवों के प्रति दुर्योधन के अत्याचारों का प्रतिकार करने की आवश्यकता थी, किन्तु उन दिनों पाण्डवगण राज्यच्युत थे। उनके पास न तो लोकबल था और न अर्थबल। दुर्योधन के अन्याय के विरुद्ध प्रतिवाद तथा पाण्डवों के कष्टों का प्रतिकार करने के लिए श्रीकृष्ण स्वयं अग्रणी बने।

अक्ष क्रीड़ा में शकुनि के निकट पराजय प्राप्त करने के पश्चात् पाण्डवगण बारहवर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास काल समाप्त कर चुके थे। अर्जुन के

Heroism, vigour, steadiness; resourcefulness; not fleeing even in a battle; generosity and leadership; theses are the duties of a Kshatriya born of his nature.

सुपुत्र अभिमन्यु का शुभ विवाह अनुष्ठित हो रहा था। विवाह के दूसरे दिन प्रातः-काल पंचपाण्डव हृष्टचित्त से विराट् राजा की राजसभा में आये। वहाँ उपस्थित थे विशिष्ट-विशिष्ट राजन्यवर्ग, विराट्, द्रुपद, वसुदेव, बलराम, श्रीकृष्ण, सात्यकि आदि। द्रुपद राजा के पुत्रगण, पंचपाण्डव, प्रद्युम्न, शाम्ब, अभिमन्यु, विराट् के सभी पुत्र यथास्थान बैठे हुए थे।

इस शुभ उत्सव के आनन्द में भी सभी के मन में एक संशय था, एक दुश्चिन्ता थी, एक दबा हुआ आतंक था--वह यह कि दुर्मति दुर्योधन अब क्या करने वाला है। सभा में सर्वप्रथम बोले श्रीकृष्ण--पाण्डवों के कार्य में सभी को उद्बोधित करने के लिए।

श्रीकृष्ण ने उपस्थित राजन्यमण्डली से कहा- "आप लोग यह जानते हैं कि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने छल करके पाण्डवों का पैतृक राज्य हरण कर लिया है और पाण्डवों का दल असह्य कष्ट भोग रहा है। राज्यहरण-अभिलाषी, असत्प्रकृति और उग्र स्वभाव वाले कौरवगण बाल्यकाल से ही पाण्डवों को मार डालने के लिए विभिन्न प्रकार के कौशल करते आये हैं, इन घटनाओं से भी आप अपरिचित नहीं हैं। अगर पाण्डव चाहते तो अपने बाहुबल से पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर सकते थे; किन्तु ये लोग सत्यनिरत हैं, इसीलिए लगातार तेरह वर्ष तक नियमानुसार वनवास और अज्ञातवास का आचरण करते रहे। अब यदि दुर्योधन पाण्डवों का न्यायप्राप्य पैतृक राज्य वापस देने को तैयार नहीं हुए तो पाण्डवों को क्या करना उचित है ? ऐसी स्थिति में पाण्डवगण समवेत धृतराष्ट्र के पुत्रों का संहार करेंगे-- 'हन्युः समेतान् धृतराष्ट्रपुत्रान्'। और यदि दुर्योधन के मित्रगण उसे इस प्रतारणा से निवृत्त न कर सके तथा वे लोग भी युद्ध में पाण्डवों को कष्ट पहुँचाना चाहें तो पाण्डवगण उन कौरव-बन्धुओं का संहार करेंगे।[१३]

धर्म युद्ध में सभास्थ राजाओं के लिए क्या-क्या करणीय है, इसे भी कहना श्रीकृष्ण नहीं भूले। उन्होंने कहा—"पाण्डवगण संख्या में अल्प हैं, इसलिए दुर्योधन से युद्ध करने पर ये विजयी नहीं बन सकेंगे, यदि यह आशङ्का आप लोगों में हो तो आप सभी सुहृदों का कर्त्तव्य है कि सब लोग आपस में मिलकर कौरवों का विनाश करने का प्रयत्न करें—"समेत्य सर्वे सहिताः सुहृद्भिस्तेषां विनाशाय यतेयुरेव।[१४]

श्रीकृष्ण के इस आह्वान करने के कारण "तैयार हैं—तैयार हैं" की आवाजें आयीं, युद्ध की प्रस्तुति के लिए। महावीर सात्यकि ने उस भारी सभा में घोषणा

---

[१३] – महाभारत, उद्योगपर्व, प्रथम अध्याय ९-२१।

[१४]—महाभारत, उद्योग पर्व, प्रथम अध्याय, २२।

की "मैं युद्ध में बलपूर्वक निशित बाण द्वारा कौरवगण को आयत्त करते हुए महात्मा युधिष्ठिर के चरण युगल में निपतित करूँगा। शकुनि, कर्ण और धृतराष्ट्र के पुत्रों को युद्ध में निहत करने के बाद युधिष्ठिर का राज्याभिषेक करूँगा।"[१५]

श्रीकृष्ण के उपदेशानुसार निश्चय किया गया कि द्रुपदराज दूत बनकर दुर्योधन के समीप जाकर युधिष्ठिर को आधा राज्य देने का प्रस्ताव रखेंगे।

इसी सभा में द्रुपद ने कहा कि भारत में हमारे जितने मित्र राजा हैं, इस बीच उनके यहाँ दूत भेजना आवश्यक है। दूतों के माध्यम से यह कहलवा दिया जाय कि आप लोग हमारे लिए सेना देने की तैयारी करें। तुरत एक सूची इस आशय की तैयार की गयी कि किन-किन राज्यों के राजाओं से सहायता माँगी जाय। उपसंहार में श्रीकृष्ण ने "अमिततेज पाण्डव राज के कार्य सिद्धिजनक" व्यवस्था का अनुमोदन किया।

विदा लेते समय श्रीकृष्ण ने कहा—"हम लोग यहाँ विवाह के उत्सव में आनन्द मनाने के लिए एकत्रित हुए हैं। विवाह-कार्य समाप्त हो गया है। अब हम आनन्द चित्त से अपने-अपने घर वापस जायँगे।[१६] इस उत्सव के आनन्द में पाण्डवों के भविष्य के बारे में जो उद्वेग और आशङ्का का प्रश्न था, श्रीकृष्ण के आनन्द चित्त हो जाने के कारण यह स्पष्ट हो गया कि पाण्डवों का भविष्य आनन्दोज्ज्वल है।

श्रीकृष्ण द्वारका चले गये। उन्होंने युद्ध की तैयारी के लिए जिसका सूत्रपात किया था, उसका स्पन्दन समग्र भारतवर्ष में फैल गया। उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम में धर्मयुद्ध का उन्माद, प्रतिध्वनित होने लगा। बड़े-बड़े महावीर राजन्य वर्ग उद्ग्रीव हो उठे पाण्डवों को सहायता देने के लिए।

(१३) पाण्डवों के पक्ष का श्रीकृष्ण द्वारा समर्थन

अर्जुन ने वरण किया था अयोध श्रीकृष्ण का। हाथ में अस्त्र न उठाने पर भी पाण्डवों को श्रीकृष्ण के बल-बुद्धि का भरोसा था, न केवल युद्ध-क्षेत्र में, बल्कि समग्र जीवन-क्षेत्र में। कौरवों के विरुद्ध पाण्डवों के इस संग्राम में श्रीकृष्ण का पूर्ण समर्थन था। स्वजनों का वध करने का अनुमोदन उन्होंने स्पष्ट शब्दों में किया था।

द्यूत क्रीड़ा में पराजित होकर पाण्डवगण वनवासी हुए। काम्यक वन में निवास कर रहे हैं। यहाँ भोज वृष्णी, अन्धक ंशीय राजाओं का दल, चेदिराज

---

[१५] महाभारत उद्योग पर्व, तृतीय अध्याय, १२–१३, २०।

[१६] महाभारत उद्योग पर्व, पञ्चम अध्याय—४।

धृष्टकेतु, द्रुपद पुत्रगण आकर पाण्डवों से पूछ रहे हैं—“हम लोग क्या कर सकते हैं ?”

श्रीकृष्ण भी वहाँ उपस्थित थे। विषण्ण भाव से उन्होंने कहा—“समर-भूमि की तृष्णा मिटेगी रक्तपान करने पर; दुरात्मा दुर्योधन, कर्ण, शकुनि और दुःशासन का रक्त। हम सब मिलकर उन्हें युद्ध में मारेंगे, पराजित करेंगे उनके अनुचरों को और धृतराष्ट्र को। इसके बाद युधिष्ठिर का राज्याभिषेक किया जायगा। क्योंकि जो व्यक्ति शठता पूर्वक अनिष्ट करता है वह वध के योग्य है, यही है सनातन धर्म।”[१७]

इसी अधिवेशन में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था—“अर्जुन, तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूँ। जो तुमसे विद्वेष करता है, वह मुझसे भी विद्वेष करता है; जो तुम्हारा अनुगत है, वह मेरा अनुगत है। महावीर, तुम थे नर, मैं था—दुःखहर्त्ता नारायण; वही नरनारायण ऋषि हैं हम, जो मर्त्यलोक में आये हैं। अर्जुन, तुम मुझसे भिन्न नहीं हो और न मैं तुमसे। हे भरत श्रेष्ठ, हम लोगों का भेद जाना नहीं जा सकता।[१८]

पाण्डवों द्वारा सेनापति निर्वाचन के मामले में श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा था—“महाराज, आप अच्छी तरह सैन्य योजना करें। मेरे विचार से वध के बिना धृतराष्ट्र कब्जे में नहीं आयेगा। अर्जुन, क्रुद्ध भीमसेन, यम के तुल्य नकुल और सहदेव, सात्यकि, कोपन स्वभाव वाले धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, द्रौपदी के पञ्चपुत्र, द्रुपद तथा भयङ्कर विक्रमशाली अक्षौहिणीपति अन्यान्य राजाओं को देखकर धार्त्तराष्ट्रगण युद्ध में टिक नहीं सकेंगे। इसके बाद शक्तिशाली, दुर्द्धर्ष और दुर्मुह हमारे सैनिक धार्त्तराष्ट्रों के सैन्यों का संहार करेंगे—मुझे इस विषय में किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। चाहे जो हो, अरिन्दम राजा, मैं धृष्टद्युम्न को ही सेनापति मनोनीत करता हूँ।”[१९]

कुरुक्षेत्र युद्ध के पूर्वाह्न में दुर्योधन-दूत उलूक को श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा था, उससे स्पष्ट हो जाता है कि धर्मयुद्ध में श्रीकृष्ण ने स्वेच्छा से पाण्डवों के पक्ष का सम्पूर्ण भार स्वीकार किया था।

श्रीकृष्ण उलूक की जबानी दुर्योधन के समीप संदेश भेजते हुए कहलवाया था—“दुर्मति, तुम कल युद्ध के मैदान में आना और पुरुष बनो। मूर्ख, तुम यह

१७—महाभारत, वनपर्व, एकादश अध्याय ’–७।

१८—महाभारत, वनपर्व, एकादश अध्याय, ४५–४७।

१९—महाभारत उद्योगपर्व, एकचत्वारिंशदधिक शततम अध्याय, ४०-४९।

सोचते हो कि श्रीकृष्ण सिर्फ अर्जुन के सारथी हैं, वे युद्ध नहीं करेंगे। संभवतः इसीलिये तुम मुझसे डर नहीं रहे हो, किन्तु याद रखो कि अन्त तक स्थिति कुछ और ही हो सकती है। जिस तरह अग्नि तृण को दग्ध कर देता है, उसी तरह मैं भी सभी राजाओं को दग्ध कर सकता हूँ। किन्तु मैं युधिष्ठिर के आदेश से युद्ध के समय महात्मा अर्जुन का सारथी बनकर आऊँगा। अतएव तुम अगर त्रिभुवन का अतिक्रम कर सको या भूगर्भ में प्रवेश करो तो कल प्रातः उन्हीं-उन्हीं स्थानों में अर्जुन का रथ देख पाओगे। अगर तुम यह सोचते हो कि भीम का वाक्य व्यर्थ होगा, तो ऐसा नहीं होने का। तुम आज ही निश्चय कर लो कि दुःशासन का रक्तपान हो चुका है।"२०

अर्जुन यह जानते थे कि श्रीकृष्ण का शरणापन्न होने पर विघ्न विनाश होता है और अभीष्ट पूर्ण होता है। धृतराष्ट्र के दूत संजय को अर्जुन ने कहा था—"पूर्वाह्न में जब मैंने सन्ध्या वन्दन समाप्त किया तब एक ब्राह्मण ने मुझे यह मधुर बातें बतायीं—पृथानन्दन अर्जुन, तुम्हें कुछ दुष्कर कार्य करने पड़ेंगें, शत्रुओं के साथ तुम्हें युद्ध करना पड़ेगा। शत्रु-संहार करने में तुम्हें सहायता देने के लिये आयेंगे वज्रपाणि इन्द्र और वासुदेव कृष्ण आयेंगे तुम्हारी पृष्ठदेश रक्षा करने। तुम किसे चाहते हो?

उस वक्त मैंने वज्रपाणि इन्द्र को त्यागकर युद्ध में कृष्ण का ही वरण किया था। दस्यु वध के लिये उसी कृष्ण को मैंने प्राप्त कर लिया है। कृष्ण युद्ध न करते हुए भी मन ही मन जिसके जय की कामना करते हैं, वह देवताओं पर भी विजय प्राप्त कर सकता है, मानव की बात छोड़िये।"२१

(१४) नर अर्जुन और नारायण श्रीकृष्ण

एक दिन कुरु-सभा में पितामह भीष्मदेव ने दुर्योधन को सावधान करते हुए कहा कि जिस पक्ष में अर्जुन और श्रीकृष्ण मिल गये हैं, वह पक्ष अजेय है। इस सम्बन्ध में उन्होंने कृष्ण तथा अर्जुन के परिचय की बातें बतायीं। भीष्म ने कहा—"एकदा देवगुरु बृहस्पति, दानवगुरु शुक्राचार्य, देवराज इन्द्र, अग्नि एवं अन्य अनेक देवगण तथा वसुगण, आदित्यगण, साध्यगण, गगनचारी सप्तर्षिगण आदि सभी लोग विश्व नियन्ता ब्रह्मा को घेर कर बैठे थे। ठीक इसी समय देखा गया कि नर और नारायण ऋषि बगल से चले गये। उन लोगों ने ब्रह्मा को नमस्कार तक नहीं किया। इसके बाद बृहस्पति ने ब्रह्मा से पूछा—'ये लोग कौन

२०—महाभारत, उद्योग पर्व, एकपंचासदधिक शततम अध्याय, ५८–६१।

२१—महाभारत, उद्योगपर्व, अष्ठचत्वारिंश अध्याय, ६७–७०।

थे ?' ब्रह्मा ने कहा—'तेज के प्रभाव से उज्ज्वल, कान्ति के गुण से स्पृहणीय, महाबलशाली ये दोनों तपस्वी भूतल और आकाशतल आलोकित करते हुए, हम लोगों को अतिक्रम कर चले गये, यही हैं नर और नारायण ऋषि। अपनी-अपनी तपस्या तेज से तपस्वी हो गये हैं। असाधारण बुद्धिमान और महापराक्रमशाली ऋषिद्वय मर्त्यलोक से ब्रह्मलोक आये हुए हैं।'

इसके बाद भीष्म ने दुर्योधन से कहा—"हम लोग यह सुन चुके हैं कि वे ही प्राचीन देवता नर और नारायण महावीर और श्रीकृष्ण के रूप में संयुक्त हुए हैं। कृष्ण ही वही नारायण हैं और अर्जुन ही वही नर हैं। इन लोगों ने एक शरीर को दो भागों में विभक्त कर लिया है—'नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधाकृतम्'। ये तपस्या की तेज से अक्षय ध्रुवलोक को व्याप्त करते हैं तथा जहाँ युद्ध होता है, वहीं बार-बार जन्म ग्रहण करते हैं। दुष्टों का दमन और शिष्टों का पालन करते हैं, यह बात नारद जी का कहना है।"२२

उपसंहार में भीष्म ने कहा—"वत्स दुर्योधन, तुम जब यह देखोगे कि कृष्ण शंख, चक्र, गदा धारण कर चुके हैं, भीमधन्वा अर्जुन अनवरत अस्त्र ग्रहण कर रहे हैं और वे दोनों सनातन महात्मा एक रथ पर उपस्थित हैं तब मेरी इन बातों को स्मरण करोगे। धर्म और अर्थ से तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। अगर तुम मेरी बातें स्वीकार नहीं करोगे तो अनेक व्यक्ति निहत हो जायँगे।"

भीष्म की बातों का दुर्योधन ने विशेष महत्त्व नहीं दिया। श्री भगवान् स्वयं सन्धि के उद्देश्य से दूत बनकर दुर्योधन के समीप गये। उनका उद्देश्य व्यर्थ हो गया। व्यर्थ होगा, यह बात वे पहले से ही जानते थे, फिर भी वे सन्धि के लिए प्रयत्न करते रहे। इसी प्रयत्न के कारण ही उन्होंने विदुर से कहा था—"समग्र पृथ्वी विनष्ट होने जा रही है। ऐसी स्थिति में जो व्यक्ति इस पृथ्वी को मृत्यु के बन्धन से मुक्त कर सकेगा, वह असाधारण धर्म प्राप्त करेगा। मनुष्य अगर अपनी शक्ति के अनुसार धर्म-कार्य करने की चेष्टा में सफलता प्राप्त नहीं करता तब भी उसे पुण्य प्राप्त होता है।"२३

सर्वनाशा युद्ध अनिवार्य था। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में उसी युद्ध का सूत्रपात हुआ। माधव तथा पाण्डवों ने पहले शंखध्वनि की—पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।" नारायण ने शंख बजाया, सारथ्य किया, प्रेरणा दी, किन्तु स्वयं युद्ध

२२—महाभारत, उद्योग पर्व उनपंचाशत्तम अध्याय, १–२५, उनविंशनवतितम अध्याय १०–४।

२३—महाभारत, उद्योग पर्व, षड़शीतितम अध्याय, ६-७।

नहीं किया। नारायण के लिए स्वर्ग-मर्त्य आदि तीन लोकों में कोई कर्त्तव्य-कर्म नहीं है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे वे प्राप्त न कर चुके हों अथवा उसे प्राप्त करने के लिए उन्हें कोई कर्त्तव्य करना पड़ेगा, फिर भी वे लोक-कल्याण के लिए सर्वदा कर्म करते जा रहे हैं। अगर वे अनलस बन शुभकर्म की ओर प्रवृत्त न होते तो मानव भी उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करता।[२४]

नर अर्जुन युद्ध करने का संकल्प लेकर युद्ध के मैदान में अवतीर्ण हुए थे। युधिष्ठिर से इसके पूर्व वे कह चुके थे—"मैं सत्य कह रहा हूँ कि कृष्ण को सहायक के रूप में लेकर मैं एकाकी देवताओं के साथ स्थावर, जंगसात्मक त्रिभुवन एवं भूत-भविष्य और वर्तमान समस्त वस्तुओं का निमेष काल में संहार कर सकता हूँ।"[२५]

मोह के कारण अर्जुन का यह आत्मविश्वास सामयिक रूप से अवलुप्त हो गया था। नारायण ने गुरु की भूमिका से नर के उस मोह को दूर कर दिया था। इसके बाद नर अर्जुन ने युद्ध करना आरंभ किया। वे वीर श्रेष्ठ थे। अजेय भीष्म, जयद्रथ और कर्ण का नर अर्जुन ने संहार किया; किन्तु नारायण इसके पूर्व कह चुके हैं कि यह संहार-कार्य अर्जुन की प्रतीक्षा नहीं करेगा। संहार मूर्त्ति धारण कर स्वयं महाकाल आ गये हैं। अर्जुन के युद्ध न करने पर भी विपक्ष में जितने वीर हैं, उनमें कोई भी जीवित नहीं रहेगा। भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथ तथा अन्य वीरों को वे पहले ही से निहत कर चुके हैं, सव्यसाची का कार्य है—उन मृतों का वध करना। सव्यसाची निमित्त मात्र हैं।[२६]

---

[२४] न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

[२५] महाभारत, उद्योग पर्व, चतुरशीत्यधिकशततम अध्याय, १०-११

There is not for me, O Partha; any work in the three worlds which has to be done nor anything to be obtained which has not been obtained. Yet I am engaged in work. For, if even I did not engage in work unwearied, O Partha, men in every way follow my path.

[२६] कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥

कुरुक्षेत्र के समरांगण में कौरव-पाण्डव के विरोध के उपलक्ष्य में नर-नारायण की जो लीला है, वह मानव जीवन के क्षेत्र में, शत-सहस्र संघर्ष को केन्द्र बनाकर, उस लीला की पुनरावृत्ति प्रत्येक युग में और पल-पल में हो रही है। यह चिरंतनी लीला कभी व्यक्तिगत जीवन के सीमित सुख-दुःख में तो कभी हँसी-रोदन में, कभी जय-पराजय में तो कभी विश्वव्यापी संग्राम में फैल जाती है और कभी विश्व शान्ति साधन के कल्याणमय अनुष्ठान में होती रहती है। लीला प्रवाहित होती है अखण्ड धाराओं में और लीलामय आड़ में रहकर मुस्कराते रहते हैं।

[क्रमशः]

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते विहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युद्धस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

Time am I, world-destroying, grown mature, engaged here in subduing the world. Even without thee (thy action), all the warriors standing arrayed in the opposing armies shall cease to be. Therefore arise thou and gain glory. Conquering thy foes, enjoy a prosperous kingdom. By Me alone are they slain already. Be thou merely the occasion, O Sabyasachin. Slay Drona, Bhishma, Jayadratha, Karna and other great warriors as well, who are already doomed by Me. Be not afraid. Fight, thou shall conquer the enemies in battle.

* श्री श्री माँ आनन्दमयी *

श्री श्री माँ के जीवन का धारावाहिक इतिहास जो इधर निरन्तर प्रकाशित हो रहा था, विभिन्न कारणों से उनका प्रकाशन बन्द रहा। अब श्री श्री माँ के चरणों के आशीर्वाद से चार भाग हिन्दी में प्रकाशित हो गया।

• सुन्दर गेटअप • आकर्षक छपाई • ४० पौण्ड ग्लेज कागज

इसके अलावा प्रत्येक भाग में श्री श्री माँ के दो
नयनाभिराम चित्र

प्रत्येक भाग का मूल्य तीन रुपया मात्र

अष्टम भाग

•

• वैद्यनाथ; इलाहाबाद; विन्ध्याचल, बड़ोदा; दिल्ली; काशी आदि स्थानों की भ्रमण लीलाएँ—

• चान्दोद-व्यास में अज्ञातवास

• भोलानाथ जी के साथ जीवन यापन तथा दीदी माँ का संन्यास ग्रहण करना आदि।

पृष्ठ संख्या—२०८

नवम भाग

•

• श्री श्री माँ के जन्म-स्थान खेओड़ा, ननिहाल सुलतानपुर की यात्रा—

• विन्ध्याचल में यज्ञ; बैजनाथ में ताराचन्दजी के यहाँ मूर्त्ति स्थापित करना।

• सूक्ष्म में अनेक लोगों पर कृपा करना आदि।

पृष्ठ संख्या—२५०

दशम भाग

• श्री श्री माँ के दिव्य जीवन की अनेक स्मरणीय घटनाएँ—

• सूक्ष्म में अनेक अलौकिक दर्शनादि का वर्णन

• जन्म की अप्रकाशित अनेक निगूढ़ बातें;

• जमनालाल जी; महात्माजी; राजेन्द्र बाबू, विनोवा भावे से मुलाकातें इस भाग की विशेष घटनाएँ हैं।

पृष्ठ संख्या—२७२

एकादश भाग

• श्री श्री माँ का मौन धारण, अलमोड़ा क्षेत्र के जटाजूट धारी महात्माओं का सूक्ष्म में आगमन—

• उदयशङ्कर, यशोदा माता और पन्नालालजी से मुलाकात—

• शारदापीठ के शङ्कराचार्य को अन्तिम-काल में दर्शन देना—

• स्वामी अखण्डानन्द का तिरोधान

पृष्ठ संख्या—२२७

प्राप्ति स्थान

श्री श्री आनन्दमयी संघ

भदैनी—वाराणसी—१

GRAPHIC PICTURES

of some

Holy places connected with the Life

of

Sri Sri Ma Anandamayee

at

TARAPITH

—By courtesy of Sri M. K. Thacker
Dhanbad

TARAPITH

Tarapith, a tiny village in West Bengal, situated at a distance of about 230 Km. from Calcutta, has been acclaimed from the olden times as the foremost place for *Shakti-sadhana.* Thousands of devout men and women visit the famous temple of Tarā Ma every year and are immensely benefited by the powerful spiritual vibration which pervades the whole area.

It was this holy place where Mataji came for the first time after leaving Dacca by the end of 1929. Sri Bholanath, who was advised by Mataji to proceed to Tarapith all on a sudden, practised *sadhana* in Tara Mā's temple and attained the state of a *Siddha.* Mataji also arrived a few days after and stayed in the old Shiva temple for some time. The account of her stay in Tarapith is still fresh in the minds of many old villagers, who are still alive. It is learnt that Mataji used to wander about all alone in the country side throughout the day. Village women, who had already been much attracted by her personality, used to feed Mataji with great loving care. She was looked upon by the village folk as the *Bhagwati Mã* (Divine Mother).

Mataji and Bholanath visited Tarapith almost every year till February, 1936 and stayed there for varying periods. Many simple village people, particularly late Jatin Panda and his whole family, honoured them both and looked after their physical comforts. Many a supernatural incident and interesting anecdote relating to Mataji, Bholanath and Bhaiji is even this day remembered by the local people.

It was in the precincts of the famous Tara Ma's temple that the *Upanayana* (sacred thread ceremony) of Didi Gurupriya and Marani, Bholanath's adopted daughter, was held in February, 1936. The simple marriage celebration of Marani was also performed here under Mataji's instructions.

Several years after through the ardent zeal of late Jatin Panda and a few other devotees of Mataji a plot of land was acquired in front of the Tara Ma's temple and a Shiva Mandir was constructed. Lately a small Ashram has also been established there through the untiring efforts of a number of Mataji's devotees.

* * *

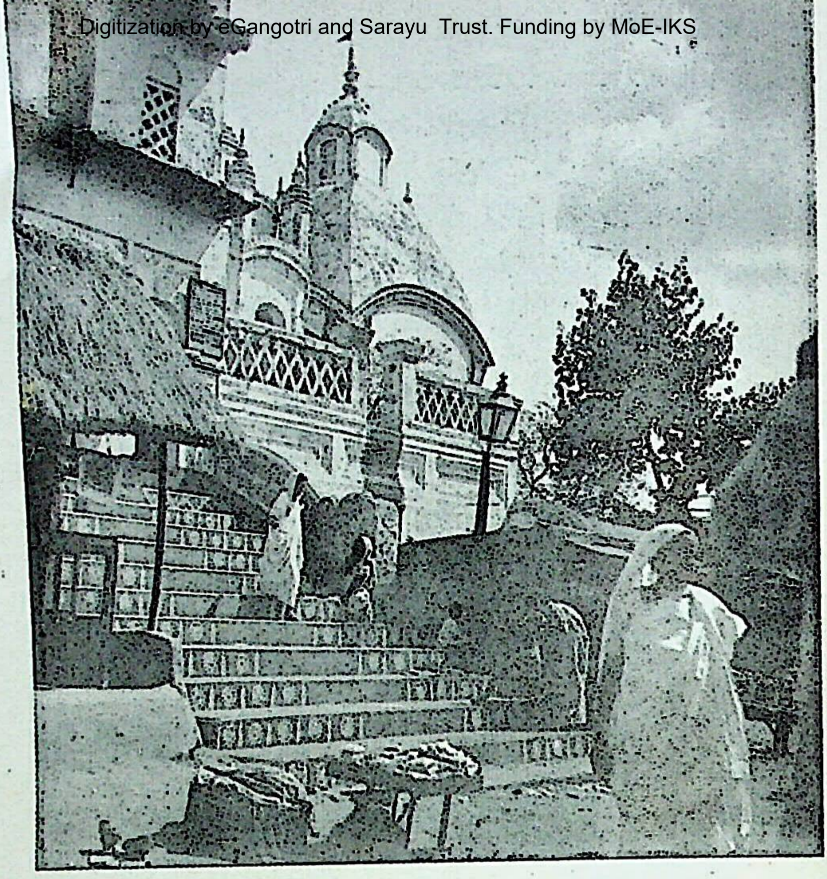

Footsteps leading to the famous temple of Shri Tara Ma

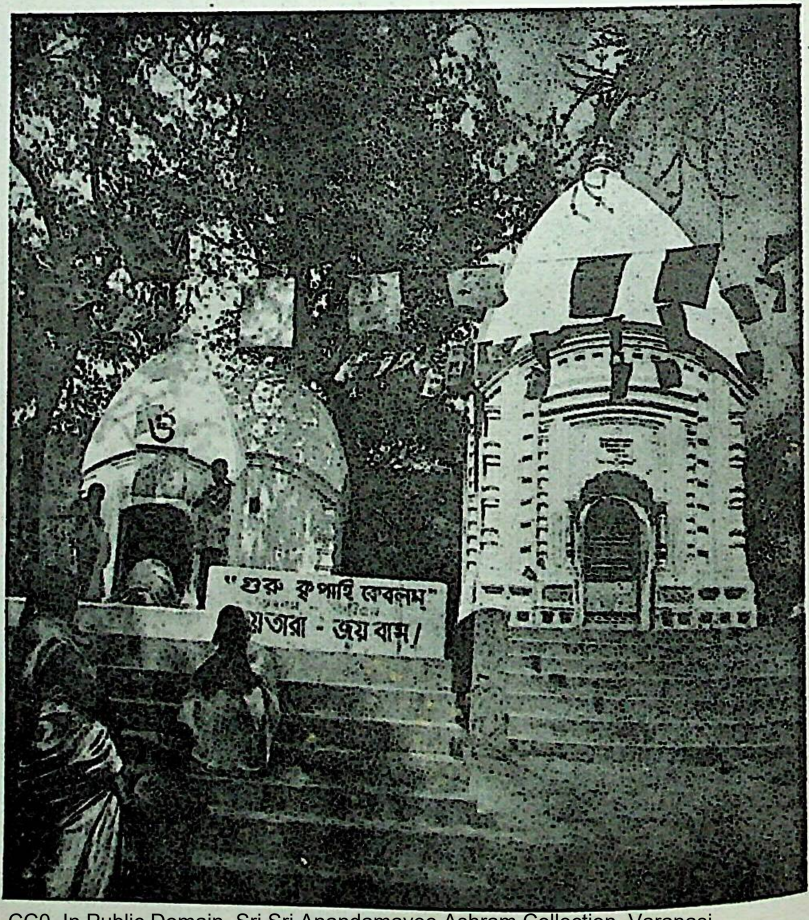
"গুরু কৃপাহি কেবলম্"
য়তারা - জয় বাম/

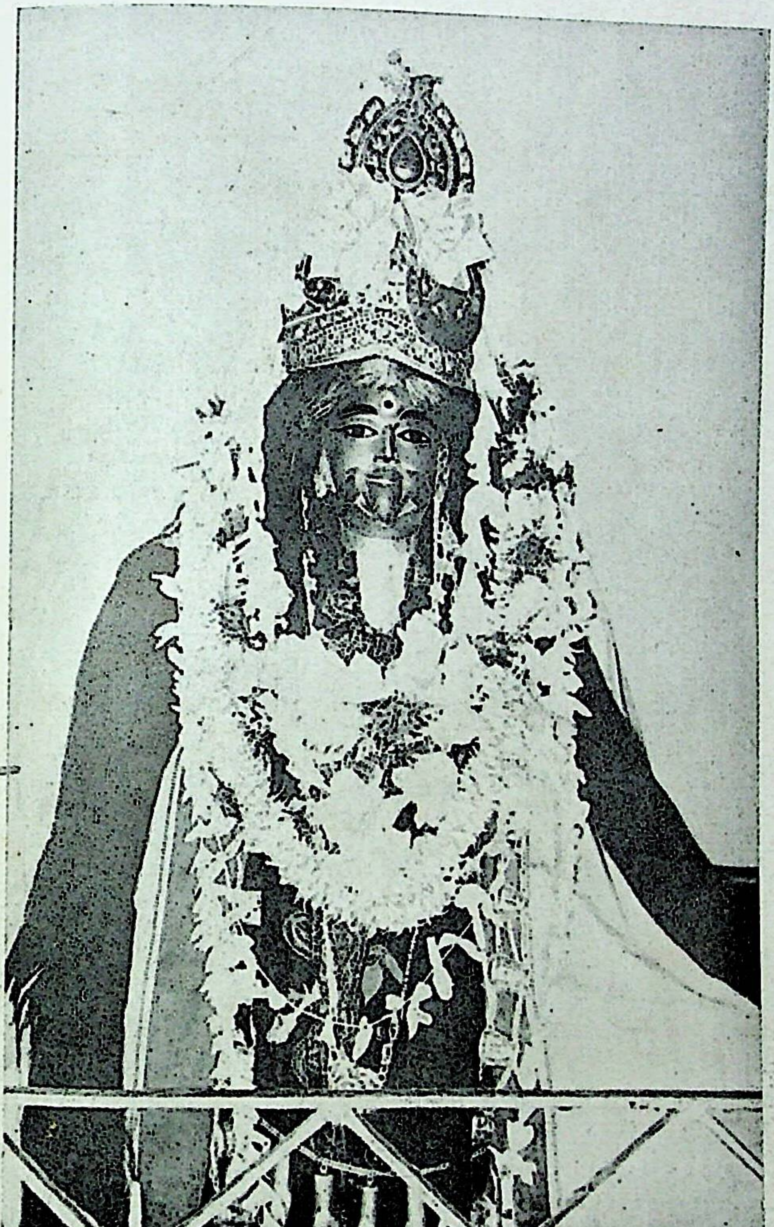

The attractive image of goddess Ma Tara

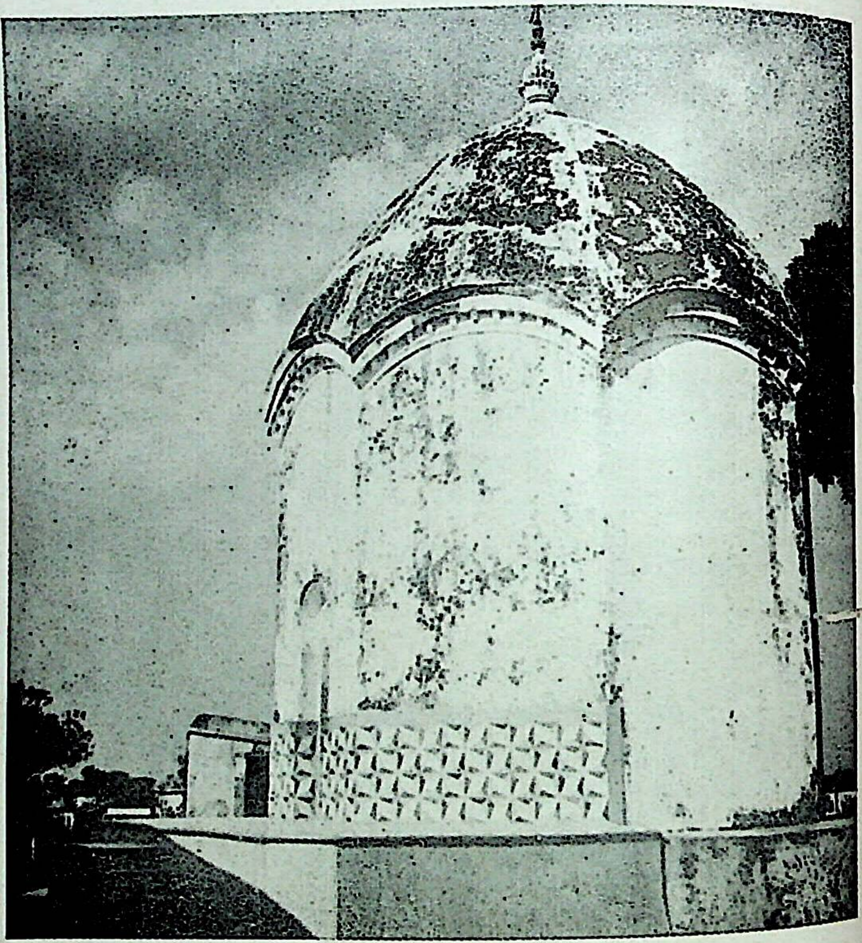

The old Shiva temple inside Tara Ma's compound where Mataji and Bholanath used to stay.

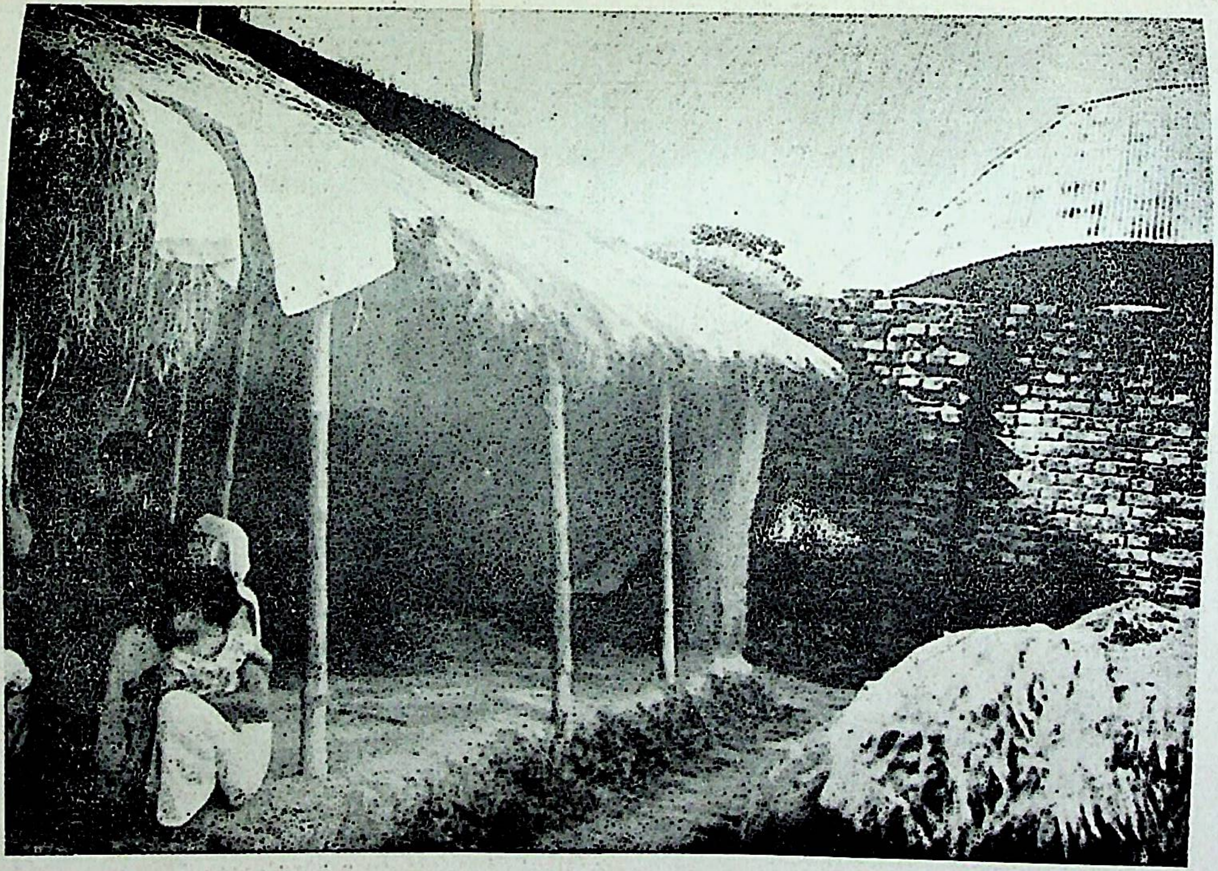

The verandah of late Jatin Panda's house where Mataji used to come and sit frequently

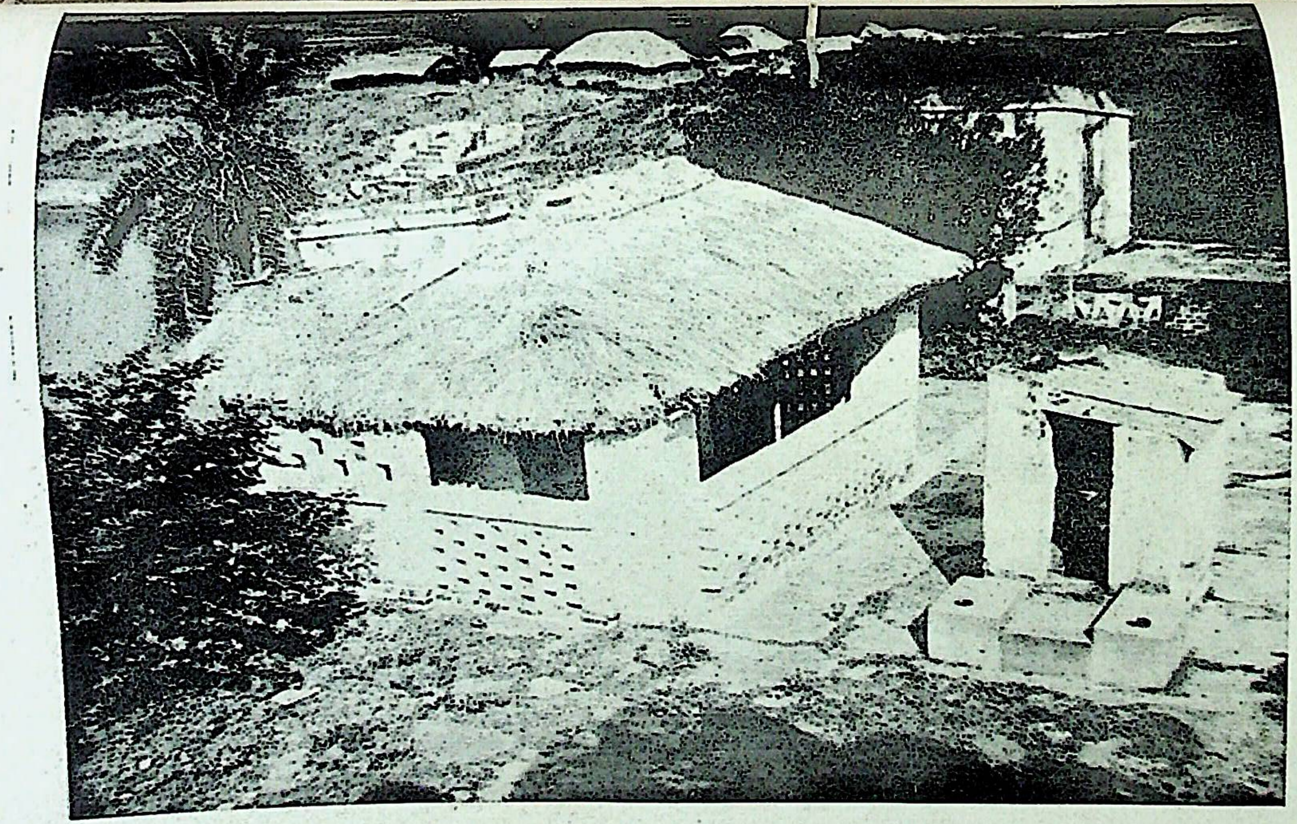

*The small hut in the temple compound where Mataji stayed on several occasions.
The tiny Yajña-Shala is seen on the right*

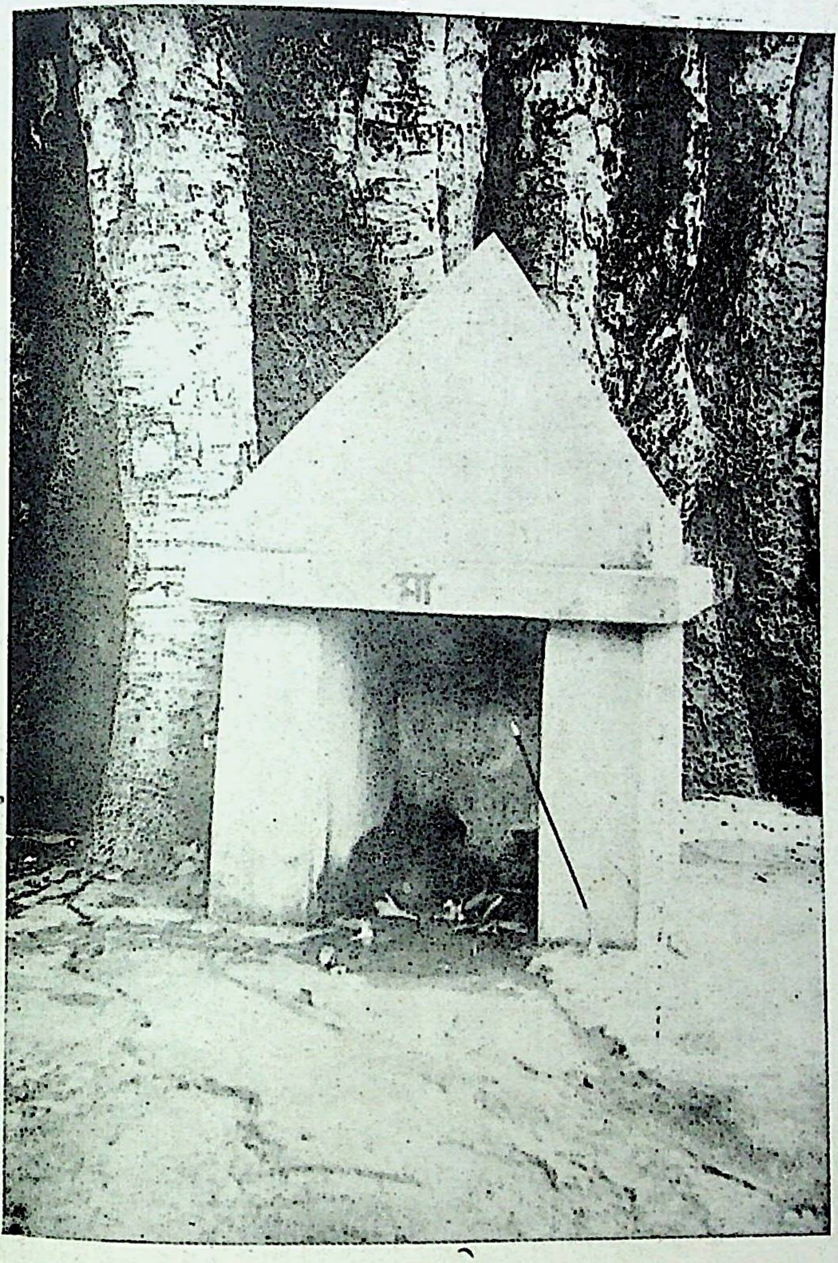

Small temple under the age-old banyan tree inside which is enshrined the footprints of Mataji

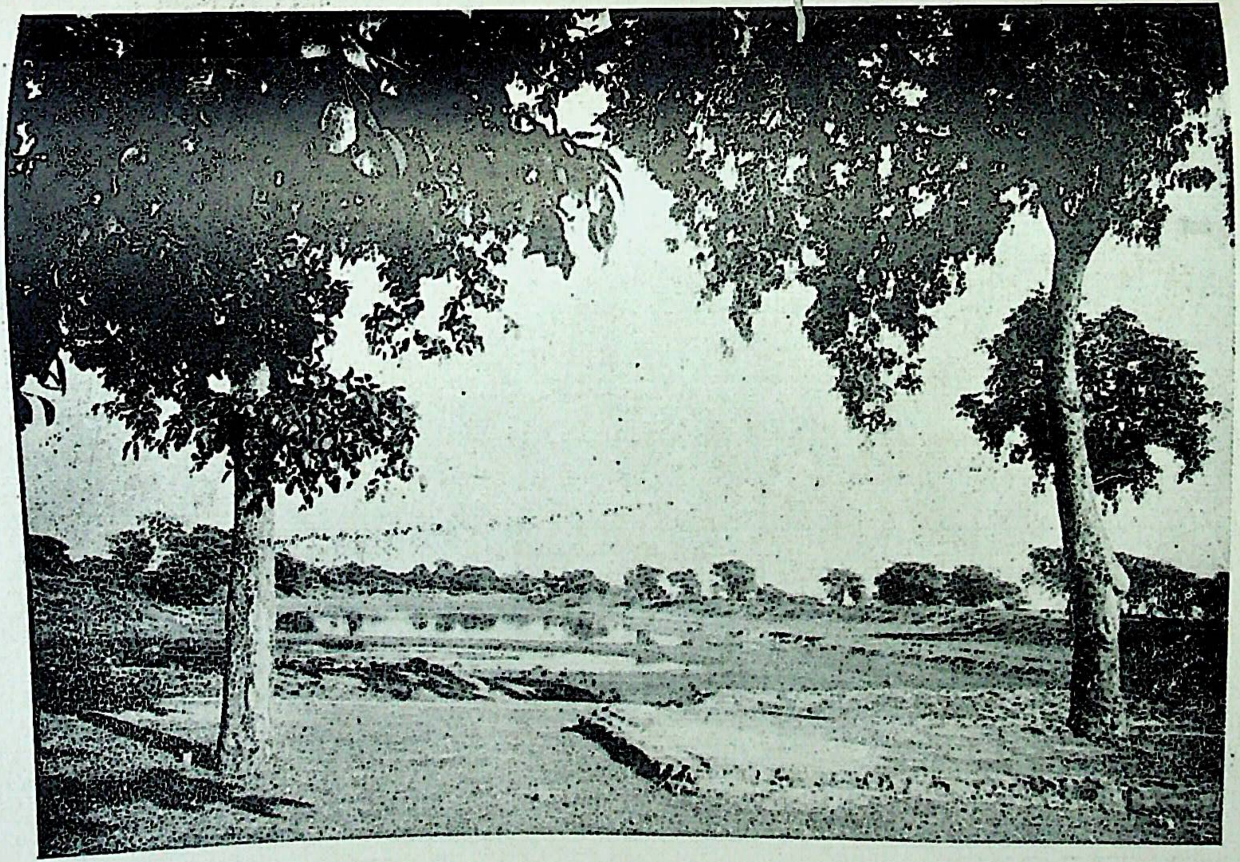

Mataji used to visit the banks of this pond almost daily. There was a temple and a HOMA-KUND which are now in ruins.

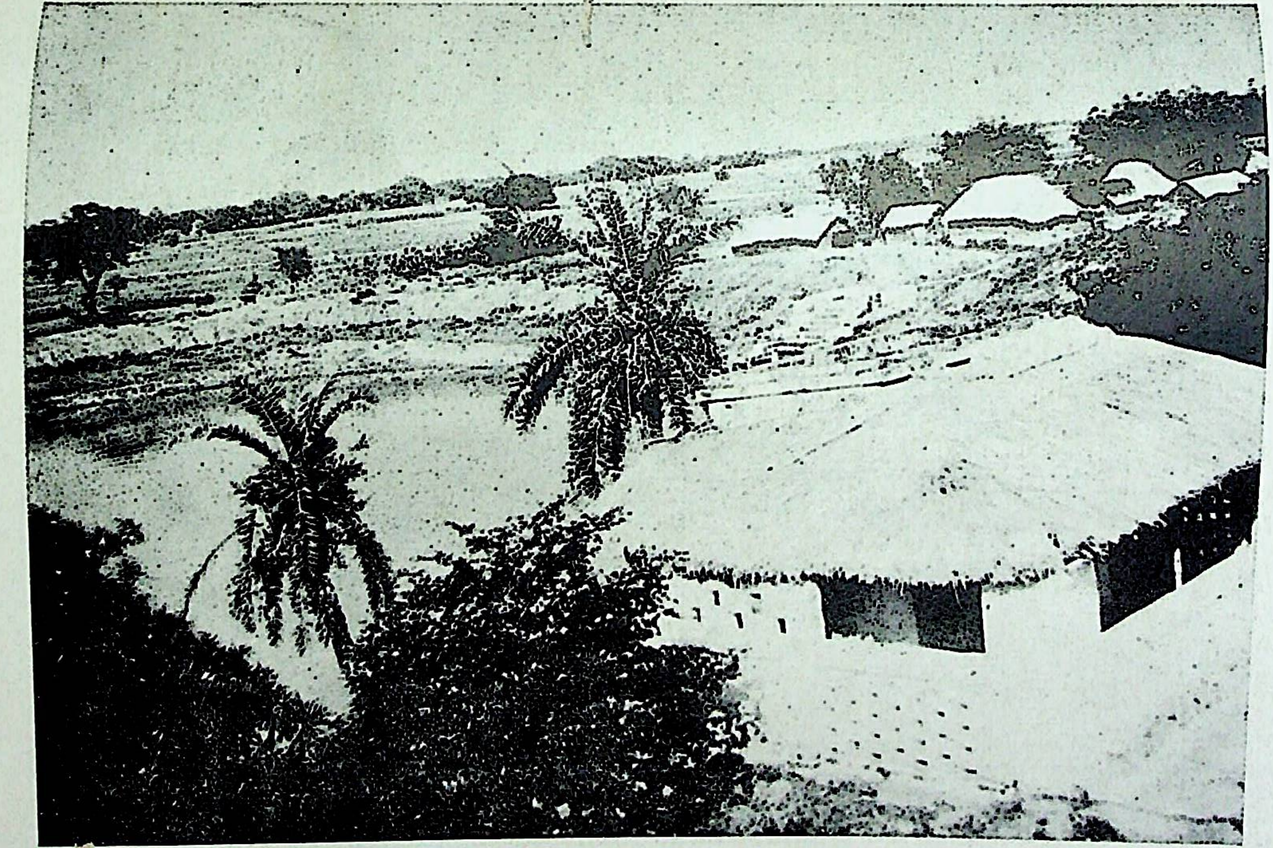

The 'eevit Kund' into which Mataji jumped with all the warm clothings on her body and swam in great ecstacy. There are many a supernatural story connected with this Kund.

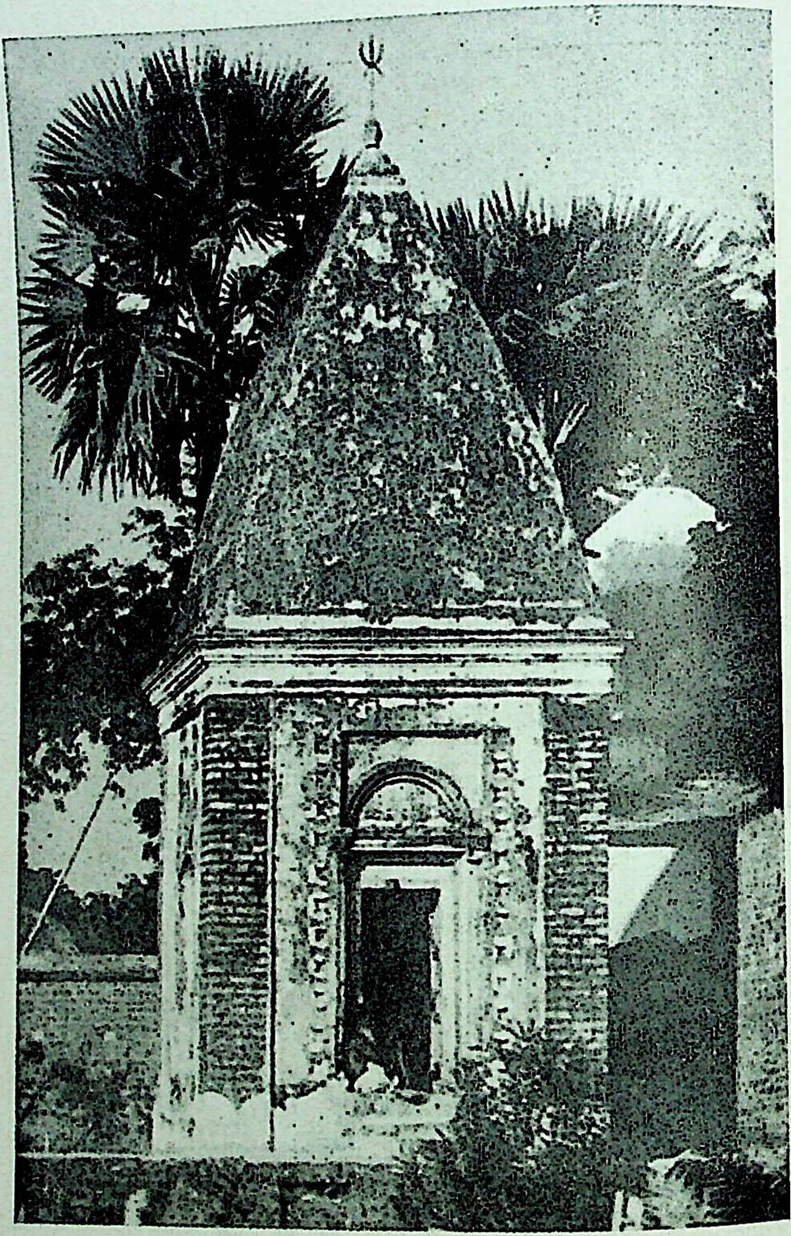

The Shiva Temple on Ashram land

Just as there is a veil of ignorance for the individual, so there is also a door to Knowledge.

MĀTRI VĀNI

The Wise keep on declaring and the *Sāstras* also say that if someone is engrossed in the quest of the Supreme, it can never be that he will not find. Constant effort; so long as you have not reached, do not relax your effort. Is not God, Who is Truth Itself, within you? Therefore do not abandon meditation, the contemplation of your Self. Being your very own, it is destined to be found by you. This is bliss and nothing but bliss. Where then are gloom and dejection? HE alone IS.

* * *

To tread the path that leads to the realization of one's Self and cannot be relinquished, this is *dharma*. For every individual the road to Illumination is different. Wherever you may be, from there itself start advancing. For there is only He and no other. He Himself is holding you. He never, never forsakes you. Again, the practice (*kriyā*) that aims at the realization of God is called *dharma*. That which distracts one from the remembrance of God or Truth is *adharma*. There is but one *dharma*.

* * *

Man is born in order to exhaust his karma, he is also born to exhaust the cycle of birth and rebirth. The man of supernormal power, that is to say in whom divine power has been awakened, he can also himself change his karma.

* * *

The Guru manifests from within. When real, genuine search supervenes, real Enlightenment is bound to come. It cannot possibly be otherwise. HE Himself, having appeared as the Guru, reveals Himself or is being revealed.

* * *

The way to God-realization is straight and simple indeed. The mantra which the Guru communicates is certainly the most excellent one. If the mantra received from one's Guru is repeated in the right manner, realization is bound to occur. How wonderful God's dispensation is ! When the power transmitted to you by the Guru begins to function, action will not bear fruit anymore. If one enters fire one will of necessity be burnt. Although all names and forms are His, the One is yet again without name and form. For the man who loves the Name, God is truly present in all names and forms. And for the person who feels drawn towards the Absolute, He is beyond name and form.

* * *

Never attempt to do barter with God, do not foster the mentality of a merchant or trader. "For so many years I have practised meditation and yet reached nothing !" This is not the attitude to be taken.. HE is the breath of your life, the Self of yourself. HE is one with you.

* * *

The Name and the One Whose name it is are identical: For He Himself appears as Name. The letter (*akṣara*) is indeed God's own guise. When the name becomes alive, it is as when a seed is sown the tree grows out of it. If the name that appeals most to any particular person is constantly repeated, one arrives at the realization that all names are

His names, all forms His forms. Furthermore, that He is without name and form will also by and by come to light.

* * *

In wealth and property there is certainly no peace. What then does give peace ? My own true nature is Peace, Knowledge, Divine Consciousness—unless and until this is realized, how can there be peace ? In order to find your Self you must become revealed to yourself. How beautiful !

Conversations with Sri Sri Anandamayi Ma

(TRANSLATED FROM BENGALI)

Ranchi, June 7th, 1965.

Question : If a housholder devotee is in trouble, is it right for him to pray to God for redress ?

Mataji : Various attitudes may be taken. There are those who have dedicated themselves entirely to God. They say : "My Lord, whatever you may do, howsoever you may keep me, it is all right." According to the state of people's minds their conditions differ. Some are at a stage at which they just cannot help praying. Others, when visited by trials and misfortunes feel disappoined with God and drop their religious practices. On the other hand there are persons who turn to God more eagerly when in sorrow. And some remember Him with greater fervour when they are happy. In all circumstances He is the great Healer. Therefore many are moved to appeal to Him in trouble. Then again a state comes when one does not anymore feel the inclination to pray to Him for relief in adversity, pain, ill-luck, and so forth. To invoke God is always good. For whatever reason you may pray, from whatever motive—at least start praying to Him ! Be it for alleviation of distress or for Enlightenment, be it even for wealth and possessions. The Wise ever live in the remembrance of God.

June 8th, 1965.

Question : Someone who is a *karmayogi*, who believes in the path of action, says, there is no need of God, Guru, the company of saints and sages, and so forth. Is this correct ?

Mataji : The Sankhya philosophy also is of a similar opinion. The existence of God cannot be proved by the mind. You concentrate on God in order to transcend the individual mind .When the Lord Buddha was asked whether God existed or not, He kept silent. One will have to accept whatever anyone advocates, in the light of his particular state, *sādhana* and experience. Each one's practice depends on the stage he has reached and on the nature of his particular line of approach. Where the question of belief and explanation arises, there it is like this. When a salt doll enters the sea, it is dissolved and mingles with the water. In the state beyond mind and intelligence there is no reply. There—about what is one to speak and who speaks ? There, I do not see any others, I do not go anywhere, do not accept anything from anyone, do not eat anyone's food. There is no question at all of talking. Whether you call it inert or undecaying—everything is all right. Here to ask questions or not to ask is equal. To be satisfied by knowing this from hearsay will not do : the progress of one's *sādhana* will thereby be arrested. One must experience this for oneself. Someone told the following incident :

In the course of doing puja, a man was performing the ceremony of instilling life into an earthen pitcher. All of a sudden the pitcher began to talk and related to him the story of its life. "When I was still earth I was lying somewhere and people came and walked on me. Then someone eased himself over me. I bore everything. One day a man came with a spade and broke me up. This also I endured. He put me into a basket, carried me away on his head and deposited me in some place. A little later he took a stick and beat me mercilessly. After putting cold water on me he went away. For a short while I felt at peace. But he returned again and kneaded me first with his feet and then formed me into a ball with his hands. Thereafter I was put on a potter's wheel. I was turned round and round and by the potter's hand moulded until I became a pitcher. Carefully he placed me on the ground. For a few days I was exposed to the sunshine. Sometimes I had to bear extreme cold and sometimes scorching heat. Then I was put on a fire. What a huge fire it was and how terribly the flames burnt! When I had been baked red and hard and solid, I was carefully taken off the fire and put away. One day I was carried to themarket together with other pitchers. Those who wanted to buy me took me up and banged me hard. Finally someone bought me for money and took me away. And now I am sitting here, filled to the brim with Gangeswater. Look, if you can develop similar patience and forbearance your life will become a vessel for the sacred waters of the Ganges. Be enduring as earth. Then you also will be worshipped by the people. Divine Life will be awakened in you."

(Translated from Hindi)

Vrindaban, August 1967.

Question : Mataji, please give us a talk!

Mataji : Here, there is no question of giving talks. Here, all are one *Ātmā* : Just as one's hand is one's own, so one speaks to oneself. For all are one. One must transcend talk and no talk. One should speak about that which takes one beyond the opposites of talking and keeping silent. And what is that? The remembrance of God. Practise *jāpa*, the name, a *mantra*, whatever anyone has got. *Akṣara* (the letter or syllable) is that which is indestructible*. Keep that *akṣara* always with you. Practise the awareness of God, contemplate Him so that He may be revealed to you. Don't allow the mind to remain vacant. Otherwise, just as water leaks out of a vessel with a hole, so if the mind is left to itself, the really important thing leaks out of it and the mind turns to vain matters instead of to Him. God is Truth. One should seek *satsang* and read sacred books. Whatever the Guru instructs must be followed.

**Akṣara* means 'letter 'as well as' indestructible'.

From the Diary of a European

MELITA MASCHMANN

(IX)

(Translated from German)

Ahmedabad, 1st December 1963.

Mataji's complete gesturelessness ! The only 'gesture' that she makes is that of the Indian greeting : the raised folded hands. With this gesture she does not only greet but also expresses a request and thanks.

The richness in gestures of all religious ceremonies of all civilizations. As for instance in high mass or *pūjā.*

I remember one evening at Varanasi, when Mataji stood before one of the Ashram temples while a *pūjā* was performed there. I was reminded of it when I saw her stand near the fire sacrifice that was celebrated by several priests today. She stood perfectly still while the priest was going through a worship full of gestures. He is a quiet old man, slender and delicate and very reserved. I have often listened to the language of his gestures. It sounded serious and dignified, convincing even for me although I could not understand their meaning.

And yet : when Mataji watched him that day, the poverty of the language of religious gestures struck me with cutting clarity. The *pūjā*—that is to say the divine presence—was not in the worship of the priest but in Mataji's motionless being.

While she stood near the fire sacrifice today, only watching, without any active participation, it overwhelmed me : In her there is Reality, Being of a different order, a different density or quality from that of the priests and all the others who were standing around.

Poona, December 1963.

I have the impression that here Mataji is sometimes being left alone in a sense, although many people crowd round her. Probably she is a responding spirit. When faced with sincere searching after truth or the longing for God, she flashes light—suddenly all fatigue is forgotten—and then it may happen that a current of spiritual intensity forces its way out with great power. But when there is no call that really touches her, she may occasionally sit in front of us like a rock. Of course this happens only very rarely.

I remember one morning in the train after a whole night's travelling, Mataji was sitting on her bed. She had a fear-inspiring expression of unapproachability. I experienced this with Mataji only on that single occasion. Her beautiful, sensitive face all of a sudden appeared as if carved of stone. Her features looked angular and seemed armoured with impenetrability. Her expression was not to be unriddled. As far as I could see, it neither showed anger nor pain nor impatience nor disgust: only immeasurable distance, inaccessibility, remoteness.

Sometimes, while *āratī* is being performed, Mataji seems transported into a contemplation that also takes her far away from the here and now of outer circumstances; but then she remains open to us, so that—provided our eyes are not blind (which unfortunately is often the case) we can catch a reflection of the light radiating from her. That morning in the train she appeared completely walled up in her terrifying unapproachability. Even the movements of her eyes, her arms, her head, seemed empty, as if occurring merely on the surface. Their impulses did not seem to emerge from the centre of her being.

For about two seconds I stood on the threshold of her compartment, then I fled. But soon I returned, sat down in front of her compartment and remained there for a long time. Mataji saw me, but whether she was aware of me I cannot say. I returned to her because I felt that wishing to be in her presence only when she emits serenity and kindness, was wrong. God alone knows what was hidden behind the impenetrable surface of her appearance.

One thing is certain: what takes place within Mataji is far more incomprehensible for us than we realize when we are daily with her. Even when she appears quite 'open' to us, we can only by the vaguest intuitions touch the outer fringe of her being.

* * *

Calcutta, December 22nd, 1963.

The journey from Bombay to Calcutta has taken us 58 hours what with trains running late. For the first days of her sojourn, Mataji is the guest of a wealthy family of devotees. Their property is situated in a quiet street. Behind the house a small pandal has been erected. In a thatched garden-house Mataji receives people for private interviews. Multi-coloured electric bulbs have been fixed on bushes and trees in the garden, the tent is profusely decorated with flowers and garlands. Already the first evening two or three hundred men and women gather and everyone is eager to welcome Mataji with ardent veneration. Gradually the enthusiasm rises to such a degree that Mataji can hardly cope with the situation. From all sides simultaneously people are trying to embrace her. Never before have I witnessed Mataji allowing her devotees to get physically so close to her. She sits laughing amidst the impetuous throng and indefatigably distributes blessings by the touch of her hands. Occasionally she catches hold of a head with both her hands. Then again she caresses the face of an old woman; with a humorous expression she pulls the hair of a boy kneeling before her, all the while making, jokes with everyone at the same time.

Then an old gentleman starts a discussion about religious problems. A fencing with repartees ensues, interrupted by crackling volleys of laughter. Someone whispers to me that the old man is a hard-boiled atheist. In the midst of all this hilarity Mataji's face suddenly turns serious. She shuts her eyes and remains silent. It takes some time until the stillness emanating from her penetrates to the farthest corner of the pandal. Then only Mataji begins to talk. For a long time she speaks with great intensity, at moments almost vehemently. From the fact that she repeatedly addresses the old gentleman I conclude that she is out to shake his atheism. He listens quietly and attentively, without ever uttering a word. Occasionally remarks are thrown in by the congregation, but Mataji dismisses them with a gesture of her hand. This also, I have never before noticed with her. Usually she at once responds to exclamations from the audience, but here the welfare of the one is at stake.

After Mataji becomes silent, the hostess celebrates *ārati* to offer the homage of all of us to the revered guest. Mataji's head is slightly tilted to one side. From her expression we can guess that she at once becomes absorbed in deep contemplation. Strange, how strikingly she now resembles the pictures from her youth. Again and again there are moments when her age appears to be blotted out. One senses the agelessness of the spiritual power functioning through her and giving the appearance that even her body is not threatened by the decline of old age. It seems endowed with the pliability; elasticity and charm of unimpairable youth.

Even the next morning this youthfulness is still very tangible. Narayana Swami reads from a sacred book and comments on it. Mataji interrupts him frequently with great vivacity and soon an animated discussion is in full swing.

Calcutta, December 25 th, 1967.

Mataji with her 'retinue' has moved into one of the liveliest business streets of the city. The family of a merchant, in whose compound the ceremonial recitation of the Bhagavad Gita is to be performed, has invited Mataji to grace the function with her presence. One can hardly imagine how, in the narrow space between his house and his neighbour's, our host has succeeded in putting up a pandal to seat about a thousand people. Behind the pandal there is a courtyard in which a small cottage for Mataji has been specially constructed. The entrance to the courtyard has to be constantly guarded against the multitude of persons clamouring for private interviews with Mataji. She does not seem to have a minute's quiet throughout her stay.

Every morning a few chapters of the Gita are recited by all present. In the afternoons and evenings learned men comment on what has been read. In between Mataji receives on some days the *praṇāmas* of innumerable people. At times the rush is really terrific.

While Mataji is subjected to such a "mass-*praṇāma*," often the superpersonal in her existence can be clearly observed. The homage which by most is directed to her person—for people love her—she receives as a representative of the Godhead. HE is then present in her. Everything that makes for the very personal charm of her behaviour recedes into the background. Her face is strangely 'emptied' on some of those occasions, it shows no personal reactions. The God in her does not express any like or dislike, no moods, no desires. Of course, now and then there are also "mass-*praṇāmas*" when one feels that Mataji cannot or does not want to deny to her devotees her personal attention, tenderness and cheerfulness. She then does not vanish behind the representation of the Godhead, but 'remains' with us with all her personal charm.

* * *

Yesterday, while sitting among the crowd waiting for Mataji, I had a talk with a distinguished elderly Indian lady who related to me how Mataji had saved her son from enslavement by a dangerous vice. She did not disclose the nature of the evil, but I had the impression that the young man must have been addicted to drink or drugs. She said: "He always wanted to shake off the bad habit but had not the strength to do so. One day, Mataji said to him: 'Listen, I know how difficult it is to break a habit of this kind. Therefore I am not asking you to relinquish it altogether. My request is: promise that you will never give into it in my presence.' My son gave his word. From that day Mataji appeared before his mind's eye every time he was about to give in to his craving. This helped him more than all the doctors; he got over his vice."

* * *

It often happens that someone says to me: "What a pity that you have come to know Mataji only now. During the last few years she has become 'so 'normal'. Nevertheless she is still highly attractive to thousands, although there is really nothing very special about her. Formerly she would often go into *samādhi* or *bhāva* or work miracles. Already many years ago, when we were afraid that, she might stop talking altogether or not return from *samādhi*, she told us: "Don't you worry, a time will come when I shall be so ordinary that you will be amazed." Of course, she is even now very, very far from ordinary, although she does not show any ecstatic states.

* * *

Today I was standing near the bookstall outside of the *satsang* tent. Suddenly, emerging from the twilight of the back-ground, Mataji advanced towards us with quick steps, heading a group of *sādhus*. It was like a dream. The people who stood around fell at her feet. I remained standing. For a second I had a sensation as if I were at the seashore. I saw a large, luminous wave coming towards us and was wondering why all the others threw themselves on the ground. Everything in me waited with hushed jubilation to be swallowed up by the wave.

Across the stooping backs Mataji smiled at me. At that moment I understood what a tremendous power accumulates in the joy of those who see God. Not only Mataji's face, but her entire body radiated this overwhelming joy. Joy that draws its sustenance from the dust of the road, from the voice of a beggar, from the fragment of a passing conversation, from the greeting of a child--from everything, for all is God.

I ran out into the street behind Mataji and watched her disappear into a black car and drive away. The dream-like quality of the situation could again be distinctly felt. It was bewildering and at the same time also strangely comical: a mighty blazing fire slips into a car and rolls away.

When I returned to the bookstall, an old gentleman who daily comes dressed in a snow-white European suit, said: "What really is it that is so fascinating in her?" "God!" I blurted out. The old man nodded. After a little while he remarked: "Yes, God, who loves Himself in enlightened souls. In them alone resides all the peace of the world. It is those souls that save the universe from annihilation."

* * *

Sacred Places of Kashmir, Jammu and Ladhak

A devotee.

(Continued from the previous issue)

ANANTA NĀG

यस्येदं क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्तेः सहस्रशिरस ।
एकस्मिन्नेव शीर्षणि ध्रीयमानः सिद्धार्थ इव लक्ष्यते ॥*

[*This world resting on one of the heads of the thousand-headed god Ananta is looking like a grain of mustard.*]

Ananta Nāg is a sacred town, the distance of which by road from Srinagar is about sixty kilometers towards south-east. It owes its name to the famous spring sacred to the great serpent god called Ananta Nāg. The sacred spring issues from the foot of the tableland to the west of which the town is situated.

There is a temple of Shiva in the midst of the spring at Ananta Nāg.

At a distance of about one hundred metres east of Ananta Nāg there is another spring called Sonar Pukur, in the neighbourhood of which there are two more springs called Sulik Nāg and Mulik Nāg which are also regarded as sacred.

ARPHAL

Arphal village is about eleven kilometers from Tral by road and twenty-one kilometers from Tsurus (or Sursu). It is picturesquely situated on the left bank of the stream called Chulabul Nala.

---

*Srimadbhagavatam, fifth skanda, twenty-fifth chapter, second sloka.

There is a very sacred spring on the right bank of the stream, to the west of the village. Its crystal clear water gushes out from a cleft at the foot of the Mainzawan mountain. The pilgrims perform *śrādha* (obeisance to the departed parents and relatives) here. The pilgrimage to Amarnath is regarded as complete after these religious observances at this place for the peace and upliftment of the departed souls.

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः देवर्षिपितृमानवाः ।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मतृमातामहादयः ।
अतीतकुलकोटिनां सप्तद्वीपनिवासिनाम् ।
मया दत्तेन तोयेन तृप्यन्तु भुवनत्रयम् ॥*

"May the people of all regions beginning from Brahma to this universe, the gods, the sages, the forefathers, and all men, the fathers and grand-fathers, the mothers and grand-fathers from mother's side, all be propitiated. May all people of the three worlds, the people of the seven islands, beginning from crores of generations in the past, be propitiated with this water offered by me."

At Narastan, which is also a picturesque village, situated about six kilometers north-east of Arphal and sixteen kilometers in the same direction from Avantipura, there is an ancient temple in ruins. The ancient name of the place is Narayanasthan, which indicates that the ancient temple was sacred to Narayana.

AVANTIPUR

Avantipur is at a distance of about thirty kilometers south-east of Srinagar City. It is midway between Ananta Nag and Srinagar. In ancient times there was a city here called Avantipur. It was founded by the great king Avantivarman (855–883 A.D.) of Kashmir.

There are ruins of two ancient temples in and near Avantipur. They were dedicated to Vishnu called Avantiswamin and Shiva called Avantishwara. One of them is on the bank of the river in the village and the other at Jaubyor to the north of Avantipur. Both the temples were constructed by Avantivarman. They were destroyed by the iconoclast Shikandar–But–Shikan (1394-1416 A.D.).

---

*Sacred words for offering water to all departed souls.

BARAMULA

वाराहं रूपमास्थाय महीं सवनपर्वतान् ।
उद्धरत्येकदंष्ट्रेण तस्मै क्रीडात्मने नमः ॥*

"I bow down to the Lord in the form of a Boar, who assuming this form lifted with his one tusk the earth with its forests and mountains out of the ocean.

Baramula is a town on the right bank of the sacred Jhelum (ancient Vitastā) river situated at a distance of about fifty kilometers north-west of Srinagar. It is identified with the ancient place called Varāhamula.

In ancient times there existed a famous temple of Adi Varāha, the Boar incarnation of Vishnu, at Baramula. This ancient shrine was destroyed by Shikander-But-Shikan (1394-1416 A.D.). It is now identified with Koti-tırtha at Baramula where there is a large emblem (Linga) of Shiva. It is said that the god Vishnu incarnated as the great Boar at Baramula.

BARSHALO

Barshalo is a village on the right bank of the river Chenab situated between Doda and Kishtwar in Kashmir valley. It is about twenty-two kilometers east of Doda.

There is a noted shrine of the goddess called Barshala in the village.

न मन्त्रं नो यन्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो
न चाह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकथा : ।

---

*The Mahabbaraṭa, Shantiparwan.

न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनं
परं जाने मातस्त्वदनुशरणं क्लेशहरणम् ॥*

"O mother ! I donot know any sacred words, symbols and hymns. I do not know any meditation, praise and how to call thee. I do not know thy signs and how to lament before thee. I know only how to take shelter in thee, which relieves me of all pains."

BHANIYAR

Bhaniyar is a village on the right bank of the Harpetkai stream situated at a distance of about three kilometers from Naoshera in Kashmir.

There are remnants of a sacred shrine near the village. It is still visited by the pilgrims.

BHARIANGAM

Bhariangam is situated to the east of Achhibal which is about eight kilometers south of Ananta Nag in Kashmir valley.

There is a sacred spring in the village.

आपो हि ष्ठा मयोभुवः
ता न ऊर्जे दधातन
महे रणाय चक्षसे ॥†

[O waters, you are the source of happiness, so bestow strength on us, endow us with vision, great and beautiful.]

BHAVAN

Bhavan is situated at a distance of about sixty-four kilometers south-east of Srinagar. The place is also called Mattan, a corruption of Martanda which means the sun.

The spring of Bhavan is sacred to the sun-god.

It is said that the sun was born here.

---

*Devyaparādhakshamāpanastotram by Shankaracharya.
†Rig Veda X, 9,1.

Bhavan is a noted place of pilgrimage in Kashmir. People on certain months of the Indian leap year visit this sacred spot and perform religious ceremonies (*śrāddha*) for the benefit of the departed souls.

रश्मिन्तं सुमुद्दन्तं देवासुरनमस्कृतम् ।
पूजयस्व विवस्वन्तं भास्करं भुवनेश्वरम् ॥*

"Worship the sun rising with all his rays, the lord of the universe, the creator of light, who hides other lights by his splendour, who is ever active and to whom both gods and demons bow down'.

The ruins of the famous temple of Martanda (Sun) are at a distance of about two kilometers south-east of Bhavan.

BHUMZU

Bhumzu is situated on the left bank of the Lidar river at a distance of about two kilometers north of Bhavan and ten kilometers from Ananta Nag.

There are very old artificial caves at Bhumzu which are regarded as sacred. In one of these there existed a temple of Kāla Deva. Two temples at the foot of one cave have been converted into Muslim Ziarats. The larger temple has been identified with the temple of Bhimakeshava (Vishnu) built by Bhima Shahi of Gāndhāra**, the maternal grandfather of queen Didda who ruled in Kashmir in the later part of the tenth century A.D.

BIJBIHĀRA

यन्नाम जन्तुरवशोऽपि गृणन् कदाचित्
यामीं न याति भयदामिह यातनालिम् ।
तस्मै जरामरण जन्मभयातिगाय
गन्धर्वगीत यशसेऽस्तु नमः शिवाय ॥†

---

*Valmiki's Ramayana, VI, 107th chapter.

* Modern Afghanistan.

† Shri Namashivastakam—stotrarnavah.

I bow down to Shiva, the remover of the fear of old age, death and birth, whose praise is being sung by the Gandharvas, and by uttering whose name even on very few occasions and that also unknowingly, man is saved from moving towards the fearful and painful realm of Yama (Death)"

Bijbihāra is a town on the left bank of the sacred Vitasta (Jhelum) siver situatedat a distance of about ten kilometers from Ananta Nag and about forty-six kilometers south-east of Srinagar. The town was originally founded by King Vijaya (80—72 B.C.) of Kashmir.

At Bijbihāra there is a noted temple built by a former Mahārājā of Kashmir in 1871 A.D. The temple stands near the site of an ancient and famous temple dedicated to Vijayeshwara (Shiva) of which the origin is lost in antiquity. This temple was finally destroyed by Sikandar. But-Sikandar, who on a second visit to this place it is said, discovered among the ruins a slab of stone on which the following sentence was inscribed in Sanskrit:

विस्‌मिल्लाहि मंत्रेण नाशयन्त विजयेश्वरः ।

It means that the temple of Vijyayeshwara will be destroyed by uttering the sacred words of Bishmillah. It my be noted that while beginning any difficult task the Muslims utter the word "Bismillah". On seeing this inscription understanding its meaning Sikandar's heart was full of remorse realizing that he had become nothing but an instrument in the hands of time.*

BUNIAR

Buniar is a village on the Jhelum Valley Road situated at a distance of about twenty-two kilometers west-south-west of Baramula.

There is a very ancient temple supposed to have been originally built in the fifth century A. D. The emblems of

---

† A type of semi-ceəlstial beings·

** See Archaeological remains of Kashmir by Pandit Anand Kaul.

† Sri Ramacharitamanasa by Tulsidas.

Shiva (Shiva-Linga) are installed in the temple. According to Major General Cunningham the temple was originally dedicated to the goddess Bhawāni and Buniar is a corruption of Bhawānipur.

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरुपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धा-स्वान्तस्थमीश्वरम् ।।*

"I bow down to Bhawani and Shankara, who are embodiments of faith and confidence, without which even the sages do not realize the God residing within each one's own self."

CHIMRAY

उपेमि बुद्धं सरणं धम्मश्चापि अनुत्तमम् ।
सङ्घञ्च नरदेवस्स गच्छामि सरणं अहम् ।।**

"I take refuge in the Buddha, the highest dharma. I go to take refuge in the Sangha* and the god among men (i.e., Buddha)."

Chimray or Chimre is an ancient village between Tikshay and Zingral in the Ladhak area of Kashmir. It is about ten kilometers north-east of Hemis Gompa which is about thirty kilometers below Leh, the capital of Ladhak.

There is an ancient Buddhist monastery at Chimray.

GANDARBAL

Gandarbal is a sacred lake on the north-east slopes of the Harmukh mountain situated at a height of about 12,000 feet above sea-level. In order to reach this lake one has to travel a distance of about fifty-six kilometers towards north-west from Srinagar. The lake is about two kilometers long and two hundred metres wide.

An annual fair is held here on the eighth day of Bhadra (August-September).

---

*Sri Ramacharitamanasa by Tulsidas.

**Dhammapadathakatha.

†Buddhist Church.

GANESHBAL

सर्वविघ्नविनाशाय सर्वमङ्गलहेतवे ।
पार्वतिप्रियपुत्राय गणेशाय नमो नमः ॥

['I bow again and again to Ganesha, the favourite son of Pārvati, who destroys all obstacles and is the cause of all good'.]

Ganeshbal is a village on the right bank of the sacred Lidar situated at a distance of about five kilometers south of Pahalgam in Kashmir. The ancient name of the Lidar river is Lambodari. Sri Ganesha is called Lambodara, which means one having a large belly. The Lidar river is sacred to Ganesha.

At Ganeshbal there is a sacred rock in the midst of the torrent of the Lidar. This rock is an image of Lord Ganesha.

Sikandar But-Shikan, it is said, tried to break this sacred rock. When he struck the knee of the image with a hammer, blood gushed out of it. On seeing this horrible sight, the iconoclast got terrified and thereafter desisted from further destruction of temples and images of gods*.

GATA

Gata village is at a distance of about three kilometers north of Bhadarwah situated on the road to Doda, near the left bank of the river Neru. Bhadarwah is about two hundered kilometers east-north-east of Jammu by road.

There is a noted temple of Sri Vāsudeva at Gata. There are other temples also.

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

'I bow again and again to Krishna, Vāsudeva, Hari, the supreme soul, Govinda, who destroys the pains and sorrows of his devotees'.

---

*See Archaeological remains of Kashmir by Pandit Anand Kaul.

Sri Thirumangai Alvar

T. Krishnaji

Thirumangai Alvar is the last of the galaxy of the twelve Alvars, who dived deep into the depths of bhakti and found the grace of Lord Narayana. He belongs to the heroic type among God's devotees. Though he strayed into evil ways, the '*Ahaituki Kripa*' of God is illustrated by his life. God is "*Patitoddhāra*" and *Patita Pāvana*". In the Gita (Ch. 9.30-32) *Bhagavan* declares that in spite of evil conduct or *durāchāra*, He saves if one has devotion for Him. Ajāmila, a sinner, was redeemed by the unconcious utterence of God's name. That is the glory of God and His Name. It is the glory of His devotee as well.

Thirumangai Alvar lived from 660 to 765 A.D.

Avinadudayar was a Kallar chieftain, owing allegiance and paying annual tribute to the Chola King. Being of a Saivite persuasion, he lived at Thirukkuriyalur (Kamalapuram). He was blessed with a son, named Nila, who after his change to Vaishnavism took the name of Thirumangai Alvar. Nila was a precocious lad. Quickly he learnt all the arts and excelled in physical and military prowess. Famous for his valour, he was a terror to his foes. He was known as Parakala. After the death of his father, Nila was recognized as the local chieftain. Prof. Varadaraja Iyengar is of the opinion that Nila was a hereditary King of Alinadu, Mangalnadu, Mangai and Kuraiyalur and a feudatory chief of Pallava Malla of Kanchi.* Probably he was a feudatory chief of both the Chola and Pallava Kings. Nila had wealth power, valour and youth, and he had desperadoes as his companions. So he led an unrestrained life of amours and pleasures.

---

* Vide Journal of Indian History, Univ. of Travancore Vol. 126. p. 131.

A celestial nymph took human birth and was found by a Vysia near a lotus pond in Nagapatam. Being childless, he was happy to adopt the child. He brought her up as his foster-daughter, naming her Kumudavalli, and she grew up in devotion to Lord Vishnu. The charming maiden was noted for her beauty, wit, and religious devotion. Nila came to hear of her beauty. He lost no time and went to see her himself. He brought rich presents for Kumudavalli and her father and offered to marry Kumudavalli. She, however, declared that she had taken a vow to marry none but a Vaishnava who would agree to feed 1008 Vaishnavites for a whole year. Nila was ready to do anything to please Kumudavalli and agreed to comply with her vow and wishes.

He hastened to a Vaishnava Nambi, received the sacrament and change of faith to Vaishnavism by having *Pancha Samskāras* or five essentials according to its creed. *Pancha Samskaras* comprise 1. *Tapta*–imprinting or branding *Sankha-Chakra* on the shoulders. 2. *Pundra*–12 *namas* or *tilaks* over the body. 3. *Mantra*–initiation into any Vaishnava *mantra*. 4. *Yaga–Ārādhanā* or pūjā of Saligrama or idols. 5. *Nāma*–Vishnu's name in any form. Nila was then called Thirumangai Alvar, as he happened to be the King of a place called Mangai.

He hurried back to Kumudavalli and gave her a solemn assurance that he would carry on the *Tadiya Ārādhanā* feeding 1008 Vaishnavas daily. The marriage took place. True to his promise and as a Vaishnava he carried on the mass feeding with religious zeal. Hinduism extols *anna dāna* (gift of food) as the greatest charity. None but the poor and hungry will participate in any public feeding. The Mahabharata says that feeding godmen is greater than the worship of God.

"*Ārādhanām sarveshām, Vishno ārādhanām param*
Tasmāt parataram proktam Tadiya ārādhanām Nripa."

The Alvar gave up his wayward life and devoted himself to the feeding of Vaishnavas. He spared no pains and did not grudge the expense. Kumudavalli, his wife, instilled into him the spirit of faith, fellowship and service to God and men. Love, human or divine, easily breaks the shell of the human ego.

When gradually the wealth of the Alvar got depleted, he utillzed the funds reserved for payment to his suzerain, the Chola King. When he thus failed to pay the tribute, messengers from the Chola King came demanding it. The Alvar entertained the messengers to rich dinners and sent them away with promises. The Chola King dispatched a military force to extract payment. But the Alvar was a match for any army, he defeated and they had to flee. Then the Chola King himself came with his troups. Though the Alvar was strong enough to beat him into retreat, he pondered over the situation and over the fact that the Chola King was his Suzerain and should be respected, so he appeared before him and made promises. The King was not content with mere words. He insisted on prompt payment. The Alvar was put into custody. He did not worry about his personal discomfort but was deeply distressed at the interruption of *Tadia ārādhanā*. In his plight, he addressed prayers to God. Lord Varada Raja of Conchi responded to his prayers and in a dream disclosed to the Alvar a treasure trove on the banks of the Vegavathi river in Conchi. The Alvar pleaded with his guards to take him to Conchi, promising payment of all dues. He found the treasure and paid all dues to the Chola King, who felt reverence towards the Alvar as one "chosen of the Lord Varada." The Alvar returned home with surplus wealth and carried on the Vaishnava feeding with even greater zeal.

When all the riches were exhausted by public feeding, the Alvar fell into gloom. He belonged to the Kallar community, noted for robberies, and so he thought that he might continue the feeding with stolen wealth. Together with his desperado companions he took to highway robbery. Public feeding he continued. The Alvar was a forerunner of Robin Hood of Scotland. Ends justified the means. As a robber, he spared Vaishnavas. The Lord and his consort, the ever merciful Goddess Lakshmi, thought of bestowing their grace on the Alvar and to redeem him. God is the redeemer of His devotees, though they be sinful. He is "*patitoddhāra* and *patita pāvana*." Thomas A. Kempis says: "Lord, great is Thy anxiety for me."

One day the Alvar and his companions were waiting on the highway. None passed by. The Alvar climbed a tall tree to see if anyone could be seen at a distance. He saw none He got impatient and became fidgety. At last he saw a marriage party approaching. Overjoyed, he thanked God and shouted to his companions, in the language of Ruysbroeck, the mystic, "Behold the bridegroom cometh, go ye out to meet him". Thirumangai Alvar was not only a robber of wealth, but also of the love and grace of the Lord and the Goddess.

The Alvar commanded the marriage party to halt and to surrender all their jewels and valuables at the peril of their lives. They pretended to be frightened and put all the jewels into a bundle. A ring on the finger of the bridegroom was tight and could not be removed. The Alvar extracted it with his teeth. Another version is that an ornament on the toe of the bride was tight and the Alvar removed it. The bride and the bridegroom were none but God Ranganatha and his holy Spouse, with the party of Devas accompanying them. They had come to bestow their grace on the Alvar and to retrieve him from evil ways. When the Alvar forcibly removed the ring, the bridegroom addressed the Alvar as 'Kaliyano', wicked and bold as Kali. The Alvar used that name Kali whenever he referred to himself thereafter.

When the Alvar tried to lift the bundle of jewels, he could not move it as it seemed to be fixed to the ground. The Alvar suspected trickery or magic. He demanded from the bridegroom to disclose to him the secret mantra to remove the bundle. The bridegroom took him aside and whispered into his ear "*Om Namo Nārāyana*". The holy Touch, *Upadesa* and God's Grace transformed the Alvar and knowledge of Truth came to him. The Lord granted him His Vision and "*Sākshātkāra*". Words of wisdom, praise and prayer flowed from the Alvar's lips and he sang his gratitude to the Lord—

I pined, grieved, forgetting Thee, pursued
Pleasures, wealth and women. Supreme Knowledge
revealed the highest Bliss, recovered lost treasure,
I found the sacred Name NARAYANA.

Sinner I am, fickle minded, wasted time in pleasures.
Found nectar, His Name Narayana.
He who abides in the heart of devotees.
Received His Grace, Name Narayana, Life Divine.

Robber I was, committed crimes.
Forsook all. Quick came His Grace.
Emaciated, choky throat, shed tears of joy,
Night and day let me sing, 'Narayana'.

My Saviour, Father, Relation, King.
Let me worship Thee, I found the name 'Narayana'.
Beseech Him ! Sing His name 'Narayana' !
Lived a wicked life. Now He is my Guide.

I found His Name Narayana,
If one repeats His Name, wealth, happiness,
Prestige, His Grace come. Quickly call His Name.
His Name is poison to all evils.

People of Thirumanga,
Take His Name in distress and death.
Chant His Name : Narayana,
Narayana, Narayana',

Lord Narayana had come into the life of the Alvar. He sang of Him in gratitude and devotion. The main theme of his poetry is that he found God's name Narayana. The Alvar's life reminds us of the robber life of Valmiki, who later became a great Rishi and devotee of Rama. God commissioned the Alvar to spend his life in pilgrimage and the restoration of temples. He visited Vaishnavite shrines from Badrinath to Ramanatha. He sang about 82 shrines, describing vividly the scenes and natural beauty sorrounding each of them. He sang with a sense of repentance revealing the glory and grace of God. He disclosed how God's *ahaituki kripā* came to him. The Alvar was not only an inspired devotee, but a poet of a high order. He is called *'Chatur Kavi sikhamani'*, skilled in the *asu*, *madhura*, *chitra* and *vistara* styles of poetry. He left a rich legacy of religious and devotional literature in Tamil, 1253 verses in a collection of 4000, *Divya Prabandham* called *Dravida Veda*.

The Alvar desired to renovate the Srirangam Temple, the biggest one in the whole of India. The task may stagger even a wealthy prince. But the Alvar was daring, brigandry was his strength. Dexterously he stole the gold image of the Lord Buddha from the shrine at Nagapatam and utilized the proceeds for the renovation of Srirangam Temple. When he ran short of funds, the masons rebelled. He contrived to drown them in the Kaveri waters. So that branch of Kaveri is called Kolladam or Konnedam. We cannot say how much truth lies in these legends that gathered round the life of the Alvar. But altruism and devotion propelled his actions and the end justified the means he adopted.

The Alvar met Thirujana Sāmbandar, the great Saiva Saint, Nayanmar and Samayacharya. Both of them had triumphed over Buddhism and admired each other. The Alvar had great respect for Nammalvar and revived the annual *Adhyana Utsavam* with Thiruvoimoli recitals in the Srirangam Temple.

The Alvar lived a long life of devotion and pilgrimage. His contribution to the South Indian language, religion and culture is momentous. He left the torch of devotion to be handled by Sri Natha Muni, the First Sri Vaishnava Acharya, grandfather of Yamuna Acharya. The Alvar departed from this earth at Thirukkurangudi in his 105th year, chanting 'Narayana, Narayana Narayana'.

"If you cling to the one in whom fear is not, how can there be even a question of fear ?"

—Ma Anandamayi.

Psychosynthesis and the Ishopanishad*

PROF. BIRESHWAR GANGULY

V

This section deals with the psycho-synthetic integral *sādhanā* (spiritual technique) of the Ishopanishad, as hinted at in mantras ninth to fourteenth. Here the necessity of both *vidyā* and *avidyā*, Knowledge and action, spirituality and material knowledge, *Jñana-Kānda* and *Karma-Kānda*, is emphasized, in order that Self-realization may take place in this very life.

अन्धन्तमः प्रविशंति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते ततो य उ विंद्यायाँ रताः ॥९

"Into a blind darkness they enter who follow after the Ignorance; they as if into a greater darkness who devote themselves to the Knowledge alone".

—Sri Aurobindo.

"Into blind darkness they enter who practise avidyā. Into even greater darkness they who are attached to Vidyā."

—Satyananda.

अन्यदेवाहुर्विंद्ययान्यदाहुरविद्यया
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १०

"Other, verily, it is said, is that which comes by the Knowledge, other that which comes by the Ignorance; this is the lore we have received from the wise who revealed. That to our understanding."

—Sri Aurobindo.

"Different is said to be by *vidyā* and different by *avidyā*. This we have heard of peaceful men who have explained it to us."

—Satyananda.

---

*Continued from Section IV; Vide *Ananda Vārtā*, Vol. XIV, No. 4, February, 1967.

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११

"He who knows That as both in one, the Knowledge and the Ignorance, by the Ignorance crosses beyond death and by the knowledge enjoys Immortality".

--Sri Aurobindo

"*Vidyā* and *avidyā*, he who knows these both together, by *avidyā* he surpasses death and by *vidyā* tastes immortality".

—Satyananda.

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः ॥१२

"Into a blind darkness they enter who follow after the Non-Birth, they as if into a greater darkness who devote themselves to the Birth alone".

—Sri Aurobindo.

"Into blinding darkness they enter who worship *asambhuti*. Into even greater darkness they who are attached to *Sambhuti*".

—Satyananda.

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३

"Other, verily, it is said, is that which comes by the Birth, other that which comes by the Non-Birth; this is the lore we have received from the wise who revealed, That to our understanding".

—Sri Aurobindo.

"Different is said to be from *sambhava* and different from *asambhava*. This we have heard of peaceful men who have explained it to us".

—Satyananda.

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥१४

"He who knows That as both in one, the Birth (creation) and the dissolution of Birth, by the dissolution crosses beyond death and by the Birth enjoys Immortality".

—Sri Aurobindo.

"*Sambhuti* and *vināsha*, he who knows these both together, by *vināshà*, he surpasses death and by *sambhuti* tastes of immortality".

—Satyananda.

Comment :—The ninth, tenth, twelfth and thirteenth aphorisms declare that ignorant men following only a path of action enter no doubt into a blind darkness, but those who give up action before being entitled to do so and follow only a path of Knowledge enter into a greater darkness. The eleventh and fourteenth aphorisms categorically state that he who knows That as both in one, the Knowledge and the Ignorance (*Vidyā* and *Avidyā*), the Becoming and the Being (*Sambhuti* and *Vināsha* or *Asambhuti*), crosses beyond death by the Ignorance and enjoys Immortality by the Knowledge or crosses beyond death by meditating on the Absolute Being but after Self-realization enjoys life divine in the world of Becoming. If it can be said that the first aphorism gives the essence of the whole monistic philosophy of Vedanta, the eleventh and fourteenth aphorisms can be said to contain the secret doctrine of Hindu *sādhanā*. The eighteen chapters of the Bhagavad Gitā and Sri Aurobindo's magnum opus, 'The Life Divine' are exellent commentaries on this difficult doctrine, made easy.

The integration of human personality, the psychosynthesis of Dr. Assagioli[1], correctly viewed, is the synthesis of the different levels of consciousness and unconsciousness. Assagioli's Higher Self in the Brahman in the transcendental aspect (Being, Knowledge) and all the other levels of consciousness are the immanent aspect (Becoming, Ignorance) of Brahman. The 'life divine' of man can be attained only by a harmonious synthesis of both. In the stage ot synthetic *sādhanā* it is not by rejecting life and ignorance (knowledge of the material world) that divine Knowledge can be attained.

---

[1] Cf. Assagioli, Roberto : *Psychosynthesis : A Manual of Principles and Techniques*, Hobbs, Dorman & Co., New York, 1965.

The life of ignorance has to be experienced and mastered in order that the life of divine Knowledge (Enlightenment) may be a permanent and blissful existence. Those who deny the transcendental aspect, accept only half of the truth. Similarly those who deny the immanent aspect accept only half of the truth. Complete existence and hence complete Knowledge consist of both *Saguṇa Brahman* and *Nirguṇa Brahman* (*Kshara Purūsha* and *Akshara Purūsha* of the Bhagavad Gitā, as explained in the fifteenth chapter), which are inherent in the one Absolute Reality, *Purushottama* or *Paramātman* or *Para Brahman*, which is without any duality. In the *Tantra Śāstras* of India, these two aspects of Reality are called *Śakti* and *Śiva*, which are one and the same in *Parama Śiva* (of Kashmir Saivism).[2]

VI

This section deals with the last four aphorisms, viz. fifteenth to the eighteenth of the Ishopanishad, which show, in the guise of the prayer of a dying *Rishi* (seer, spiritual researcher), the importance of the Sun-God (*Sūrya*, *Pushan*, *Ekarshi*, *Yama*, *Prājāpatya*, *Savitā*) both in the life-time of the yogi as well as at the time of giving up his mortal frame. At the of time *sādhanā*, according to the famous *Gāyatri mantra* of Rig Veda and Sāma Veda, the Sun and His *Gāyatri* energy work as the external unifying centre and hence all brahmins of India, not to speak of other Sun - worshippers, from time immemorial, have worshipped the Sun-God, as a stepping stone to the worship of the Supreme Reality.

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५

"The face of Truth is covered with a brilliant golden lid ; that do thou remove, O Fosterer, for the law of the Truth, for sight."

—Sri Aurobindo.

---

[2] Cf: Chatterji, Jagadish Chandra : *Kashmir Saivism*, 1914.

"By a golden vessel is the face of Truth covered. Do thou, O Pūshā, uncover it for him who is devoted to Truth, for sight."

—Satyananda.

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६

O Fosterer, O Sole Seer, O Ordainer, O illuminating Sun, O power of the Father of creatures, marshal thy rays, draw together thy light; the Lustre which is thy most blessed form of all, that in Thee I behold. The Purusha there and there, He am I."

—Sri Aurobindo.

"O Pūshā, Ekarshi, Yama, Surya, Prājāpatya, remove the rays, withhold the tejas. Let me see that aspect of Thine which is the most beneficial. He who is that Purusha, He I am."

—Satyananda.

Comment :- In the sixteenth aphorism we find the final realization of the yogi, who has accepted the Sun-God as the external unifying centre[1] in *sādhanā*. This monistic identification of the lower self with the Higher Self, of *jivātmā* (soul) with *Brahman* is the supreme Vedantic realization of the enlightened soul. This may come at the end of one's spiritual life or it may come much earlier. An enlightened soul may remain in the mortal body for many long years for the guidance and benefit of other seekers after Truth. However, this has to be accepted as the crest jewel of all spiritual experiences, born of a vivid psychosynthesis in *sādhanā*, for which the Ishopanishad and Bhagavad Gitā stand as authentic testimonies.

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥ १७

---

[1] Vide : *Ananda Varta*, Vol XIV, No. 2, August 1966, Diagram II, p.72 and Assagioli, R: *Psychosynthesis* p. 26.

"The Breath of things is an immortal Life, but of the body ashes are the end. OM ! O Will, remember, that which was done, remember.

—Sri Aurobindo.

"Now may the air become immortal air,
and this body reduced to ashes. Om,
O *Kratu*, remember, remember deeds ;
O *Kratu*, remember, remember deeds."

—Satyananda.

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ।। १८

"O God *Agni*, knowing all things that are manifested, lead us by the good path to the felicity ; remove from us the devious attraction of sin. To thee completest speech of submission we would dispose."

—Sri Aurobindo.

"O *Agni*, lead me to wealth by the good path, knowing, O *Deva*, all my deeds. Remove from me deceitful sin. I offer thee an abundance of words of obeisance.".

—Satyananda.

Comment :

In the above-mentioned aphorisms Surya and Agni may also be taken in a symbolic sense as the Divine Light and the Fire of Aspiration respectively. The golden vessel or lid hiding the divine light may symbolize the apparently delightful desires hiding absolute bliss. Many commentators have explained these terms in this sense, but in the integral philosophy of the Ishopanishad and the Tantras, even the gross manifestations of the Divine are taken as divine. They are physical representatives of the unmanifest Divine for the benefit of the embodied Soul in his *līlā* (blissful life). In the Bhagavad Gita there are synoptic references to twelve suns, seven *lokas* (*Bhuh*, *Bhuvah*, *Swaha*, *Maha*, *Jana*, *Tapah*, *Satyam* or *Brahmaloka*) and the transmigration of the soul through *Pitriyan* and *Devayan* *mārgas* (spiritual subtle paths of the voyage of the soul). The pilgrim's progress through different stages and different *lokas* (planes of existence or consciousness) is profusely illustrated in the *Tantra Śāstras* and *Purānas*. Hence there is no need to doubt even the literal meaning of the terms used in the last four aphorisms of this Upanishad. In actual fact, this concise Upanishad cannot be fully understood with the available commentaries of the Acharyas, e. g. Shankaracharya and Ramanujacharya. Even Sri Aurobindo is rather silent on the full implications of the last four aphorisms. Perhaps they are left to the inner spiritual expereince of the yogis.

"Just as there is a veil of ignorance, there is also a door to knowledge."

—*Ma Anandamayee*

Charity.

K. G. Ambegaokar. I.C.S. (Rtd)

The story is told of a beggar who, hearing that the king was passing that way, awaited his arrival with great expectations. When however he did approach the king's palanquin he found to his consternation that the king himself had put out his hand for the beggar to give him something. With great reluctance the beggar took out three grains of rice from his bowl and placed them in the king's hand. On returning to his hut the beggar was surprised to discover three grains of gold in his bowl and then grieved that he himself had been so parsimonious in giving to the king.

The moral of the story is obvious : if you are generous and large-hearted in giving in charity you receive a hundred-fold return. Many devotees of Sri Sri Mata Anandamayi have this experience that whatever they give as donation to the Ashram they get back several times over. This of course does not mean that you should make a business deal in the name of charity. An act of charity, like all good deeds, would lose all its merit if done in the expectation of getting a return. The distinguishing feature of any virtuous deed is that it is performed for its own sake without any selfish motive.

Hinduism lays great stress on charity. This is probably because *Sannyāsa* or renunciation is one of the recognized ways of attaining the Supreme and those who take to this path must necessarily live on charity. While society must despise all able-bodied persons taking up the profession of begging out of sheer laziness, it cannot shut its eyes to those who are physically handicapped and helpless on the one hand or those, on the other, who voluntarily embrace a life of poverty in the pursuit of Ultimate Reality. While civilized nations have enacted poor laws to take care of the former category making at the same time begging by healthy persons a crime, Hinduism has to cater also for the second class of people who genuinely lead a life of renunciation. Hence charity assumes a much larger connotation with us. In fact the Hindu joint family system itself was a method by which the aged and incapacitated members of the familv were looked after and as a natural extension of this idea the guest was to be given an honourable place and to be treated with great consideration. (अतिथि देवो भव ।) The holy mendicant was looked upon as a particularly welcome guest and given all respect. The custom has undoub·edly been exploited by the unscrupulous with the result that India is full of persons going about in the garb of *sādhus* as well as professional beggars. Even when physically handicapped persons come round begging you cannot be sure whether they are not being employed by others who live on the alms secured by them. It is said that sometimes children are abducted and mutilated in order to be utilized for begging. One feels so revolted by these malpractices that one is inclined never to give alms and to turn even holy men away from one's door. It would be most unfortunate if, because of these bogus masquaraders for charity, we should allow our hearts to be so hardened as not to leave any place for pitying and helping the really deserving.

The Bhagavad Gita, which attaches great importance to moral behaviour, gives a graphic description of different types of charity. According to the Gita, everything in Nature has three qualities or modes (*guṇas*) viz. *sattwa* which stands for purity, knowledge and light, *rajas* which betokens activity and attachment and *tamas* which means inertia and delusion. Giving or charity can be of an ignorant *tamasic*, an ostentatious *rajasic* or a disinterested and enlightened *satwic* character. The following verses which give this classification are worth quoting as a guide to the right type of charity :—

दातव्यमितिं यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते
असत्कृतमवज्ञातं तत्तांमसमुदाहृतम् ॥

Sri Aurobindo comments on these verses as follows :—

"The *tamasic* gift is offered ignorantly with no consideration of the right conditions of time, place and object ; it is a foolish, inconsiderate and in reality a self-regarding movement, an ungenerous and ignoble generosity, the gift offered without sympathy or true liberality, without regard for the feelings of the recipient and despised by him even in the acceptance. The *rajasic* kind of giving is that which is done with regret, unwillingness or violence to oneself or with a personal and egoistic object or in the hope of a return of some kind from whatever quarter or a corresponding or greater benefit to oneself from the receiver. The *sattwic* way of giving is to bestow with right reason and good will and sympathy in the right conditions of time and place and on the right recipient who is worthy or to whom the gift can be really helpful. Its act is performed for the sake of the giving and the beneficence, without any view to a benefit already done or yet to be done to oneself by the receiver of the benefit and without any personal object in the action."

In the *Dhyaneshwari*, which is a commentary on the Gita by the Maharashtrian Saint Dhyaneshwar Maharaj, as translated into English by Sri Manu Subedar, the following lucid explanation is given :—

"The best kind of charity is that in which what has been acquired by one's own exertion and along the right path is affectionately employed for the benefit of others, When there is a good seed there is often no good soil to sow it in. Similarly when one wants to give in charity, it is difficult to find proper parties. It is like getting a precious jewel and not having gold to set it in, or, having prepared the ornament, not having the limb to put it on. The greatest joy arises when there is a holiday and a dear friend drops in and there are ample means for his entertainment. The best charity is therefore possible when the motives are pure and when proper opportunity, time and place, a worthy recipient and a plentitude of resources exist. The sacred places are the best for doling out charity. Holidays of one kind or the other are to be preferred and what is given should go to good men. The purity of the recipient is an important element What is given should be given without reservation, just as a woman delivers herself into the hands of her lover. A man giving in charity must feel as if he is returning something that was entrusted to him for safe custody. He must feel like the royal servant who hands bettle-nuts to the king. There should be no motive in charity and there should be no aim, direct or indirect. Let those, to whom you give, be such, that they cannot make any return to you. Just as, when shouting towards the sky, there is no reply, or nothing can be seen at the back of a mirror, or a ball when thrown on water does not rebound in one's hand, or just as a wild bull is fed on grass, or an ungrateful person returns no obligation, charity should be without any idea of return. This is the supreme notion of charity.

"The inferior kind is that in which there is some other intention. It is like feeding a cow with the intention of getting milk, or sowing a seed with the intention of selling corn, or inviting relatives with the intention of getting presents, or sending sweets to friends expecting them tod return them, or like working for others after they have paid the fees, or giving medical aid after charges have been paid. So charity, which wants to put under obligation those to whom anything is given and aims at the increase of one's fame, is intentional charity and is of the inferior kind. Another variety of this is where the smallest coin is given to a worthy man with the intention that all the sins of the family should be instantaneously wiped out. To give with desires in one's mind, or to give in such a way that the receiver cannot secure even a meal from what is given, or to grieve for what has been given as if it had been robbed by thieves, is the characteristic of inferior charity (*rājas*).

"This charity takes place in forests, city squares, military camps or palaces. It is given out of what has been extracted by evil deeds, by theft, or by hurting others and it is given to bards, strolling singers, prostitutes or gamblers who put a momentary spell of magic on the donor. That is not charity which is given in exchange for physical enjoyment or satisfaction, or physical beauty, dancing, singing or personal laudation. Charity which embodies all these imperfections is therefore the most inferior (*tamas*). No merit can accrue out of it except by the purest accident, such as insects carving readable letters on a piece of wood, or a crow getting caught when one is clapping one's hands. The approach of a deserving person coming for favour upsets a man with such a tendency. There is always doubt in his mind. There is no respect in his bearing and he gets nothing. Either he does not give or if he gives anything, it is after a lot of discussion and with the retort that he has given too much. The expenditure of wealth on the pretext of charity in this manner does good neither to him that gives nor to him that receives. It is to be condemned. It is *tamsā*."

In two other places in the Gita the subject of *dāna* is referred to. In Canto XVII, 28, charity without faith, अश्रद्धया दत्तं, is labelled असद् "not right or good", which is of no avail either in this world or the next. In Canto XVIII verses 5 & 6, it is stated that charity (along with sacrifice and work) should never be given up but even its performance should be without attachment or expectation of fruit.

In the Brihadaranyakopanishad there is the story of gods, men and demons having gone for instruction to Prajapati, the common ancestor of them all, each received the syllable द from him. It had a different meaning in each case; for gods it meant दमयत, "control yourself", because conscious of their powers they tend to become unruly and for demons who are by nature cruel the exhortation was दयध्वम्, "be compassionate". But for men it was दत्त, "give away" because, they are inclined to be avaricious and do not like to part with things.

In the Taittiriyopanishad, the teacher in his farewell address to his students exhorts them about their duties in life. It is here that they are told to treat the guest as God and also how to give in charity श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भियां देयम् । संविदा देयम् । "Whatever thou givest, give it with faith, not without faith. Give generously, give with modesty, with fear, with sympathy."

Here, unlike in the Gita, the stress is not one selecting the right kind of recipient but on giving with faith, largeheartedly, without pride, without wounding the other man's susceptibilities and out of real fellow-feeling and sympathy. Sri Anandamayi Ma also says that we should look upon the person to whom we are giving as the form of God (भगवत् स्वरूप) and then there is no question of deserving or non-deserving. It is a matter of attitude and it solves the problem of having to decide the fitness of the receiver. Though the exercise of discrimination is a good quality, it tends to become an outlook of always suspecting the *bona-fides* of people and may even lead to an endeavour to find excuses for never giving anything in charity. Why not, therefore, be liberal in a large way and give whenever and whatever you can? It will certainly make a better man of you. It is not intended that you should neglect your duties to your family or impoverish yourself like *Chārudatta*, the hero of *Mricchakatikam*. Actually in these materialistic days there is little danger of anyone following in his footsteps. But charity must be made a part of our obligations in life so that we spare for those in want a little of what God is pleased to bestow on us. This is the spirit of renunciation taught in the Ishavasyopanishad :—

ईशावास्यमिदं सर्वँ यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

"Look upon everything that is in this changing world as pervaded by God, clothe it in Godhood and enjoy what you get only after renouncing it to Him. Do not be greedy; whose indeed is wealth ?" It is only if we link up charity in this way with our faith in the Supreme that we shall become really generous-hearted and gradually lose the sense of possessiveness of 'me' and 'mine'.

But charity does not consist only in giving something out of one's material possessions. There is a still higher way of giving which Sri Aurobindo points out as follows : "The culmination of the *sattwic* way of *dāna* will bring into action an increasing element of that wide self-giving to others and to the world and to God, *ātma-dāna*, *ātma-samarpaṇa*, which is the high consecration of the sacrifice of works enjoined by the Gita. And the transcendence in the divine nature will be a greatest completeness of self-offering founded on the largest meaning of existence. All this manifold universe comes into birth and is constantly maintained by God's giving of Himself and His powers and the lavish outflow of His self and spirit into all these existences ; universal being, says the Veda, is the sacrifice of the *Purūsha*. All the action of the perfected soul will be even such a constant divine giving of itself and its powers, an outflowing of the knowledge, light, strength, love, joy, helpful *Śakti* which it possesses in the Divine and by his influence and effluence on all around it according to their capacity of reception or on all this world and its creatures. That will be the complete result of the complete self-giving of the soul to the Master of our existence."

—

MĀTRI LILĀ

(July — October)

Mataji reached Vrindaban on July 20th by car from New Delhi, where she had spent one night. Gurupurnima was celebrated on the 21st. In the morning Didima's *Gurupuja* was performed by a Brahmachari of the Ashram in front of the Chheliya Mandir. Sri Krishnananda Avadhutaji and Sri Chakrapaniji attended the function. As usual people came in large numbers to offer fruits and flowers and to perform Didima's and Ma's *pūja*.

In the evening Mataji was present at the *satsang* in the hall and gave *darśana* for quite a while. A devotee had arranged for *Satyanārāyana Pūjā* in the Nitai-Gouranga temple. Mataji was in a gay mood and started singing the *Dwadash Akshara Mantra* out of her own *kheyāla.* Every one was thrilled to hear her sing it twelve times. Mataji also related the incident that made her sing it for the first time when Haribabaji was ill. We are not allowed to sing this mantra in our Ashram except in Mataji's or Sri Haribabaji's presence. As soon as the *Satyanārāyana Pūjā* was completed, Mataji took the plate with *bātāshā* (sugar-puffs) into her hand and showered us with 'Hari loot', chanting '*Hari bol*'. It was wonderful and inspiring.

A fairly quiet period followed after *Gurupurnima.* Most of the visitors from outside had left. Mataji's health was not very satisfactory and hours of *darśana* were short and limited. Visitors such as Sri Haribabaji, Sri Chakrapaniji, Sri Avadhutaji and Sri Vraj Jivan Goswamiji often dropped in to see Ma. Occasionally Mataji would attend Sri Haribabaji's satsang at the Oriya Baba Ashram, where Haribabaji stays.

From August 8th onwards *Rāsalilā* was performed daily in the Ashram hall. Mataji was present every evening.

Crowds poured in to see the Rāsa and the hall was usually packed tightly.

The *Jhulan* (swing festival) celebrations started on the 16th. An extremely beautiful swing had been erected in front of the Chheliya temple. *Pūjā* was performed daily by one of the Brahmacharis, while the Brahmacharinis were chanting *Stotras* (Sanskrit hymns). After the *Pūjā* Mataji would swing the *vigrahas* of Krishna and Radha that were placed on the *jhūlā*. One evering eleven swings were erected all round the hall and on each one the members of the *Rāsa* party dressed up as Rādhās and Krishnas would swing simultaneously.

The 19th of August, *Jhulan Pūrnima* marked the end and culmination of the festival. That day the Swami of the Gouriya Math paid a visit to our Ashram. This is also the festival of *Rakshābandhan*. After the puja was over, devotees were allowed to tie *rākhis* (bracelets) round Mataji's wrist and Mataji blessed everyone by tying *rākhis* round their wrists as well. Since this is the anniversary of the memorable night when Mataji gave herself *dikṣā* in 1922, it is always celebrated by midnight meditation from 11^{15}-12^{15}, in Ma's presence, preceded and followed by kirtan or chanting of hymns until 12^{30} or 1. a.m.

On the 20th *Mahārāsa* was performed in the open space in front of the hall. Ever since August 16th it had been raining heavily, but fortunately it cleared up on the 20th and bright sunshine broke through the clouds, so that the performance could take place in the open. Vast multitudes attended. The compound was entirely packed.

Then again a fairly quiet period followed, but as *Janmāstami* (Sri Krishna's birthday) came nearer, devotees from Bombay, Ahmedabad, Calcutta, Delhi and other places started pouring in. This *Janmāstami* was the first anniversary of the consecration of the beautiful Chheliya Mandir. Its special feature was that *Pūjā* was performed on two nights, on the 27th and 28th August respectively. Rajmata Vijaya Raje Scindhia of Gwalior and Raja Durga Singh of Solan who had been instrumental in having the Chhelia Temple built, were to be present for both functions, but due to heavy floods on the road to Mathura Raja Durga Singh reached only in the afternoon of the 28th.

In the evening of the 27th, at about 8 p.m., a *Nāma Yajña* was started by our Delhi Kirtan party who had arrived the same morning. After the *adhivāsa* the Kirtan continued for about an hour. It was stopped when the *Janmastami Pujā* started which had to be performed round midnight. *Abhishcka* (bathing) was done to the *vigrahas* in the temple. During the ceremony the girls sang for sometime and then the portion of the Srimad Bhagavata which describes Sri Krishna's birth was read out by two *Dandi Swamis* of our Ashram. In the early hours of the morning the *pūja* was followed by the distribution of *prasāda*.

The *Nāma Yajña* was resumed at sunrise and continued throughout the day until after 5 p.m. Mataji took part in the kirtana on both days and even sang towards the end. Mataji was very pleased with the beautiful and inspired Kirtana of the Delhi party, remarking that they created *bhāva* (an atmosphere of divine love and devotion). She suggested that other devotees also should gather friends and neighbours and conduct similar *Nāma Kirtanas*.

The Maharani of Gwalior took Mataji and Haribabaji to visit the temple built by her family. On her return Mataji sat near the *tulsi* grove. She then rolled near the *tulsi* plant and explained that Didima had rolled her in a similar way soon after she was born. Didima repeated this daily, invoking the blessing of the sacred *tulsi* on Mataji. When Mataji was big enough she used to go occasionally herself and roll in front of the *tulsi*. Today she did it because it was Sri Krisna's birthday.

Another feature of the day was the distribution of *prasāda* to all the workmen who had taken part in the construction of the large new water tank in the compound behind that of the main Ashram. It is to hold Jamuna water. It so happened that the first Jamuna water poured into the tank on August 27th, just before the first *Janmastami Pūjā* commenced. Its water was used for the *Abhisheka*. After the ceremony it was collected in buckets and distributed among the devotees.

In the morning of the 28th, there was again *Abhisheka* in the temple. This time it was a long and eleborate ceremony, which was witnessed only by a few. The main temple door was occasionally opened to give *darśana* to the multitude.

The midnight *Pūja* was very much like the one of the previous night except that it was carried out on a more elaborate scale. After the Sanskrit hymns and the recitation from the Srimad Bhagavata, Sri Narayan Swami read out an account of the history that led to the construction of Chheliya Mandir and also of the consecration ceremonies last year. After the completion of the *pūja* in the early hours of the morning, Mataji distributed garlands and *prasāda* to all present. Some devotees had to leave immediately after.

On the 29th *Nandotsava* (the celebration that expresses the riotous joy of the cowherds over Sri Krishna's birth) was observed. The morning *satsang* was held in the open, on the platform under the neemtrees in Mataji's presence. As every year on that day a few devotees dressed up as cowherd and milk-maids and performed a short comic play and dance amidst much laughter. Mataji joined in the fun and sang kirtan with great abandon for a while. Large earthen vessel full of curds were placed before her and Mataji threw curds into every body's mouth. It was an amusing sight to see everyone spattered with *dahi* (curds).

In the evening Mataji visited Govinda Mandir. After returning she again sat down under the neemtrees and later went to the new water tank. Part of the *abhisheka* water was poured back into the tank with the recitation of mantras in a short ceremony. Just at the close of it, a pandit arrived with a tray full of Behariji's *prasāda* and Mataji hereself distributed it to everyone. Mataji has named the tank "*Krishna Chheliya Ānanda Sarovar.*"

A large number of visitors left after Janmastami but it cannot be said that a quiet time followed. On September 2nd Sri Haribabaji's devotees performed 'Ramarcha' in the Ashram hall. On the 4th there was another exciting function. The Goswamiji of Radha vallabh Mandir had recently dreamt of Chheliya sitting in bower made up entirely of flowers and banana leaves. He expressed the desire to arrange for such a bower to be constructed in the Chheliya temple itself. The flower bungalow was made in the shape of a boat. The whole day long workmen were busy putting it together. The Jamuna was in spate at the time and some people felt that the floods would subside after Chheliya had his "*nauka vihāra*" (trip on a boat). The flower boat was extremely beautiful, a real piece of art. The *vigrahas* of Chheliya and Krishna were clad in the attire of boatmen and adorned with ornaments made of flowers. A number of Mahatmas came to have *darśana*, amongst them Sri Haribabaji and Swami Sharananandaji.

On September 7th a *Bhāgavad Saptāha* started. Mataji occasionally attended the Sanskrit readings in the mornings and the Hindi lectures in the evening. On one day of the *Saptaha* which happened to be the *Bhāgavata Jayanti* (birthday anniversary of the Bhagavata, we were fortunate to have Sri Akhandanandaji speak to us.

After the Saptaha there was a short spell of comparative quiet. But as Durga Puja was approaching guests began to arrive from great distances and Mataji would occasionally favour us with some words of advice or tell stories from the past.

On October 1st Mataji, at the request of devotees began to sing the '*Dwādasa Akshara Mantra* on condition that the singing of it would be continued for twenty-four hours. The Kirtan ended on the 2nd afternoon when Mataji again sang for the last 10 minutes. It was followed by kirtan of '*Krishna Chheliya Ānanda Lāl Braja Ramana Prāṇa Gopal*' for a short time. On October 3rd Kirtan was again kept up for 12 hours, 6 hours of "*Jai Śiva Śankara*" and 6 hours of "Ma Durga........".

The *Navarātri* was performed from 4th to 13th October. The Puja was specially held this year in Vrindaban Ashram at the cordial invitation of Sri Suresh Mahindra of Bombay and his wife Raj Kumari Indira, daughter of H. H. Raja Saheb Jogendra Sen of Mandi State. We hope to write in details about the function in our next issue.

Mataji paid a short visit to Varanasi very soon after the Pujas and returned to Vrindaban again on the morning of 27th to be present in time for the *Diwali*, which was held on 1st November.

Mataji is going to remain in Vrindaban also for the next Samyam Saptaha that will be held from 9th to 15th November.

It is our painful duty to record with profound sorrow the sad demise during the current year of two distinguished children of Mataji, who always used to take active interest in the welfare of our Ashram.

Dr. Panna Lall, Bar-at-law, C. S. I., C.I.E., I.C.S, who retired as Adviser to the Governor, U.P., was a great scholar too and was immensely respected by all concerned in different parts of the country for the nobility and integrity of his character and various other qualities of his head and heart. He came in contact with Mataji nearly thirty years back and was a regular visitor to our Ashrams ever since then. Dr.

Panna Lall was a devout *Vaishnava* also and he installed the exceedingly beautiful statues of Nitai-Gouranga in the Vrindaban Ashram temple. He always urged his numerous friends and relations to come in close contact with Mataji and have her blessings. After protracted illness he passed away in New Delhi on 27th May at a ripe old age after having lived the fulness of his illustrious life.

The cruel hands of death have snatched away from us another sincere and staunch devotee of Mataji, Sri Jotindro Nath Banerjee, a renowned Advocate from Varanasi. He was known to Mataji from the thirties and rendered invaluable service to the Ashram in various capacities. For several years he was also a Vice-President of our organisation, Shree Shree Anandamayee Sangha. After a very short illness he suddenly left this world on 4th October.

We pray to Mataji for bestowing eternal peace to the departed souls.

——

A REQUEST

We propose to bring out a new souvenir volume on Mother in English. It is our ardent desire that all those who have come in contact with Mother should write a few lines, preferably not exceeding three foolscap pages, about how they happened to come in contact with Mother and about their experiences too.

The articles may kindly be sent at an early date to :

MA FEROZA TALEYARKHAN
Rutton Villa
Cumballa Hill
Bombay—26

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA
LIST OF PUBLICATIONS

Hindi

Matri Darshan—"Bhaiji"	2-50
Sad Vani "	1-00
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I to VII	16.50
Ma Anandamayee—Dr. Pannalal	2-50
Akhanda Mahāyajña—Gurupriya Devi	2-50
Kirtan Rasa Swarūpa	6-00
Sankirtan, Stav, Aratī	0-50

Bengali

Matri Darshan—"Bhaiji"	3.00
Sad Vāni—"Bhaiji"	1-50
Mātri Vāni	0-75
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I–XII	29-00
Ma Anandamayee Upadeshamrita Sangraha	1-50
Akhanda Mahāyajña " "	2-50
Kirtan Rasa Swarūpa	6-05
Suno Bali Maer Kotha —Sailesh Brahmachari	1-25
Mātri Lila Sankirtan	0-31
Anandamayee Ma—Ganga Samiran	2.50
Namavali— "	0.50

Gujarati

Mātri Darshan—"Bhaiji"	1.50
Ma Anandamayee Ke Sannidhyame, Part I & II —Br. Kantibhai	
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand	2-00

English

Mother As Revealed to Me—"Bhaiji"	4.00
Mātri Vāni (Sayings)	1-50, Special edition 2-50
Words of Sri Anandamayee Ma	3-00, Special edition 5.00

Photoset

Album of Mother's pictures	1-50
Photos—various sizes	0.40 to 15 00
Lockets	1-25

श्रीश्री आनन्द मयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. N. 4726/57

ānanda VĀRTĀ

HINDI & ENGLISH

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Vol. XV. April, 1968 No. 4

✻ श्री श्री माँ आनन्दमयी ✻

श्री श्री माँ के जीवन का धारावाहिक इतिहास जो इधर निरन्तर प्रकाशित हो रहा था, विभिन्न कारणों से उनका प्रकाशन बन्द रहा। अब श्री श्री माँ के चरणों के आशीर्वाद से चार भाग हिन्दी में प्रकाशित हो गया।

• सुन्दर गेटअप • आकर्षक छपाई • ४० पौण्ड ग्लेज कागज
इसके अलावा प्रत्येक भाग में श्री श्री माँ के दो
नयनाभिराम चित्र

प्रत्येक भाग का मूल्य तीन रुपया मात्र

अष्टम भाग

•

- वैद्यनाथ, इलाहाबाद, विन्ध्याचल बड़ौदा, दिल्ली, काशी आदि स्थानों की भ्रमण लीलाएँ—
- चान्दोद-व्यास में अज्ञातवास
- भोलानाथ जी के साथ जीवन यापन तथा दीदी माँ का संन्यास ग्रहण करना आदि।

पृष्ठ संख्या—२०८

नवम भाग

•

- श्री श्री माँ के जन्म-स्थान खेओड़ा, ननिहाल सुलतानपुर की यात्रा—
- विन्ध्याचल में यज्ञ, बैजनाथ में ताराचन्दजी के यहाँ मूर्त्ति स्थापित करना।
- सूक्ष्म में अनेक लोगों पर कृपा करना आदि।

पृष्ठ संख्या—२५०

दशम भाग

- श्री श्री माँ के दिव्य जीवन की अनेक स्मरणीय घटनाएं—
- सूक्ष्म में अनेक अलौकिक दर्शनादि का वर्णन
- जन्म की अप्रकाशित अनेक निगूढ़ बातें,
- जमनालाल जी, महात्माजी, राजेन्द्र बाबू, बिनोवा भावे से मुलाकातें इस भाग की विशेष घटनाएँ हैं।

पृष्ठ संख्या—२७२

एकादश भाग

- श्री श्री माँ का मौन धारण, अलमोड़ा क्षेत्र के जटाजूट धारी महात्माओं का सूक्ष्म में आगमन—
- उदयशङ्कर, यशोदा माता और पन्नालालजी से मुलाकात—
- शारदापीठ के शङ्कराचार्य को अन्तिम काल में दर्शन देना—
- स्वामी अखण्डानन्द का तिरोधान

पृष्ठ संख्या—२२७

प्राप्ति स्थान

श्री श्री आनन्दमयी संघ

भदैनी—वाराणसी–१

ग्राहकों से विशेष निवेदन

'ग्रानन्द वार्ता' के प्रकाशन मास में परिवर्तन कर देने के कारण वर्तमान ग्रंक के प्रकाशन में काफी विलम्ब हो गया है। इसके लिए हमें बहुत ही खेद है।

भविष्य में 'ग्रानन्द वार्ता' के पहले, दूसरे, तीसरे ग्रौर चौथे ग्रंक क्रमशः जनवरी, एप्रिल, जुलाई ग्रौर ग्रक्तूबर महीनों में प्रकाशित हुग्रा करेंगे।

वर्तमान ग्रंक 'पन्द्रहवें' वर्ष का 'चौथा' ग्रंक है। 'सोलहवें' वर्ष का 'पहला' ग्रंक जनवरी १९६९ में प्रकाशित होगा। इस वर्ष में दो ग्रौर ग्रतिरिक्त ग्रंक क्रमशः जुलाई ग्रौर ग्रक्तूबर में छपेंगे।

जिन ग्राहकों ने इस वर्ष के चौथे ग्रंक तक के चन्दे दिये हैं उनसे सविनय निवेदन है कि कृपया वे दो ग्रतिरिक्त ग्रंकों के लिए ३) मनी ग्रार्डर से भेज दें। चन्दे की किताब में कुछ ग्रावश्यक परिवर्तन किये जा रहे हैं। इसके कारण पाठक वर्ग को जो ग्रसुविधा हुई उसके लिए बार बार क्षमा याचना।

—प्रकाशक

Ānanda Vārtā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teaching of Mata Anandamayee and with other religio-philosophical topics

* * *

BOARD OF EDITORS

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M. A., D. Litt.
Padma Vibhushan
Kumari Lalita Pathak, M. A.
Kumari Padma Misra, M.A., Ph.D, Acharya
Kumari Bithika Mukerji, M. A., D. Phil.
Brahmacharini Atmananda.
Sri Sailesh Brahmachari.
Sri Amulya Kumar Dutta Gupta, M. A. B. L,
Sri K. Bose,—*Managing Editor.*

* * *

★ *ANNUAL SUBSCRIPTION* ★

India—(Postage free) Rs. 6/- only
Foreign—(By Sea Mail) Rs. 9/- or 15 shillings or $ 2·00
" (By Airmail)—Rs. 22 - or £ 1-10-0 (Europe etc.)
" " —Rs. 35/- or $ 5.50 (North & South America.

ĀNANDA VĀRTĀ

GENERAL RULES

1. The magazine is published in three separate editions—(1) Hindi-English (2) Bengali-English (3) English. From the beginning of 1969 the magazine shall be published four times a year, in the months of January, April, July & October. The year shall begin from January.

2. Subscriptions are always payable in advance. For eign subscriptions may be sent either by International Money orders or Postal orders.

3. Subscriptions to be sent to :—

The General Secretary, Shree Shree Anandamayee Sangha, Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

4. All correspondence regarding 'Ananda Varta' should mention without fail the subscription number and be addressed to :—

The Managing Editor, "Ananda Varta", Shree Shree Ma Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

5. Complaints about non-receipt of the magazine should be sent *within the month of publication.*

6. Any change of address should be intimated to the Managing Editor at the earliest possible opportunity.

7. Subscribers are requested not to dishonour any issue of the magazine sent by V. P. P., as this entails a loss to the Ashram fund. They may kindly inform us *beforehand* if they desire to discontinue subscribing to the magazine.

Published by Shri K. Bose, for
Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi.
Printed at the Indian Press (Pte.) Ltd, Varanasi-Branch VARANASI.

CONTENTS

Hindi Section

1—मातृवाणी 143

2—आनन्दमयी माँ कैसे बोलती हैं ?—डा० श्री प्रफुल्लचन्द्र दत्त 145

3—श्री वृन्दावन में अठारहवाँ संयम सप्ताह—श्री अयोध्या प्रसाद दीक्षित 151

4—मातृ-सत्संग—स्वामी भागवतानन्द गिरि ... 155

5—कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा—श्री 'दत्त' ... 163

6—डायरी के कुछ पृष्ठ—गुरुप्रिया देवी ... 179

CONTENTS

English Section

1. Mātri Vānī 157

2. What does Sri Anandamayi Ma say?
—Dr. Prafulla Chandra Dutta 160

3. From the Diary of a European
—Melita Maschmann 167

4. Ma—My Sadguru
—Saroj 172

5. A little Anthology
—On oneness 177

6. Sivananda Gita 180

7. The Supreme optimism of Hinduism
—K.S. Ramaswami Sastri 185

8. Sacred Places of Kashmir, Jammu and Ladhak—A devotee 187

9. Matri Lila 192

Courtesy: · Sri M. K. Thacker, Dhanbad.

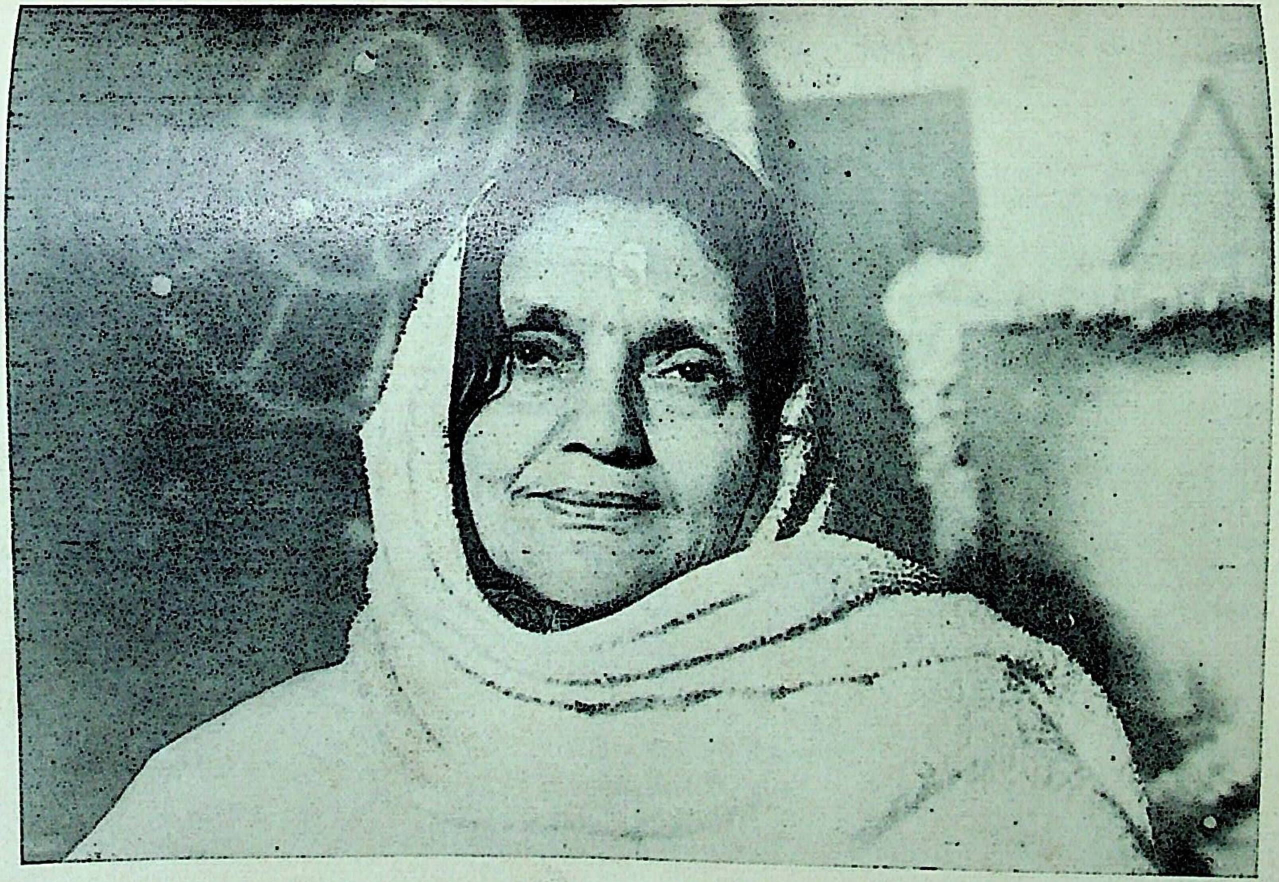

Katrasgarh (Dhanbad) January, 1968.

श्री श्री माँ का ७३ वाँ जयन्ती उत्सव

परम हर्ष की बात है कि श्री श्री माँ का ७३ वाँ शुभ जन्मोत्सव आगामी २ मई से १५ मई १९६८ तक श्री श्री आनन्दमयी संघ के उद्योग से वाराणसी आश्रम में होना निश्चय हुआ है। इस उत्सव में श्री श्री माँ का पवित्र उपस्थिति की आशा की जाती है।

मातृभक्त सन्तानगण से यह अनुरोध है कि उक्त पुण्यपर्व में सम्मिलित होकर आनन्द लाभ करें।

पत्रादि लिखने का पता
जनरल सेक्रेटरी
श्री श्री आनन्दमयी संघ
भदैनी, वाराणसी।

भवदीय
श्री दुर्गा सिंह
(बघाट नरेश)
सभापति

Ānanda Vārtā

"अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपनेमें आप।"

VOL. XV] FEBRUARY, 1968 [NO 4.

—मातृवाणी—

जिस अक्षर से मन में त्राण हो, वही मंत्र है। अक्षर चिन्मय—शब्दब्रह्म-नामब्रह्म। नाम रूप में उन्हें पाया जा सके यही चिन्तन रखना चाहिए। मेरे भीतर जो बीज है, उसी से वृक्ष होगा, यह विश्वास रखो। पुनः बीज वपन करने से जैसे पानी देना पड़ता है, खाद देना पड़ता है, उसी तरह सत्संग रूपी खाद और पानी देकर मंत्र रूपी बीज को अंकुरित करना पड़ता है। जैसा चाहोगे, वैसा प्राप्त करोगे।

× × × ×

विग्रह को, नाम को छोड़कर न रहो। चलते-फिरते, खाते-सोते सर्वदा नाम लेकर रहो। जितना पानी दोगे, खाद दोगे, ठीक उतनी ही जल्दी वृक्ष जन्म लेगा। अगर जल्दी नहीं हुआ तो समझ लेना कि दोष मेरा है। समझ कि अपने ही जन्म जन्मान्तर की चिन्ताओं को दूर करके, मैं उनके चरणों में पूर्ण रूप से अपने को अर्पित नहीं कर पा रहा हूँ। अवगुण सब मेरे हैं।

× × × ×

यह शरीर सर्वदा कहता है—अमरपन्थी बनो, मृत्युपन्थी नहीं। अमर पथ पर चलो। तुम तो अमृत अमर हो, उसे प्रकाश करो।

× × × ×

सत्यस्वरूप भगवान् के संग का अर्थ है—सत्संग। जिन्हें आश्रय बना लेने पर सभी दोष दूर हो जाते हैं, उन्हीं का आश्रय लो। अवगुण से शुभगुण अवश्य पाओगे। वे ही पिता—वे ही माता—वे ही बन्धु—वे ही सखा, सब। यह बोध रखना पड़ेगा। वे क्या बिना दिये रह सकते हैं? तुम्हारी इच्छा है और वह प्रकाश

न हो, ऐसा तो हो नहीं सकता। मार्ग लम्बा है या छोटा, इस प्रश्न को मन में स्थान नहीं देना चाहिये। मुझे प्राप्त करना है, यही भावना रखो। तुम अपनी पूर्ण शक्ति लगाओ तभी तो तुम प्राप्त कर सकोगे। कितना सुन्दर! पकड़ने पर सब आ जाते हैं।

आना-जाना नहीं है। मैं तो आत्मा हूँ, यह भाव रखो। आवागमन से मुक्ति पाने के लिए गुरु का आश्रय लेना पड़ता है। कहाँ आना—कहाँ जाना? जिनके आश्रय में जाने पर मुक्ति है, वे तो सर्वत्र स्वयं हैं।

× × × ×

जितना भगवत्-अनुराग होता है, उतना ही विषय के प्रति वैराग्य आता है। भगवान् से मन लगाने का अर्थ है—भगवान् के प्रति आकर्षित होना। और वैराग्य होने का अर्थ है--विषय के प्रति वैराग्य होना। भगवान् के प्रति अनुराग होना और विषय के प्रति वैराग्य का आना एक साथ होता है। त्याग हो जाता है। त्याग करने का प्रयोजन नहीं होता। यही त्याग ही असली त्याग है। तुम लोग तो परमानन्द को त्याग कर चुके हो। तुम्हीं लोग असली त्यागी हो। महान् को त्याग करके तुम सब महात्यागी बने हो।

× × × ×

भगवान् के राज्य के खेल कितने सुन्दर हैं। आत्मा—एक आत्मा ही तो। तब भी तुम, मेरा, तुम्हारा यही सब। अगर हमारा-तुम्हारा कहना पड़े तो भगवान् के नित्य दास। जगत् रूप में, परिवार रूप में कितने जन्मों में हमारा-हमारा करते आये हो। मैं अमृत, आत्मा—एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति--उनका ही तो। अगर हमारा-तुम्हारा रहे तो भगवान् में लगाओ। बरफ में क्या है?--पानी ही न? इसी तरह निराकार-साकार। साकार क्या है? स्वयं ही क्रिया, क्रिया रहित क्रिया। आकर्षण--अपने भीतर ही अपना आकर्षण।

× × × ×

जब से भगवान् हैं तब से माया है। भगवान् कब नहीं हैं? इसीलिए माया भी अनादि है। अन्त कहाँ है? किसका आकर्षण? किसका प्रकाश? विचार करो। अपना जो है उसका ही जब प्रकाश हुआ तब माया किसकी? अपने को पाने की चेष्टा करो --दास रूप में चाहिए--आत्मा रूप में चाहिए। तुम अमृत-आत्माराम। जन्म मृत्यु भोग तब क्यों है? अपने भीतर ही आप। (१२।१४२)

——

आनन्दमयी माँ कैसे बोलती हैं ?*

डा० श्री प्रफुल्लचन्द्र दत्त

आनन्दमयी माँ क्या कहती हैं ? इस प्रश्न के लिए व्यर्थ प्रयत्न करता रहा उस दिन। फिर भी वह सत् चेष्टा थी – यही जरा सान्त्वना की बात है। माँ की वाणी के रूप में जिन बातों का मैं उल्लेख कर चुका हूँ, उन बातों में माँ के अपने कण्ठ से निःसृत शक्ति, प्रेरणा और माधुर्य मिश्रित नहीं था। माँ की वाणी सिर्फ बातें नहीं, माँ की बातों में जाने और कितना कुछ मिश्रित रहता है। वह सब वस्तु क्या-क्या हैं, उसका वर्णन मैं कैसे करूँ ? माँ की बातों को सुनने का जिन्हें सौभाग्य प्राप्त हो चुका है, वे ही यह जानते हैं कि उन बातों से चित्त में लहरें उत्पन्न होने लगती हैं,--उन बातों में है विराट् पावित्र्य विधायनी शक्ति–उसमें है अनन्त प्रशस्ति, है एक जादूमय माधुर्य। उस दिन जो बातें मैं बता चुका हूँ, वे मानो थे कागज के फूल, असली फूलों के माधुर्य का वर्णन मैं किन शब्दों में करूँ—यह मेरे लिए वेदना का विषय है।

आगरपाड़ा के आश्रम में एक दिन देखी---एक साधारण घटनी। एक वृद्धा भीड़ के कारण छिटककर माँ के ऊपर आ गिरी। माँ उनकी ओर देखती हुई बोलीं "भीड़ मत करिये माताजी।"

वृद्धा आनन्द से उच्छ्वसित हो उठी—"खैर, माँ की बात तो सुन पायी जरी सी।" ऐसा है माँ की बातों में जादू—जिसे सुनने के लिए मनुष्य व्याकुल भाव से प्रतीक्षा करता रहता है, चाहे जैसे भी हो, कम से कम सुनने को तो मिले। माँ की बातें—सिर्फ बातें नहीं—वह क्या है, इसे मैं कैसे प्रकट करूँ ?

रासबिहारी एवेन्यू स्थित नाग महाशय के भवन में गीता जयन्ती का उत्सव हो रहा था। मंच पर माँ और अनेक पण्डित बैठे हुए थे। उस दिन गीता के सम्बन्ध में विभिन्न बातों पर पण्डितों में आलोचनाएँ हो रही थीं। उसी समय एक सज्जन ने एक प्रश्न माँ के पास भिजवाया। माँ ने उक्त प्रश्न एक पण्डित को दे दिया। पण्डाल की समस्त जनता की ओर से प्रतिवाद उठा—"माँ हम आप के मुँह से सुनना चाहते हैं, पण्डित जी के मुँह से नहीं।"

---

* चन्दन नगर में स्थित संस्कृति और प्रार्थना मन्दिर में कथित।

माँ ने विनीत भाव से कहा—"इस छोटी लड़की की उल्टी-पुल्टी बातें होती हैं। कहाँ पढ़ाया-लिखाया पिताजी? इसीलिए पण्डित पिताजी की जबानी सुनिये न! इसी शरीर के ही पिताजी हैं।"

लेकिन जनता की ओर से पुनः प्रबल आपत्ति आयी—"हमें आपकी उल्टी-पुल्टी बातें ही अधिक पसन्द हैं, माँ।'

आखिर माँ की बातें सुनने के लिए लोग इतना व्याकुल क्यों रहते हैं? माँ की बातों में न तो पाण्डित्य है और न युक्तियों का धूम्रजाल। माँ की बातें मानों सुस्पष्ट निष्कम्प दीप-शिखा है। उसमें है स्निग्ध प्रकाश। वह प्रकाश कलुषित चित्त की कालिमा को साफ कर देता है, अन्ध तामसिकता को हरण करता है, ताप-दग्ध चित्त में शान्ति का प्रलेप लगाता है।

गंगा समीरण नामक लेखक ने लिखा है—"माँ के मुँह की बातों की तुलना नहीं की जा सकती। आकाश के सूर्य तथा चित्रकार द्वारा निर्मित सूर्य में जो अन्तर है, माँ के मुँह की बातों और पुस्तकों की विद्या में वही अन्तर है।" मुझे इसका अफसोस है कि मैं कैसे आकाश के सूर्य को आप सबके निकट ले आऊँ?

अगर सिर्फ बातों की बनावट की चर्चा करूँ तो ऐसा लगता है जैसे माँ की बातें कविता की भाँति हैं, उनमें है सूक्ष्म सुचारु अलंकार। जैसे—पण्डित की बुद्धिमत्ता की ओर इंगित करती हुई माँ कभी-कभी कहती हैं—"तुम लोगों का 'बोझा' तो 'बोझा' ही।" भावस्य वेत्ता न तु वन्दनस्य। द्वन्द्व जगत् के नियम, इस विषय पर माँ कह रही हैं—"जो दुइ लेकर है, वही दुनिया है।" भगवान् दूर हैं, यह बोध हमारे लिए अज्ञान मूलक है। वे तो अपने से भी अपने हैं।

माँ कहती हैं—"दूर बुद्धि ही दुर्बुद्धि है।" देह धर्म के बारे में कहती हैं—"देह माने—देओ-देओ।" अविराम प्रचेष्टा के लिए अनुप्रेरणा देते समय कहती हैं—"विराम ही वेराम है।" और भी है—"गोल वस्तु को (रुपये को) बड़ा मानना ही है गोलमाल।"—"एकान्त न होने पर श्रीकान्त को पाया नहीं जा सकता।"—"स्वधन लाभ के लिए जो चेष्टा की जाय, वही है—साधना।"—"तपस्या माने तप सहना।"—"पूर्ण अगर होना चाहते हो तो शून्य हो जाओ।" हरिकथा ही कथा है और सब वृथा व्यथा।" इसी तरह माँ की सारी बातें छोटी-छोटी कविताओं की तरह हैं। लेकिन यही बातें जब माँ के मुँह से उच्चरित होती हैं तब वे जैसे अपूर्व संगीत बन जाती हैं।

इन बातों की भाषा के अलावा माँ की और अन्य भाषाएँ हैं, माँ की हँसी की भाषा। इस बारे में गंगा समीरण जी ने अच्छा लिखा है—"माँ के मुँह की बातों का साथी माँ के मुँह की हँसी है। माँ जब हँसती हैं तब ऐसा लगता है, मानो वह हँसी देह-बन्धन-विमुक्त प्राण-शक्ति का एक संगीत झंकार है। वह हँसी हृदय-पूर्ण, आनन-पूर्ण और प्राणहरण करने वाली होती है। माँ के मुँह से निःसृत हँसी का झरना आनन्द नदी बन, विश्व जन को आनन्द-स्नान कराता है।

और माँ की दृष्टि की भाषा ?—माँ की दृष्टि जहाँ जाती है, लगता है वहीं जागरण की चेतना उतर आती है। माँ की दृष्टि मानो नवजीवन की दीक्षा है, माँ की दृष्टि मानो बातें करती है विभिन्न जनों के अन्तर में —विभिन्न रूपों में। जो सुनते हैं उस दृष्टि की भाषा—वे ही अनुभव करते हैं उस वस्तु की महिमा।

संभवतः माँ की सबसे शक्तिशाली वाणी है— माँ की भाषा विहीन नीरव वाणी। माँ कहा करती हैं—"भाषा तैरती हुई चलती है।" अर्थात् गंभीर तत्त्व को व्यक्त करने का अधिकार भाषा में नहीं है।

माँ का भाषा-विहीन आह्वान देश-देशान्तर में व्याप्त है। वह आह्वान कितने अलौकिक उपायों से आस्ट्रेलिया, अमेरिका, फ्रांस, इटली, जर्मनी, इंगलैण्ड आदि देशों में फैल जाता है—भौगोलिक और राजनैतिक सीमाओं को पार कर जाता है। सत्यानुसन्धानी मानव माँ के पास दौड़े हुए आते हैं। कोई स्वप्न में, कोई प्रार्थना के समय, कोई किसी अलौकिक उपाय में पाता है माँ का सन्धान। माँ का भाषा-विहीन सूक्ष्म आह्वान कैसे उनके निकट पहुँच जाता है, इसे माँ ही जानती हैं।

अध्यक्ष स्व० वीरेन्द्र मुखोपाध्याय की जबानी सुन चुका हूँ - पता नहीं कैसे शिमला में स्थित एक मोक्षार्थ साधु को माँ की सूक्ष्म वाणी प्राप्त हुई थी—'मैं आऊँगी, तुम्हारी मुक्ति-विधान के लिए, अन्तकाल में आऊँगी।' जब उसका अन्तिम काल आया तब वह रोता हुआ बोल उठा—'माँ, कहाँ तुम आयी ? मेरा समय आ गया।' ठीक उसी समय माँ अपने स्थूल शरीर में वहाँ साधु के आश्रम में पहुँच गयीं। साधु के ब्रह्मतालु को स्पर्श कर उसे मुक्ति दीं।

माँ की यह भाषा विहीन वाणी सिर्फ देश की सीमा का ही लंघन नहीं करती, काल की सीमा का भी अतिक्रम कर जाती है। मातृभक्त ब्रह्मानन्द जी की जबानी सुन चुका हूँ कन्या कुमारी में एक साधु का दर्शन वे पायी थीं जो कभी सूक्ष्म में, कभी स्थूल रूप में, कभी दृश्य भाव में, कभी अदृश्य होकर रहते थे। माँ की बातों और घटनाओं से ज्ञात हुआ कि वे अढ़ाई सौ वर्षों से उसी स्थान पर रहे—अपनी

साधना पीठ में—माँ आनन्दमयी के दर्शन की प्रतीक्षा में। अढ़ाई सौ पूर्व वे कैसे जान सके थे -- माँ के आगमन का विवरण ? यह कौशल केवल माँ ही जानती हैं जो आज भी अनहोनी को होनी बना देती हैं।

सिर्फ मानव ही नहीं, बल्कि जीव-जन्तु तक सुन चुके हैं—माँ का भाषा विहीन आह्वान। वृन्दावन के उस साँड़ की कहानी याद आती है। माँ की भाषा विहीन वाणी नीरव आह्वान न जाने कैसे उस निर्बोध जन्तु के अन्तर तक पहुँच गया था। वह मानव की भीड़ को चीरता हुआ आया माँ का स्नेह स्पर्श पाने के लिए। इस तरह की अनेक घटनाएँ हैं।

माँ के निकट बैठकर अनेक लोग माँ की नीरव वाणी सुनते रहते हैं—अपने-अपने आधार के अनुसार। प्रसिद्ध जर्मन लेखिका मेलिता मैसमान ने अपने साथ माँ की नीरव मुलाकात के बारे में लिखा है—"माताजी को देखते समय मेरा सारा अन्तर काँप रहा था। सबसे अधिक अभिभूत और हतबुद्धि इस बात पर हो गयी थी कि मेरी विश्व कल्पना में 'माँ आनन्दमयी' रूप जैसे एक तथ्य को, मिला नहीं पा रही थी। मैं यह अनुभव करती रही कि मैं एक परिपूर्ण प्रशांति के अन्तर्गत हूँ और वह प्रशांति मुझे प्रत्येक क्षण पूर्ण बनाती जा रही थी। परमेश्वर मुझे माताजी के भीतर से दर्शन दे गये हैं—अपने जन की घनिष्ठतावश।

अनेक लोगों की जबानी विवरण से ज्ञात होता है कि माँ के निकट प्रश्न ले जाने पर वे उत्तर देने के बदले हँसी-ठट्ठा और काम की बातें करती रहती हैं—दूसरों के साथ। प्रश्नकर्त्ता के अन्तर में प्रश्नों का समाधान उधर अपने आप हो जाता है– सूक्ष्मबोध के माध्यम से।

एक बार एक भक्त गोपनीय प्रश्न लेकर माँ के निकट आया था, परन्तु हर समय 'प्राइवेट' सुयोग प्राप्त नहीं होता, इसलिए वे प्रणाम की लाइन पकड़कर पहले ही माँ के चरणों पर प्रणाम करते हुए बोले—"माँ एक प्रश्न था।"

माँ ने पूछा—"कौन सा प्रश्न ?"

"प्रश्न मन ही मन दुहरा रहा हूँ, समझ लें।"

माँ हँसती हुई बोलीं—"जवाब भी दे रही हूँ, मन ही मन समझ लो।"

प्रश्नकर्त्ता प्रणाम कर चले गये। दूसरे दिन उक्त सज्जन को पुनः आश्रम में देखा गया। माँ के द्वार के पास बैठे अश्रुपात कर रहे थे। उनसे पूछा गया—"क्या हो गया आपको ?"

वे बोले—"बहुत कुछ—अपूर्व।"

सिस्टर दया जब आयी थीं माँ के पास तब इसी प्रकार का नीरव-योग हुआ था—उनका माँ के साथ। उसी भाषा-विहीन आन्तर-योग की चर्चा वे अपने एक लेख में कर चुकी हैं।

"हँसी की उत्पत्ति कहाँ से है?" भाईजी के मन के इस प्रश्न का उत्तर माँ ने दिया था—भाषा व्याख्या के द्वारा नहीं—आन्तर अनुभूति को जाग्रत कर—आन्तरवाणी के माध्यम से।

माँ की नीरव वाणी फैली हुई है--समस्त विश्व में, अनन्त अम्बर में, भूधर स्थित सलिल में। माँ की नीरववाणी ज्योतिष्क में और बालू के कण-कण में, भोर की काकली और सन्ध्या के गैरिक वर्ण में व्याप्त है। इस वाणी को सजग भाव से सुनना पड़ता है नीरव होकर। हमें आत्म प्रचार की जय-ध्वनि को नीरव करना पड़ेगा। नीरव करना पड़ेगा अहम् का अन्ध आस्फालन, नीरव करना पड़ेगा अजस्र कामनाओं के आर्त्तनाद को। पूर्ण नीरवता के बीच हम सुन सकेंगे--माँ की भाषा हीन अपूर्व वाणी, इसीलिए नीरवता ही हमारी कामना है।

"श्री वृन्दावन में अठारहवाँ संयम सप्ताह"

श्री अयोध्याप्रसाद दीक्षित

माँ की असीम अनुकम्पा से इस वर्ष ९ नवम्बर से १५ नवम्बर तक वृन्दावन के पावन तीर्थ स्थल पर संयम सप्ताह का पवित्र आयोजन किया गया जिसमें मुझे भी सम्मिलित होने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ ।

वृन्दावन धाम का वातावरण तो वैसे ही श्री राधा-माधव के प्रेम से ओत-प्रोत है उस पर करुणामयी माँ की उपस्थिति में संयम व्रत का आयोजन उसे और भी दिव्य बना देता है ।

हम लोग जब दुर्गा पूजा के अवसर पर माँ के दर्शनों के लिये गये थे तभी संयम सप्ताह में सम्मिलित होने के लिये माँ से इच्छा प्रकट की थी, और माँ ने स्वीकृति प्रदान भी कर दी थी । अतएव हम लोगों ने ८ नवम्बर को जाकर माँ के श्री चरणों में प्रणाम किया ।

९ नवम्बर से व्रत का प्रारम्भ हो गया । प्रथम श्रेणी का व्रत अपेक्षाकृत कठिन समझकर हम लोगों ने द्वितीय श्रेणी का व्रत रखने का निश्चय किया क्योंकि ऐसा व्रत रखने का हमारा पहला ही अवसर था ।

प्रातः साढ़े पाँच बजे से ही ऊषा कीर्तन प्रारम्भ हो गया । उस समय प्रायः अँधेरा ही था । कार्तिक मास की गुलाबी सर्दी और शान्त रजनी का अन्तिम प्रहर । कीर्तन की पावन स्वर लहरी वृन्दावन धाम के पवित्र वातावरण में यमुना के कल-कल निनाद के साथ-साथ तरङ्गित होकर एक अलौकिक आनन्द की सृष्टि कर रही थी । सर्वत्र माँ की सूक्ष्म उपस्थिति अनुभूत हो रही थी ।

साढ़े सात बजे सामवेद का सस्वर पाठ प्रारम्भ हो गया । वेदपाठी एक कर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे । छलिया जी के मंदिर के हाल में चौकियाँ लगाकर एक लम्बा मेज बनाया गया था, जिसमें मंदिर के पंचेश्वर महादेव की ओर श्री माँ का मंच था, जिस पर श्वेत धवल चादर और गावतकिये पड़े थे । श्वेतातिश्वेत अति धवल वस्त्रों में परम पावनी, कृपाकारिणी, आनन्दमयी माँ सारे वातावरण को प्रकाशमान करती हुई विराजमान थीं । उसी पंक्ति में कई चौकियाँ पड़ी थीं, जिन पर गेरुये रंग की रेशमी चादरें और गावतकिये पड़े थे । इन चौकियों पर भारत के प्रसिद्ध संत महात्मा विभिन्न समयों में विराजित होते थे ।

मंच के समीप प्रबन्ध कर्त्ता आश्रम के सन्तों के बैठने का स्थान सुरक्षित था और यहीं ब्रह्मचारियों तथा कीर्तन करने वाले व्रतियों का स्थान था। माँ के मञ्च के समीप आश्रम की कन्यायें तथा अन्य स्त्री भक्त के बैठने का स्थान था।

मंच के निकट ही रस्सियों से घेर कर व्रती पुरुषों और स्त्रियों के बैठने के लिये अलग-अलग स्थान बनाये गये थे। स्त्रियाँ मंदिर की ओर माँ की तरफ और पुरुष बाहर के दरवाजे के समीप बैठते थे। इस घेरे के बाहर अन्य अभ्यागत समय-समय पर आकर बैठते थे। मंदिर के बाहर चबूतरे पर भी दरी बिछ जाती थी क्योंकि भीड़ अधिक होने पर वहाँ भी आगन्तुक आकर बैठते थे।

सारे वातावरण में ऐसी अलौकिक शान्ति और आनन्द प्रवाहित होते थे जिनकी केवल अनुभूति हो सकती है वर्णन नहीं।

८ बजे से माँ की उपस्थिति में एक घंटे का ध्यान, जप, मौन का समय था। इस समय हाल बन्द कर दिया जाता था। शंख ध्वनि हो जाने पर कोई बाहर से अन्दर अथवा अन्दर से बाहर नहीं जा सकता था। पूज्य अवधूत जी महाराज भी प्रायः इस मौन, ध्यान में सम्मिलित होते थे। उस समय ऐसा पवित्र, शान्त, सौम्य एवं आनन्दमय वातावरण बन जाता था जिसकी केवल अनुभूति की जा सकती है। सभी व्रती अपनी-अपनी अवस्था, सामर्थ्य के अनुसार ध्यानगम्य स्थिति प्राप्त करते थे। कई एक तो वस्तुतः समाधिस्थ से लगते थे। अन्य विभिन्न अवस्थाओं में अपने स्वरूप का ध्यान करते थे। दूसरे आँख बन्द करके केवल जप करते थे। शेष कई बार आसन बदल-बदल कर एक घंटा शान्त स्थिर होकर मौन बैठने का और मन की चञ्चलता कम करने की कठिन तपस्या करते थे। ९ बजे शनैः शनैः प्रणव मंत्रों के उच्चारण तथा 'सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म' के कीर्तन के साथ मौन की समाप्ति होती थी।

इसके पश्चात् गीता के तीन अध्यायों का ललित कण्ठों से सुमधुर पाठ होता था जो स्वयं ही एक अनुपम देवलोक जैसे वातावरण की सृष्टि करता था और देववाणी में लिखे गये इस महान् ग्रन्थ का नाम सार्थक करता था। फिर दुर्गा सप्तशती के एक अध्याय का पाठ होता था और फिर किसी उपनिषद का एक अंश उसी प्रकार पढ़ा जाता था।

इसके बाद महात्माओं के उपदेश प्रारम्भ होते थे, जिसमें अवधूत जी महाराज, स्वामी अखंडानन्द जी महाराज, महेश्वरानन्द जी महाराज, चक्रपाणि जी महाराज, शरणानन्द जी महाराज, तथा विष्णु आश्रम जी महाराज आदि उच्चकोटि

2

के महात्माओं के उत्तम प्रवचन सुनने को मिलते थे। विषय संयम सप्ताह से प्रारम्भ होकर वेदान्त और अद्वैतवाद अथवा भक्ति के विवेचन से समाप्त होता था। परमार्थ के अति गूढ़ विषय भी माँ की उपस्थिति में तत्त्वदर्शी महात्माओं की अनुभूति पूर्ण वाणी से निकल कर साधारण जन समूह को सुबोध और सुगम मालूम होते थे और तन तथा मन दोनों को पवित्र करते थे। इसके अतिरिक्त स्थानीय गोस्वामी विद्वान् भी समय-समय पर प्रायः श्री कृष्ण भक्ति पर अपने प्रवचन करते थे। इनमें कई उद्भट विद्वान् और रस पूर्ण भक्त थे। भक्त माल जी का सहज भगवत्प्रेम उनकी सरल हास्यमय मुखमुद्रा से स्वभावतया ही प्रस्फुटित होता था। माँ सभी अतिथि वक्ताओं का अति विनम्र भाव से हाथ जोड़कर स्वागत करती थीं, सम्मान करती थीं अथवा आशीर्वाद देती थीं। यह सारा ही दृश्य मन को आह्लादित कर देता था।

साढ़े ग्यारह बजे से फिर मालती जी की रामायण, पुष्पा जी आदि बहनों का भजन अथवा कीर्तन प्रारम्भ हो जाता था और व्रती लोग दोपहर के एक बार का प्रसाद लेने चले जाते थे। पहले दिन तो सभी को केवल गंगा जल का प्रसाद लेना था और दूसरे दिन से छठवें दिन तक दिन में केवल एक बार ब्रह्म खिचड़ी मिलती थी। सातवें दिन प्रथम श्रेणी के व्रतियों को केवल गंगाजल ही लेना था। आठवें दिन हवन के बाद ही टीका लगने पर व्रत की समाप्ति होती थी। द्वितीय श्रेणी के व्रतियों को शाम को डेढ़ पाव दूध भी मिलता था और सातवें दिन एक बार फुल्का भी मिला था।

वैसे तो यह मां की प्रेरणा से प्रारम्भ किये गये व्रतों में अठारहवाँ संयम सप्ताह था परन्तु बहुत से लोगों के लिये यह पहला ही अनुभव था। मुझे तो इस प्रकार के व्रत का पहला ही अवसर था और फिर मां की प्रेरणा और उपस्थिति में यह एक अनोखा अनुभव था।

यहाँ पर प्रसंगवश एक विचित्र अनुभव की बात लिखे देता हूँ। हम लोग प्रायः १९५१-५२ से मां के सम्पर्क में आये और उत्तरोत्तर कृपा प्राप्त की पर मैंने कभी स्वप्न में मां के दर्शन नहीं किये थे, जब कि मेरी पत्नी ने अनेक बार नाना प्रकार से स्वप्न, अर्द्धस्वप्न में मां के दर्शन किये थे। मैं सोचता था मेरे अन्दर कोई बहुत बड़ी कमी है जिसके कारण मां ने मुझे एक बार भी स्वप्न में दर्शन नहीं दिये। अब की वृन्दावन के लिये यात्रा प्रारम्भ करने के पहले दिन, रात में मैंने लगभग सारी रात मां का स्वप्न में दर्शन किया। बड़ा भारी पूजन का आयोजन था

एक ऊँचे कच्चे चबूतरे पर मां की उपस्थिति में हवन पूजन हो रहा था। मैं नीचे था। चबूतरे पर यज्ञ मंडप जैसा बना हुआ था। ऊपर फूस का मंडप था। मां ने ऊपर से कहा "इनको प्रसाद दे दो।" किसी ने पूछा, "किसको" नीचे और भी बहुत से लोग थे। मां ने उसी तेज आवाज में कहा, "उन पैंटधारी को।" और मेरी ओर इशारा किया। मैं जब गद्‌गद् होकर प्रसाद लेने चबूतरे के पास गया तो देखा मां स्वयं प्रसाद दे रही थीं। मैंने दोनों हाथ उठाकर प्रसाद लिया दोने में दही था और मिठाई और फल। आनन्द से मग्न होकर जब मैं प्रसाद लेकर लौटा और जमीन पर बैठकर खाने की इच्छा की कि नींद खुल गयी। भोर हो चुका था।

तीन बजे अपराह्न में फिर एक घंटे का ध्यान, मौन, जप ठीक प्रातःकाल के नियम के अनुसार होता था। चार बजे से ६ बजे सायंकाल तक फिर विद्वानों और महात्माओं के प्रवचन होते थे। इसमें अवधूत जी महाराज का अद्वैतवाद का प्रवचन बहुत ही ठोस, गंभीर तथा अर्थपूर्ण एवं उच्च स्तर का होता था। उसी प्रकार स्वामी अखंडानन्द जी का प्रवचन सरस तथा बोधगम्य होता था। इस समय प्रायः बहुत अधिक भीड़ हो जाती थी। फिर कीर्तन, भजन, रामायण आदि होते थे और साढ़े सात बजे सायंकाल से आठ बजे तक नारद पुराण का पाठ होता था। आठ बजे से पौने नौ बजे तक महेश्वरानन्द जी का प्रवचन होता था जिसमें वेदों के महावाक्यों, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" तथा "तत्त्वमसि" आदि का विशद विवेचन था।

पौने नौ से नौ बजे तक आश्रम का दैनिक मौन था। इसके बाद पूरे दिन का सबसे आकर्षक कार्यक्रम था मां का सत्संग जिसकी सारे दिन उत्कंठा से प्रतीक्षा की जाती थी। वैसे तो मां का सत्संग सारे दिन ही उपलब्ध था क्योंकि मां प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों में उपस्थित रहती थीं। परन्तु इस समय मां से खुलकर बातचीत करने, प्रश्न पूछने, उत्तर सुनने और विशेष रूप से मां का अपार्थिव मुक्त हास और कभी कभी तो उनकी अति अधिक मनोहर देववाणी में कीर्तन सुनने को मिलता था। मां से नाना प्रकार के प्रश्न पूछे जाते और मां तुरन्त उनका उत्तर दे देतीं जिसे सभी अपने ज्ञान, अवस्था और स्थिति के पात्रत्व के अनुरूप ही ग्रहण कर पाते।

मां ने इसी प्रश्न काल में एक दिन बताया कि एक बार जब वे दक्षिण भारत की यात्रा में गयी थीं तो उनकी कार के साथ-साथ एक ज्योतिर्लिंग ने भी यात्रा की जिसके एक मुख था और वह साथ ही उत्तर पश्चिम भारत में द्वारका आश्रम तक

गया। दक्षिण भारत के किसी देवस्थान में ही एक विचित्र व्यक्ति साधु जिसके हाथ में त्रिशूल था और शरीर में केवल एक लंगोटी तथा जिसके शरीर में केवल हड्डी और चमड़ा था मांस बिल्कुल नहीं था ऐसी एक श्यामवर्ण मूर्ति मां ने तथा अन्य साथ वालों ने जिनमें विभु दादा भी थे देखी थी। मां का संकेत था कि वह मूर्ति भी मां के साथ साथ द्वारका आश्रम तक गयी थी उस स्थान तक जहाँ भगवान् श्री कृष्ण को व्याध ने तीर मारा था और जहाँ अब एक मंदिर बन गया है और मां के उस स्थान पर जाने पर ऐसा शब्द अथवा आभास हुआ कि दस अथवा बारह वर्ष से इस दिन की प्रतीक्षा में था और उसके बाद उस आत्मा की मुक्ति हो गयी। द्वारका आश्रम के श्री शंकराचार्य का भी मां के दर्शन के बाद ही इसी यात्रा में शरीर-पात हुआ था। यह बात भी मां ने कही। इस प्रकार की बातें मां बहुत कम कहती हैं। अतएव उनके श्री मुख से समूह में यह बात सुनना भी एक अपूर्व अवसर था।

इसी प्रकार मां ने एक और बात कही। किसी स्त्री ने मां से इन्द्रजाल का मंत्र और उसका फल जानने की कोशिश की।

मां ने महेश्वरानन्द जी से जो उस समय वहाँ उपस्थित थे उस विषय में हँसते हुऐ बताने का अनुरोध किया। स्वामीजी ने अथर्व वेद अथवा यजुर्वेद में इस मंत्र का होना बताया और कहा कि शिवजी ने पार्वती जी को उन वर्गों के हित के लिये इन मंत्रों को बताया था जिन्हें शास्त्र पढ़ने, सुनने का अधिकार नहीं है। इनमें, मोहन, मारण, उच्चाटन और वशीकरण मंत्र हैं। मां ने हँसते हुए समझाया कि यह सब अच्छा नहीं है पर इसका उद्देश्य यह है कि शायद इन मंत्रों के सहारे अन्ततोगत्वा भगवान् के चरणों में प्रीति हो जाय।

व्रत के सातवें दिन रात में पौने बारह से सवा बारह तक महा निशा ध्यान था। उस दिन मां का सत्संग बराबर सवा बारह बजे तक चलता रहा।

मातृ सत्संग के आसपास ही कभी साथ ही कभी कुछ आगे पीछे करके कपीन्द्र जी का रामायण का समय भी उनकी सुविधानुसार रखने का प्रयास किया गया पर अनेक कारणों से वह प्रोग्राम केवल एक दिन हो पाया। और दिनों या तो कपीन्द्र जी दिल्ली से आ नहीं पाये, देर से आये या मंच पर जाकर केवल इधर-उधर की बातें करते रहे। मां के विषय में कही गई उनकी प्रेम लपेटी अटपटी बातें सुनकर मातृ सत्संग में विघ्न पड़ने के कारण व्रती लोग जितना खीझते थे मां उतना ही रीझती थीं और हँस हँस कर उनकी बातों का उत्तर देती थीं।

इस प्रकार मातृ सत्संग का यह सुनहरा अवसर अठारहवाँ संयम सप्ताह मां की असीम अनुकम्पा से समाप्त हुआ।

मातृ सत्संग

(४४)

स्वामी भागवतानन्द गिरि

स्थान—प्रयाग—त्रिवेणीतट पर अर्धकुम्भ मेला, पौष शुक्ला ८ सं० २००४

१६ जनवरी १६४८

प्र०—माँ, यदि मेरा विदेश जाना हुआ तो क्या मुझको मछली, मांसादि, नहीं खाना चाहिये। यदि आवश्यकता हो तो भी नहीं खाना चाहिये क्या ?

माँ—यदि तुम समझो कि इसके खाने से तुम्हारी भगवत्प्राप्ति में सहायता मिलेगी तो खा सकते हो।

प्र०—आपकी बात मेरी बुद्धि से समझ में नहीं आ रही है।

माँ—जिस चीज का तुम जैसा उपयोग करोगे वैसा फल मिलेगा। यदि तुम को मांस मछली खाने की आदत न हो तो मत खाना। विदेशी लोग यदि मांसाहार करते हों तो करने दो। उस देश के हवा पानी में मांसाहार उन लोगों को अनुकूल आता है, विदेशी लोग उस देश में जन्मे हैं इसलिए वे खाँय तो भले खायें। उनकी उसमें आपत्ति नहीं है। तुम्हारा जो नियम है उसका तुम पालन करो। इस देश में भी मांस मछली खाकर के भी क्या महापुरुष नहीं हुए हैं ? जो खाने से, जो पीने से भगवत्प्राप्ति हो वैसा करो। तुमको विदेश जाने से यह सब खाना ही पड़ेगा वैसा कोई नियम नहीं है जो भगवान् के भक्त लोग विदेश में जाते हैं तो वहाँ भी भगवान् को भोग लगाकर ही खाते हैं। वहाँ जाकर जो लोग मछली, मांस खाने के अभ्यासी हो जाते हैं वे तो लालच से जीभ के आस्वाद के लिये खाते हैं।

ऐसा माँ का सत्सङ्ग चल रहा था इतने में परम पूज्य स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज मातृसत्सङ्ग में आ गये। उनको खूब आदरपूर्वक आसन पर बैठाया।

प्र०—चलते-फिरते क्या ऐसा ख्याल रखना जरूरी नहीं है कि मेरे पैर के नीचे कोई जीव-जन्तु चींटी आदि कुचल के न दब जायें ?

माँ—यदि ऐसा ख्याल रहे तो बड़ी अच्छी बात है। मगर इससे भी अच्छा ख्याल यह है कि चींटी, जीव-जन्तु आदि भी सब भगवान् के ही स्वरूप हैं। यदि पैर के नीचे दब जायें तो भगवत्-बुद्धि से उनको नमस्कार करो।

इसके बाद माँ और पूज्य स्वामी श्री शरणानंद जी के बीच में थोड़ी बातें हुईं।

माँ—(स्वामी शरणानंद जी को) पिताजी, अब तुम बताओ।

स्वामी शरणानन्द जी—(वात्सल्यपूर्ण स्वर से) माँ, माँ, माँ।

माँ—पिताजी ! छोटी बच्ची का नमोनारायण ! नमोनारायण । नमोनारायण

स्वामी शरणानन्दजी—जो व्यक्ति मांसाहार नहीं करता उनको तुम शाकाहारी कहते हो। मूल बात उनके भाव में है। एक व्यक्ति माँस तो न खाता हो लेकिन एक मनुष्य को ही खा जाय तो। बड़े-बड़े राजनीतिक लोग विश्वयुद्ध कराते हैं क्या उसमें हिंसा नहीं है ? एक तरफ से फूल तोड़ने में भी हिंसा हो जाती है। दूसरी तरफ से वे ही लोग 'लोक सभा' या 'राज्य विधान सभा' में जाकर ऐसा कानून बनाते हैं कि जिससे लाखों लोगों का नाश हो जाता है। यह किस प्रकार की अहिंसा ? हित और अहित का पूरा विचार करना चाहिए। हित किस को कहते हो ? धर्मयुद्ध में तुम सेनापति हो और लाखों मनुष्यों को मारोगे तो इसमें पाप नहीं लगेगा। लेकिन स्वार्थ दृष्टि से या अपनी मौज शौक के लिये एक चींटी को भी यदि मारोगे तो उसमें हिंसा है। जो व्यक्ति नौकरी करके खाता है वह हिंसा करता है और जो व्यक्ति भिक्षा करके खाता है वह अहिंसा करता है। हिंसा द्वारा धीरे धीरे व्यक्ति अहिंसा की तरफ जाता है। पूर्ण अहिंसा आने से व्यक्ति में अभिमान नहीं रहता है। भोजन के लिये मांस से अच्छा तो शाक तरकारी ही है। ध्रुव प्रदेश में जहाँ हर समय बरफ पड़ा रहता है वहाँ के लोग यदि मछली खावें तो उनकी और बात है क्योंकि वहाँ तो एक मात्र यही अन्न है। अन्न कम खा करके सब्जी-तरकारी ज्यादा खानी चाहिए।

प्र०—दूध भी तो रक्त का ही एक स्वरूप है न।

माँ—गाय की सेवा करके गौ माता का दूध लेना चाहिये। गाय का ऋणी बनकर दूध न लेना चाहिये। दूध पीने में हिंसा नहीं है।

प्र०—हिंसा तो महापापी के साथ में रखना चाहिए।

माँ—महापापी तो वे लोग हैं जो नाशवान शरीर को अपना आत्मा मानकर बैठ गये हैं। पिता जी (स्वामी शरणानंद जी) ने ठीक ही कहा है कि व्यक्ति अपना अहित खुद करता है।

× × × ×

स्वामी शरणानंदजी ने प्रश्नकर्ता को समझाने का प्रयत्न करने के बाद कहा—'माँ यदि हिंसा करने को मना करे तो मत करो। लेकिन मन में यदि

किसी को मारने का ख्याल रहे तो ठीक नहीं है। "यदि माँ कहें तो मैं हिंसा करूँ" य विचार भी तुम्हारा ठीक नहीं है।

डॉ० पन्नालाल—माँ के पास तो बीमार लोग ही आते हैं।

स्वा० श०—मनुष्य अच्छा होने के बाद भी 'माँ' के पास आता है।

माँ—यह बात अच्छी है। यह शरीर तो हमारा छोटा बच्चा है इसलिये प्यार से 'माँ' कह के पुकारते हो।

स्वा० श०—जो लोग अच्छे नहीं होते वे तो संत महात्माओं से विमुख रहते हैं। जब वे लोग सत्संग करते हैं तब तो अच्छे ही हैं नहीं तो—यहाँ आते ही क्यों?

माँ—यदि किसी में भूल रह जाय तब उनको भय लगता है। ऐसा होना चाहिए कि भूल का मूल से नाश होना चाहिए। जब भूल भ्रान्ति का संपूर्ण नाश होगा तब सत्य प्रकाशित होगा।

डॉ० पन्नालाल—हम लोग भूल को भूल थोड़े ही समझते हैं। यदि एक बार भूल से माँ के पास आ गया तो फिर से भी भूल से माँ के पास आ जाता है।

स्वामी श०—पतंगा दीपक के पास जाकर उसमें जलकर मर जाता है लेकिन तब भी दीपक को देखते ही उसकी ओर दौड़ता है।

माँ—पिताजी सब जानते हैं। यह शरीर तो छोटी बच्ची है—क्या जाने?

डा० पन्नालाल—माँ हम सब लोगों को भुलाना चाहती हैं।

इसके बाद "अवगुण चित न धरो" वाला भजन किसी ने गाया। भजन सुनने के बाद स्वामी शरणानन्दजी महाराज ने कहा—"भगवान् के सामने निराधार हो जाओ तो भगवान् तुम्हारे अवगुणों को चित्त में नहीं धरेगा लेकिन मनुष्य तो अपना न्याय अपने हाथ करना चाहता है।"

प्र०—हम सब लोग भूखे हैं।

माँ—अच्छी बात है। बच्चा जब खेलकूद में मस्त रहता है तब माँ उसको बुलाती है। थप्पड़ भी लगाती है। यदि बालक गन्दा हो तो साफ करके गोद में ले लेती है। माँ को होता है कि यदि बालक गन्दा रहेगा तो रोग हो जायेगा।

प्र०—माँ गन्दापन उठाकर साफ कर लेती है।

माँ—माँ जरूर गन्दगी बालक का हटा देती है। बालक को तो गन्दे में खेलना अच्छा लगता है लेकिन माँ ही गन्दे से उठाकर साफ कर लेती है।

प्र०—हम लोगों से तो संसार भी छूटता नहीं और भगवान् में भी प्रेम नहीं है तो क्या होगा ?

माँ –जंगल में बैठकर जंगल को साफ करना चाहिये। इसमें ही साफ करके बैठो। थोड़ी सी आग लगाने से जंगल साफ हो जावेगा। गुरु के पास सब कुछ होता है। साधक धैर्यवान और स्फूर्तिवान होने से सब कुछ संभव हो सकता है।

प्र०—कभी-कभी माँ ऐसा भी करती है कि बच्चे को छोड़ देती है और कभी-कभी प्यार से खेलाती है।

माँ—यही तो भगवान् का खेल है। यह जो कुछ दृश्यमान दृष्टिगोचर हो रहा है वह सब भगवान् का ही तो खेल है। अपनी तरफ जरा दृष्टि डालो। तुम कौन हो ? मैं एक भी हूँ और अनेक भी हूँ। अपने साथ ही आप खेलते हैं।

प्र०—हम सब लोगों को फँसाने के लिये ही भगवान् ने ऐसा खेल रचा है ऐसा मालूम पड़ता है।

माँ—सर्वत्र एकमात्र भगवान् का ही खेल हो रहा है ऐसी दृष्टि रखनी चाहिये। खुद तुम ही एक भी हो और अनन्त भी हो। तुम अपने स्वरूप को पहचानने की कोशिश करो। दूसरी दृष्टि से हे भगवान ! तुम पूर्ण हो और मैं अंश हूँ। तुम प्रभु हो और मैं तेरा दास हूँ। अपने को पहचानने की कोशिश करो। "मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ ?" अंश को प्रथम पहचानो तो फिर से परम अंश—परमात्मा को भी पहचान सकोगे। अपने को बिना पहचाने भगवान् को कैसे पहचानोगे ? एक क्षण के बाद क्या होना है और क्या नहीं होना है उसकी खबर पड़े कि न पड़े यह भगवान् की इच्छा पर निर्भर करता है। तुम 'सत्' संकल्प करो। यदि संकल्प 'सत्' होता है तो कभी-कभी फलित हो जाता है। हरिकथा ही एकमात्र 'सत्' कथा है और सब व्यथा और वृथा है। जहाँ राम वहाँ आराम और जहाँ नहीं राम वहाँ व्याराम (माँ खूब खूब अपने भाव में हँस रही हैं और सबको हँसा रही हैं) एक बार पाप ने भगवान् से पूछा कि "हे प्रभु ! तुमने सब लोगों का स्थान ठीक कर दिया अब मेरा रहने का स्थान कहाँ है वह ठीक करो" भगवान् ने कहा, "जिसके मुँह में राम का नाम नहीं है उसके ऊपर बैठना।"

प्र०—चौबीसों घंटा भगवान् का स्मरण कैसे रहे ?

माँ—अभ्यास ! अभ्यास करते करते सब कुछ हो सकता है। जो लोग ध्यान करते हैं वे लोग मन एकाग्र हो कि न हो तब ध्यान का अभ्यास करते हैं। जप

करना अच्छा लगे कि न लगे तब भी जप का अभ्यास करने की कोशिश करो। मन को हर समय भगवन्नाम से परिपूर्ण रखने की कोशिश करो। चाहे घर में हो या बाहर हो ख्याल रखना चाहिये कि एकमात्र भगवान् के सिवाय और कुछ नहीं है। द्विधा भाव में ही दुःख है। मैं तो सिर्फ भगवान् के हाथ का एकमात्र यंत्र हूँ—भगवान् जैसा बतावे वैसा चलना ही श्रेष्ठ है। भगवान् ही समस्त संसार की मैनेजरी करता है।

प्र०—भगवन्नाम स्मरण करने में क्यों भूल हो जाती है?

माँ—भगवन्नाम स्मरण को भूल जाते हो इसीलिये तो भगवत्-प्राप्ति भी नहीं होती है। सर्वदा ख्याल रक्खो कि इस जगत् में जो कुछ हो रहा है सब उनकी इच्छा से हो रहा है। सब कुछ भगवान् का ही है। जब जागृत अवस्था में हो तब उनका स्मरण करो। शुभ कर्म करो। प्रार्थना करो। जप, तप, प्रार्थना ही करना चाहिये। रात्रि को जब सोने जाओ तब सोने के पहले सारे दिन में तुमने जो अच्छे-बुरे काम किये हैं उनका स्मरण करो। प्रार्थना पूर्वक सब कर्मों को भगवान् के श्री चरण कमल में अर्पण कर दो। अर्पण बुद्धि आने के लिये भगवान् से हर समय प्रार्थना करो। ऐसा विचार नहीं करना चाहिये कि कोई बात नहीं है—खराब काम कर लो पीछे से भगवान् से क्षमा माँग लेंगे। अच्छे से अच्छे कर्म करने की चेष्टा करनी चाहिये। खराब कामों की तरफ दृष्टिपात भी न करो। प्रार्थना करो—अपने को भगवान् के श्री चरण कमलों में संपूर्ण रीति से समर्पित हो जाओ।

प्र०—आफिस का काम काज, व्यापार धन्धा इत्यादि के कर्मों को भी क्या भगवान् के श्रीचरणों में अर्पण करना चाहिए।

माँ—सब कर्मों को अर्पण बुद्धि से करने की कोशिश करो। अर्पण करना और अर्पण होना—इन दो बातों में काफी अन्तर है। जैसे—जप करना और जप का अपने आप होना और बात है। भगवान् को समर्पण करते करते फिर समर्पण हो जावेगा।

प्र०—संन्यासी होने के बाद भी मन चञ्चल क्यों रहता है?

माँ—वैराग्य कच्चा है इसलिये। जितनी शक्ति तुम्हारे में है सब शक्ति को खर्च करके भगवत्-प्राप्ति में लगा दो। भगवान् जो कर रहा है सब कुछ ठीक ही कर रहा है। योग तो हर वक्त हो रहा है। यदि ऐसा न होता तो लोग योग क्यों करते। मनुष्य शरीर मिला है—इस शरीर को भगवत्-प्राप्ति में लगा दो। खूब-खूब कोशिश करो। ऐसा करते-करते अवश्य भगवत्-प्राप्ति हो

जावेगी। बहुत लोगों को चलते-चलते बार बार पीछे देखने की आदत होती है। तुम लोग बार-बार पीछे दृष्टि मत फेंको कारण इससे गति रुक जावेगी। कर्म करते रहो—फल की तरफ भी बार-बार दृष्टि मत दो। भगवान् के पास बारंबार याचना भी मत करो। जो तुम कर रहे हो उनका भी फल अवश्य तुमको मिलेगा। एकाग्र चित्त से यदि ध्यान करोगे तो भगवत्-प्रकाश अवश्य मिलेगा। तुम्हारे मन की और अहं की जो शक्ति है उसको साधना में लगाओ। जल्दी-जल्दी साधना करो—प्रकाश अवश्य मिलेगा। बार-बार फल की तरफ भी दृष्टि मत डालो। जैसे दाल बनाते समय यदि तुम दाल को बार-बार हिलाओगे तो दाल खराब हो जावेगी। दाल को पकने के लिये समय दो। विवेक और वैराग्य से वासनाओं को जला दो या भक्ति से गला दो। कुछ तो करो।

प्र०—इन दोनों में से कौन अच्छा है ?

माँ—जिसको जो अनुकूल पड़े वह करना चाहिए। विवेक वैराग्य से जो जल जावेगा वही भक्ति द्वारा गल जावेगा।

प्र०—यह भाई तो अपने को जलाना और गलाना ही नहीं चाहता—क्या किया जाये ?

माँ—जो मनुष्य इच्छा ही नहीं करता है वही सचमुच इच्छा करता है। जीव का स्वभाव है इच्छा करने का। बन्धन में क्यों गिरते हो ? बंधन से अभाव मिटेगा नहीं।

प्र०—जिससे भगवान् को आनंद हो वही करना चाहिए।

माँ—अच्छी बात है। तुम लोग भगवान् के पास कुछ माँगते हो तो कुछ मिलता है। कुछ मिलने से कुछ नहीं होता है। भगवान् परिपूर्ण—अखण्ड है—यदि भगवान् के पास याचना करनी है तो—अखण्ड की प्राप्ति के लिये याचना करो, अखण्ड की प्राप्ति के लिए अखण्ड प्रयत्न करो। प्रकाश क्या चीज है ? प्रकाश—भगवान् का ही असल प्रकाश है। यदि भगवान् के दर्शन नहीं मिले तो फिर दुःख ही दुःख है।

× × × ×

प्रयाग—त्रिवेणी तट—अर्धकुम्भ मेला २० जनवरी १९४८

पौष शुक्ल ९ सं० २००४.

मातृ सत्संग बड़े पैमाने में रोज होता है। भक्त लोग माँ के आगमन की आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं। माँ का आगमन होने से सब लोगों ने आदर-

पूर्वक सत्कार स्वागत किया। माँ के अपने आसन पर बैठ जाने के बाद भक्त लोगों ने माँ से प्रश्न पूछना शुरू किया।

प्र०—मोक्ष होने से क्या होता है? जैसे पानी का बूँद समुद्र से अलग हुआ था वह फिर से समुद्र में मिल गया—क्या यही मोक्ष का स्वरूप है?

माँ—साधन करते करते मोक्ष प्राप्त होता है। साधन करो और फल प्राप्त करो। साधन करते-करते अखण्ड प्रकाश की प्राप्ति होगी।

प्र०—महा प्रलय के समय में हम सब लोग क्या कर्मबन्धन से छूट जावेंगे?

माँ—अरे! यदि बीज न रहेगा तो सृष्टि कहाँ से होगी? कारण से ही कार्य प्रकाशित होता है। अपने आत्म स्वरूप का प्रकाश होना ही मोक्ष है।

प्र०—माँ, मैंने ऐसा नियम किया है कि रात को मौन रखता हूँ। सुबह में भी मौन रखता हूँ। मौन के बाद मैं ठीक तरह से बोल नहीं सकता—कैसे मौन रखना चाहिए?

माँ—एक दफे किसी एक भाई ने मौन ले लिया था। मौन लेने के बाद बोलने की इच्छा होने से भी वे बोल नहीं सकते थे। उस समय इस शरीर का भी मौन चल रहा था। उस मौन का अभी ठीक-ठीक ख्याल नहीं है। एक होता है मौन रखना और एक होता है मौन अपने आप हो जाना। जहाँ मौन अपने आप होता है वहाँ लक्ष्य पूरा हो जाता है। किसी ने किसी के ऊपर क्रोध करके बोलना छोड़ दिया है वह मौन नहीं है—वह संयम भी नहीं है। राग करने के बाद जब मौन के बाद बात शुरू करेगा तब Fire हो जावेगा। (माँ खूब खूब हँस रही हैं।) पिताजी,—क्या ठीक बात है न?" अहा! कैसा चमत्कार! सब में अनन्त तत्त्व हैं—अनन्त रास्ते हैं।

प्र०—वाक् संयम को क्या मौन कहते हैं?

माँ—वाक्संयम भी ठीक ही है। वाक्संयम से लाभ है—मिथ्या भाषण कम हो जाता है। वाणी खुली रहने से कभी-कभी असत्य भी बोल जाता है। वाक् संयम से असत्य बोलना कम हो जाता है। वाक् संयम रखकर यदि लिखने जाओ तब भी सावधान रहना पड़ता है। इससे भी भाव शुद्ध होता है। ऐसा भी होता है कोई-कोई थोड़ा बोलकर भगवान् का नाम ले लेता है। ऐसे भी कोई-कोई लोग हैं जो भगवान् का नाम लेना पसन्द नहीं करते हैं लेकिन वाक् संयम करते हैं। वे लोग बहुत इशारा भी करते हैं। बार-बार अपना विचार

लिख के बताते हैं। भगवान् की तरफ मन को नहीं रख के जो वाक्संयम करता है उस से ज्यादा लाभ नहीं होता है। वाक्संयम का अभ्यास करने के बाद मौन भी ले सकते हैं। ऐसे भी कोई-कोई लोग हैं जो कहते हैं कि जब भगवान् ने मुख दिया है तो फिर मौन क्यों करना ? अरे ! यदि सुनना ही है तो सिर्फ भगवान् की ही बातें सुनो। यदि बोलना है तो सिर्फ भगवान् की ही बातें बोलो। यदि स्पर्श करना है तो भगवान् को ही स्पर्श करो।

प्र०—गुरु प्राप्ति होने के बाद साधन करना चाहिये या साधन शुरू करके गुरु को खोजना चाहिये ?

माँ—तुम्हारे में बिना गुरु भगवान् प्राप्ति करने की शक्ति कहाँ है ? पहले जमीन तैयार करो—पीछे बीज को लगाया जाता है। इसके लिये सत्संग की बहुत बड़ी आवश्यकता है। सत्संग से सब कुछ अच्छा हो जायेगा। सत्संग से जीवन का रंग बदल जाता है। गुरु जो आदेश दें उसका अविचार से पालन करो। गुरु से दीक्षा लेने के पहले गुरु का सत्संग करो। तुम गुरु की अच्छी तरह से परीक्षा करके देख लो। इसके बाद यदि हृदय में गुरु करने की तीव्र उत्कंठा हो तो गुरु रूप से उनको स्वीकार करो। एक बार गुरु रूप से स्वीकार करने के बाद गुरु के आदेशों का अविचार से पालन करो। कोई कहेगा—छात्र प्रोफेसर की कैसे परीक्षा करेगा ? अपने में जितनी शक्ति हो उसके द्वारा गुरु की पहले परीक्षा करके गुरु बनाये !

(क्रमशः)

कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा

श्री 'दत्त'

> "We pitched our tents on the shore of the lake Manasarovar and feasted our eyes on the indescribably beautiful picture of this tremendous mountain—Majestic Gurlā-Māndhatā—which seemed to grow out of the lake. This is certainly one of the loveliest sports on earth."
>
> (By—Heinrich Harrer)

दूर से धारचूला का दृश्य अतीव सुन्दर प्रतीत होता है। पहाड़ों का यह छोटा-सा नगर चूल्हे के सदृश तीन ओर से पहाड़ों से घिरा हुआ है। अतः इसका नाम "धारचूला" पड़ा है[१]। कालीगंगा के वाम भाग में, नेपाल सीमा में, जो गाँव बसा हुआ है उसे "नेपाली-धारचूला" कहते हैं। दोनों धारचूला के बीच में, कालीगंगा पर, एक छोटे पुल का निर्माण हुआ है। भारतीय धारचूला के समीपवर्ती पहाड़ों पर विदेशी मिशनरियों के चर्च, अस्पताल और स्कूल हैं। किसी-किसी स्थान पर आम के वृक्षों की घटा एवं केल वृक्ष का उद्यान दिखाई पड़ता है। यह छोटा-सा पार्वत्य नगर समुद्र की सतह से करीब ३००० फुट की ऊँचाई पर अवस्थित है और प्रति वर्ष वर्षा करीब ४४ इञ्च होती है। मार्ग अच्छा रहने पर अल्मोड़ा से यहाँ तक मोटर-बस आती-जाती है। यहाँ से आगे के लिये मार्ग बन रहा है।

१—किन्नर की प्राचीन भाषा में शू या सू देवतावाचक शब्द है। कुमाऊँ-गढ़वाल के कई ग्रामों के नामों में सू शब्द दिखाई पड़ता है। जैसे कि घरासू। डा० पतिराम के मतानुसार सू या स्यूं शब्द सिंह शब्द का अपभ्रंश है किन्तु श्री शालीग्राम वैष्णव ने उसे सीमा शब्द का अपभ्रंश माना है। मुझे तो धारचूला शब्द भी धारस्युं (पृथ्वी का ऐसा भाग जहाँ से उन्नत पहाड़ शुरू होते हैं।) का अपभ्रंश ही मालूम पड़ता है। ऐसी भी किंवदन्ती है कि प्राचीन काल में जब कुछ ऋषि-मुनियों ने कैलास मानसरोवर जाते समय यहाँ पर विश्राम हेतु रात्रि निवास किया था तब बड़े-बड़े तीन पहाड़ों का चूल्हा बना कर यहाँ पर भोजन पकाया था। इसीलिये इस स्थान का नाम धारचूला पड़ा।

यात्रियों को खोजते हुए मैं और दामुभाई बाजार में आये। यहाँ का बाजार भी पिथौरागढ़ का-सा बड़ा मालूम पड़ा। होटल, अन्न की दूकान, कपड़े की दूकान, दरजी, मोची, सुनार की दूकानें, मिठाई की दूकान इत्यादि से यहाँ का बाजार भरा-भरा दिखाई पड़ता है। सबसे पहले हमने नागा बाबा की धर्मशाला में यात्रियों की खोज की किन्तु वहाँ पर न तो कोई दीख पड़ा, न उनके बारे में यहाँ के किसी सज्जन से पता ही चल सका। पिथौरागढ़ में जिस नागाबाबा की धर्मशाला में हम लोगों ने निवास किया था उसकी एक शाखा यहाँ पर है। इस धर्मशाला के मालिक एक नागाबाबा जी हैं, जो दिगम्बर तो नहीं रहते हैं किन्तु व्यापार अवश्य करते हैं। किसी पहाड़ी से सुना कि कैलास के श्री नारायण स्वामी जी ने ही इस धर्मशाला को नागाबाबा को भेंट दी थी। जब यहाँ से चलकर हम एक होटल के पास से गुजर रहे थे तब वहीं पर खाखीबाबा जी बैठे हुए दिखाई पड़े। उनसे पूछने पर पता चला कि सब यात्री डाक-बँगले में गये हैं। यह सुन, हम वहाँ से सीधे डाक-बँगले में पहुँचे और देखा कि डाक-बँगले के कम्पाउण्ड में स्थित पीपल वृक्ष के नीचे के चबूतरे पर सब लम्बे होकर पड़े हुए थे। यह देखते हुए दामुभाई मुस्कराये और मुझे इंगित करते हुए धीमे स्वर में बोले—"देख लीजिये यह दृश्य। आज सिर्फ इतने ही मील तय किये हैं इतने में तो ये लोग लम्बे लच होकर मेंढक की तरह हाथ-पाँव फैलाकर चित्त लेटे हुए हैं तो कल इनकी क्या दशा होगी। 'धारचूला' पहुँचते-पहुँचते ही इन लोगों का 'छोला' उखड़ गया।" उनके इस प्रकार से बाहर ही लेट जाने का कारण पूछने पर जयन्ती भाई ने लेटे-लेटे ही प्रत्युत्तर दिया—"डाक-बँगले का यह दादा (दरबान) कमरे नहीं खोलने दे रहा है। कहता है कि कोई अफसर साहब आनेवाले हैं इसलिये सब कमरे पहले से ही सुरक्षित रखवा गये हैं।" यह सुनकर मुझे आश्चर्य होना स्वाभाविक था। मैंने कहा कि यदि कोई मेरे साथ में चले तो हम इञ्जीनियर साहब से विशेष अनुमति पत्र ले आवें और इसी डाक-बँगले में आश्रय ग्रहण कर सकें। मेरे कहने पर भी किसी के कान पर जूँ तक न रेंगी तब दामुभाई बोले—"आज ये सब लोग ढीले-ढच हो गये हैं इसीलिये कृपया आप अकेले ही जाकर कुछ व्यवस्था कर आवें तो अच्छा होगा।" मैं वहाँ से जा ही रहा था इतने में जयन्ती भाई कमर पर हाथ देते हुए उठे और मेरे साथ में चल पड़े। हमलोग सीधे इञ्जीनियर श्री शर्मा के घर पर पहुँचे। उन्होंने हमारा भाव-भरा सत्कार किया और आगमन का कारण पूछा। हमने अथ से इति पर्यन्त सब वृत्तान्त सुना दिया।

इसके प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा कि, परसों एक अफसर साहब यहाँ पर आ रहे हैं अतः पिथौरागढ़ से हमें विशेष सूचना मिली है कि हर हालत में डाक-बँगला सुरक्षित रखा जाय। यह सुनकर हम दोनों के पैरों तले की मिट्टी खिसकने लगी। अब क्या किया जाय। मैं विचार कर ही रहा था कि इतने में एक बात दिमाग में आ धमकी। "पुरुषकारमनुवर्तते दैवम्" की उक्ति अनुसार सोचा कि गोटी फेंक कर देख लिया जाय, शायद दाँव लग जाय। हमें तो चाहे किसी तरीके से अपना उल्लू सीधा करना ही था। अतः श्री शर्मा जी को सुझाव देते हुए कहा कि—आप हमें सिर्फ दो दिन के लिए डाक-बँगले में रहने की अनुमति प्रदान कीजिये। यदि संभव हुआ तो हम लोग मजदूर मिलते ही कल प्रातः यहाँ से आगे के लिये प्रस्थान कर देंगे अन्यथा परसों सुबह तो अवश्य ही चल देंगे। मेरे सुझाव को मान्य रखने में उन्हें कोई एतराज नहीं था। अतः उन्होंने एक विशेष प्रकार का अनुमति पत्र दे दिया। मैंने उन्हें सायंकाल डाक-बँगले में आने का और यात्रियों के साथ चाय-नाश्ता लेने का निमन्त्रण दिया, जिसको उन्होंने सस्मितवदन स्वीकार किया। उनका आभार व्यक्त करते हुए मैं वहाँ से बिदा हुआ। जयन्ती भाई को तो इसीलिये मैंने यहाँ से पहले ही रवाना कर दिया था कि वे सामान के घोड़े-खचर के आ पहुँचते ही उन्हें सीधे डाक-बँगले पर ले जाने की व्यवस्था करें, अन्यथा यदि घोड़ेवाले ने सब सामान होटल या धर्मशाला में उतार दिया तो फिर उनको डाक बँगले में ले जाने में मजदूरों को निरर्थक अधिक धन देना पड़ेगा। और डाक-बँगले के दरबान को सूचित कर दें कि अनुमति पत्र मिल गया है और स्वामी जी उसे लेकर शीघ्र ही यहाँ पहुँचनेवाले हैं इत्यादि।

यहाँ से चलकर जब मैं बाजार की श्री मोहन सिंह गरब्याल[1] की कपड़े की दूकान पर आया तो उन्होंने मेरा स्वागत करते हुए अच्छे आसन पर बैठाते हुए यात्रियों का कुशल मंगल पूछा। उन्होंने कहा "अल्मोड़े की कुमारी गंगोत्री बहिन गरब्याल से आपके विषय में सुना था। यह भी सुना था कि आप इस वर्ष यात्रा संघ लेकर कैलास-मानसरोवर जा रहे हैं।" कुछ समय तक मौन रहने के बाद वे वहाँ पर बैठे हुए एक रामानंदी ब्रह्मचारी जी से मेरा परिचय कराते हुए बोले कि—यह महाराज भी कैलास यात्रार्थ जाना चाहते हैं। यह सुनकर मैंने कहा—"इनका शुभ विचार प्रशंसनीय है। श्रद्धा एवं विश्वास युक्त सभी व्यक्ति इस

१—मोहनसिंह गरब्यांग और भूपसिंह गुञ्जाल ये दोनों धारचूला में प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। दो वर्ष पूर्व ही मोहन सिंह का आकस्मिक निधन हो गया।

तीर्थराज के यात्रार्थ जा सकते हैं।" मुझे यहाँ से शीघ्र ही डाक-बँगले पहुँचना था अतएव आगे की यात्रा के लिये मोहन सिंह से मजदूरों के विषय में बातचीत कर मैं वहाँ से विदा हुआ। दरबान को अनुमति पत्र देने पर उसने डाक-बँगला का एक बड़ा और एक छोटा कमरा खोल दिया जिससे बाहर में सो रहे यात्री भीतर में आयें और मैं सामानवाले घोड़े-खच्चर आ पहुँचे या नहीं इसकी जानकारी प्राप्त करने के लिये पुनः बाजार की ओर चल पड़ा। खान की दूकान पर आने पर पता चला कि वह घोड़ेवाला तो वहीं पर सब सामान छोड़कर कहीं चला गया है। वह खान का नौकर ही था। उनके ऐसे अभद्रपूर्ण व्यवहार से मुझे दुःख हुआ अतः मैंने कुछ रुष्ट-सा भाव व्यक्त करते हुए खान से उनके नौकर की ऐसी जल्दीबाजो करने का कारण पूछा। उसने अपना बचाव करते हुए कहा कि सामान का वजन कराना होगा क्योंकि वजन के अनुसार ही मजदूरी तै हुई है। डाक-बँगला में सामान तौलने का साधन नहीं होने पर ही नौकर ने सब सामान यहीं पर उतारा है। मैंने देखा कि सामान तौलने में तो काफी समय लग जायेगा क्योंकि काँटा तौल भी बाहर से लेना पड़ेगा और एक-एक कर सब सामान तौलना पड़ेगा। इन सब झंझटों से बचने के लिये मैंने उसे कुछ अधिक धन देने का वचन दिया क्योंकि हम थके हुए थे और क्षुधा भी सता रही थी इसलिये चाय-नाश्ता तैयार करने के लिये सब सामान का डाक बँगले में शीघ्र पहुँचना अनिवार्य था। जब मैंने मजदूरों को बुलाकर सब सामान को डाक-बँगले में पहुँचवाया तब कहीं यात्रियों के दिल में शान्ति आई। सामान पहुँचते ही झटपट मिठाई के डब्बे खुलने लगे और चटपट उदर में आहुतियाँ पड़ने लगीं। अब यात्रियों की उदरपूर्ति के उपरान्त पैरों में खड़े होने की शक्ति आई। और धारचूला जो पहले रूखा-सूखा दीख पड़ रहा था, अब रमणीक दिखाई पड़ने लगा। कुछ समय बाद वहाँ पर घोड़े वाला आ उपस्थित हुआ। उसे देखते ही कुछ यात्रियों ने अपनी भृकुटियाँ कस लीं और उसे "अनसुनी (जली-कटी) सुनाने लगे।' वह भी अपने दोष से परिचित था इस कारण मौन ही रहा। आखिर उसे किराया और दो रुपया पुरस्कार देने पर वह प्रसन्न हुआ और सभी को सलाम करते हुए वहाँ से विदा हुआ। मैंने कुछ समय तक विश्राम करने के बाद फलाहार कर लिया और हो सके तो कल ही यहाँ से प्रस्थान कर देने की व्यवस्था निमित्त मजदूरों की खोज में बाजार की ओर निकल पड़ा। आम दिनों में तो धारचूला में जितने चाहें उतने मजदूर मिल जाते हैं किन्तु आजकल वे लोग भी दिखाई नहीं पड़ रहे थे। मजदूर एजेन्सी नामक एक प्राइवेट संस्था

में पूछताछ करने पर पता चला कि मिलेट्री के कुछ जवान भारत की सीमा पर जा रहे हैं इसीलिए उन लोगों का सामान असकोट से यहाँ ले आने के लिये करीब १०५ मजदूर कल ही यहाँ से भेजे गये हैं। आज तो मजदूर मिलना कठिन है। संभव है कल भी ऐसा ही होगा। इस प्रकार हम बातें कर ही रहे थे कि इतने में वहाँ पर छः मजदूर आ उपस्थित हुए और कहने लगे कि वे गरब्यांग तक सामान ले जाने के लिये प्रस्तुत हैं। हम लोगों के सामान के अनुसार तो करीब बारह से चौदह मजदूरों की आवश्यकता थी इसलिये उन छः मजदूरों के सरदार श्री गरतसिंह को पास में बुलाया और उसे कुछ अधिक धन का लालच देकर बारह-चौदह मजदूरों का कान्ट्रैक्ट दे दिया। यद्यपि बाजार में पक्का एक मन बोझ ढोने वाले मजदूर की प्रति दिन की, प्रति पड़ाव की (करीब १२ मील की) मजदूरी साढ़े चार रुपये थी तथापि मजदूरों की कमी से मजबूर होकर हमें प्रतिदिन की पाँच रुपया मजदूरी तय करनी पड़ी। सरदार गरतसिंह ने कहा--"मैं यहाँ से कुछ दूर के पहाड़ों में से अपने गाँव में जाकर मजदूर ले आऊँगा किन्तु कल यहाँ से प्रस्थान करना असंभव है, परसों ही यहाँ से चलना हो सकेगा।" हमने उसे पाँच रुपया एडवांस देकर बात पक्की कर ली और उसे जितना हो सके शीघ्र ही मजदूर लाने के लिये वहाँ से बिदा किया। वैसे तो पहाड़ी लोग अधिकांश विश्वसनीय होते हैं किन्तु यदि उन्हें पहले से कुछ धन अग्रिम रूप में दे दिया हो तो बात पक्की हो जाती है। सामान ढोने के लिये धारचूला से ही मजदूर लेने का कारण यह है कि यहाँ से आगे का रास्ता पहाड़ों की कठिन चढ़ाई-उतराई का है जहाँ पर घोड़े-खच्चर नहीं चल सकते हैं। किन्तु गरब्यांग से घोड़े-खच्चर द्वारा ही सामान ढोया जाता है। मजदूरों के लिये आगे का मार्ग अतीव कष्टप्रद है। गरब्यांग से भाड़े के घोड़े-खच्चर यात्रियों को और यात्रियों के सामान को ढोते हुए कैलास-मानसरोवर की यात्रा करवा के उन्हें वापस गरब्यांग ले आते हैं। धारचूला से कैलास यात्रा के लिये (आने-जाने की) डंडी एवं कंडी भी मिलती है।

मजदूरों की जटिल समस्या को सुलझा कर जब मैं डाक-बँगले की ओर आ रहा था तब मार्ग में चेक-पोस्टआफिसर मिले। वे सज्जन नरेन्द्रनगर (टीहरी-गढ़वाल) के थे और धर्मभावापन्न थे। उनसे सुना कि हम धारचूला पहुँच गये हैं इस तरह का समाचार उन्हें कब का ही मिल चुका था। कुछ समय तक बातचीत करने के बाद मैंने उन्हें डाक-बँगले में आने का और चाय-नाश्ता से स्वागत स्वीकार

करने का निमन्त्रण दिया और वहाँ से सीधा डाक-बँगले पर आया। यात्रियों की मजदूरों के विषय में जानने की जो उत्सुकता थी उसको मैंने सविस्तृत रूप में समझा दिया जिससे वे लोग बड़े प्रसन्न हुए। कल दोनों धारचूला के दर्शनीय स्थान देखने का कार्यक्रम बना लिया। मैं आज की थकान दूर करने के लिए कालीगंगा में स्नान करने के हेतु वहाँ से चल पड़ा। मार्ग बड़ा ही ऊबड़-खाबड़ और गन्दगी का था। ग्रामीण लोग नदी तट पर जहाँ कहीं अच्छा लगे, शौचार्थ बैठ जाते हैं। ग्राम सुघराई का इस ओर कुछ ध्यान नहीं है यह एक दुःख की बात है। डाक-बँगले में स्नानघर तो था किन्तु नल में दिन में एक ही समय जल आता था। मुझे तो जहाँ तक हो सके नदी में स्नान करना अच्छा लगता था। इससे तिब्बत की भयंकर शीत को सहन करने का यहीं से ही अभ्यास होता था। कालीगंगा में स्नान कर जब मैं डाक बँगले में वापस आया तो वहाँ पर चेक पोस्टआफिसर और इंजीनियर बैठे हुए थे। राजदेवजी उनका पेड़ा, चकरी, गाँठियाँ इत्यादि मिष्ठ पदार्थों द्वारा सत्कार कर रहे थे। उन दोनों ने यात्रियों के मैत्रीपूर्ण व्यवहार और आनन्दी स्वभाव की प्रशंसा की। पासपोर्ट के विषय में पूछने पर उन्होंने हमें कल चेक पोस्ट आफिस में आने को कहा। प्रायः आधा घण्टा के बाद वे दोनों आनन्द से बिदा हुए जब कि यात्री सायं आरती की तैयारी करने लगे। आज की आरती में और ही आनन्द था। इसके अन्य कारणों में एक कारण यहाँ का शुद्ध वायुमंडल था। आरती की समाप्ति के बाद धुन-भजन का कार्यक्रम हुआ और आखिर में राजदेव जी ने चाँदी की छोटी-सी कटोरी और लुटिया में से सभी यात्री को एक-एक शक्कर का छोटा-सा टुकड़ा और जल की कुछ बूंदे प्रसाद रूप में वितरित कीं। कुछ समय बाद खाखीबाबा के भोजन तैयार कर लेने पर उसका भगवान् को निवेदन कर सभी आनन्द से भोजन पाने के लिये बैठ गये। मैं डाक बँगले के बरामदे में टहलने लगा। इतने में वहाँ पर एक साधु आ उपस्थित हुआ। आज दोपहर में ही मुझे भोटिया मोहन सिंह ने उसका परिचय करवाया था। वह मेरे साथ इधर-उधर की बातें करने लगा। मैंने देखा कि जिस कारण से वह आज मेरे पास आया है उसको तो दिल में छुपा रहा है जब कि अन्यान्य प्रसङ्ग छेड़ता जा रहा है। अतः मैंने उनके मन का समाधान करते ए स्पष्ट किन्तु विनम्र शब्दों में सुना दिया कि यदि वह हमारे यात्रा संघ के साथ में कैलास-मानसरोवर की यात्रा करना चाहता है तो इस विषय में यात्रासंघ के प्रधान कोषाध्यक्ष, राजदेव जी से मिलकर सब बातें तय कर ले क्योंकि यात्रा काल में भोजन, वाहन इत्यादि की जब-

तक वे स्वीकृति नहीं देते तबतक उसे मैं यात्रासंघ का सदस्य नहीं बना सकता। यह सुनकर वह आभार प्रदर्शित करता हुआ, फिर कल मिलूंगा, ऐसा कहता हुआ, वहाँ से बिदा हो गया। आज सभी यात्री बलवाकोट से यहाँ तक सर्व प्रथम यात्रा करने के कारण थके हुए थे अतः जल्दी सो गये।

आज १४ वीं जून और बुधवार था। आज भोर में उठकर आगे की यात्रा के लिये यहाँ से प्रस्थान करने की नौबत तो थी ही नहीं क्योंकि आज का निवास यहाँ पर ही होना प्रायः निश्चित था। अतः उषापान (चायपान) के जो आदी थे वे ही कुछ यात्री भोर में उठ गये थे, अन्य सब देरी से उठे थे। आज किसी-किसी ने बाथरूम-स्नान किया तो कोई कालीगंगा में जाकर डुबकियाँ लगा आया। आज तो सारा दिन घूमना ही था अतः सबने करीब १० बजे ही भोजन समाप्त कर लिया था। खाखीबाबा ने आज मेरे लिये प्रेम से फलाहार बना दिया था। भोजनोपरान्त मैं जयन्ती भाई और दामुभाई चेक पोस्ट आफिस में पासपोर्ट प्राप्त करने के लिये गये। यहाँ से आगे जाने के लिये यात्री व्यापारी वगैरह को पासपोर्ट दिये जाते हैं। बिना पासपोर्ट लिये यहाँ से आगे जाना पूर्णतया निषिद्ध है। यात्री के पासपोर्ट को यात्रीपास (Pilgrim identity card) कहते हैं जब कि व्यापारी लोगों के पास को व्यापारी पास (Trader Passport) कहते हैं। मैं यात्रा संघ का नेता होने से सबसे पहला मेरा ही पास बना जिसमें मेरा नाम, पता, आयु, यात्रा प्रारम्भ करने की तारीख एवं वापस लौटने का समय इत्यादि लिखे गये। शरीर पर के किसी चिह्न को भी लिखा गया। इस प्रकार हम तीनों ही व्यक्तियों के पासपोर्ट बन गये। मेरे पासपोर्ट का नम्बर १३ था। इस विषय में पूछने पर चेक पोस्ट आफिसर ने कहा—'यहाँ से १२ व्यक्ति आगे जा चुके हैं।' कुछ देर तक रुकने के पश्चात् कुछ विषादयुक्त मन से और मन्द स्वर से वे पुनः बोले—'यहाँ से सबसे पहले एक रामदासी साधुनी यात्रा के लिये गई थी उसके विषय में कुछ दिन पूर्व ही हमें कालापानी सैनिक शिविर से बेतार के तार (Wireless) द्वारा सूचित किया गया था कि वह तिब्बत में हिम जलभरी नदी में बह गई है। अन्य दो बंगाली साधु भी बीमार होने से मानसरोवर के समीप से ही वापस लौट आये हैं। यहाँ से जितने लोग गए हैं उनमें से अभी तक किसी के भी यात्रा सम्पूर्ण कर वापस लौटने का समाचार हमें सैनिक शिविर से प्राप्त नहीं हुआ है। यात्रा अत्यन्त कठिन है।'

हम तीनों को तो पासपोर्ट मिल गये। अन्य यात्रियों को पासपोर्ट बनवाने के

लिये बुलाने के लिये दामुभाई और जयंतीभाई को डाक बँगले पर भेज दिया। यहाँ से चलते समय मैंने जयंतीभाई को धीमे स्वर से समझा दिया कि डाक बँगले पर पहुँचकर अन्य यात्रियों को सूचित कर दीजियेगा कि यहाँ आ पहुँचने पर कोई अपने को सरकारी कर्मचारी घोषित न करें अन्यथा उसे पासपोर्ट नहीं मिल सकेगा और यहाँ से ही वापस लौट जाना पड़ेगा। भारत सरकार सरकारी कर्मचारियों को तिब्बत में जाने देना उचित नहीं समझती क्योंकि उन लोगों के प्रति तिब्बत पर अवैध रूप से अधिकार जमाये हुए चीनी लोग बड़े ही शंकाशील हैं। इस कारण उन्हें परेशान करते रहते हैं ऐसा समाचार मिला है। कुछ समय बाद जब यात्रा-संघ के अन्य सदस्य चेकपोस्ट में आ पहुँचे तब उन्हें भी हम लोगों की तरह नाम-पता, देह पर के निशान इत्यादि की पूछताछ कर पासपोर्ट बना दिये गये। चेकपोस्ट आफिसर बड़े सज्जन पुरुष थे अतः उन्होंने सभी यात्रियों को आगे के मार्ग के विषय में जानकारी देते हुए तिब्बत में किस प्रकार से रहना इत्यादि के विषय में लाभदायक सूचना दी। हमने उनके प्रति आभार प्रकट किया और वहाँ से चलकर बाजार में श्री रतन सिंह की दूकान पर आये। जिस प्रकार भोटिया व्यापारी मोहन सिंह गरब्याल धारचूला से लेकर पश्चिम तिब्बत के मानसरोवर प्रान्त तक प्रसिद्ध है वैसे ही रतन सिंह के पिता श्री भूपसिंह गुंजाल हैं। मोहन सिंह 'गरब्यांग' निवासी होने पर गरब्याल है जब कि भूपसिंह 'गुंजी' निवासी होने पर गुंजाल है। कैलास यात्रा मार्ग में गरब्यांग और गुंजी दोनों ही गाँव एक दूसरे से करीब तीन मील की दूरी पर स्थित हैं। अन्य लोगों में से एक युवक रतनसिंह भी था जो हमारे यात्रासंघ के साथ-साथ असकोट से बलवाकोट पर्यन्त ट्रक में आया था। वह आनंदी एवं हंसोड़ा था। उसके पास एक अच्छी जाति का कैमरा था। यद्यपि हमारे यात्रा-संघ के श्री जयंतीभाई के पास भी एक छोटा कैमरा था किन्तु वह बाबाआदम के जमाने का था जिससे चित्र खींचना मानो फिल्म ही बिगाड़ना था। सभी ने रतन सिंह के कैमरे से ही सबके चित्र खिंचवाने की इच्छा व्यक्त की अतः रतन सिंह को साथ में लेकर सब कालीगंगा के तट पर गये। नदी के सामने के तट पर का नेपाली धारचूला को आज ध्वजापताकाओं से सजाया गया था जिससे उसकी सुन्दरता में चारचाँद लग गये थे। मार्ग में जहाँ कहीं दृष्टि जाती थी वहीं पर रंग-बिरंगी ध्वजायें दृष्टिगोचर होती थीं। किसी-किसी स्थान पर द्वार भी निर्मित किये गये थे और एक जगह पर तो बड़ा मंडप बनाया गया था। पुलिसवाले भी अच्छी पोशाक पहनकर इधर-उधर घूम रहे थे। भारतीय-धारचूला से कुछ लोग

नेपाली-धारचूला की ओर जा रहे थे। इस विषय की जानकारी प्राप्त करने के हेतु जब मैंने एक नैपाली से पूछताछ की तो पता चला कि काठमांडू से श्रीकान्त अधिकारी नामक एक अफसर दो-तीन दिन से वहाँ आकर ठहरे हैं और ग्रामविकास कार्य की जाँच-पड़ताल कर रहे हैं। आज स्कूल के छात्र उनके समक्ष विभिन्न प्रकार के खेलों का कार्यक्रम प्रस्तुत करने वाले हैं। ये सब देखने के लिये इतने लोग वहाँ जा रहे हैं। उसी अधिकारी के सम्मानार्थ इस गाँव को इस प्रकार से सजाया गया है।" नैपाली ने सामने के काली गंगा पर के पुल की ओर अंगुलि निर्देश करते हुए कहा—"वहाँ पर कुछ दिन पहले तक मजबूत रस्सी का पुल था जिसमें लकड़ी का त्रिकोणाकार पिंजड़ा जैसा बंधा रहता था। कई बार तो केवल रस्सी ही बंधी रहती थी जिसे पकड़-पकड़ कर नीचे की ओर सिर और ऊपर की ओर पैर करते हुए बंदर की तरह पैरों के सहारे खिसकते खिसकते नदी पार करनी पड़ती थी। इस प्रकार से नदी पार करने में बहुत बार भयंकर दुर्घटनाएँ होती रहती थीं। अतः नेपाल राज्य ने लोहे की रस्सी एवं लकड़ की पटरियों से बना नूतन, छोटे से पुल का निर्माण किया है; जिसका उद्घाटन श्रीकांत अधिकारी द्वारा गत ११वीं तारीख, रविवार, के शुभ दिन पर हो गया है।" सामने पार जाने के इच्छुक हम सब यात्री उक्त छोटे से पुल के समीप आये। पुल के दक्षिण ओर वाम भाग में नीचे की ओर ऊपर की ओर बड़े बड़े दो-दो लोहे के तारों के अतीव सजबूत रस्से नदी के एक छोर से दूसरे छोर तक बँधे हुए थे। चलने के पथ पर लकड़ी की पटरियाँ बिछी हुई थीं। मार्ग की चौड़ाई तीन-चार फुट और लम्बाई करीब ४० फिट थी। सामने से आनेवाले लोगों के इस पार पहुँचने पर ही यहाँ से लोगों को सामने पार जाने के लिये अनुमति दी जाती थी। आने-जाने वाले लोगों की संख्या भी पाँच-छः तक ही रक्खी जाती थी क्योंकि लोगों के चलने पर यह छोटा-सा पुल झूलने लगता है जिससे निर्बल हृदय के व्यक्ति को दुर्घटना होने की आशंका रहती है। मैं और रतन सिंह तो जल्दी-जल्दी सामने पार पहुँच गये जब कि अन्य यात्री धीमे-धीमे चल के पुल के दोलायमान होने पर मार्ग में कुछ समय तक बैठते, कभी नीचे गर्जना के साथ बहती हुई काली गंगा की ओर आँखें फाड़कर देखते तो कभी सामने पार की ओर भयभरी दृष्टि से देखते हुए बड़ी मुश्किल से नदी को पार करने में समर्थ हो सके। सामने पार पहुँचने पर मानो सब में नूतन प्राण का संचार हुआ। भगतजी की साँस जोरों से चल रही थी। वे बोले—"एस० एम० (राजदेव जी) यह क्या वही पुल है जिस पर से बंदर की

तरह भूलते हुए नेपाल में जाने की बात नवनीत पारिख ने अपनी कैलास यात्रा की पुस्तक में लिखी है ?" यह सुन, एक विशेष प्रकार की भावभंगिमा करते हुए और भगतजी की आवाज की नकल करते हुए राजदेव जी ने कहा —"वही···वही"। अब भगतजी को किसी बात का स्मरण हो जाने पर मुस्कराते हुए कहने लगे, "श्रीमती जी तो मुझे कैलास यात्रा के लिये अनुमति ही नहीं दे रही थीं। उसने तो सुन रक्खा था कि मार्ग में बड़ी-बड़ी हिमसरितायें बंदर की तरह झूलते हुए ही पार करनी पड़ती हैं, जो खतरे से खाली नहीं हैं। इसलिये बहुत अनुनय-विनय करने के बाद जब मैं उससे अनुमति प्राप्त करने में सफल हुआ तब यात्रा के लिये प्रस्थान करते समय कम-से-कम सौ बार उसने मुझे कहा होगा कि ऐसे रस्सों से पार करते समय बहुत ही सावधान रहियेगा और 'बापा' का बार-बार स्मरण करते रहियेगा।" भगतजी के दिल की बात सुनकर सभी यात्री हँसी रोक न सके। वातावरण में आनन्द छा गया।

नेपाली धारचूला में पहुँचकर हमने देखा कि मार्ग में स्वागत-द्वार बनाये हुए थे जिसपर रूई से सुस्वागतम् लिखे हुए थे। मुझे तो यह देखकर इसलिये आश्चर्य हुआ कि नेपाली धारचूला में तो ऊन का व्यापार अधिक होता है और ग्राम्य की प्रगति के चिह्न रूप में स्वागत द्वार पर ऊन से अक्षर बनाये हुए होते तो यथार्थ था किन्तु यहाँ पर रूई का इतना सम्मान किस दृष्टि से किया गया होगा, यह समझ में नहीं आया। यहाँ के पहाड़ों में रूई की उत्पत्ति नहीं होती है ऐसा मुझे एक विश्वसनीय व्यक्ति से पता चला था। इस बात पर कुछ समय विचार करने पर मैं समझ गया कि यहाँ पर जो रूई का उपयोग किया गया है वह सिर्फ शोभावृद्धि के लिए ही किया गया है, न कि ग्राम्य प्रगति दिखाने के लिये। यहाँ से सामने पार का भारतीय धारचूला रमणीय दीख पड़ता था। गर्जना करती एवं दुग्ध सी धवल फेन उछालती हुई कालीगंगा भी मनोहर प्रतीत हो रही थी। कुछ दूर के वाम भाग के पहाड़ों पर स्थित ईसाई मिशनरियों के गिर्जाघर, स्कूल एवं अन्यान्य भवन आम और केल वृक्षों में से लुकछिप कर झाँकते हुए ऐसे मालूम पड़ते थे जैसे वे वहाँ पर कुछ गुप्त कार्यों में व्यस्त हों। बात सच ही थी क्योंकि हमने सुना था कि इस पहाड़ी प्रदेश में ईसाई मिश्नरी विभिन्न प्रलोभनों द्वारा भोली-भाली गरीब पहाड़ी जाति को धर्म परिवर्तन कराने में जोर शोर से लगी हुई है। इस विषय की सप्रमाण कितनी ही रिपोर्ट दिल्ली तक जा चुकी है किन्तु इससे दिल्ली के भाग्यविधाताओं

के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी है, यह एक दुःख का विषय है। और इधर इन श्वेत ठगों के विषैले प्रचार की मात्रा भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है।[1]

हम लोग गाँव देखने की इच्छा से आगे बढ़े। मार्ग में कितने ही नेपाली मिले। ये लोग मस्तक पर फूलछाप सी रंग-बिरंगी टोपियाँ, देह पर एक कमीज और उस पर प्रायः काले रंग की बंडी और कटि से लेकर पैर तक चूड़ीदार पैजामा पहनते हैं। कुछ शिक्षित लोग, जो काँग्रेसी हैं, सिर पर सफेद गांधी टोपी भी धारण करते हैं। कोई-कोई लोग पतलून, चड्ढी, कोट, बुशकोट भी पहना करते हैं। अधिकांश लोग गरीब हैं। वे मजदूरी करके या तो खेती के समय में खेती-बाड़ी कर, पशु-पालन और छोटे-बड़े उद्योग कर—अपना जीवन निर्वाह करते हैं। सुना है कि यहाँ का घी प्रसिद्ध है और सस्ता मिलता है। मैंने सोचा कि आजकल तो शुद्ध 'डालडा' का दर्शन भी दुर्लभ होता जा रहा है तो फिर जहाँ पर मोटर-बस पहुँच गई हो उस प्रदेश में भी शुद्ध और सस्ता घी कैसे मिलता होगा।

गाँव देखते हुए जब हम लोग करीब एक फर्लाङ्ग की दूरी पर पहुँचे तब वहाँ पर देखा कि स्कूल के छात्र कबड्डी खेल रहे थे और वहाँ उपस्थित असंख्य दर्शनार्थी बड़े चाव से उन लोगों के खेल देख रहे थे। सामने की एक कुर्सी पर श्रीकांत अधिकारी आसीन थे। जिनके समीप में कुछ सशस्त्र नेपाली पुलिस के जवान पहरा दे रहे थे। कुछ देर तक कबड्डी खेल देखकर जब हम यात्री वहाँ से लौटने लगे तब एक पुलिस ने हम लोगों के बारे में पूछताछ की। उनको संक्षेप में प्रत्युत्तर देते हुए जब बता दिया गया कि अधिकांश यात्री सौराष्ट्र-गुजरात के हैं और कैलास-मानसरोवर की यात्रा के लिये जा रहे हैं तब कहीं हमारे नेपाल में आगमन से उनके मन में उठी शंका का समाधान हुआ। जब मैं पुलिस के जवान से बातचीत कर रहा था उस दरमियान अधिकांश यात्री वहाँ से खिसक कर चल दिये। उन लोगों का इस प्रकार के अजीब से व्यवहार ने मेरे मन को दुःख पहुँचाया। मैंने सोचा कि ये लोग जब पडोसी मित्र देश नेपाल के पुलिसवालों से इतने भयभीत हो गये कि दुम दबाकर भागने लगे, तो फिर तिब्बत में प्रवेश होने पर चीनी दानवों के समक्ष इनकी क्या दशा होगी। "नंगा क्या पहने और क्या निचोड़े" की उक्ति अनुसार मुझे न

१—कुछ दिन पूर्व ही समाचार पत्रों में खबर थी कि बिहार के दुर्भिक्ष पीड़ित कुछ स्थानों में ईसाई लोगों ने कुएँ खोदे हैं। जलाभाववाली गरीब जनता को वे लोग ईसाई बनाने के बाद ही जल देते हैं। अभी हाल में ११००० हिन्दुओं को ईसाई बनाया गया और जल दिया गया।

तो किसी प्रकार का भय था और न तो भयका कोई कारण ही क्योंकि न तो मैं भारत सरकार का कोई कर्मचारी था, न तो धनी ही। यात्रा भी मेरे लिए तो "स्वान्त: सुखाय" ही थी।

भारतीय और नेपाली धारचूला एक दूसरे से अत्यन्त निकट होने से एक दूसरे के प्रदेश में आने जाने पर किसी भी प्रकार की रोक-टोक या पासपोर्ट सिस्टम नहीं है। यहाँ पर नेपाली पुलिस थाना इसलिये रक्खा गया है कि दोनों देशों की सीमा पर किसी भी प्रकार की गड़बड़ी न 'होने पाये, और विशेषत: तस्कर व्यापार को रोका जा सके। गाँव में सजाये हुए एक मण्डप में बैठकर सभी यात्रियों ने रतन सिंह से फोटो खिचवाई। बाद में गाँव को देखते हुए वहाँ से पुल पार करके डाकबंगले में वापस आ गये। असकोट से प्रस्थान करते समय हमें श्री उमेश मिश्रा नामक भुवनेश्वर का जो एक युवक मिला था, जिसने हमारे यात्रा ंघ के सदस्य रूप में कैलास यात्रा करने की बिनती की थी, वह डाक-बंगले में आकर मिला। बातचीत के दौरान उसने बतलाया कि वह अपने एक पंजाबी मित्र, जो शीरखा गाँव की उद्योगशाला में कार्यकर्ता है, के साथ आगे के लिये प्रस्थान कर देगा और गरब्यांग पहुँचने तक मार्ग में किसी स्थान पर आकर यात्रा संघ में शामिल हो जायेगा। मैंने उपदेश देते हुए कहा कि अभीतक हवामान अच्छा नहीं है इसलिए वर्षा होने से पू ' ही गरब्यांग पहुँच जाने के लिये प्रयत्न करना। उसने मेरी बात मान ली और आभार प्रदर्शित करता हुआ वहाँ से बिदा हुआ।

यात्री आज जल्दी-जल्दी आरती कर भोजनादि से निवृत्त हो गये। दिन भर की थकावट दूर करने के हेतु वे बिछौनों में पड़ ही रहे थे कि उतने में वहाँ पर सरदार गरतसिंह ने अचानक उपस्थित होकर कहा, मैं मजदूर ले आया हूँ। सुबह में ही सब सामान तौलकर सभी मजदूरों में समान रूप से विभाजित कर यहाँ से चलकर दस मिल दूर के तवाघाट नामक स्थान में पहला पड़ाव करना होगा। सभी यात्रियों का सामान जितना जल्दी बाँधकर तैयार हो जायेगा उतनी ही जल्दी उनकी तौल हो सकेगी और सुबह-सुबह में ही यहाँ से चल पड़ेंगे क्योंकि पहाड़ों में यात्रा जितनी भोर में शुरू होगी उतनी ही स्वास्थ्यवर्धक और निर्विघ्न होगी। जैसे जैसे सूर्य की धूप बढ़ने लगती है वैसे ही वैसे क्लांति एवं आलस्य में वृद्धि होने पर चलने की गति मन्द पड़ती जाती है जिससे कम अंतर वाले पड़ाव करने पड़ते हैं।" हम सबने उसकी बात का समर्थन, किया और तदनुसार भोर में तैयार रहने का वचन दिया। यहाँ से आगे की यात्रा कल ही शुरू होने जा रही है इस शुभ संवाद

ने सभी को ऐसे तो आनंदित कर दिया कि उसके प्रवाह में मानो हमारी आज की आधी थकान दूर हो गई। सभी ने इसको करुणा-वरुणालय भगवान् श्री कैलासपति की हम पर महती कृपा का ही परिणाम समझकर उनके मंगलमय नाम का जयघोष किया। बिछौने में पड़ा-पड़ा मैं कल के पड़ाव के बारे में सोच रहा था तब डाक बंगले के लिये अनुमति पत्र प्राप्त कर लेने का विचार उदित हुआ। मैं उठकर समीप के कमरे में जा पहुँचा और वहाँ पर निवास कर रहे सहायक इंजीनियर से इस विषय में बातचीत की। उन सज्जन ने मेरी बात सुनते ही तवाघाट डाक-बंगले के लिये अनुमति पत्र लिख दिया जिसे लेकर मैं उनका आभार प्रकट करता हुआ अपने कमरे में आया। देखा कि सब लोग खर्राटे भर रहे थे। मानो आगामी दिन की कठिन चढ़ाई उतराई वाली यात्रा की तैयारी के लिये अपने देह को क्लांति से निवृत्त कर पुष्प-से हलके बना रहे हों। मैं भी वैसी ही निद्रा का आवाहन करता हुआ मृगचर्म बिछाकर लेट गया।

भोर में करीब चार बजे सर्व प्रथम राजदेव जी का स्वर सुनायी पड़ा, "जय जला....राम..."। सब समझ गये कि वे सबको उठ जाने के लिये कह रहे हैं। खाखी बाबा तो उठते ही सीधे स्टोव के पास जा पहुँचे और उषा पान की तैयारी करने में लग गये। कुछ यात्रियों ने चाय तैयार होने पर चाय-नाश्ता से उदर-दरी भरी। मैंने बात-बात में सरल भाव से पूछ ही दिया—"राजदेव जी को इतनी भोर में चाय पान की कब से आदत पड़ गई है।" इतने में जगु भाई बोल पड़े—"घर में एस० एम० को यदि किसी दिन भोर में चाय न बना दी गई हो तो वे सारा दिन आगबबूले रहते हैं। इसीलिये तो रात में ही दूध को सुरक्षित रख लेना पड़ता है।" यह सुनकर सभी के साथ-साथ राजदेव जी भी हँस पड़े। एक विद्वान् ने इस चीन की कुमारी (चाय) के बारे में यथार्थ ही कहा है कि--विदेशी लोगों ने आंग्ल भाषा, चाय और सिगरेट को भारत भूमि में प्रविष्ट करवा के एक प्रकार से भारतीयों का मानसिक एवं शारीरिक अधःपतन ही कर डाला है ऐसा कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।[१] मुझे एक हंसोड़े आदमी ने कहा था कि यदि किसी

---

[१] —कहते हैं कि ब्रिटेन के लोगों की विश्व में अभी तक भी सर्वाधिक चाय पीनेवालों में गणना है। ई० स० १९६५ में ब्रिटेन में करीब ४९॥ करोड़ पाउण्ड चाय की खपत हुई। ब्रिटेन में आजकल एक नया अभियान चालू हुआ है जिसे "अधिक चाय पीयो" की संज्ञा दी गई है। "चाय परिषद्" नामक एक नई संस्था ने चाय का प्रचार टेलीविजन, समाचार पत्रों, हस्तिहारों द्वारा करना शुरू कर दिया है। उक्त चाय परिषद् के सदस्य हैं—भारत,

को निमन्त्रण देकर एक सप्ताह तक उसे शुद्ध घृत से निर्मित मिष्ठान्न का भरपेट भोजन करवाया जाय किन्तु जब वह अपने घर पहुँचेगा तो सर्व प्रथम ही बात कहेगा, "कैसा विचित्र आदमी है कि एक दिन भी चाय नहीं परोसी।" उक्त दृष्टांत से हमें पता लगता है कि चीनी सैनिकों की तरह चाय हमारे जीवन की सीमा में इतने भीतर तक घुस आई है। हम तो क्या खाक चाय को पकड़ेंगे, चाय ने ही हमें पकड़ा है, गुलाम बना रक्खा है। ठीक ही कहा है कि "व्यसनं मनागपि बाध्यते।" पहाड़ों की कठिन चढ़ाई-उतराई वाली यात्रा के समय चाय पीनेवालों की आदत का न तो मैं विरोध ही करूँगा, न प्रशंसा ही। क्योंकि ऐसे समय में चाय पीना या न पीना यह सब कुछ यात्री की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति पर निर्भर है।

सभी यात्रियों ने अपना-अपना सामान बाँध कर तैयार कर दिया। डाक-बँगले के दरबान द्वारा Visitors' Book देने पर उसमें सभी के नाम, पता इत्यादि लिखकर दो-दिन के हिसाब से किराया चुका दिया और कुछ पुरस्कार भी दे दिया। सरदार गरतसिंह १२-१४ मजदूरों का दल लेकर आ पहुँचा। सामान तो तैयार था ही अतः मजदूरों ने उसे अपनी-अपनी पीठ पर बाँध लिया और तौल करवाने के लिये मोहन सिंह की दुकान की ओर रवाना हुए। यात्रियों ने भी भगवान् के गुणगान करते हुए वहाँ से उनका अनुगमन किया। मोहन सिंह के पुत्र ईश्वर सिंह ने सामान तौलने का बड़ा काँटा और बाँट दिये जिससे यात्रियों की उपस्थिति में सरदार गरत सिंह ने सब सामान को तौलना शुरू किया। जयंती भाई ने सब यात्रियों के नाम, उनके सामान की संख्या और सामान के वजन इत्यादि को क्रमशः नोट कर लिया। मजदूरों और यात्रियों की सहूलियत के लिये नाश्ता के टीन के डिब्बों को एक साथ में ही रखना आवश्यक था अतः उसके लिये

लंका और ब्रिटेन। इसकी सदस्यता के लिये केनिया, तंजानिया, युगांडा, मलावी, पुर्तगाल, पूर्वी अफ्रिका इत्यादि को निमन्त्रित किया गया था। चायपरिषद् का उक्त 'अधिक चाय पीयो' अभियान पहले तीन वर्षों में करीब २० लाख पाउण्ड खर्च करेगी। इस प्रकार, विष से भी भयंकर विष, चाय द्वारा विश्व की कितनी बड़ी जनसंख्या मृत्यु के मुख की ओर ढकेली जा रही है इसका उक्त प्रकार से स्पष्ट पता चल जाता है। गत फरवरी में जर्मनी के प्रसिद्ध बन्दरगाह 'हेम्बर्ग' में चाय की नयी जर्मन साम्राज्ञी का चुनाव किया गया, जिसमें 'मुडरल आसेण्डोर्फ' नामक सुन्दरी को 'चाय-साम्राज्ञी' के सम्मान से विभूषित किया गया। इस समारोह के अन्त में उन्हें चाय से तौला गया।

सामने वाली दर्जी की दूकान से शण के बोरे खरीद लिये गये। एक-एक बोरे में चार-चार डिब्बे व्यवस्थित रूप से रखकर उसका मुँह डोरी से सी दिया गया ताकि मार्ग में किसी प्रकार की गड़बड़ी न होने पाये। यद्यपि धारचूला से गरब्यांग तक पाँच पड़ाव (एक पड़ाव करीब ११ मील का होता है) की मजदूरी २० रुपया होती है तथापि आजकल मजदूरों की कमी से हम लोगों से २५ रुपया तय हुआ। एक मजदूर करीब ३५ सेर पक्का बोझ उठाकर आसानी से पहाड़ों में चल सकता है। यदि मजदूर अधिक धन कमाने के लोभ से ३५ सेर से अधिक बोझा उठाने की माँग करें तो भी उसे ऐसे नहीं करने देना चाहिये क्योंकि इससे वह क्लांत होने पर मार्ग में विश्राम करता-करता, धीमे धीमे चलेगा और पड़ाव पर पहुँचने में अधिक विलम्ब कर देगा। जिन यात्रियों के बिछौने, नाश्ता का सामान इत्यादि यदि उस बोझ में शामिल होगा तो इन वस्तुओं को यथा समय पड़ाव पर न पहुँचने पर परेशानियाँ झेलनी पड़ेंगी। पहाड़ों में ऐसी तकलीफें कई गुनी अधिक कष्टदायक महसूस होती हैं। और एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मजदूर जब सामान उठाकर पहाड़ों के मार्ग पर चलता है तब ३५ सेर वजन को एक मन ही गिना जाता है और इसी हिसाब से यात्रियों से मजदूरी वसूल की जाती है। यदि मजदूरों के सरदार को प्रतिदिन के हिसाब से कुछ धन देना तय किया जाय तो वह नौकर का भी कार्य करेगा। पड़ाव पर आगे पहुँच कर सफाई करना, जल लाना, लकड़ी आदि का प्रबन्ध करना, बर्तन माँजना इत्यादि कार्य अच्छी तरह से करेगा। कई बार तो थके हुए यात्री के देह में वह तैल-मालिश भी कर देता है। सरदार को अन्य मजदूरों से कम बोझ देना चाहिये जिससे वह आगे के पड़ाव पर जल्दी पहुँच सके और यात्रियों के लिये आवश्यक वस्तुएँ जुटा कर तैयार रक्खे। सरदार जब आगे चला जाता है उस समय बोझ उठानेवाले अन्य मजदूरों पर दृष्टि रखने का कार्य मजदूरों में से एक को सहायक सरदार नियुक्त कर उसके जिम्मे सौंप देना चाहिये। हमारे मजदूरों का सरदार गरतसिंह तो था ही किन्तु जल भरना, बर्तन माँजना इत्यादि के कार्य के लिये हमने मजदूरों में से एक, नेपाली कार्यदक्ष युवक, को रक्खा था। उसका नाम 'झुमली' था। कई मजदूर उसे 'झूमलीवाला' भी कहा करते थे।

मैंने जब देखा कि अन्य यात्रियों की दृष्टि के समक्ष सब सामान का तौल हो गया तब सबको सूचित कर मैं और दामु भाई ने यहाँ से आगे के तवाघाट नामक प्रथम पड़ाव के लिये प्रस्थान कर दिया। बलवाकोट से धारचूला

पर्यन्त तो हम दोनों सामान लदे हुए घोड़े-खच्चरों का ख्याल रखते हुए ही चलते थे किन्तु अब यहाँ से आगे के लिये ऐसी निगरानी करना आवश्यक नहीं था, क्योंकि प्रत्येक मजदूर अपनी अपनी पीठ पर लदे हुए बोझ का पूर्णतः जिम्मेदार था। सब मजदूर प्रामाणिक, सीधे-साधे और हृष्ट-पुष्ट थे इसलिये हमें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। जब हम रवाना हुए तब घड़ी में ७ बजकर पाँच मिनट हुए थे।

(क्रमशः)

——

डायरी के कुछ पृष्ठ

गुरुप्रिया देवी

२५ अक्टूबर, १९६६

इस बार बम्बई में भइया[*] और लीला बेन के विशेष आग्रह पर श्री श्री माँ की उपस्थिति में धूम धाम के साथ दुर्गा पूजा हुई। विले पार्ले स्थित भइया के निवास स्थान पर जैसे आनन्द की हाट लगी थी। जैनियों के यहाँ यह पहली बार दुर्गापूजा हुई, फिर भी अनेक विशिष्ट जैनी स्त्री-पुरुष इस आनन्दोत्सव में भाग लेने आये थे। माँ की आकर्षणी शक्ति सचमुच अपूर्व है।

माता दुर्गा की मूर्ति स्थानीय एक बंगाली कारीगर ने बनायी थी। प्रतिमा अत्यन्त सुन्दर बनी थी, यह बात सभी लोग एक स्वर से कह रहे थे।

आज दोपहर को भोग के पश्चात् माँ पूना के लिए रवाना हुई। रास्ता ठीक न होने के कारण ट्रेन से जाने की व्यवस्था की गयी। शाम के समय हम लोग पूना के आश्रम में पहुँच गये। इधर कई वर्षों से ब्रह्मचारी शैलेन यहाँ के आश्रम की जिम्मेदारी लेकर रह रहे हैं। आश्रम काफी साफ-सुथरा और सज्जित है। सत्संग के लिए आश्रम की भूमि पर एक पण्डाल बनाया गया है।

२८ अक्टूबर, १९६६

सभी लोगों के विशेष आग्रह पर आज यहाँ माँ की उपस्थिति में लक्ष्मी-पूजा की व्यवस्था हुई है। सुना कि स्थानीय एक महाराष्ट्रीय सज्जन ने चित्र देखकर मूर्त्ति बनायी है। माँ मूर्त्ति देखने के बाद कुछ बोली नहीं बल्कि मूर्त्ति बनाने वाले को तुरन्त बुलाने की आज्ञा दीं। इसी बीच एक ब्राह्मण दर्पण के साथ आये और बोले, "माँ, कल मैं स्वप्न में देखता रहा कि आप लक्ष्मी की मूर्त्ति स्पर्श कर बगल में बैठी हुई हैं।"

माँ ने हँसकर जवाब दिया—"पिताजी, यह शरीर तुम्हारा इन्तजार कर रहा था।"

---

[*] श्री श्री माँ के भक्त श्री बी० के० शाह, न्यू इण्डिया इंश्योरेन्स कं० के मैनेजिंग डायरेक्टर तथा बम्बई के प्रतिष्ठित व्यक्ति।

जबकि बाह्य दृष्टि से माँ के साथ इनकी मुलाकात पहले कभी नहीं हुई थी, ऐसा अनुभव हुआ। मूर्त्ति बनानेवाले सज्जन जब आये तब माँ उन्हें लेकर मण्डप के भीतर चली गयीं। वहाँ लोगों की अजानकारी में जो कुछ बातें हुईं, वह उस समय प्रकट नहीं हुईं।

पूजा शुरू होने में काफी विलम्ब हो गया, और कोई उपाय नहीं था। मूर्त्ति के सामने से पर्दा हटाने पर सभी लोगों ने देवी के दर्शन किये। किन्तु माँ को उनके आसन पर अथवा मण्डप के भीतर अन्यत्र कहीं देख न पाकर सभी चकित रह गये। पूजा आरंभ हो गयी है, किन्तु माँ का दर्शन न पाने के कारण भक्तवृन्द विचलित हो उठे हैं। इस तरह की घटना सचराचर घटना है। कुछ लोग आश्रम में जाकर सर्वत्र खोज आये। पूजा देखने के लिए दिलीप दादा* इन्दिरा देवी और उनके भक्तवृन्द आये हैं। इन लोगों के लिए आज आश्रम में प्रसाद पाने की बात थी, किन्तु माँ को कहीं देख न पाने के कारण ये लोग भी दुःखित हुए। इन्दिरा देवी का शरीर कुछ अस्वस्थ था, इसलिए ये लोग बिना प्रसाद पाये बिदा लेकर चले गये। समझते देर नहीं लगी कि अगर माँ रहतीं तो ऐसा नहीं होता।

पूजा आरती समाप्त होने के बाद माँ आत्म प्रकाश करती हुई पण्डाल में आकर बैठ गयीं। अब तक माँ को देख न पाने के कारण सभी लोग उदास भाव से बैठे थे। दिलीप दादा के आश्रम में प्रसाद फलादि और अन्न भोग माँ ने भिजवा दिया। कल वे लोग माँ का दर्शन करने के लिए सवेरे आयेंगे, यह समाचार वहाँ से आया।

रात के बारह बज चुके हैं। सभी प्रसाद पा रहे हैं। माँ खड़ी होकर कह रही हैं—"देखो, एक ब्राह्मण पण्डित पुरोहित आया था। दर्पण देते हुए उसने कहा था कि इस शरीर को वह देख चुका है मानो पूजा के समय लक्ष्मी मूर्त्ति स्पर्श कर बैठा हो। ब्राह्मण की बात को कैसे अमान्य किया जाय? लक्ष्मी माता ने कुछ देर के लिए सभी के निकट से इस शरीर को अपने यहाँ बुला लिया।"

---

* बंगाल प्रसिद्ध नाट्यकार श्री डी० एल० राय के पुत्र तथा संसार प्रसिद्ध संगीतज्ञ और साधक श्री दिलीप कुमार राय। आजकल आप पूना में आश्रम बनाकर स्थायी रूप से रहते हैं। श्री श्री माँ से काफी दिनों से परिचित हैं।

कुछ देर बाद पुनः कहने लगीं—"फिर देखो, अहमदाबाद के उस डाक्टर* की पत्नी प्राइवेट में आकर क्या कहती रही, जानते हो? बोली—"माँ, मैं स्पष्ट रूप से देख रही थी कि देवी मूर्त्ति की पूजा के समय श्वास चल रही थी और पूजा के समय यही अनुभव हो रहा था कि जैसे तुम वहाँ थीं।" इतना कहने के बाद माँ हँसने लगीं। विस्तारित रूप से सभी को कुछ नहीं बताया गया।

अधिक रात गये माँ के मुँह से सब कुछ सुनने का सौभाग्य हुआ। माँ ने कहा—"पहले जब उस ब्राह्मण ने आकर इस तरह कहा तब ख्याल हुआ था कि रहने दो—इसी भाव में। किन्तु दूसरे ही क्षण ख्याल हुआ कि इस भाव में ठीक नहीं होगा। इसीलिए लक्ष्मी माता ने लोगों की दृष्टि से बाहर रखा। फिर देखो, कैसा योगायोग हुआ। देवी को बैठने के लिए उन लोगों की ओर से जो चौकी दी गयी थी, उसे देखकर इस शरीर ने कहा—'ना, यह चौकी ठीक नहीं होगी। सभी देख नहीं पायेंगे।' इस शरीर ने तब एक बड़ी चौकी पर लक्ष्मी माता को बैठाने का प्रबन्ध किया। उस वक्त तक ब्राह्मण नहीं आया था। बाद में देखा गया कि वास्तव में उसी बड़ी चौकी की जरूरत थी।"

३० अक्टूबर, १९६६

आज दोपहर की गाड़ी से बम्बई लौट जाने की बात है। सबेरे लगभग ११ बजे दिलीप दादा, इन्दिरा देवी आदि कुछ लोग माँ से मिलने के लिए आये। भीड़ न हो, इसलिए कमरे के दरवाजे बन्द कर दिये गये थे। माँ के सम्मुख वे तथा इन्दिरा देवी कुछ देर तक शान्त भाव से बैठे रहे। बाद में माँ के कहने पर एक गीत गाने लगे। चलते समय वे बोले—"माँ, उस दिन तुम्हें न पाकर जितना दुःख हुआ था, आज वह दूर हो गया। आज तुम्हें देखकर, तुम्हारे पास जरा देर बैठने पर, बड़ा आनन्द प्राप्त किया।"

माँ के भोग के पश्चात् २ बजे के लगभग हम लोग स्टेशन की ओर चल पड़े। शाम को ७ बजे के लगभग हम सब बम्बई पहुँच गये। दादर स्टेशन पर भइया तथा अन्य अनेक व्यक्ति माँ को लेने के लिए आये थे।

---

* डा० अरुणकुमार मित्र एम० डी०। आप अहमदाबाद में चिकित्सा विज्ञान के अध्यापक हैं।

३ नवम्बर, १९६६

कृपाल* के पिता-माता के विशेष आग्रह पर माँ आज भोपाल आयी हैं। माँ के साथ हम सब काफी लोग आये हैं। आश्रम की महिलाएँ २-३ दिन पहले ही बम्बई से यहाँ आ गयी हैं। कृपाल के पिताजी सरकारी नौकरी से अवकाश प्राप्त कर, भोपाल के पास बयरागढ़ नामक स्थान में मकान बनवाकर रह रहे हैं। माँ के लिए एक अलग मकान बनवाया है। इनके आह्वान पर माँ इसके पूर्व १-२ बार आ चुकी हैं। स्थान अत्यन्त मनोरम और जलवायु की दृष्टि से विशेष रूप में उत्तम है। पति-पत्नी सुन्दर स्वभाव के हैं। माँ तथा साथ आये सभी लोगों के लिए बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध कर चुके हैं।

५ नवम्बर, १९६६

हम लोगों को कल रात की गाड़ी से वृन्दावन जाने की बात थी, किन्तु गाड़ी के अत्यन्त देर से आने के कारण तथा कृपाल के पिताजी के आग्रह पर यह रात भोपाल में बिताने के पश्चात् भोर के वक्त पंजाब मेल से, माँ को लेकर हम लोग रवाना हुए। आज भी गाड़ी कुछ लेट थी। शाम के समय मथुरा स्टेशन पर केवल ५-६ व्यक्तियों को लेकर माँ उतर गयीं। इसके बाद माँ ने मुझसे कहा कि बाकी लोगों को लेकर दिल्ली चली जाऊँ। सुना कि माँ १० ता० के लगभग दिल्ली आयँगी।

१० नवम्बर, १९६६

माँ कल दोपहर को दिल्ली के आश्रम में आ गयी थीं। बिड़लाजी* ने माँ को ले आने के लिए अपनी गाड़ी के साथ अपने मैनेजर देवधर जी को वृन्दावन भेजा था। बिड़लाजी अत्यन्त अस्वस्थ हैं। यही वजह है कि माँ दिल्ली पहुँचते ही सबसे पहले बिड़ला हाउस में उन्हें देखने के लिए गयीं। माँ का दर्शन पाने के लिए वे भी उत्सुक थे।

आज दिनभर यहाँ भक्तों की भीड़ लगी रही। यहाँ माँ केवल दो दिनों के लिए आयी हैं। स्थानीय भक्तों के विशेष आग्रह पर आज आश्रम में काली-पूजा का

---

* लब्ध प्रतिष्ठ अवकाश प्राप्त राज कर्मचारी सर दातार सिंह की ज्येष्ठ पुत्री।

* स्वनामधन्य दानवीर धर्मप्राण सेठ युगलकिशोर बिड़ला जी। श्री श्री माँ की विशेष कृपा प्राप्त कर गत जून माह में स्वर्गवासी हो गये हैं।

विशेष प्रबन्ध किया जा रहा है। माँ की उपस्थिति में पूजा और दीपावली का उत्सव बड़े अच्छे ढङ्ग से मनाया गया। अनेक लोग आश्रम में अधिक रात गये तक प्रसाद पाते रहे।

कल हम लोग मोटर द्वारा वृन्दावन जाने वाले हैं।

१३ नवम्बर, १९६६

आज श्रीकृष्ण छलिया के मन्दिर में विराट् रूप में अन्नकूट-उत्सव सम्पन्न हुआ। प्रायः १३६ पद का भोग दिया गया। महाप्रभु एवं पंच-शिव मन्दिर में भी सभी पदों के भोग चढ़ाये गये। माँ स्वयं खड़ी होकर समस्त प्रबन्ध करवाती रहीं। इधर लगभग ४ माह से माँ की तबीयत ठीक नहीं है, बुखार बराबर बना है। किन्तु विश्राम का नाम नहीं है। जब शरीर बेतरतीब हो जाता है तब वे वापस आकर कुछ देर के लिए सो जाती हैं। फिर ज्यों ही कुछ ठीक हो जाती हैं, तुरत तैयार हो जाती हैं। हर छोटे-मोटे विषय पर माँ की विशेष दृष्टि है, जिसे प्रत्यक्ष दर्शन के अलावा लिखकर समझाना कठिन है। इस तरह बृहत्-बृहत् कार्य अत्यन्त अल्प समय के भीतर बिना किसी त्रुटि के सुसम्पन्न करना साधारण मनुष्य के लिए कहीं संभव है? जागतिक दृष्टि से माँ के निकट बहुत कुछ सीखने की बातें हैं, उसे क्या लिखूँ?

प्रतिवर्ष की भाँति इस बार भी माँ की उपस्थिति में सभी को मेरे हाथ से ब्रह्म बिन्दु दिलवाया गया।

२४ नवम्बर, १९६६

गत २० नवम्बर के भोर से संयम-सप्ताह का कार्यक्रम आरंभ हुआ है। बड़े महात्माओं में प्रायः सभी तथा विभिन्न स्थानों से अनेक भक्तवृन्द इस सप्ताह में सम्मिलित होने के लिए आये हैं।

आज रात को मातृसंग के समय श्रीयुक्त योगेश ब्रह्मचारी ने बातचीत के सिलसिले में पूछा—"माँ, आजकल साधुओं में इतना मतभेद और ग्रन्थों में भी विभिन्न स्थलों में विभिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न मत क्यों हैं?"

माँ ने हँसकर कहा—"जिनके मतभेद हैं, उन्हीं से पूछिये पिताजी।"

योगेश ब्रह्मचारी पुनः उसी प्रश्न को उत्थापित करते हुए बोले—"मान लो कि तुम बैठी हो, अगर कोई यह कहे कि सोई हो तो कौन सी बात मानूँगा?"

माँ ने कहा —"हाँ, पिताजी! बैठी हूँ, यह ठीक है। (चारों तरफ बैठे लोगों को दिखाते हुए) फिर यह जो लोग बैठे हैं, मैं ही बैठी हूँ। कोई सोया भी है तो मैं सोई हुई हूँ, कोई खड़ा है तो मैं खड़ी हूँ।"

ये बातें जरा जोरदार आवाज में माँ के मुँह से प्रकट हुईं। यही वजह है कि दूसरे ही क्षण माँ हाथ जोड़कर कह रही हैं—"पिताजी, यह छोटी बच्ची न जाने कब क्या कह बैठती है।"

पास ही स्वामी चिदानन्दजी* एवं योगेश ब्रह्मचारी बैठे थे। उनके उठने के समय पुनः जाकर हाथ जोड़ती हुई उनसे कहने लगीं—"आज किस तरह बातें बाहर निकल गयीं। तुम्हीं लोगों ने निकाल लिया। पिताजी, तुम लोग क्षमा कर देना।"

माँ का ऐसा विनम्र भाव देखकर वे लोग जरा भौंचक्के होते हुए बोले—"माताजी, आपने ठीक ही कहा है। इसमें दोष की कोई बात नहीं है। आखिर आप इस तरह कहकर क्यों लज्जित कर रही हैं।" माँ का सब कुछ अपूर्व है।

२८ नवम्बर, १९६६

आज २-३ दिन हुए देवघर से श्रीयुक्त नरेन्द्र ब्रह्मचारीजी भक्त शिष्यों के साथ आये हुए हैं। किन्तु बड़े दुःख की बात है कि यात्रा में बुखार से पीड़ित होकर आये हैं। आश्रम के गीता भवन में इन लोगों को ठहराया गया है। माँ सर्वदा स्वयं जाकर प्रत्येक विषय की देखरेख कर रही हैं। ब्रह्मचारीजी तथा उनके शिष्य-शिष्याओं को किसी प्रकार की असुविधा न हो, इस ओर माँ की विशेष दृष्टि है।

माँ आज सवेरे गीता भवन में गयीं। ब्रह्मचारी के सिर पर हाथ रखती हुई बोलीं—"पिताजी, आज क्या हाल है ?"

ब्रह्मचारीजी ने कहा—"तुम उस दिन हाथ लगा गयी थीं। तुम्हारे स्पर्श से काफी अच्छा हूँ।"

माँ तुरत हँसती हुई बोलीं—"अच्छा पिताजी, हाथ लगाने की बातें तो कहा—(इतना कहने के बाद माँ उनके सिर से पैर तक सम्पूर्ण शरीर पर तीन बार

---

* ऋषिकेश स्थित स्वामी शिवानन्दजी महाराज के आश्रम के वर्त्तमान अध्यक्ष। आप Divine Life सोसायटी के भी अध्यक्ष हैं। भारत तथा विदेश में भी इनके आश्रम की शाखाएं हैं।

हाथ फेरने के बाद) सिर-पैर सब तो एक ही है और सभी तो भगवान् हैं। एक के अलावा दो तो नहीं हैं।"

ब्रह्मचारीजी के भक्त-शिष्य आदि और हम सब माँ का यह व्यवहार मुग्ध दृष्टि से देखते रहे।

आज सवेरे ब्रह्मचारीजी की इच्छानुसार माँ की उपस्थिति में श्री श्री कात्यायनी देवी की पूजा शुरू हुई। कल शाम को ही अधिवास अच्छे ढंग से हो गया था। अस्वस्थ रहने के कारण ब्रह्मचारीजी नहीं आ सके थे। उनके सभी शिष्यों ने मिलकर किया था। आज पूजा के उपलक्ष्य में हरि बाबाजी, स्वामी अखण्डानन्दजी, कृष्णानन्दजो आदि अनेक लोगों को उपस्थित रहने के लिए माँ ने आमंत्रित किया था। सभी लोगों द्वारा सम्मिलित रूप में पूजा, समस्वर में मंत्र पाठ और प्रार्थना अत्यन्त मधुर लगती रही। माँ के भक्तों में अबंगाली अधिकतर उपस्थित थे। इसके पूर्व इस तरह की पूजा इन लोगों ने नहीं देखी थी।

बड़े कमरे में एक ओर माँ और दूसरी ओर ब्रह्मचारीजी बैठे हैं। बीच में पंक्तिवार ब्रह्मचारीजी की सन्तानें स्त्री-पुरुष, अपना-अपना आसन लेकर पूजा में उपविष्ट हैं। लड़कों में २-३ पूजा करते रहे। उच्चस्वर में मन्त्र पाठ हो रहा था। स्नान के समय जब ब्रह्मचारीजी ने माँ से स्नान करने के लिये अनुरोध किया तब माँ उठकर देवी के मस्तक और शरीर पर पानी उड़ेलने लगीं। ब्रह्मचारीजी भावावेश में आकर देवी के मस्तक पर, अपने तथा माँ के मस्तक पर पानी उड़ेलते रहे। माँ उपस्थित लोगों के मस्तक पर स्नान-जल के छींटे देने लगीं। विशिष्ट प्रकार की आरती हुई। सभी लोग इकट्ठे अपनी-अपनी बत्ती जलाकर आरती करने लगे। बहुत सुन्दर दिखाई देने लगा। भोग का प्रबन्ध माँ स्वयं आश्रम के ब्रह्मचारिणियों से करवाती रहीं। प्रायः शताधिक पदों का भोग हुआ। सभी ने महानन्द से प्रसाद प्राप्त किया।

३० नवम्बर, १९६६

श्री श्री कात्यायनी देवी की पूजा आज समाप्त हो गयी। सवेरे मन्त्र विसर्जन हो गया। तीसरे पहर शोभा यात्रा के साथ मूर्त्ति को यमुना में ले जाकर विसर्जन करने का समस्त प्रबन्ध कर लिया गया था। यथा नियम सन्ध्या के पश्चात् सभी को शान्ति-जल दिया गया। अत्यन्त सुन्दर रूप में पूजा सम्पन्न हुई। सभी को इससे विशेष आनन्द हुआ।

स्वामी कृष्णानन्दजी सत्सङ्ग के दौरान कहते रहे कि उस दिन कात्यायनी-पूजा देखने जब हरि बाबाजी आये थे तब माँ को बालिका-मूर्त्ति के रूप में देख पाये थे। माँ के सम्बन्ध में उनमें कितने सुन्दर भाव हैं, वह वर्णनातीत है। माँ भी कथा प्रसङ्ग में हरि बाबाजी के पवित्र चरित्र का वर्णन करती हुई कहती रहीं— "पिताजी का इस शरीर पर कितना स्नेह है, उसे बता नहीं सकती। पिताजी ही सत्सङ्ग के दौरान साधुओं के निकट इस शरीर को ले गये थे। पिताजी ही वैष्णवों के सभी मन्दिरों में शरीर को ले जाकर उनके बीच शरीर से परिचय करवाते रहे। यह शरीर स्त्री-शरीर है, इसलिये वैष्णवों में पहले उस तरह के जरा भाव थे। और अब प्रधान-प्रधान सभी वैष्णव महन्त इस शरीर को अपने-अपने मन्दिर में आदर के साथ ले जाते हैं। वे सब भी आते हैं, इसीलिये पिताजी को कितना आनन्द है। अब पिताजी इस शरीर को मन्दिर-मन्दिर में ले जाने का नाम तक नहीं लेते।"

आगे माँ पुनः कहने लगीं—"साधुओं के सत्सङ्ग में प्रथम प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी ने ही झूसी में, अपने आश्रम में ले जाना आरम्भ किया। हरि बाबाजी के निकट भी वे ही ले गये थे। उस वक्त तक हरि बाबाजी — उड़िया बाबाजी का इस शरीर के साथ विशेष कुछ व्यवहार नहीं था। इसके बाद से जब हरि बाबाजी इस शरीर को कितना स्नेह-आदर करना आरम्भ किया, प्रत्येक वर्ष होली के अवसर पर विशेष आग्रह के साथ आदमी भेजकर, एक माह के लिये इस शरीर को अपने निकट रखते थे तब प्रभुदत्तजी के आनन्द का क्या कहना। इसीलिये कहती हूँ कि ये सभी महात्मागण इस शरीर को साधु-महात्मा, वैष्णव-आचार्य, महन्तों के निकट ले जाते हैं, वरना यह शरीर तो पहले एक जगह पर पड़ा रहता था।"

आगे पुनः कह रही हैं—"जब हरि बाबाजी ने इस शरीर को अपने निकट बुलाया तब कितने भाव से आदर-यत्न करते रहे, वे क्या करें, समझ नहीं पा रहे थे। इसी वृन्दावन धाम में, अपने आश्रम में, झूलन के वक्त पिताजी ने इस शरीर को हाथ से पकड़कर उठाते हुए झूले पर बैठाया था। इस घटना को लेकर वैष्णव-समाज में अनेक कहा-सुनी हुई। वृन्दावन धाम में, ठाकुरजी के झूले पर और कोई बैठ सकता है, यह कोई सोच भी नहीं सकता था। किन्तु पिताजी का ध्यान इन बातों की ओर नहीं था। पिताजी जो संकल्प करते हैं, उसे करेंगे ही। इसीलिये कहती हूँ कि पिताजी ही जैसे इस शरीर को, इन सब व्यवहारों के बीच लाये हैं। इस शरीर की यह सब बातें नहीं थीं।"

माँ की बातें अक्षरशः ठीक हैं। हम लोग इसे सर्वदा मन ही मन अनुभव करते हैं। साधु-महात्माओं के कारण ही आज माँ को इस रूप में पाने का सौभाग्य हम लोगों ने प्राप्त किया है। बात-चीत के सिलसिले में स्वामी कृष्णानन्द अवधूत जी की चर्चा चल पड़ी। माँ के प्रति उनमें विशेष श्रद्धा-भक्ति के भाव सर्वदा देखने में आया है। अत्यन्त त्यागी भाव। आजकल ये भाव दिखाई नहीं देते। एक त्यागी संन्यासी होकर प्रकाश्य रूप में, लोगों के सामने जिस तरह वे माँ की पूजा करते रहे, वह दृश्य देखकर सभी लोग चकित रह गये थे। अवधूतजी का चरित्र भी हमारे निकट विशेष प्रशंसनीय है।

८ दिसम्बर, १९६६

दिल्ली से हरिनारायण भाई सपत्नीक माँ का दर्शन करने के लिए आये हैं। अपराह्न में बिदा लेते समय, माँ को प्रणाम करने के पश्चात् हरिनारायण भाई अपने लड़के को दिखाते हुए बोले—"माँ, आज इस लड़के का जन्म दिन है। पाँच वर्ष पूर्व नाथद्वारा में श्रीनाथजी के निकट मनौती की थी कि पाँच साल बाद इस बालक को ले आकर उन्हें प्रणाम कराऊँगा। किन्तु नाना कारणवश अभी तक नाथ द्वारा मन्दिर में जाना नहीं हो सका। इसीलिये माँ के निकट ले आया हूँ कि माँ को प्रणाम करने पर वहाँ भी प्रणाम हो जायगा।"

माँ अपनी चौकी पर बैठी हुई थीं। अचानक बिछावन पर से लाल बालापोश बाहर निकाल कर उसे ओढ़ती हुई घूँघट की तरह बनाकर, मुँह बाहर की ओर, निकालती हुई बोलीं—"यह लो, नाथद्वारा देखो।"

इतना कहने के बाद माँ भी हँसने लगीं। उपस्थित सभी लोग चकित भाव से माँ को प्रणाम करने लगे। माँ ने कहा—"ओढ़ने वाली यह चीज इस बार उदयपुर की राजमाता ने इस शरीर को देते हुए कहा था कि इसे नाथद्वारा से ले आयी हूँ।'

माँ की प्रत्युत्पन्न बुद्धि और व्यवहार देखकर हम सब मुग्ध हो गये। माँ का इस रूप में दर्शन कर हम लोग अपने-अपने भाग्य की प्रशंसा करने लगे।

१९ दिसम्बर, १९६६

स्वामी अखण्डानन्दजी के आश्रम में प्रसिद्ध डोंगरे महाराज १०८ भागवत सप्ताह कर रहे हैं। अखण्डानन्दजी स्वयं आकर माँ को विशेष रूप से कह गये

हैं—रोज जाने के लिए। पाठ खूब मजे में हो रहा है। माँ नित्य एक बार जाती हैं। इनके साथ आश्रमवासी भी जाते हैं।

आज सप्ताह का अन्तिम दिन है। पाठ समाप्त होने के बाद माँ के निर्देशानुसार भागवत के ऊपर अच्छे-अच्छे फल और मालाएँ अर्पित की गयीं। सभी पाठकों एवं अन्यान्य ब्राह्मणों को रुपये तथा फूल दिये गये। माँ के प्रत्येक कार्य में जैसे एक विशिष्टता रहती है। पाठ समाप्त करने के पश्चात् माँ के पास आकर डोंगरे महाराज ने प्रणाम किया। इनकी माँ तथा धर्मपत्नी भी आकर प्रणाम करने के पश्चात् माँ से लिपट गयीं।

आगरा के भार्गव[1] भाई के सादर आह्वान पर माँ को लेकर आज तीसरे पहर हम लोग आगरा चल दिये। आश्रम के बालक-बालिकाएँ पहले से ही बस द्वारा रवाना हो गये थे। माँ मोटर से गयीं। वृन्दावन से केवल डेढ़ घण्टे का मार्ग है। आगरा में माँ दो रात ठहरेंगी। २१ ता० को माँ आगरा से सीधे काशी रवाना होंगी, ऐसा तय हुआ है।

२१ दिसम्बर, १९६६

माँ आगरा में भार्गव भाई के घर में ठहरी हैं। आज इन लोगों के यहाँ विशेष उत्सव है। भार्गव भाई की पत्नी श्री सुकुमारी बहनजी की बहन की लड़की को, वे दोनों पति-पत्नी विधिवत् पूजा इत्यादि करके पोष्य रूप में ग्रहण करेंगे। बाटू दादा को इसी उद्देश्य से वृन्दावन से ले आया गया है। इनके परिवार के अनेक आत्मीय-स्वजन आज यहाँ आये हैं। घटनाचक्र से माँ के यहाँ अचानक आ जाने से पति-पत्नी दोनों ही विशेष आनन्दित हैं। माँ को इस बारे में पहले कुछ भी नहीं बताया गया था, गोकि माँ यह सुनकर नहीं आयी हैं।

आज सुबह राधाकृष्ण मन्दिर के सामने कन्यापोष्य ग्रहण का अनुष्ठान अत्यन्त सुन्दर ढङ्ग से सम्पन्न हो गया। माँ भी वहाँ उपस्थित थीं। माँ को अचानक यहाँ पाकर भार्गव दम्पती जैसे अपने को धन्य समझ रहे हैं।

बाटू दादा की जबानी सुना कि यद्यपि शास्त्र में कन्या को दत्तक रूप में लेने का विधान नहीं है, किन्तु पूर्वकाल में दो जगह इस तरह कन्या को पोष्य के रूप में लेने की चर्चा है। एक तो कुन्ती देवी हैं जिन्हें कुन्ती भोजक ने दत्तक लिया था

---

[1] —आगरा के प्रसिद्ध व्यवसायी श्रीकृष्ण प्रसाद भार्गव। आप सपत्नीक माँ के प्रति विशेष श्रद्धाशील हैं।

और राजा दशरथ की कन्या शान्ता को भी लोमपाद ने दत्तक के रूप में ग्रहण किया था। इस क्षेत्र में मंत्र में दान शब्द का प्रयोग नहीं होता, क्योंकि दान शब्द विवाह के अवसर पर प्रयुक्त होता है। यहाँ का मंत्र है कि कन्या को लालन-पालन के लिए, पोषण के लिए दिया गया।

माँ यह सुनकर बोलीं—“देखो दीदी, ऐसा प्राचीन काल में हुआ था, यह बात इस शरीर को ज्ञात नहीं थी। किन्तु इस शरीर के निकट इस तरह की घटना तो मरणी को देकर हो गयी है। पहले तुम्हारे पिताजी ने भोलानाथजी के हाथ मरणी को दिया।”

बाटू दादा ने कहा—“माँ का कोई भी कार्य अशास्त्रीय नहीं हो सकता। जो कुछ प्राचीनकाल में हो गया है, वही माँ ने किया है।”

आज घटनाचक्र से माँ के सामने यह अनुष्ठान होने की वजह से, हम लोग बाटू दादा की जबानी यह बातें सुन सके। मरणी को भोलानाथजी ने दत्तक कन्या के रूप में ग्रहण किया था। वह सब बातें इस प्रसंग में हो गयीं।

आज तीसरे पहर तीन बजेवाली गाड़ी से माँ काशी जानेवाली हैं। भोग के बाद सभी लोग माँ के निकट आकर बैठे हैं। माँ अपने दोनों हाथों को जोड़कर उनकी ओर लक्ष्य करती हुई कह रही हैं—“इस छोटी लड़की की तुम लोगों के निकट एक भिक्षा है। तुम लोग सब काम-काज करो, किन्तु इस बीच कुछ समय उनके लिए भी दो। जिसे जो अच्छा लगे। जप, पूजा, ध्यान, कीर्त्तन, पाठ इत्यादि। असल तो यह है कि कुछ समय उनके लिए देना। यह काम मनुष्य जीवन के लिए अवश्य करणीय है। यह काम कोई नहीं कर देगा। तुम्हीं लोगों को करना होगा। दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर जो भगवान् का नाम नहीं लेता, पशु-पक्षी की तरह आहार-निद्रा में जीवन व्यतीत करता है, तब पशु-पक्षी के साथ पार्थक्य क्या रहा? तुम लोग इस शरीर की बात की रक्षा करना। यही इस लड़की का आग्रह है।”

दीदी माँ और मुझे माँ काशी नहीं ले जा रही हैं। कुछ दिन वृन्दावन में रहने को कह रही हैं। रवाना होने के पहले माँ दीदी माँ से कहने लगीं—“माँ, अच्छी तरह से रहना।”

दीदी माँ स्नेह भरे कण्ठ से बोलीं—“तुम भी अच्छी तरह से रहना। जल्दी वापस आना।”

माँ कह रही हैं—"माँ, तुम्हारे ही आशीर्वाद से यह शरीर है। तुम अच्छी रहकर आशीर्वाद करोगी तो यह शरीर भी अच्छा रहेगा।"

माँ के मुँह से इन बातों को सुनने के पश्चात् हम सब नीरव रह गये। दीदी माँ की आँखों में पानी आ गये। चलते समय माँ 'नमो नारायण',—'नमो नारायण',—'नमो नारायण' कहती हुई, प्रणाम करती हुई स्टेशन की ओर रवाना हो गयीं।

"शक्तिशाली पुरुष या जिसके अन्दर भगवत् शक्ति प्रकाशित हो रही है, वह अपना कर्म स्वयं ही बदल सकते हैं।"

—श्री श्री माँ

विशेष सूचना

श्री श्री माँ के भक्तवृन्द को विनम्र भाव से सूचित किया जाता है कि श्री श्री माँ के जन्मोत्सव, दुर्गा पूजा व संयम सप्ताह आदि उत्सव सम्बन्धी निमन्त्रण पत्र आदि भविष्य में व्यक्तिगत रूप से नहीं भेजे जायँगे। हमारी आन्तरिक इच्छा होने पर भी श्री श्री माँ के अगणित भक्तों को व्यक्तिगत रूप में निमन्त्रण पत्र भेजना कार्यतः कितना कठिन हो जाता है यह सहृदय भक्तगण स्वयं ही समझ सकते हैं। अतः इसके लिए हमें क्षमा प्रदान करेंगे। जो लोग संघ के सदस्य हैं और जिनका नाम संघ के रजिस्टर में है; भविष्य में केवल उन लोगों के पास ही निमन्त्रण पत्र भेजा जा सकेगा। यों 'आनन्द वार्ता' के माध्यम से संघ के अनुष्ठान और उत्सव आदि के स्थान व काल की पूर्व सूचना यथा समय देने की विशेष चेष्टा की जायगी।

भक्तगणों से सानुरोध निवेदन है कि वे श्री श्री माँ के जन्मोत्सव, दुर्गा पूजा और संयम सप्ताह आदि के विषय में निम्नलिखित पते पर या हमारे किसी भी आश्रम से जानकारी प्राप्त करें।

जनरल सेक्रेटरी
श्री श्री आनन्दमयी संघ
भदैनी, वाराणसी।

At Niramoy T. B. Sanatorium, Giridanga January, 1968.

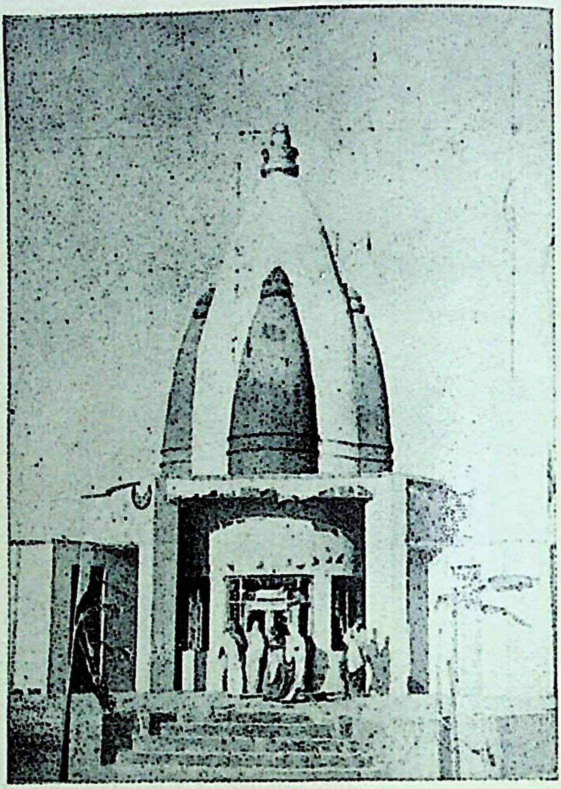

Newly-built Puran Mandir at Naimisharanya.

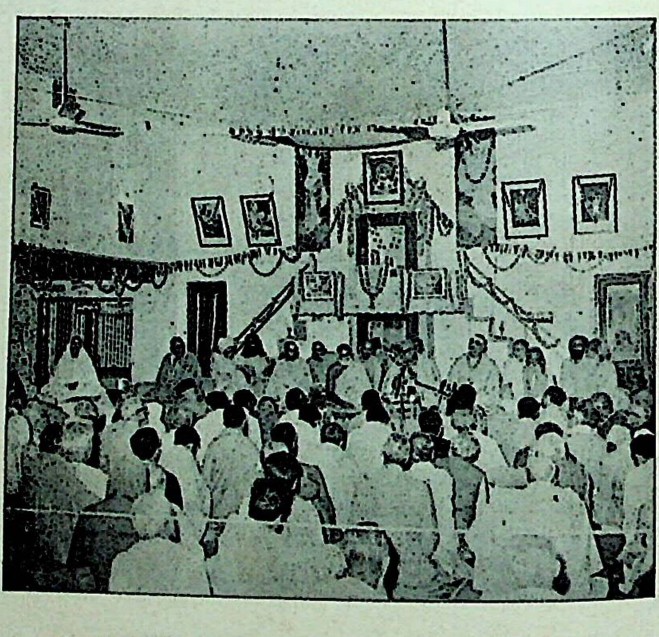

A view of the satsang in Vrindaban Ashram November, 1967.

Just as there is a veil of ignorance for the individual,
So there is also a door to Knowledge.

MĀTRI VĀNI

The *akṣara** (syllable or series of syllables) by which the mind is liberated is called *mantra*.† The *akṣara* is *cinmayī* (permeated as it were by consciousness), it is the *Śabda Brahman* (expression of the Supreme Reality), it is called the *Nāma Brahman*). Feel convinced that He will be found in the Name. Have firm faith that the seed that has been buried in your consciousness will without fail grow into a tree. Just as, after sowing a seed, it has to be watered and manured, similarly the seed in the form of a mantra will be made to sprout when provided with the necessary nourishment in the form of *satsang*. As you desire God, be it in a particular form or without form, so will you find Him.

* * *

Never remain without His Presence, without His Name. While moving about, while eating and sleeping, at all times sustain the flow of His Name. A plant will grow more or less rapidly exactly according to the measure in which you provide it with water and manure. If you do not progress quickly, you should understand that it is entirely your own fault. Call to mind that you have not been able to go beyond the way of thinking fostered life after life and dedicate yourself wholly at His feet. The wrong lies all on your side.

* * *

---

* *Akṣara* means both "syllable" and "indestructible". The '*Om*' is also known as *akṣara*.

† A play upon words that cannot be rendered into English. *Man* mind, *trāṇ* liberation sounds together almost like *mantra*.

What this body (Mataji) always, says, is : Become a pilgrim on the path of Immortality. Shun the road that leads to death; tread the path of Immortality. Bring to light that you are imperishable, immortal.

* * *

To live in the presence of God Who is Truth—this indeed is the meaning of *satsang*. Seek refuge in Him ! By taking shelter in Him, every blemish and imperfection will melt away. Your defects will surely be transformed into virtues. He is father, mother, friend, beloved—He is all in all : this is the idea you have to cultivate. Is there anything that He cannot give ? If your desire is intense, it is quite impossible that Light should not come to you. The question whether the path is long or short must not be allowed any room in your mind. ' Realization will have to be granted to me," this should be your determination. Employ your whole strength and capacity, then only will you succeed. How beautiful ! By holding on to Him, everything comes of itself.

Abandon the transitory. "I am the *Ātmā,*" fix this thought in your mind. In order to be liberated from constant coming and going, the round of births and deaths, one has to seek the support of the Guru. Wither does one come and where does one go ? He Himself is everywhere. Taking refuge in Him is liberation.

* * *

In the measure as one loves God, detachment from sense objects ensues. To concentrate on God means to become drawn towards Him. And *vāiragya* (detachment) means becoming disentangled from sense objects. Feeling pulled towards God and indifferent to sense objects occurs simultaneously. Renunciation happens of itself. There is no need to give up anything. This is real, genuine renunciation. You all are relinquishing the highest Bliss and thus you actually are renunciates! By abstaining from the Supreme you have become supreme renunciates.

* * *

How wonderful is the play in God's creation? The Self, the *Ātmā*, is of course one. Nevertheless, there are 'you and I, yours and mine,' and all the rest of it. If you cannot give up the "yours and mine," then be the eternal servant of the Lord. How many lives have you not spent in the world, in family life, in the delusion of "this is mine and that is mine." Say to yourself: "I am immortal, the Self—there is only one Brahman without a second—I am His and His alone." If the distinction between you and I remains, then let the 'you' be God. What is in ice? Nothing but water. He is formless as well as with form. What is He with form? He Himself in action—actionless action. Attraction means to be attracted to one's own Self.

* * *

Where God is there is also *māyā*. When was He not? Therefore, *māyā* is equally beginningless. Where is the end of it? To whom does one feel attracted? Whose manifestation is it? Reflect deeply! If all is His manifestation, then whose *māyā* is it? Endeavour to find yourself, be it as the Lord's eternal servant, be it as the *Ātmā*. You are immortal—the Bliss of the Self. Why then has one to experience birth and death? There is but the Self reposing within Itself.

What does Sri Anandamayi Ma say?

DR. PRAFULLA CHANDRA DATTA

(Translated from Hindi)

After meeting Sri Anandamayi Ma, many people quite naturally ask : "What is her teaching ? What advice does she give ? What does she say ?"

To such questions I usually reply : "Mataji has no particular doctrine. Her speciality is that she has no special teaching." Further, if nothing else occurs to my mind, I say : "Rather than repeating what I have heard her say, it will be better if you go and hear her talk for yourself. Listen to the words that fall from her lips, to the language of her laugh, the message of her gaze, of her touch – listen to what she says in words and to what she communicates in silence".

When I first came to Mataji, I became interested in those who had dedicated themselves at her feet. Some were *sannyāsis* and some householders, some wore *tulasi* beads round their necks and some *rudraksha* ; in one man's hand I saw a trident and in another's a staff and a begging-bowl. And some had nothing at all. One was absorbed in reciting Sanskrit hymns, another was an aspirant on the path of enquiry, a third melting away in deep emotion with tears of divine love glistening in his eyes. On getting to know them closer, I discovered that one person was a *sannyāsi* of the Tirtha line. His story was simply that one day Mataji had told him to take *Sannyāsā* from a certain Guru belonging to that line. Another one is a *Sannyāsi* of the Sarasvati line, a third one of that of Giri, and a fourth Puri. One man is a *Vaisnava*, another a *Saivite* and yet another a *Sakta*. All say : "Ma is guiding me by this particular path." After having met Ma, some young men and women have left their homes to live the lives of Brahmacharis and Brahmacharinis. On the other hand, Mataji has advised some young people who wanted to live in the Ashram, to get married. She told them : "Remember, wherever you may be, this little child will always be with you".

In the centre of all this diversity stands Ma, directing the currents of all these variegated streams.

In the religious life of the world, a new phase has begun with the appearance of Sri Ramakrishna Paramahamsa. He went through the manifold *sādhanas* of the various religions and accepted them all as paths to the Supreme.

In Sri Anandamayi Ma we observe the cultivation of all the different lines of approach. Just as all the mothers of the universe nurse their offspring, so is Mataji engaged in fostering all the multifarious currents of religious aspiration of the world. How then can we discover any special doctrine of Ma ?

Mataji says : "There is an infinite number of paths, countless ways of advancing and countless states of achievement." Are the states of spiritual achievement also innumerable ? Mataji very definitely says : "Certainly." But there is also something beyond, where none of these are, and not even any question of them.

The special characteristic of Creation is endless variety. Everything is His manifestation. He Himself is the multifarious natures and dispositions of His diverse creatures. No matter what be anyone's idiosyncrasy, no matter at what stage he many find himself, from there he has to start and go ahead. The practice that aims at realizing one's Self, at finding Truth, at recovering one's real treasure, is called *sādhana*. Whichever activity helps anyone to discover his own intrinsic wealth, this, according to Mataji, is his real duty (*svadharma*). Anything that may be obstructing this effort has to be avoided. There must not be the least self-deception in this.

A small incident may here be related. A young married woman would under the slightest instigation go into "*samādhi*". Or rather, people thought it was "*samādhi*". On such occasions she seemed lifeless, her limbs would turn cold. Once this happened in Mataji's presence. Mataji at once understood what was the matter with the girl. She whispered a "*mantra*" into her ear. And what was the "*mantra* ?" "You will very soon receive a letter from your husband." From that day the "*samādhi*" of the young woman never occurred again and her behaviour became normal. Her states of lifelessness had been anything but *samādhi*.

Another incident of a different variety. A young man used to have visions of various kinds. He would for instance witness Sri Krishna tell Arjuna the Bhagavad Gita. He was profoundly moved by these visions. Tears would constantly flow from his eyes. Mataji told him : "Don't lose your self-control. Seekers after Truth must never be overpowered by anything. Fully conscious and wide awake, with the attitude of a spectator, they must watch everything that happens."

The condition of a lady was discussed who used to get *bhāva samādhis* during *kirtana*. Mataji said : "She herself admits that she feels extremely happy while in a state of *bhāva*. Therefore it is obvious that she is in a different state at other times." Mataji also pointed out that it was often difficult to distinguish brass from gold. With utter truthfulness one has to tread the path of Truth. Mataji understands all the stages of *sādhana*.

Once someone remarked : "The Bengalis are highly emotional. For a little while they do kirtana and dance with ecstasy and a little later they give way to depression. What is the use of such momentary elation ?"

Mataji said : 'It is true that momentary elation has no great value. All the same, let them have their way ; at least for a little while they are turned in His direction." Mataji always advises everyone to direct their efforts towards God.

A gentleman once took leave : "Ma, may I go home ?" Mataji laughed : "Yes, prepare to go home. Your present home is temporary. Look, the wonder of it is that everyone is eager to go home, yearning for his home. Only people do not know where their real home is. Pitaji, what you call home is only a dharmasala, at a moment's notice you have to quit."

Those who want to know their true home, for them Mataji makes arrangements according to their own uniqueness. Mataji has said : "Anyone, to whatever faith or sect he may belong, is given by this body whatever help he requires on his own path. It is his own Self that is assisting him—if only he will be good enough to accept the assistance."

How beautiful Ma's words are. She often says : "Always keep a piece of sugar candy (*misri*) in your mouth."

What good will this do ? While working in the office, while reading and writing, while chatting with my friends, part of my consciousness will constantly be engaged in tasting the sweetness of the sugar. What is meant by sugar candy ? The Name, God's holy Name. Mataji says : "In the Name He Himself is present. For other forms of worship one has to go to a temple or an ashram ; but for his presence in the Name one need not go to any particular place. In the Name His supremely dear Presence is ever within our reach, no matter where we may be."

Mataji says : "The Lord's name is like tamarind. The more you repeat His name the purer will your mind become. By using tamarind, dirt is removed. When vessels are clean they show their true substance. To repeat the Name means to scrub. By scrubbing, your real Nature will stand revealed ; this is *Jñāna* (Knowledge). By the flood of Knowledge all *karma* will be washed away."

There are already innumerable paths, what need is there of a new one ? Mataji says: "There are so many different kinds of toys. The game has been played so often. Whichever toy you choose, you will come to understand that it is all the same. Saying : 'I cannot do it, it cannot be achieved' just means courting indolence. The day that is gone never returns. You are so busy playing with the toys of the world that you find no time for the real game."

"Mataji, even though being with you, I do not feel satisfied !" a young girl complained.

Mataji smiled and began to relate a story.

"A man went to the bazar for shopping. When he got there he found it very crowded and noisy. He thought : 'Let the confusion subside and then I shall do my work.' He waited for quite a long time. At last the crowd dispersed and it became quiet. But when he approached the stalls; he found that everything worth buying had been sold.

"In the play of the world there is always some confusion and trouble. This is a necessary part of the game. Face the difficulties and you will also get the goods."

"Ma, my mind does not keep still, what to do ?" is a frequent question. Mataji's smiling answer : "I do not notice that your mind is agitated as yet. Has it become really restless in search of Him ? After it has become thoroughly agitated with yearning after the Real, then only can it become still."

A married woman asked : "Ma, in my home nobody approves of *pūjā, japa*, meditation and the like. My husband, father-in-law and brother-in-law, all are opposing it. What am I to do ?" Mataji said : "You observe so many religious vows in your homes; don't you keep a fast on Tuesdays and fast and do puja all night on Sivaratri ? Will you try to take up the following practice, mother ? One day a month, from morning till night, regard everyone as a manifestation of God. Your husband, father-in-law, brother-in-law, consider them to be God in different guises. That day look at your children as child Krishna and Kumari Devi ; whoever comes to your house, be they guests, beggars, hawkers, treat them all as forms of Narayana. If on that day you are visited by any sorrow or trouble, welcome them as messengers of the Lord. By continuing with this practice you will find circumstances becoming favourable to the worship of God. First of all do this once every month, then once a week and you will observe that the happiness you feel on that day will influence all the rest of the week."

Mataji continued : "Everyone should advance along one particular line. He who takes the path of the lover of God will realize Him as the blissful embodiment of Supreme Love. He who takes the path of Knowledge will realize Him as Knowledge Itself, as the formless Brahman. Just as one and the same individual is son, husband and father, so the One Brahman is Being, Consciousness, Bliss. From whichever angle a person approaches God, thus will he find Him, the ONE. If he progresses by yoga, he will realize eternal Union. He will have to go beyond the opposites of union and separation. And in the final attainment, the question of eternal and non-eternal, of beyond and not beyond, does not exist."

Mataji says, like Sri Ramakrishna, that there are as many approaches as there are sects. How then do all these various avenues end in the same Goal ? I want to reach Vaikunth, a how will I get to Kailash ? I want liberation, how can I feel eternal love ? Mataji says : "Everything is contained in everything. Just as an infinite number of trees are potentially contained in the tiny seed."

Mataji's words are not mere words, they are blossoms of a marvelous fragrance. Mataji's words are sparks in which eternal fire has been stored. Mataji's words are songs swinging on the waves of divine ecstasy. They are mantras by whose power man's life opens out and begins to flower. They are streams of Light that swallow up the darkness of doubt and argument. How can I carry to you the current of that fragrance, that fire, that divine ecstasy, that mantric power, those streams of Light ? Those only who have listened to Mataji's words know how much magic is contained in the sweet sayings of the miraculously sweet Ma Anandamayi.

From the Diary of a European

Melita Maschmann

(X)

(Translated from German)

Calcutta, 29th December 1963.

Perhaps there is no country like India where people know from the depths of their hearts how sorely we need saints and sages. The Indian people's spiritual destiny and capacity has provided them with God-intoxicated men and women right up to our own days. It has taught them to recognize, love and adore the Holy and the Wise, regardless of the faith to which they may belong.

* * *

Yesterday afternoon, Mataji, for a whole hour sat on her bed completely absorbed, without the slightest movement. Only her eyelids raised themselves off and on, but her glance reminded me of that of a blind person : it was turned towards the world without perceiving it. Her whole being expressed contemplation—the contemplation of God. Reflection of His Light by the mirror of the soul. A particle of this light occasionally reflects in us. Then only we perceive it.

Yesterday an elderly man sat in front of Ma. I was told that he was the principal of a college. Suddenly his face tore open like a bleeding wound : suffering—for himself, for the world, for God. There is nothing that can be concealed at such a moment. Later, when Ma "returned," her glance rested for a long time on the face of the gentleman,...and suddenly, he began to cry. He shut his eyes and tears trickled down from under his closed eyelids. After a while he full length fell at Mataji's feet. Then he stood up and went away.

It sometimes happens that a person who leaves Mataji as this man did, transforms his home into an Ashram the next day, or puts on the robe of a *Sādhu*. I have heard many reports of how, without acting, Mataji has changed the lives of people. Usually much less ostentatiously, but not any less effectively. Always in the direction of what she calls the goal of human existence, namely the Realization of God.

Very strange, this action in non-action. Holiness that acts of itself, by its very being and its radiation.

Christian holiness always seems to be coupled with suffering. I do not know enough about it. But the unavoidable presence of the cruzified Christ binds sanctity and suffering indissolubly together. So it seems to me. According to the Catholic doctrine, even the saints, as created spirits, are not established beyond sin. They will ever be pained at their imperfections, however radiant their purity may appear to those who are allowed to contact them.

The Indian Sage realizes with his whole being: *aham brahmasmi* (I am the *Brahman*). In this there is not the shadow of a doubt as to his own self. He realizes absolute perfection in himself. Any kind of doubt would only prove the incompleteness of his identification with the Brahman.

I have often regretted that I am not a trained student of the science of comparative religion. Yet, at certain moments it becomes clear to me how much easier this makes it for me, since the burden of concepts and categories does not interfere with my impartiality. The discussion between the different religions may be important and fruitful. But actual contact is made when a stroke of intuition throws light into the pre-conceptional depths of the other faith and we suddenly see : here also is the reflection of the highest Truth. To such knowledge Mataji helps me more than prolonged and profound study. Perhaps I am specially privileged in this matter. I am reminded of the pathetic ejaculation of a scientist of religion who jokingly said that people of his profession were either too bigotted or too clever. In other words: they either approach a foreign religion with the prejudices of their own faith or they fail to understand the peculiarity of the religious problems which they regard from a foreign point of view. How lucky that I am neither specially pious nor specially clever.

January 5th, 1964.

Mataji today on the platform at Howrah, the largest Railway Station of Calcutta. I am told it has more traffic than any other Railway Station in the whole of Asia. It is impossible for a European to imagine such a babel. Whole villages, whole native tribes, hundreds of soldiers, sadhus, kulis, distinguished families, school children, groups of pilgrims, begging cripples, beggar children, chaprassis, all sorts of tradesmen and vendors—all of them running hither and thither, stumbling over huge piles of luggage and making an ear-splitting hubbub.

And Mataji in the midst of this infernal tohuwabohu, surrounded by innumerable inquisitive onlookers, hailed by her devotees. She stands quietly, wrapped in her white clothes, with her hair hanging down loosely, smiling her familier and yet very remote smile. Stillness around her, peace in her eyes—*nirvāna* in the midst of misery!

Puri, January 1964.

After the inescapable teeming masses of Calcutta, Puri is a veritable paradise—at least the seashore where the Ashram is situated. Only for sleeping and for my meals I go to the hotel, all the rest of the time I spend sitting by the sea. Never before have I known such a wonderful beach. I am told it continues for over ten miles in a perfectly straight line and with the same width. The sea constantly beats against the coast with such vehemence that one is seized and dragged away by the waves like a toy. It is impossible to swim here, but a special charm lies in letting oneself be overpowered by the roaring billows and carried back to the coast. Here and there fishermen have spread their long brownish nets. Their boats are still made in the same way as thousand years ago.

As a rule Mataji comes out of the Ashram shortly before sunset and sits on a broad pedestal of cement which has been specially constructed for her *darśana*. Her back is turned towards the house and she faces the sea.

Rarely are there more than twenty or thirty people and there is hardly ever any conversation. Mataji herself is very still here. Not absorbed in herself and closed up, but wide open, listening and seeing, in silent communion with the cosmic powers. Relaxed, she is leaning against a cushion, only her head sometimes slowly turns in a semicircle and her eyes calmly wander over the horizon, often returning to the first star whose silvery sparkle is so powerful that it is maintained right through the glow of the evening sky.

Yesterday it was night before she went inside. For almost three hours she had sat in her place, transfigured into an almost awe-inspiring depersonalization. It seemed obvious that she did not even notice the people who knelt before her to do obeisance. Her gaze seemed to penetrate right down to the depths of the universe. As long as the evening sky was beaming, one could observe the reflection of that depths in Mataji's eyes and face. It struck me that when I had my first *darśana* of Mataji, about two years ago, I was reminded of a mighty, well-grown tree. Something of this characteristic of a tree could now again be distinctly felt in Mataji. On thousands of leaves the tree exposes its heart to the sun, wind, the roaring of the breakers, the rain, the starlight. Their manifold message is not filtered and misinterpreted by the brain, but penetrates right to its marrow, to the furthest parts of its roots and is assimilated into its very substance.

A like openness for the cosmic was in Mataji last night. This is most probably a distinctive mark of her being. How could it be otherwise? For him who has reached the *Aham Brahmasmi*, the sun, the ocean, the evening star, the wind, are brothers and sisters with whom he converses in a universal language of confidence. I believe, even these metaphors are insufficient. Very likely, Mataji would say that she has no dialogue with the sea. 'Dialogue' is a concept coined by our thinking in duality.

This evening, Mataji was off and on talking to people who had come from a neighbouring town. Then again she remained silent for a long time; but I had the impression that we were all included in her monologue with the sea and the nightly sky. After she had gone inside, someone remarked: "How fortunate that God is present not only as water, that is to say without form, but also manifests as ice, which means 'with form.' If He were only water, I should feel frightened. Who could understand His voice? But in Mataji He speaks to us so that we can understand and love Him.' This very aptly expressed also may own feelings.

My host in Calcutta had said: "The same Holy Ghost that revealed Itself in Christ, Buddha and other Enlightened Ones, speaks through Mataji."

This morning there was another convincing token of how concrete and vital Mataji's relation to Cosmic Powers is. We went for a stroll along the seashore. After a while, Mataji remained standing on the strip of wet sand that is regularly inundated by the largest breakers. For a long time she gazed at the ocean with calm attention. Suddenly her face relaxed in a radiant smile and she said: "The ocean is giving me *darśana*." And when a little later a wave flowed over her feet: "With this touch it greets me."

All this did not sound either solemn, nor theatrical, nor playful; it had a great, beautiful simplicity.

Ma—My Sadguru

SAROJ

From my very childhood, I was prone to adore *Śakti* as my cherished deity (*Işhṭa*). The world itself appeared to me as the manifestation of God's omnipotence, the translation of His divine vigour. The popular idea, that *Śiva* remains merely a *Śava*, (corpse) without *Śakti*, was also patent enough to make me aware of the supremacy of *Śakti* over other forms (*swarupas*) of the Lord Almighty.

This worship of *Śakti* on my part went on with a strong urge to find Her in a human form having a definite Personality. That longing within me grew deeper and deeper and I got firm on realizing Her through *Sakāma bhakti* and seeing my ailing husband recovered through Her grace.

It was in the year 1949 that one fine morning I was told to have Ma Anandmayi's *darśana*. The very idea of seeing a woman saint thrilled me to the core of my heart. As a girl of fifteen, my innocence was beaming to bow down at Mother's feet. At the first blush, I had a wonderful experience of seeing Ma surrounded by Her *sevikas* and devotees all with their eyes fixed at Her face. It was as if I had been caught up in the spell of Her eternal serenity shining on Her face and I felt as if Her one glance had blessed me to the point of becoming desireless. Ignorant as I was I had, that moment, nothing to offer at Her lotus feet except a garland. Ma accepted that humble gift of mine and blessed me as my *Sadguru* with Her kind and compassionate look. I then experienced that She had given me graciously what I needed most in life by purging me of my past *vikāras*. I recalled again and again the lines.

Tulsidas Pattrain Jalasya Chulukenava,
Vikrinetai Swamātmānam Bhagwāna Bhakta vatsalah

(God who loves His devotees sells Himself for only a tulsi-leaf and a handful of water.)

Bhakta vātsala Ma, my *Sadguru*, blessed me by giving Her *darśana* at a time when I was pining to see *Śakti* face to face. This is how Ma Anandamayi fulfills Her bhaktas desires.

Ma does, many a time, advise us to become desireless through our sustained *sādhanā*, since desires are the cause of the cycle of births and deaths.

However, human nature is such that one cannot easily be free from desires, even if one grapples with them constantly. It is by the *Sadguru's Kripa* (Grace) that One begins to feel the simplification of one's needs. Lord Krishna says in the Gita :—

Dhyāyato viṣayān puṃsah saṅgaṣtēsūpajāyatē.
Saṅgāt sañjāyatē kāmaḥ kāmātkrodhobhijāyatē.
Krodhātbhavati saṃmohaḥ saṃmohāt smritivibhramah.
Smritibhraṃśātbuddhināśo buddhi nāśāt praṇaśyati.

(When a man thinks of the objects of sense, attachment for them arises ; from attachment desire is born ; from desire anger arises.

From anger comes delusion ; from delusion loss of memory ; from loss of memory the destruction of discrimination ; from destruction of discrimination he perishes).

Hence the key to eternal bliss lies in the elimination of desire. In this humdrum of temporal life, none can make us free from desires except a *Sadguru* like Mataji. Two or three personal experiences will reveal how Ma has graced me by fulfilling my desires to the point of rendering me a *sharanāgata*, surrendered at her lotusfeet.

My husband's weak health was a matter of constant worry to me. With a view to invoking Her grace, I used to worship Her day and night for my husband's speedy recovery. In the meantime I was asked by someone to pray directly before Mataji for his health. It was in the year 1959 that I made up my mind to beg of Mataji to cure my husband.

Luckily, Mataji came to Etawah in February 1960 and I decided to go and see Her there. It was my first private visit to Mataji. I quietly approached Her as a petitioner; but no sooner did I enter the room, than what I had to say and how I had to say it completely vanished from my mind. To my utter surprise, I found that the mental fog, in which I had been enveloped, dissolved at the sunny smile of Ma. On Her asking me about my problem I found myself speechless. Somehow, I regained my original self and told her that I wanted to see my husband cured of the serious disease he was suffering from, upon which Ma with Her usual ineffable sweet voice advised me to have faith in God and pray to Him for my husband. Although there was nothing new in Her advice, yet Her words were spoken in such a sympathetic tone that I had the experience of drinking in Mother's infinite compassion oozing out of Her lustrous eyes. Soon I reached the state of empathy, the state of oneness where Ma was mine and I was Hers completely. It made me feel as if Mataji had yielded to my wish and my husband was completely cured. Thereafter I would go nowhere else for his treatment. This is how Ma, my *Sadguru*, infused me with the spirit of welcoming the impending misery in the shape of my husband's prolonged ailment and made me content with my lot.

Mataji offers us many an opportunity to wash away the dirt of our *saṃsakāras* collected in countless former lives. She always asks us to welcome temptations and distractions and to look upon them as God-given opportunities for our advance and to turn our eyes inwards.

Even our good deeds make us egoistic unless we offer them to the Creator of the world. Man feels himself to be the doer (कर्त्ताऽहम् इति मन्यते). Thus he is liable to be caught in the clutches of his ego. Being ego-ridden, I was proud of my services rendered to my husband during the period of his illness. As a result I used to feel that my beloved was not subject to decay and that I was chaste enough to obstruct the speed of Time and Death, and to fight even with Death like Savitri, if some misfortune came my way.

With this intensity of delusion I continued to serve my husband, feeling that I was the doer. This had wrapped me in the veil of *moha* (attachment). Then it happened that the tidal wave of the inscrutable Will struck hard and deprived me of my husband's company forever, in May 1963. The blow was terrible for me. As the attachment was intense, the grief was equally intense. My vision became clouded, my senses paralyzed and I remained unconscious for three days. It was on the fourth day that I recovered from that state of torpor and started uttering: "Ma, Ma, Ma, Anandamayi Ma, *Dayamayi* Ma !" My eyes closed again and to my consolation, I saw Ma in Her very subtle form consoling me with Her benign touch. I cried:" Ma ! You have deserted me. I have lost my life's joy forever." I still remember the wonderful experience when Ma took me in Her affectionate embrace and said : "Your husband was not yours alone. He was God's first, yours afterwards. He needed Him more than you. As regards your life, you have other duties to perform. Now look after your children as you used to look after their father". The vision had faded away. The next moment,I opened my eyes and felt I was a different person altogether. The grief had subsided and the state of normalcy returned. Since then, my tears disappeared and with a calm mind I began to console those who came to mourn my husband's death. I encouraged them to read the *Gita* and *Ramayana* for the benefit of the departed soul. His loss made me feel that the services rendered to him egoistically had been insufficient to satisfy his Maker. I, then, understood the meaning of Milton's famous lines :

"God doth not need
Either man's work, or His own gifts :
Who best bear His mild yoke, .
They serve Him best."

Who else can give me such insight except Ma, my *Sadguru* ?

Ever since, I have endeavoured to act as Mother's instrument and carry out Her commands as best as I can. My salutations again and again to the Goddess who resides in all beings as 'Mother' and shows them light as *Sadguru* in the moments of gloom.

———

A Little Anthology

ON ONENESS

All that exists anywhere in the world, be it trees and plants, insects, reptiles or any other living thing, their birth is indeed your birth, and their death your death. On the level where everything is contained within you and you are present in everything, there is only the One, and He alone.

—*Mataji*

But if the same soul is everywhere, how can there be a particular soul of each individual? And how is one good and another bad? The one soul is sufficient to provide for individuals as well as the whole, and contains all souls and all intellects . . . Each one of them is not marked off from the others by boundaries; so in this way it is also one. It was not to have a single, but an unbounded life, and yet a single one too, single in this way, that all souls are together, not collected into a unity but springing from a unity and remaining in that from which they spring; or rather they never did spring from it but always were in this state, for nothing there comes into being, and so nothing is divided into parts; it is only the recipient who thinks that it is divided.

—*Plotinus*

The master said to me: all the Buddhas and all sentient beings are nothing but the One mind beside which nothing exists. This mind, which is without beginning, is unborn and indestructible. It does not belong to the categories of things which exist or do not exist nor can it be thought of in terms of new or old. It is neither long nor short, big nor small, for it transcends all limits, measures, names, traces and comparisons. It is that which you see before you—begin to reason about it and you at once fall into error. It is like the boundless void which cannot be fathomed or measured. The one mind alone is the Buddha, there is no distinction between the Buddha and sentient things but sentient beings are attached to forms and so seek externally for Buddhahood. By their very seeking they lose it, for that is using the Buddha to seek for the Buddha and using mind to grasp mind. Even though they do their utmost for a full aeon, they will not be able to attain it. They do not know that if they put a stop to conceptual thought and forget their anxiety, the Buddha will appear before them, for this mind is the Buddha and the Buddha is all living beings. It is not the less for being manifested in ordinary beings, nor is it greater for being manifested in the Buddhas.

—*Huang Po*

Wherefore it behoves thee to strive and hide thy *self* from thy sight, and occupy thyself with Very Being, and concern thyself with the Truth, for the various grades of created things are theatres of His revealed beauty, and all things that exist are mirrors of His perfections.

And in this course thou must persevere until He mingles Himself with thy soul, and thine own individual existence passes out of thy sight. Then, if thou regardest theyself, it is He whom thou art regarding : if thou speakest of thyself, it is He of whom thou art speaking. The relative has become the Absolute, and 'I am the Truth' is equivalent to 'He is the Truth.'

—*Jami*

God is not light nor life nor love nor nature nor spirit nor semblance nor anything we can put into words. God flows into God and God flows out of God and God knows himself God in himself and himself God in his creatures in general and he knows himself God in the noble soul in particular. The father is almighty in the soul, the Son all-wise, the Holy Ghost all-loving, loving all creature with the same love. But he manifests as *different* and the soul is destined to know things as they are and conceive things as they are when, seized thereof, she plunges into the bottomless well of the divine nature and becomes so one with God that she herself would say that she is God.

—Master Eckhart

What you are you do not see, what you see is your shadow.

—Tagore

"In order to find your Self you must become revealed to yourself."

—Mata Anandamayi

Sivanand Gita*

I was born of P.S. Vengu Iyer and Parvati Ammal on September 8th, 1887 at Pattamadai, Tinnevelly Dt., S.I., in the line of Appayya Dikshit. My star is Bharani. I was extremely mischievous in my boyhood. I studied in the S.P. G. College, Trichinopoly. I was a doctor in the Malaya States for ten years. I took *sannyāsa* in 1924 in Rishikesh I did *tapas* and meditation for fifteen years. I founded the Divine Life Society in 1936 and the All World Religious Federation in 1945.

I am childlike in my *svabhāva*. So I mix with all. I am ever happy and joyful and make others also happy and joyful. I am full of educative humour. I radiate joy through humour. I respect all. I do salutations to all first. I always speak sweetly. I walk quickly. I do *japa* and meditation while walking and while at work also.

I am ever hard-working. I have intense application to work. I never leave a task until it is finished. I never procrastinate any work. I finish it then and there. I am very quick in doing things. I cannot suppress the spirit of service in me. I cannot live without doing service. I take immense delight in serving. Service has elevated me. Service has purified me. I extract work through kindness, service, respect and love.

I am very regular in doing *āsanas* and exercises. I do *prāṇāyama* also regularly. These give me wonderful health and energy. I run round the *bhajan* hall daily. I cannot deliver fiery lectures sitting on a special seat. Special seat pricks me. I stand up or throw the seat away and then begin to speak. I never sat on a special seat when I presided over spiritual conferences. I rejoice in giving. I always give.

---

* Reprinted from "Elixir Divine," the last work of Swami Shivanand.

I am 73 now. I ever feel I am quite young. I am full of vigour, vim and vitality. I am ever cheerful. I sing, dance, run, jump in joy. I am robust and strong. I can digest any kind of food. I continuously work, read and write. I never go to hill-stations or the seaside for a holiday. Change of work gives rest. Meditation gives abundant rest. Work gives me delight. Service gives me happiness. Writing bestows joy. Meditation energizes and invigorates me. Kirtan vivifies me.

"*Aham Brahmasmi*" "*Sivoham*" "*Soham, Satchitānanda Svarūpoham.*" This is my favourite formula for Vedantic meditation. "*Chidanand*" is my favourite song for singing. "*Hare Rāma, Hare Rāma, Rāma, Rāma; Hare Hare; Hare Krishna, Hare Krishna, Krishna Krishna, hare hare.*"

This *mahāmantra kīrtana* is my favourite *kīrtana.*

At the present moment I am the richest man in the whole world. My heart is full. Further, all the wealth of the Lord belongs to me now. Hence I am king of kings, Emperor of emperors, Shah of Shahs, Mahārājā of Mahārājās. I take pity on mundane kings. My dominion is limitless. My weath is inexhaustible. My joy is irrepressible. My treasure is immeasurable. I attained this through *sannyāsa*, renunciation, untiring selfless service, *japa*, *kīrtana* and meditation.

I am tall. My height is 6 ft. I have a sinewy frame. I have symmetrical limbs. I am first class gymnasiast. I fast on *ekadasi.* I do not take even a drop of water on that day. I take milk and fruit on Sundays. I lead a simple natural life. There is a fountain of youth in me. I beam with joy. I observe fasting, resting, arising, bathing, breathing, exercising, sunbathing and enjoy freedom, beauty, courage, poise and health.

I love nature, music, art, poetry, philosophy, beauty, goodness, solitude, meditation, yoga and vedanta. I am humble and simple. I am frank and straight forward. I am perfectly tolerant and catholic. I am merciful and sympathetic. I have spontaneous and unrestrained generosity. I am bold. I am patient. I can bear insult and injury. I am forgiving. I am free from vindictive nature. I return good for evil. I serve the man who has injured me, with joy.

I love Ganga and the Himalayas. Ganga is my Mother Divine. Himalayas is my Father Divine. They inspire and guide me. I take baths in the Ganga. I adore Ganga. I feed the fiish of Ganga. I write about the grandour and glory of Ganga. Ganga has nourised me. Ganga has comforted me. Ganga has taught me the truths of the Upanishads. Glory to Mother Ganga !

My daily routine is like that of Lord Buddha. I always remain in the room. I do *japa*, *kirtana*, meditation. I study sacred books. I write. I come out of the room for a short time for work, service and interview. I talk little. I think much. I meditate much. I try to do much and serve much. I do not waste even a single minute. I ever keep myself fully occupied. I lead a well-regulated life. I perform worship of Atma at all times. I work for the good of others.

Gita, Upanishads, Bhagavata, Yoga Vasishtha, Avadhuta Gita. Vivekachudamani are my constant companions. I am a strange mixture of service, devotion, yoga and wisdom. I am a follower of Sri Sankara. I am a Kevala Advaita Vedantin. I am not at all a dry lip Vedantin. I am a practical Vedantin. I practise and advocate the Yoga of Synthesis. I practise *ahimsa*, *satya* and *brahmacharya*. Glory to sir Sankara !

I respect all saints and prophets of all religions. I respect all religions, all cults, all faiths and all creeds. I serve all, love all, mix with all and see [the Lord in all. I stick to my promises. I serve the poor. This gives me delight. I do mental prostration to asses, dogs, trees, bricks, stones and all creatures. I respect elders and *sādhus.* I obey. I please all through sincere selfless service. I attend on guests very carefully. I run hither and thither to serve them. I shampoo the legs of sick persons and *sādhus.*

I give very prompt replies to all letters. I do several things at a time. I write with electric speed. I spend everything. I do a lot of charity. I do not keep anything. I take immense pleasure in feeding the poor and my students. I try to be a mother to them. I talk to others on things which I have myself practised. I look within always, introspect, analyse and examine. I hold the trisul : spiritual diary, daily routine and resolve.

I served my Masters with great sincerity and intense faith and devotion. I learnt many useful lessons for life. I developed many virtues. I wandered without food during my *parivrājaka* life. I slept on the roadside at night without clothing in winter. I ate dry bread with water. I stick tenaciously to my principles and ideals. I do not argue much. I live in silence.

I pray and do *kirtana* for the whole world, for the health and peace of sick people and for the peace of the departed souls and also the earth-bound spirits. I take a dip in the Ganges in the name of all those who are longing for a bath in the Ganges. I sing the names of all saints of all religions in the Bhajan Hall. I observe All-Saints Day and All-Souls' Day.

I constantly meditate on the following :

Prajñānam Brahma, Aham Brahmāsmi, Tat Twam Asi, Ayam Ātmā Brahma, Satyam Jñānam Anantam Brahma, Śāntam Śivam Advaitam, Aham Ātmā Gudakesa ; Aham Ātmā Nirākārah Sarvavyāpi Svabhāvatah. Brahma Satyam Jaganmithyā, Jivo Brahmaiva Nāparah, Akarta, Abhokta, Asanga Sākshi, Ajo Nityah Sāswatoyam Purāno. Jyotishāmapi Tat Jyotih.

To raise the fallen to lead the blind, to share what I have with others, to bring solace to the afflicted and suffering, aremy ideals. To have perfect faith in God, to love my neighbour as my own Self, to love God with all my heart and soul, to protect cows, animals, women and children are my aims. My watch-word is love. My goal is *sahaja samādhi avasthā* or the natural continuous superconscious state.

"He Himself is holding you. He never never forsakes you."

—*Mata Anandamayi*

The Supreme Optimism of Hinduism

K. S. RAMASWAMI SASTRI

It is often said that Hinduism is unworldly and pessimistic and that its essence is negative and not affirmative. So great a scholar as Albert Schweizer held and published such an opinion and some Indian scholars have agreed with him. Yet this view is not correct. There are no doubt statements of a pessimistic nature about the world to be found here and there in our literature. Since the facts of disease, decay and death are undeniable, there is certainly room for a pessimistic attitude to life. The Bhagavad Gita says: "*anityam asukham lokam*" (this ephemeral world full of pain) and "*dukhālayam asāswatam*" (abode of misery and transcience). In the 'Ayodhya Kanda' of the Ramayana, Sri Rama tells Bharata about the miseries of life but says at the end: "The soul must be united to bliss. All beings are entitled to bliss." The Bhagavad Gita also teaches us that by *viveka* (discrimination) and *vairāgya* (dispassion) and *asanga* (non-attachment) we can attain to the innate, supreme, undisturbed bliss of the soul. The union of the soul with the Oversoul brings such bliss and is described in the Gita by the terms *Brahmayoga*, *Brahmasamsparśa*, *Brahmabhūta*. In the chapters XI and XVIII the Gita refers to the attainment of *Jñāna* and *Darśana* (Knowledge and Vision) and union with God.

The Upanishads contain the most sublime ideas of Hinduism and the Bhagavad Gita is said to be the essence of the Upanishads. A well-known Sanskrit verse compares the Upanishads to cows and the Gita to their milk. The Taittiriya Upanishad says: "From bliss all beings are born; they live in bliss; and they enter into bliss." Thus, essential and integral and dynamic Hinduism is affirmative and optimistic. It is only the soul enveloped in ignorance that suffers pain, grief and sorrow because of its identification with the body, the senses and the mind. When by non-attachment, dispassion and discrimination it becomes aware of itself as pure and infinite, eternal and supreme bliss, it attains its true goal by realizing its own innate and inalienable nature.

It is the supreme glory of Sri Anandamayi Ma that she is ever steeped in such bliss and conveys the gospel of *Ānanda* and teaches all men the methods of its realization. A well-known verse of the Saraswati Rahasya Upanishad says: "When attachment to the body is gone and the realization of God attained, there is ambrosial bliss wherever the mind turns."

Essential Hinduism brings to the world the gospel of joy. It gives us *chitta prasāda* (clarity and purity of mind) which leads to the cessation of all suffering and to the attainment of infinite, eternal, unbroken bliss.

———

Sacred Places of Kashmir, Jammu & Ladakh

A Devotee

III

Gwpta Gangā

The sacred spring called Gupta Gangā is situated at a distance of about two kilometers south of Shalamar Gate which is only fifteen kilometers north west of Srinagar. The place is called Ishaba, a corruption from Isheshwara.

The pilgrims bathe in the holy waters of Gupta Gangā. An annual fair is held by the side of the spring in the month of Vaisākh.

The spring feeds an old tank in the village. Behind the tank there is a mound which was the ancient shrine of Isheshwara constructed by king Sandhimān of Kashmir. It was a temple dedicated to Lord Shiva. There was a temple of the goddess Durga, also called Sureshwari, constructed by Sura, who was the prime minister of king Avantivarman (855-883 A.D.). Even to-day the goddess Durgā is worshipped as Sureshwari on a steep hill above the village of Ishabar in the east of Dal Lake. A rock on the top of the hill represents her consort Shiva. According to Sureshwari-māhātmya Shiva and Durgā took their abode on this hill.

The present temple of Isheshwara at Ishabar was constructed by Mahārājā Ranabir Singh during the last century.

देवि सुरेश्वरि भगवति गङ्गे त्रिभुवनतारिणि तरलतरङ्गे ।
शङ्करमौलिनिवासिनि विमले मम मति रास्तां तव पदकमले ॥*

[O Goddess Sureshwari, O Bhagavati Gangā! Thou savest the creatures of the three worlds. Thou art of light waves. Thou art of clear water dwelling on the head of Sankara. May my mind ever repose at thy lotus feet.]

---

*Gangāstotram by Shri Shankarāchārya

Haramukh

भूषाभोगिफणारत्नरोचिः सिचयचारवे ।
नमः प्रलीनमुत्ताय हरकल्पमहीरुहे । *

[Reverence to Hara, charming with the seam of light emitted by the jewels on the heads of serpents which adorn him. In him, who is like the wishing tree of heaven, are absorbed those who have been liberated.]

The Haramukh Mount is situated in the midst of glaciers at a distance of about seventy-five kilometers north-west of Srinagar. It is to be reached by road and hill track. The peak is at an altitude of about 17000 feet above sea-level. Its ancient name is Haramukuta which means "the crown of Hara."

Lord Shiva whose other name is Hara, is supposed to dwell on the Haramukh Mount. Below the glaciers there are lakes which are regarded as very holy in the Kasmir Valley.

At the foot of the north-eastern glacier at a height of 13000 feet above sea-level lies the sacred Gangābal lake of which the ancient name is Haramuktagangā or Uttaramānasa (the Mānasa Lake of the north). The pilgrimage to this sacred lake takes places in the month of Bhādra. The pilgrims throw the ashes of the bones of their departed relatives into the waters of the lake. The ceremony of depositing the bones takes place on the eighth day of the bright half of Bhādra. The pilgrims start from Srinagar on the fourth day. The following verse from the Nilamata tells about the sacredness of this lake.

उत्तरे मानसे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।
पितरस्तर्पितास्तत्र कामान् यच्छन्ति अभिप्सितान् ॥*

[One gets the benefit of the gift of one thousand cows by bathing in the holy waters of Uttaramānasa. The forefathers appeased with offerings there bestow all that is desired.]

---

* The Rājatarangini, first Taranga sloka.
* The Nilamaṭa, sloka 1241.

At the foot of the east glaciers of the Haramukh Mount lies the sacred place of Nandi called Nandikshetra. In this area there is a sacred lake called Kâlodaka or Nandisara, the modern name of which is Nundkol. It is said that Nandi, the attendant of Shiva, dwells in that lake. Kalhana mentions about this place in the Rājatarangini from which a verse is given below :

नन्दिक्षेत्रे हरावासप्रसादे द्युचरार्पिताः ।
अद्यापि यत्र व्यज्यन्ते पूजाचन्दनविन्दवः ॥*

[Where in the shrine of the residence of Shiva at Nandikshetra are to be seen, even to this day, the drops of the votive sandal emollient offered by the celestials.]

According to the Nilamata Purāna of Kashmir, Nandi, who was born as the son of Shiladā, performed a great penance in the Kālodaka lake. Being pleased with his devotion, Lord Shiva took up his residence there by the side of his attendant. The central portion of the lake showing a deep blue colour is said to mark the residence of Kāla (Shiva), the outer portion of a light green colour is said to mark the abode of Nandi. At this place Shiva is worshipped by the name of Nandisha which means "the Lord of Nandi."

हरमुकुटमिति ख्यातं शृङ्गं हिमवतः शुभम् ।
जगाम सहसा नन्दि तपसे कृतनिश्चयः ॥
तस्य शृङ्गस्य पूर्वार्धे सरोऽस्ति विमलोदकम् ।
कालोदकमिति ख्यातं सर्वं किल्विषनाशनम् ॥

[Nandi being determined to perform austerities all of a sudden went to the sacred peak called Haramukuta on the Himālayas (the abode of snow). On the western side of that peak there is a lake of pure water called Kālodakam which destroys all sins.]

---

* The Nilamaṭa Purāna, Sloka 1047-1048.

HARWAN

Harwan is a small village situated at a distance of about three kilometers beyond the Shālāmār garden lying north-west of Srinagar.

The remains of a very ancient and beautiful shrine have been unearthed at Harwan. It was built by the Kushan kings in the second century A. D.

It is said that a saint named Sukarma Swāmi lived near Harwan. Pravarasena II, who reigned in Kashmir from 110 to 170 A. D. and founded the city of Srinagar, built a villa on the edge of Dal Lake in its north-eastern corner and called it Shālāmār which in sanskrit means "the abode of love." The king used to visit the saint very often.

The famous Buddhist philosopher called Nāgārjuna is said to have lived in Harwān. In ancient times six sages dwelt in the forest which existed here in those days. The place was therefore called Sadarhadvana. The following verse from the Rājatarangini may be noted in this connection:

बोधिसत्त्वस्य देशेऽस्मिन्नेको भूमीश्वरोऽभवत् ।
स च नागार्जुनः श्रीमान्षडर्हद्वनसंश्रयी ॥*

[And a Bodhisattwa lived in this country as the sole lord of the land namely the glorious Nāgārjuna, who resided at Sadarhadvana (the wood of the six saints.)]

---

* The Rājatarangini, first Taranga, Sloka 173.

Only God I Saw

KUHI OF SHIRAZ

In the market, in the cloister...Only God I saw.
In the valley and on the mountain—Only God I saw.
Him I have seen beside me oft in tribulation,
In favour or in fortune—Only God I saw.
In prayer and fasting, in praise and in contemplation,
In the religion of the prophet—only God I saw.
Neither soul nor body, accident nor substance,
Qualities nor causes. Only God I saw.
I opened my eyes, and by the light of
His face around me,
In all the eye discovered—only God I saw.
Like a candle, I was melting in this fire;
Amidst the flames outflashing,—only God I saw.
Myself, with mine own eyes I saw most clearly,
But when I looked with God's eyes,—only God I saw.
I passed away into nothingness, I vanished,
And lo! I was the All-Living,—Only God I saw.

MATRI LILA

(October—December 1967.)

In the last issue of *Ananda Varta* we have already mentioned that *Navarātri* was observed in Vrindaban from October 4th to 13th. The actual Durga Puja began on the 9th evening with the *Prāṇa pratiṣta* of the traditional image representing Durga, Lakshmi, Saraswati etc, which was placed in the hall in the square between the three temples. Until then, a *ghata* (a pitcher full of Ganges water with a cocoanut on top, symbolizing the deity) was set up in the Siva Mandir and worshipped daily. During those 9 days the *Durga Sapta Shati* was also recited daily in three different places in the Ashram.

A great many devotees had gathered from all over North India and a few even from the South. A number of functions, not directly connected with the festival, took place as well.

On October 5th, *Mahaprabhu Lila* was enacted in the hall by a new *Rāsa* party. It was a performance of a rare beauty and perfection. Mataji remained present throughout the play which took 4-5 hours. The audience sat spell bound and moved to tears. A *sannyāsi*, Sri Swami Purushottamananda had composed the *Lila*. The subject matter was taken from a book called "*Swapnavilāsa*" dealing with the advent of Sri Chaitanya Mahaprabhu. The Swami had taken great pains to train the actors. This was the first performance. Only after the *Lilā* had been hallowed by being staged in front of our Nitai-Gouranga temple in Mataji's presence it was shown to the general public everywhere.

On October 6th evening *akhanda kirtana* started and was kept up for 24 hours. Mataji herself joined and was walking round the Gouranga temple with the singers for some time on the 7th midday.

October 10th-13th were the main days of the *Durga Pujā*. As usual Mataji made sure that every detail of the worship and the preparation of the food offered were carried out with the utmost care and precision and that the audience was fully occupied with *kīrtana*, *japa*, meditation and so forth. Thus everyone was able to derive the maximum benifit from the celebrations. In the afternoon, *Mahātmās* would deliver talks appropriate to the occasion. On *Dassera* day (Oct. 13th) Mataji sang herself for quite a while in the morning and again in the evening. With her own hands she distributed *prasāda* to all present.

On October 18th night, Lakshmi Puja was observed. On October 19th, Mataji quite suddenly left for Varanasi where she remained for one week. During her sojourn there the opening ceremony of a recently acquired additional building was held. Another very enjoyable function took place in Mataji's presence. Dr. Gouri Nath Śastri, Vice-Chancellor of the Varanasi Sanskrit University came in person to our Ashram to distribute prizes to the students of the *Kanyapith** who had, one and all, passed their exams very creditably this year. By the merest chance, Dr. Gopinath Kaviraj happened to pay a visit to Mataji just then and the illustrious Sanskrit scholar was therefore present during the little informal function.

A number of years ago, when nobody was particularly keen for girls to learn Sanskrit, Mataji had the *kheyāla* that the *Kumāris* should take up Sanskrit seriously. Mataji's suggestion was followed and some of the girls have by now become *Sāstris*, even *Achāryas*. In the meanwhile, many women all over India have also become interested in the study of Sanskrit.

On October 27th Mataji returned to Vrindaban in good time for Divali, when *Kali Puja* was celebrated in the night from 1st to 2nd November from 10 p. m. to 3-30 a. m.

---

*The Girls School run by the Shree Shree Anandamayee Sangha.

There were not too many people and the worship of the beautiful, life-like image of the goddess Kali was deeply felt and impressive. It was accompanied by music throughout. We had the rare pleasure of hearing one *bhajan* sung by Didima, who is still up and doing inspite of her 90 years of age.

When the puja was over at 3-30 a.m., Mataji sat down in the main hall and everyone collected round her. She said: "To-day is Divali, so I shall tell you a story: Some *pūjā* was going on somewhere. Among the audience there was a woman with her little daughter, a child of three or four. The little girl was very restless and kept on disturbing her mother, who finally lost her patience and said angrily: "*Mar jao*"! The child went outside and when a little later the mother went to look for her, the child was not to be found anywhere. After a frantic search her clothes were discovered. Perhaps a wild animal had attacked and devoured her?

"During *pūjā* everyone should take great care never to say anything in anger or hate, for it may bear fruit. In fact,people should at all times be vigilant as to their words, remembering that "*svasti, svasti*" goes on constantly on a subtle plane. Whatever is pronounced by anyone while '*svasti*' is said, is bound to come true, while what is said in the intervals will be of no consequence. Therefore never say anything in anger, for your words may have very serious repercussions."

That afternoon someone did *Lakshmi Puja* in Rāma Mandir. Mataji sat there dressed in a white silk sari with a broad red border. It was one of the even now, not rare occasions when Mataji looked amazingly young. One could have sworn she was not a day older than 40.

The next day,'*Annakut*', a sumptuous *bhoga* was offered in Chheliya Mandir and a feast given to all at about 3 p.m.

---

*The literal meaning of the word is "die"! But it is often said meaning "leave me in peace!"

Until then *kirtana* was kept up in front of the closed temple. Mataji gave *darśana* at intervals, but mostly she was inside, supervising arrangements in the kitchen and the temple.

On the 3rd morning the image of Kali was taken in procession to the new tank, named "*Krishna Chheliya Ananda Sarovar*" and immersed in it. The tank is 100 ft. long and 20 ft. deep.

From November 9th to 15th, the 19th Samyam Mahavrata was observed. Every Samyam Vrata is a spiritual experience. Many of the participants look forward to it from one year to the other and make it a point never to miss it. Those who have come for the first time and perhaps only for part of the week, express the desire to come again the following year for the whole period. Almost all the *Mahātmās* who grace this yearly function with their presence and enlighten the *vratis* with their brilliant and profound talks, came also on this occasion. Swami Akhandanandaji who resides in Vrindaban, very generously talked to us every day for an hour. Among those who had taken the trouble to come from outside were Mahamandaleshwara Swami Chaitanya Giri of Hardwar; Mahamandaleshwara Swami Maheshwarananda of Bombay; Swami Chidananda, the Head of the Divine Life Society, Rishikesh; Swami Vishnu Ashram of Sukhtal; Swami Sharanananda of the Manav Seva Sangha. Only Sri Haribabaji was unfortunately absent due to indifferent health. Swami Krishnananda Avadhutji gave the preliminary lecture on the 8th evening, besides his talks during the *Saptaha*. Several Goswamis of Vrindaban delivered very fine and spirited discourses. Not only the speeches were excellent and highly interesting but also the music. Chhabi Banerji, Brahmachari Brahmananda, Brahmacharini Pushpa, Srimati Malati of Rae Bareilly were among us and this was in itself a guaranty that this part of the programme would be exquisite. Over and above, we had a special treat on November 14th when Mrs. Taleyarkhan of Ramanashram brought the famous singer Sm. Subhalakshmi with her husband and daughter for Mataji's *darśana*. The great singer and her daughter sang *bhajans* for about 70 minutes at the end of the morning session. It was truly superb. Everyone forgot that their only meal within 24 hours was delayed by over an hour and would have gladly listened much longer. The kitchen staff also could be seen standing at the back, listening entranced. Mataji sat in the hall until 12-30 that morning. Our illustrious guests seemed to enjoy singing in that atmosphere and expressed the desire to come again and again for Mataji's *darśana*.

On November 12th, distinguished guests of a different order attended the morning meditation and *satsang*, namely Sri Gopal Swarup Pathak, the Governor of Mysore, and his wife. They arrived by car from Delhi at 7-30 a.m. and stayed over lunch.

It is impossible within this limited space to give even faint idea of the contents of the discourses, which have however all been preserved by tape recording. Swami Maheshwaranandaji specialized on the *Mahāvākyas* and gave his final talk the day after the *Samyam Saptah* was completed. Swami Vishnuashrama, who stayed only for two or three days, once said:"If you want to meet God, you must give up meeting others. You think your father, wife, son are yours and therefore you suffer. In actual fact only God alone is yours and you are His. But you are under the illusion that God is far away and that you have no connection with Him."

A significant story was told : "A rich man dreamt that he was poor. In his dream, everyone was going to a circus that had come to the town. So he also joined them. When he got there he was not allowed to enter as he could not even pay for the cheapest ticket costing 8 as. He asked everyone who came along to pay for him, but none responded. Deeply pained, he woke up, to find himself a millionaire. "If all my riches are useless even in a dream, of what worth will they be in the next world ?" he exclaimed. He abandoned his life of luxury and began to search for that which has real value."

During *Matri Satsang*, the last half hour of the evening session, Mataji sometimes replied to questions and sometimes related interesting incidents from her life. The first three days, she gave part of her time to Pd. Kapindraji, the well-known, witty expounder of the Ramayana, who kept everyone amused and relaxed after the many serious and thought-provoking discourses of the day. On the 11th night, he left for Delhi and promised to return on the 13th. But he did not come. On the 14th night at the end of the programme, he suddenly emerged out of the crowd, and although Mataji requested him to have his meal and rest as he had just arrived, he insisted on ascending the dais. He then related that when he and five other persons had left for Delhi by jeep at midnight on the 11th, he himself drove. As he was rather sleepy, the jeep got out of control and rushed into a ravine, about 50 ft. deep. However, as if by miracle, nobody was hurt and even the jeep remained intact, so that they could proceed to their destination. His daughter began to shriek with fear and then shouted. "Ma has come!" Kapindraji said: "Yes Ma is here." He could see her distinctly standing in front of him, only she seemed much taller than usual.

Mataji: But how did you lift the jeep out of the abyss ?

Kapindraji: You yourself lifted the wheels, I saw it clearly. You saved us, you did everything.

Mataji: There is only ONE. God saved you. Since you have faith in this little girl, He appeared to you in her shape to save you.

Kapindraji: My body was in Delhi for three days, but my mind has been here at your feet all along. I could not think of anything else.

Here is one of the incidents Mataji related to the *vratis*. When Mataji went to South India for the first time with

Bholanath, Bhaiji, Swami Akhandananda* and Didi, they had *darśana* of Kanya Kumari at Cape Comorin. At night the goddess was decorated with sandalpaste and in the morning plain. When some time later Mataji stayed at Raipur, one day, Kanya Kumari, looking as they had seen her in the morning, came and sat on Mataji's left knee. The goddess was doing *japa* and Mataji could perceive the mantra. Then Bholanath came and talked to Ma. In the course of the conversation, Mataji took a book into her hands to look at the pictures. She opened the book and instead of on a picture, her glance fell on the very word which Kanya Kumari had been repeating. When Mataji went to Cape Comorin again with Sri Hari babaji and others in 1952, the *panda* of the temple explained to them that the goddess was doing *japa* to obtain Siva and he disclosed the mantra to them. It was the one Mataji had observed her repeat at Raipur.

Another day Mataji talked again about her trip to South India in 1952. One thing she said was that somewhere, where a statue of Krishna was, she saw Siva and thus had the *kheyāla* to instal a Śiva Linga in the then newly started Ashram at Vrindaban. It was first put into *Śiva Kutir*, the small house at the gate. Later, when the hall was built, it so happened that in the town of Sri Krishna the first temple erected in our Ashram was the *Śiva Mandir*. The Linga was shifted to it from *Siva Kutir*. Mataji also related the story of Nitai Gouranga temple. The Radha Krishna temple which had been planned first, materialized last.

Of the questions and answers during *Matri Satsang*, we shall mention here just two :

Question : If someone worships Krishna, he will finally come to realize Him. Suppose a man worships God in all humility and serves human beings, won't He realize Him ?

---

* Didi's father.

Mataji : Yes, provided he sees *Janārdana* in everyone and serves *God* in human beings. In this case his mind will be purified (*chitta suddhi*) as a result. But not if he serves human beings as such. Because in that case his ego will get the better of him. He will feel proud and elated about his good deeds and this will harm him.

Question : During the hour of silent meditation we all concentrate on our *Iṣṭa*. Whom or what does Mataji contemplate ?

Mataji (smiling) : Whatever anyone imagines her to contemplate ; be it any *Iṣṭa* or person or object. There is only ONE.

Sri Maheshwarananda : If there is only ONE, who meditates and on what ?

Mataji : Yes, where there is a meditator and an object of meditation, there one can speak of meditation. But this small child (Mataji) knows no *japa*, no *āchman*, no meditation, nothing at all. Therefore, whatever her fathers, mothers and friends do in their meditation does its work also for her.

The last day, midnight meditation was observed by candle light, with the *Nārāyana Sīla* enthroned on top of the staircase behind the dais. Mataji came for the evening *satsang* at 8-30 p.m. and never left her seat until 12-30 a.m. She asked Kapindraji to speak for an hour after 9 p.m. Then Mataji began to sing '*Rāma, Sitārāma*' in ever new variations and modulations with great enthusiasm and everybody repeated in chorus. Mataji was in great form that night and kept the whole congregation enthralled. After a while she asked Chhabi and later Malati to continue the singing until it was time for the meditation.

Havan started early on the 16th morning on the platform under the neem trees and after its completion, Mataji distributed garlands, fruit and sweets to all the vratis. A substantial and delicious meal was served that day after a week of austerity.

If however anyone had imagined that a period of rest and relaxation would follow the strenuous *Samyam Vrata*, he was mistaken. On the 17th midday *Akhanda Rāmāyana* started in the *Rāma Mandir*. The whole of the Ramayana was sung in beautiful ever varying tunes to the accompaniment of harmonium, cymbals and drums for two days and two nights. The function ended on Nov. 19th at 2-30 p.m. Many *vratis* had left but quite a number remained for a few more days. The singing of the Ramayana was organized mainly by Sm. Malati and her family who are experts in it. Mataji had the *kheyāla* that Kapindraji should be present as well. Sure enough he turned up just before the *pūrnāhuti*. Immediatly after, Mataji sat down in the hall and related that the Vrindaban Ashram was originally to be built in the grounds opposite to where it actually is. The plot had been acquired and two huts opened ceremonially and Mataji had spent one night there. Then the Ramakrishna Mission claimed the land to build a large modern hospital on it. The plot was abandoned in their favour and the Anandamayee Sangha purchased the land on which our Ashram, comprising now about 12-15 large and small buildings, is now. The Ramkrishna Mission Hospital is doing excellent work. Incidentally it is invaluable to us also to have expert medical aid, rendered in a spirit of service, just across the road.

A few days later Sri Haribabaji arrived in Vrindaban. He paid one short visit to our Ashram. Mataji used to go almost daily and attend the *Mahāprabhu Lila* at the Uriababa Ashram where Sri Haribabaji stays,

Throughuot Mataji's stay at Vrindaban a regular stream of foreign visitors, mostly French and American kept on pouring in. Two French ladies took part in the *Samyam Vrata*. As soon as they left, a Japanese lady who is studying yoga in India came for two days. On November 23rd, Dr. Jacques de Marquette arrived with his secretary, Madame Langevin. Dr. Marquette, an earnest seeker after Truth is a remarkable scholar in comparative religion and a doctor of two Universities. He has written a number of books on comparative mysticism and similar subjects. This was his seventh visit to India. He and Madame Langevin had had Mataji's *darśana* already four years ago in three different towns. At present they are editing a French Monthly called "*Panharmonie*" in which Mataji's "*Mārtri Vani*" appear by instalments in every issue since September, 1967. A portion of "*Words of Sri Anandamayi Ma*" has also been rendered into French and is to be published in the same magazine. Later the entire French translation is to appear as a book.

On November 30th the Governor of the U.P. Dr. B. Gopala Reddi paid a visit to Mataji and had a private talk.

On December 2nd, Swami Akhandanandaji started to expound the Srimad Bhāgavata in Hindi at the Uriababa Ashram. Mataji attended daily for full five hours until she left in the afternoon of December 4th for New Delhi, after having been in Vrindaban since July 20th, with an interruption of only eight days in October.

Mataji remained in our New Delhi Ashram for two nights. The Prime Minister Sm. Indira Gandhi and the Ex-Home Minister Sri Nanda came to see her. The crowd that clamoured for Mataji's *darśana* was too huge to be manageable. On the 6th, *Nama Jajña* was held in the hall of the Ashram from sunrise to sunset. Mataji left immediately after for Lucknow, from where she motored to Naimisharanya the next morning.

* * *

Naimisharanya is one of the most sacred places of India. It is said that all the 18 *Purānas* were composed there. When in 1960, a *Samyam Mahavrata* was observed there, it was discovered that not even one copy of each *Purāna* was available in the whole town. It seemed appropriate that at least one full set of the *Purānas* should be kept in Naimisharanya permanently and a portion read daily throughout the year. It was therefore decided to erect a small *Purāna Mandir* on behalf of our Ashram. The daily reading was begun immediately in 1960 in Mataji's presence and a pandit engaged to continue.

A plot of land was acquired at Hanuman Tila, the highest spot in Naimisharanya and a Gujrati devotee Sri Manubhai Bhimani volunteered to be responsible for the expenses of constructing a temple. The opening ceremony of the Purāna Mandir was performed from 9th to 11th December, 1967 in Mataji presence. Sri Prabhudatta Brahmachari and Swami Naradanandaji had come specially for the cccasion and delivered talks on Naimisharanya. Adjoining the *Purāna Mandir*, a small room has been built for Mataji, in which she stayed for three nights. For the rest of the time she and her small party were accommodated in huts in the *Prayag Narayan Kshetra*, which is a charming place situated on the bank of the Gomati river. Mataji extended her sojourn up to December 18th, when she left for Lucknow to spend two nights at the residence of Sri Rameshwar Sahai, Retired Chief Conservator of Forests. U.P. From there she proceeded straight to Vindhyachal.

Our Ashram at Vindhyachal is still a solitary place, not too easily accessible from any big city. Water has even now to be carried up the hill in earthen pitchers and there is no electricity. Mataji is at her best in such surroundings and the people who can be with her deem it a great privilege. Dr. Gopinath Kaviraj spent a few days there with Mataji. Mataji was in a communicative mood.

On December 29 she came to Varanasi and after about a week's stay she left for Rajgir on January 5th with only a few companions.

BRANCH-CENTRES

OF

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA

1, Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Bhadaini, Varanasi, U. P. (Phone 2791)

2. Shree Shree Ma Anandamayee Kanyapeeth,
Bhadaini, Varanasi, U. P.

3. Ma Anandamayee Seva Hospital,
Shivala, Varanasi, U. P. (Phone 5871)

4. Anandamayee Karuna, Shivala, Varanasi, U. P.

5. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Vrindaban, U. P. (Phone 94)

6. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Ashtabhuja Hill, Vindhyachal, U. P.

7. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Kishenpur, P. O. Rajpur, Dehradun, U. P.
Phone : Rajpur 71

8. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Kalyanvan, 176, Rajpur Road, Dehradun, U. P.

9. Shree Shree Ma Anandamayee Sadhan Ashram
47/A Jakhan. Dehradun, U. P.

10. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Raipur Ordnance Factory, Dehradun, U. P.

11. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Kali Mandir, P. O. Uttar Kashi, U. P.

12. Shree Shree Ma Anandamayee Vidyapeeth,
Patal Devi, Almora, U. P.

13. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Dhaulchina, Almora U. P.

14. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Puran Mandir, P. O. Nimsar, Sitapur, U. P.

15. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram
P. O. Kankhal, Saharanpur, U. P.

16. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Kalkaji New Delhi—19 (Phone 72478)

17. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Kamarhati, Calcutta-58 (W.B.)
(Phone 611328)

18. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Chandipur Tarapith, Birbhum, West Bengal

19. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Rajgir, Patna, Behar

20. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Main Road, Ranchi, Behar

21. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Swargadwar, Puri, Orissa

22. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Bhimpura, P. O. Chandod, Baroda, Gujrat

23. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Ganesh Khind Road, Poona-7

24. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Ramna. Dacca, East Pakistan

25. Sree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Siddheshwari, P. O. Ramna, Dacca, East Pakistan

The names of about half a dozen other institutions named after Mataji are not included in this list as they are noi directly managed and controlled by this organisation.

Statement about ownership and other particulars about

ANANDA VARTA

FORM IV

(*See* Rule 8)

1. Place of publication	Varanasi
2. Periodicity of its publication	Quarterly
3. Printer's Name	K. Bose
Nationality	Indian
Address	Mata Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi
4. Publisher's Name	K. Bose
Nationality	Indian
Address	Mata Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi
5. Editor's Name	K. Bose
Nationality	Indian
Address	Mata Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi
6. Names and addresses of individuals who own the newspaper	Shree Shree Anandamayee Sangha (Regtd). Bhadaini, Varanasi

I, K. Bose, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Date : *15-3-68*

(Sd) K. Bose
Signature of Publisher

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA

LIST OF PUBLICATIONS

Hindi

Mātri Darshan—"Bhaiji"	2-50
Sad Vāni ”	1-00
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I to XI	28-50
Ma Anandamayee—Dr. Pannalal	2-50
Akhanda Mahāyajña—Gurupriya Devi	2-50
Kirtan Rasa Swarūpa	6-00
Sankirtan, Stav, Aratī	0-50

Bengali

Matri Darshan—"Bhaiji"	3.00
Sad Vāni—"Bhaiji"	1-50
Mātri Vāni	0-75
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I–XII	29-00
Ma Anandamayee Upadeshamrita Sangraha	1-50
Akhanda Mahāyajña ” ”	2-50
Kirtan Rasa Swarūpa	6-05
Suno Bali Maer Kotha—Sailesh Brahmachari	1-25
Mātri Lila Sankirtan	0-31
Anandamayee Ma—Ganga Samiran	2.50
Namavali— ”	0.50

Gujarati

Mātri Darshan—"Bhaiji"	1-50
Ma Anandamayee Ke Sannidhyame, Part I & II —Br. Kantibhai	
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand	2-00

English

Mother As Revealed to Me—"Bhaiji"	4.00
Mātri Vāni (Sayings)	1-50, Special edition 2-50
Words of Sri Anandamayee Ma	3-00, Special edition 5.00
Mother as seen by her devotees	5·50, Rexin bound 6·50

Photos etc

Photos—various sizes	to 15.00
Lockets	1-25

श्रीश्री आनन्द मयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. N4726/57.

ānanda VĀRTĀ

HINDI & ENGLISH

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Vol. XV. July, 1968 No. 5

* श्री श्री माँ आनन्दमयी *

श्री श्री माँ के जीवन का धारावाहिक इतिहास जो इधर निरन्तर प्रकाशित हो रहा था, विभिन्न कारणों से उनका प्रकाशन बन्द रहा। अब श्री श्री माँ के चरणों के आशीर्वाद से चार भाग हिन्दी में प्रकाशित हो गया।

• सुन्दर गेटअप • आकर्षक छपाई • ४० पौण्ड ग्लेज कागज

इसके अलावा प्रत्येक भाग में श्री श्री माँ के दो
नयनाभिराम चित्र

प्रत्येक भाग का मूल्य तीन रुपया मात्र

अष्टम भाग

• वैद्यनाथ, इलाहाबाद, विन्ध्याचल बड़ोदा, दिल्ली, काशी आदि स्थानों की भ्रमण लीलाएँ—

• चान्दोद-व्यास में अज्ञातवास

• भोलानाथ जी के साथ जीवन यापन तथा दीदी माँ का संन्यास ग्रहण करना आदि।

पृष्ठ संख्या—२०८

नवम भाग

• श्री श्री माँ के जन्म-स्थान खेओड़ा, ननिहाल सुलतानपुर की यात्रा—

• विन्ध्याचल में यज्ञ, बैजनाथ में ताराचन्दजी के यहाँ मूर्त्ति स्थापित करना।

• सूक्ष्म में अनेक लोगों पर कृपा करना आदि।

पृष्ठ संख्या—२५०

दशम भाग

• श्री श्री माँ के दिव्य जीवन की अनेक स्मरणीय घटनाएं—

• सूक्ष्म में अनेक अलौकिक दर्शनादि का वर्णन

• जन्म की अप्रकाशित अनेक निगूढ़ बातें,

• जमनालाल जी, महात्माजी, राजेन्द्र बाबू, विनोवा भावे से मुलाकातें इस भाग की विशेष घटनाएँ हैं।

पृष्ठ संख्या—२७२

एकादश भाग

• श्री श्री माँ का मौन धारण, अलमोड़ा क्षेत्र के जटाजूट धारी महात्माओं का सूक्ष्म में आगमन—

• उदयशङ्कर, यशोदा माता और पन्नालालजी से मुलाकात—

• शारदापीठ के शङ्कराचार्य को अन्तिम काल में दर्शन देना—

• स्वामी अखण्डानन्द का तिरोधान

पृष्ठ संख्या—२२७

प्राप्ति स्थान

श्री श्री आनन्दमयी संघ

भदैनी—वाराणसी-१

Ānanda Vārtā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teaching of Mata Anandamayee and with other religio-philosophical topics

❋

BOARD OF EDITORS

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M. A., D. Litt.
Padma Vibhushan

Brahmachari Nirmalananda

Kumari Lalita Pathak, M. A.

Brahmacharini Atmananda.

Sri K. Bose,—*Managing Editor.*

❋

ANNUAL SUBSCRIPTION

India—(Postage free) Rs. 6/- only
Foreign—(By Sea Mail) Rs. 10/50 or 15 shillings or $ 2·00
" (By Airmail)—Rs. 25/- or £ 1-10-0 (Europe etc.)
" " —Rs. 35/- or $ 5.50 (North & South America.)

CONTENTS

English Section

1. Matri Vāṇī 203
2. Mother-As I have Known Her — Girjashanker Bhattacharya 206
3. Some Recollections —Arun Prakash Banerji 216
4. Jai Ma ! ... —Saroj 231
5. A visit to the Ashram of Sri Anandamayi Ma—Madeleine Langevine 234
6. From the Diary of a European —Melita Maschmann 240
7. Matri Lila 247

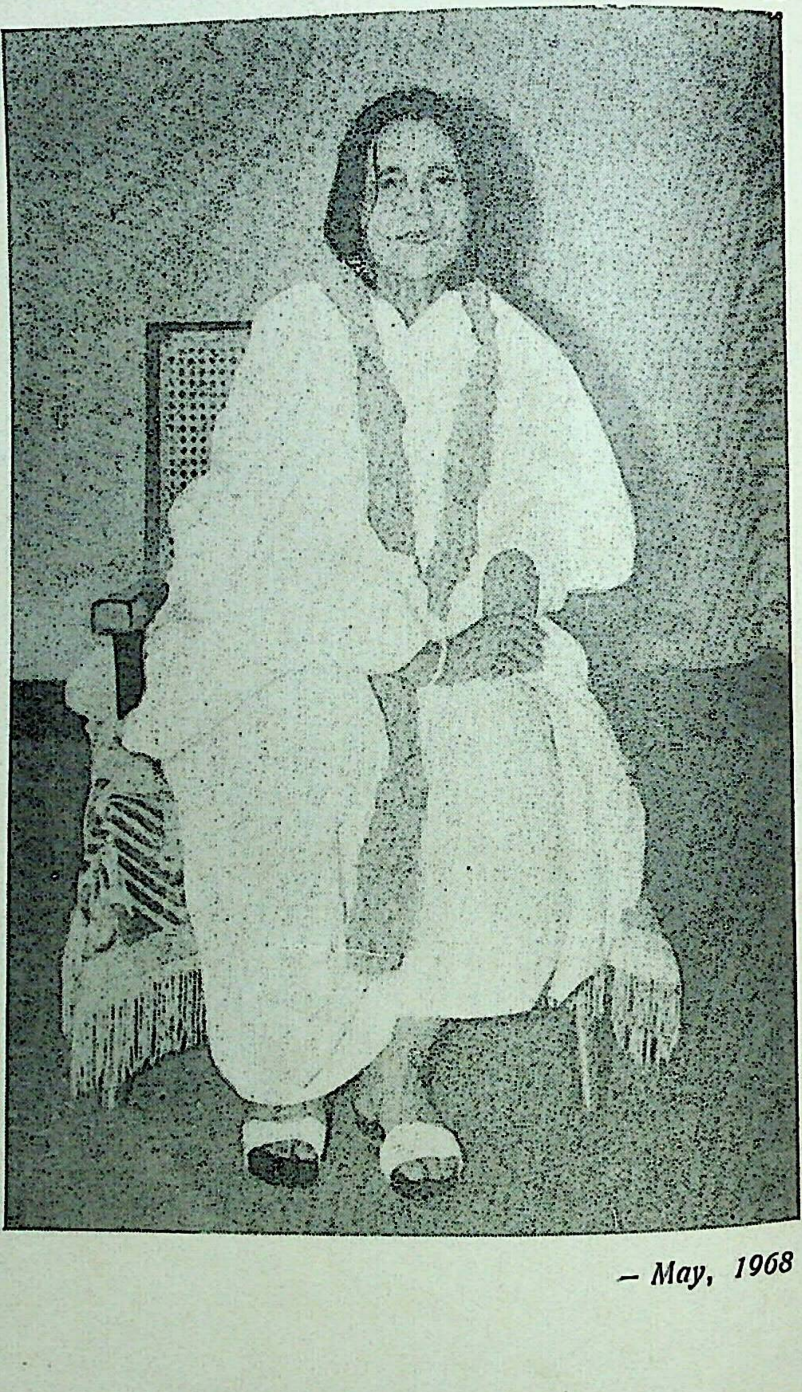

– May, 1968

Ānanda Vārtā

"अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपनेमें आप।"

VOL. XV] JULY, 1968 [NO 5.

—मातृवाणी—

जहाँ आत्मा है वहाँ "मैं" कैसे ठहर सकता हूँ ? मेरे तेरे के बीच में ही तो 'मैं' रहता हूँ न ? त्याग और आकर्षण साथ ही साथ। परिवर्तन के रूप में, अपरिवर्तन के रूप में, वे स्वयं ही। अपने में जो अपना रहा है उसके प्रकाश के लिए चलो। जो नहीं चलता वह आत्म-हत्या करता है। भगवच्चिन्ता का आवरण हटाने को चेष्टा करो। अमृत के पथ पर चलने की चेष्टा करो। अमरपन्थी हो जाओ।

× × × ×

आदेश पालन करना ही सबसे बड़ी सेवा है। पुस्तक में है, "आत्मेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा को कहते हैं काम, कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा को कहते हैं प्रेम।" सुतर गुरु जो आदेश दें, वह निर्विचार पालन करना ही सबसे बड़ी सेवा है।

× × × ×

तुम जहाँ खड़े हो उसी स्थिति से ही तो तुम आदेश पालन करोगे। और कभी गुरु जो आदेश देते हैं, उसे पालन करवाने की व्यवस्था वे स्वयं ही कर देते हैं। चेष्टा करने पर फिर पालन करने की शक्ति प्रकट हो सकती है। आदेश के ऊपर पूर्ण निष्ठा रहना उचित है।

× × × ×

तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देने के लिये तो यह शरीर यहाँ बैठता नहीं। सत्य बात तो यह है कि यह शरीर अन्य के पास बैठता नहीं, अन्य का खाता नहीं, अन्य का पहनता भी नहीं, अन्य के घर जाता नहीं, अन्य के साथ बात नहीं करता, और दूसरे दृष्टिकोण से अपने माता-पिता बन्धु के साथ जैसे बात की जाती है—

वैसे ही। भाषण देना, लेक्चर देना तो इस शरीर-से होता नहीं। तुम लोग जैसा घंटा बजाते हो, वैसा ही सुनते हो।

× × × ×

एक मात्र वे ही हैं, इसलिए उनके प्रकाश के लिए उन्हीं से कहना—उन्हीं को तो। गति और स्थिति रूप से जो हैं, फिर अक्षर रूप से भी वे ही हैं—जिसका क्षरण नहीं होता। भाषा एवं उस गहराई में भी वे ही तो। गति के बीच में सहज गति से, सर्वक्षण, जहाँ अचल रमते हुए भी सचल।

× × × ×

जिस भंडार का आश्रय लेने से वृथा फल, वृथा भोग, वृथा रूप—वृथा होकर प्रकाश पाते हैं, यद्यपि वृथा रूप भी—वही तो। जहाँ भंडार, अभंडार का प्रश्न नहीं। कुछ न रहते हुए भी वहाँ सब है। अपना स्वरूप—अपने में अपना ही।

× × × ×

एक-एक पूजा का जैसे एक-एक तरह का फूल, वैसे ही मंत्र भी पृथक्, माला भी पृथक्। माला जप की आवश्यकता अवश्य है। और जप जब हो जाता है (अपने आप ही) तब संख्या रखने की जरूरत नहीं। पर जब तक जप किया जाता है, संख्या रखनी ही होगी। जप करना और जप होने में बहुत अन्तर है। मन को ऐसी अवस्था हो जानी चाहिए कि भगवत्-स्मरण के बिना रहना ही मुश्किल हो।

× × × ×

अभ्यास करने के लिए चेष्टा चाहिए। अपने घर जाने के लिए ही चेष्टा। उसकी ओर मन न जाने से ही दुर्बुद्धि, दुर्गति-दुर्भोग। पैरालसिस की तरह मन दुर्भोग की वासना पूर्ण करने के लिए दौड़ता है। मन को अवश कर डालता है। भगवत् मंत्र, जप और ध्यान से यह रोग दूर होता है।

× × × ×

उन्हें देखा नहीं, पर उनके लिए व्याकुलता आ जाती है—अपने हैं न? जिसने देखा है, उसकी फिर व्याकुलता की बात क्या? अपनी चीज खो गई है—माने पर्दे के पीछे पड़ गई है। इसीलिए व्याकुलता आती है। (१२-१-६३)

अवगुण्ठिता जननी*

डा० प्रफुल्लचन्द्र दत्त

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने प्रकृत मनुष्य और प्राकृत मनुष्य के नाम से श्रेणी विभाग किया है। प्राकृत मनुष्य जहाँ कहता है—यह तो मिल गया मुझे. मेरा भोग्य जगत्, वहीं प्रकृत मनुष्य कहता है—इस सीमा को पाना, सत्य को पाना नहीं हुआ, इसे अतिक्रम करके सत्य को पाना होगा। प्राकृत मनुष्य ने कहा था—यही है प्रकाश जिसे मैं आलोक में देखता हूँ। सन्धानी मानव को ज्ञान की यह सीमा लंघन करते वक्त एक अद्भुत सत्य का सन्धान प्राप्त हुआ। उसने बताया—विश्व में अनन्त प्रकाश की तरंगें हैं। उन तरंग मालाओं की क्षीणतम कई तरंगों को हमारी 'आँखें' नामक यंत्र अनुभव करते हैं। हमारी इस दृष्टि-क्षीणता के लिए ही—इन वर्ण-समारोहों से युक्त इस जगत् को हम देख पाते हैं। हम देखते हैं, यह लाल है, वह नीला। किन्तु इस लाल वस्तु से बिच्छूरित सभी आलोक तरंगों को अगर हमारी ये आँखें देख पातीं तो यह इस वस्तु का वर्ण कैसा देखतीं कौन जाने। इसके अलावा वह जो बेजान दीवार खड़ी है, विज्ञान की राय में उसमें भी प्रकाश की तरंगें प्रवाहित हो रही हैं--शीशे के भीतर से जैसे प्रवाहित होता है हमारा दृश्य-प्रकाश। किन्तु उन आलोक तरंग-समूह को हमारी दृष्टि पकड़ नहीं पाती, इसीलिए यह दीवार हमारे निकट अस्वच्छ है। लिहाजा मेरा यह जो दृश्य जगत् है, यह जगत् मेरी ही दृष्टि-शक्ति की क्षीणता के द्वारा सृष्ट है। सुना है कि अन्धों की आँखों के बाहर इस दृश्य-आलोक की एक अनुभूति होती है। अनन्त आलोक-तरंगों की तुलना में हमारी जो प्रकाश की अनुभूतियाँ हैं, वह हम लोगों के दृश्य-आलोक की तुलना में, अन्धों की अनुभूति से क्षीण होती हैं। यह विज्ञान द्वारा प्रतिपादित सत्य है।

और फिर आलोक की इस तरंग-धर्मिता की बातें जानकर जब मानव ने कहा--वाह ! सत्य को तो मैंने जान लिया, तब अन्तर के प्रवाहमान राजा (रवीन्द्रनाथ की उपमा) ने सिर हिलाते हुए कहा—उहुँक, चरैवेति। अनुसन्धानी मन ने ज्ञान को इस सीमा को पार कर आविष्कार किया--आलोक केवल तरंग-

---

* श्री श्री माँ के ७२वें जन्मोत्सव पर, रांची में श्री श्री माँ आनन्दमयी आश्रम में कथित।

धर्मी ही नहीं है, बल्कि कर्णिकाधर्मी भी है। इसी प्रकार प्राकृत मनुष्य ने जहाँ 'इति' कहा है, वहीं प्रकृत मनुष्य ने 'नेति'।

विज्ञान का यह भी कहना है—'विश्व की अनन्त ध्वनि तरंगों की कुछ शीर्ण तरंगों को मेरे कर्ण अनुभव कर सकते हैं। वह अनुभूति भी बधिर की अनुभूति के समान है। यह सब स्थूल उदाहरण हैं जिनके द्वारा इन्द्रिय-शक्ति की सीमाबद्धता प्रमाणित होती है प्रतिपादित होती है। मैं जो कुछ देखता हूँ, वह सब नहीं देख पाता, जो सुनता हूँ, वह सब नहीं सुन पाता, जो कुछ समझ पाता हूँ, वह सब नहीं समझ पाता। इन्द्रियों की अपूर्णता ही इन्द्रिय ग्राह्य प्रमाण है। प्रकृत प्रस्ताव में मेरी दृष्टि की अन्धता, मेरे कर्ण की बधिरता, कहने का अर्थ मेरी समस्त इन्द्रियानुभूति की अपूर्णता, मेरी बुद्धि की दुर्बलतएँ, मेरे मन के संस्कार, हृदय के अन्ध-आवेग, मेरे रक्तमांस की भूख से निर्मित हुई है—मेरी दुनिया। मेरी दुनिया मानों अँधेरे की दुनिया है। मानों मुझे एक मोटी दीवार ने घेर रखा है। वहाँ आलोक प्रवेश नहीं कर सका है !—फिर भी अपनी इस इन्द्रियानुभूति की प्राचीराबद्ध जगत् को अपना सब कुछ समझता रहा। समझता रहा यही मेरा चरम है और इसी में है—'इति'। वैज्ञानिक आइंस्टाइन ने कहा है—"Rabble of Senses" प्लेटो ने कहा है—The prison house is the world of sight—प्राकृत मानव मैं समझता रहा कि यही है मेरा परमार्थ।

मैं कूप-मण्डूक हूँ। स्वामी विवेकानन्द ने कूप-मण्डूक की जो कहानी सुनायी है, संभवतः वह यहाँ प्रयोज्य है। किसी कूप के भीतर एक मेढक ने जन्म लिया था। वहीं पलकर बड़ा हुआ। वह यही जानता था कि यही है उसकी दुनिया। उसके बाहर की वह कल्पना नहीं कर पाता था। एक दिन समुद्र का एक मेढक उसमें जा गिरा। कूप के मेढक ने उससे व्यंग्य करते हुए पूछा—"कहाँ थे इतने दिन?" उसने कहा—"समुद्र में।" कुएँ के बाहर भी कुछ है, इस बात की कल्पना कूप का मेढक नहीं कर पाता था।

काफी सोचने के बाद उसने पूछा—"वह कितना बड़ा है?" समुद्र के मेढक ने कहा—"काफी बड़ा।"

कुएँ के मेढक ने कुएँ के भीतर एक छलांग लगाकर पूछा—"इतना बड़ा?',—"नहीं बहुत बड़ा।" कुएँ के मेढक ने व्यंग्य करते हुए एक बड़ी छलांग लगाते हुए कहा—"इतना बड़ा?"

"नहीं, और भी बड़ा।" कुएँ के मेढक ने क्रमशः अपनी छलांग की सीमा को बढ़ाते हुए, कुएँ के एक छोर से दूसरे छोर तक उछलने के बाद जब वही

उत्तर पाया तब वह समुद्र के मेढक को 'झूठा–चोर' कहते हुए उस पर आक्रमण कर बैठा।

हमारे इस क्षीण-इन्द्रियों के कुएँ में समुद्र की वार्ता लेकर अनेक लोग आये हैं। हम लोगों ने उनका अविश्वास किया है, क्रूस-विद्ध किया है, उन पर अत्याचार किये हैं; पर वह तो प्रकृत-मानव का धर्म नहीं था। प्रकृत-मानव इस प्राचीर को सहज ही पहचान लेता है। समझ लेता है उसको इस सीमाबद्धता को। इसीलिए इस सीमा का लंघन करते समय, उसने शिल्प-विज्ञान-साहित्य-दर्शन का निर्माण किया। जगत् की 'इति' तो अन्धकारपूर्ण है। चूँकि पूर्ण को प्राप्त नहीं कर पाते, इसीलिए अन्धकार है। नहीं पाते हम अखण्ड को और खण्ड को 'युगपत्'। इसीलिए आलोक का अभाव-बोध उसके भीतर विरहानल की भाँति जलता रहता है। क्षुद्रता—संकीर्णता के वेदनादायक अपमान को वह मानना नहीं चाहता, उसी विरहानल में कभी-कभी विशेष मूर्त्ति को उतार ले आता है। भक्त उसे ही भगवान् के रूप में जानते हैं।

संभवतः इसीलिए त्रिपुरा जिला के खेओड़ा गाँव में सन् १८९६ ई० की ३० अप्रल गुरुवार को, रात तीन बजे जब समस्त पृथ्वी निद्रामग्न थी––आविर्भूत हुई ज्योतिर्मयी दुलारी। हमारी इस नींद की दुनियाँ में। अत्यन्त चुपचाप, वे अपने को छिपाती हुई आयीं। उपनिषद् का वचन है––ईशावास्यमिदं सर्वम्—इत्यादि। मुझे यह कल्पना करने में आनन्द मिलता है कि माँ के आंचल से यह विश्व ढँका हुआ है। वह जो वास,––उसी वसनांचल में माँ अपने आपको ढाँकती हुई आयीं, किन्तु उसी वसनांचल की आड़ से कुछ लक्षण और कुछ प्रकाश के निदर्शन हम सब प्राप्त कर लिये।

सभी बच्चे पैदा होने के बाद रोते हैं, पर यह लड़की रोयी क्यों नहीं? घेरे की आड़ से बाग की ओर देखती रही। यह विश्व एक छोटा सा बाग है। इस बाग में कितने मनुष्यों की कितनी विचित्रताएँ और कितने वर्ण समारोह हैं। उसी बाग में चहलकदमी करती हुई माँ अधिकतर कहती रहती हैं––वैचित्र्य की दृष्टि से और अन्य दृष्टि से? माँ कहती हैं––आना भी नहीं, जाना भी नहीं। और भी कहती हैं––अनन्त एक भी जितना सत्य है, अनन्त वैचित्र्य भी उतना ही सत्य है। दोनों ही युगपत् हैं जब कि एक दूसरे का प्रतिबन्धक नहीं है। यह भी कहती हैं––यहाँ रोना नहीं चाहिए, सिर्फ आनन्द है। वह जो कवि का गीत है—"जगत् जुड़े उदार सुरे आनन्द गान बाजे" (सम्पूर्ण संसार में उदार सुर में आनन्द के गीत बज रहे हैं।)

जन्म से ही पूर्ण ज्ञान है, जन्म से ही भाव-समाधि के लक्षण हैं, जन्म से ही दिव्य दर्शनादि की छोटी-छोटी घटनाएँ बराबर होती रहीं, शिशु की शैशव लीला के समय। कुलवधू के शरीर के सहारे न जाने कितनी साधना की धाराएँ एक के बाद एक करके पार होती गयीं, किन्तु कुलवधू का अवगुण्ठन नहीं खुला। वे घूँघट काढ़कर तरकारी छिलती हैं, रसोई बनाती हैं। "खोल, खोल, तू अपना घूँघट खोल माँ।"

एक पागल आकर मिन्नत करने लगा। "तुझे माँ-माँ पुकारते-पुकारते मैं हैरान हो गया हूँ, फिर भी अपने सन्तान के निकट तू घूँघट निकाले रहती है!... जरा सी जबान नहीं खोलती? अगर पत्थर के पास बैठकर मैं इस तरह उसे माँ-माँ कहकर पुकारता तो वह भी बातें करने लगता—आज तुझे माँ कहकर बुला रहा हूँ, एक दिन जब सारा संसार तुझे माँ कहकर पुकारेगा तब तू क्या करेगी?...अरी मेरी पाषाणी माँ, खोल, खोल अपना घूँघट खोल।"

माँ अपना अवगुंठन और खींच लेती हैं। फिर भी पागल छोड़ता नहीं। पागल माँ को रसोई बनाने में मदद देता है, भीगी लकड़ियों को सूखने के लिए फैलाता है, सूखी लकड़ियाँ चुन लाता है। और जब माँ भोजन करने बैठती हैं तब न जाने कहाँ से आकर हाथ फैलाते हुए पागल कहता है—"दे-दे माँ, जरा प्रसाद दे।"

माँ भोजन करना बन्द कर देती हैं। इसी तरह वह पागल वर्ष भर साधना करता रहा। माँ के लौकिक पति थे भोलानाथ जी। जो आगे चलकर अति उच्चस्तर के साधक बन गये थे। भक्त कहते—भोलानाथ और माँ कहतीं—'मेरे गोपाल।' वही गोपाल भोलानाथ माँ के पास आकर बोले—अब उसे प्रसाद दे क्यों नहीं देती, कब से इस तरह माँग रहा है। जरा बातें कर लो, कब से इन्तजार कर रहा है। उस दिन पागल हरकुमार और गोपाल भोलानाथजी दोनों ने मिलकर घूंघट के पट को खोला था—सबसे पहले, विश्व-सन्तान के लिए।

उसी घूँघट वाली बहू को हमने देखा ढाका स्थित शाहबाग के एक छोटे मकान में—वे तरकारी छिलती रहीं, खाना बनाती रहीं। वहाँ आये—ढाका के दर्शन काँग्रेस के रथी—महारथी, भारतीय तथा पाश्चात्य जगत के दार्शनिक विद्वान्। उन्हें इस बात का पता चला कि यहाँ कोई माताजी रहती हैं जिन्हें समाधि होती है, दिव्य अनुभूतियाँ होती हैं। हम लोग सत्य को पढ़कर समझने का प्रयत्न करते हैं और ये सत्य को देख चुकी हैं। उनके द्वारा देखे गये ज्ञान को, हम अपने पठित ज्ञान से मिलाने आये हैं। कट्टर परिवार की रीति के अनुसार माँ बाहरी व्यक्तियों से बातचीत नहीं करती थीं। भोलानाथजी को बीच में बैठाकर

वे उन लोगों के प्रश्नों का उत्तर देती रहीं--घूंघट की आड़ से। इस अशिक्षिता बहू के उत्तर से मुग्ध-विस्मय हो, वे लोग लौट गये।

लेकिन माँ अपना अवगुंठन नहीं खोलतीं। न तो वे प्रचार करती हैं और न भाषण देती हैं। संघ या संगठन बनाने की कोई योजना भी नहीं है। वे सिर्फ अपने को आवृत किये रहती हैं, फिर भी भक्तों का दल उन्हें घेर लेता है। इन लोगों के माँ-माँ पुकार पर स्वामी भोलानाथ विचलित हो मिनती करते हैं--खोलो, अपना घूंघट खोलो।

वे आयी हैं। आयी हैं अपने को आवृत करती हुई। इस बार उनके उस आवरण को उन्मुक्त करने की जिम्मेदारी मानो पृथ्वी की है। वे कहती हैं—जैसे तुम लोग बजाते हो, उसी प्रकार बजती हूँ, जैसे बजाते हो, उसी तरह सुनते हो। तुम्हारे बजाने के ऊपर ही सब कुछ निर्भर है। भक्त माँ-माँ कहते हुए बजाते हैं। माँ भी मातृ रूप में पृथ्वी पर बजती जा रही हैं। देश-विदेश से ज्ञानी आकर कह रहे हैं—'माँ ब्रह्ममयी।' मर्मी भक्त पुकार रहे हैं—'माँ जी।' योगी कह रहे हैं—'माँ'। कर्मी कह रहे हैं--'मेरी माँ।' अंग्रेज और अमेरिकन आकर कहते हैं-माँ। जर्मन भक्त आकर खोजते हैं—कहाँ हैं मेरी माँ। हिन्दू पुकारते हैं—आओ माँ, मेरी भवताप प्रणाशिनी। मुसलमान मौलवी कहते हैं—अल्ला-अल्ला कहकर तुझे ही पुकारता हूँ माँ। ईसाई पूछते हैं—माँ, क्या तुम हमारे वही यीशू हो?

उस अपूर्व मातृ संगीत के दरम्यान एक दिन भोलानाथ जी ने अनुभव किया—अरे वाह! गाल पर हाथ धरे सोचते हैं भोलानाथ जी—"वाह रे! मंत्र पढ़ कर मैंने विवाह किया था इस बहू से—और आज इससे मेरा कोई सम्पर्क ही नहीं है। चारों तरफ से माँ-माँ की आती हुई आवाज में मैं तो धीरे-धीरे खोता जा रहा हूँ। क्षुब्ध हृदय से शिकायत करते हुए भोलानाथ जी ने एक दिन कहा—ऐसा क्यों हुआ, बताओ तो? उस दिन माँ ने बहुत सुन्दर उत्तर और संक्षेप में दिया था--"तुम्हारे झंझर का पानी तुमने जमीन पर उड़ेल दिया। अब क्या उसे फिर उठा ले सकते हो?"

सचमुच भोलानाथजी अपने ही हाथ से इस मंगल पवित्र वारि को उड़ेल चुके थे। पृथ्वी की इस भूमि पर अपने हाथ से। और आज वे खो गये हैं। खो जाने के कारण ही अपने को वे पा सके! देखा गया कि भक्तों के साथ सम्मिलित होकर वे भी व्याकुल कण्ठ से माँ-माँ गा रहे हैं। लेकिन इस परिवर्तन के पीछे माँ की इच्छा, चेष्टा, निर्देश या इंगित नहीं थे। समस्त जैसे स्वच्छन्द प्रवाह था।

श्री माँ न तो दीक्षा देती हैं, न शिष्य बनाती हैं और न संघ या संगठन बनाती हैं। आश्रम की प्रतिष्ठा के लिए जब भक्त जिद्द करने लगते हैं तब माँ

कहती हैं—सम्पूर्ण विश्व ही एक आश्रम है, फिर आश्रम क्यों ? धर्म प्रचार के बारे में माँ कहती रहीं—"इस शरीर के लिए वैसा कोई संस्कार नहीं है। अहं तो यहाँ है ही नहीं—इच्छा-अनिच्छा का द्वन्द्व नहीं है।...कोई संकल्प या योजना भी नहीं आती।

फिर भी भक्तगण आश्रम बनाते हैं, संघ स्थापित करते हैं, वे लोग मौन-मिलनी बनाते हैं, आनन्द भारती स्थापित करते हैं, Institute of culture and Prayer की स्थापना करते हैं। वे लोग अपने संस्कार के अनुसार बहुत कुछ बनाते हैं। कोई कहता है, अस्पताल बनाऊँगा तो कोई विश्वविद्यालय। कोई कहता है याग-यज्ञ करूँगा तो कोई कहता है उत्सव अनुष्ठान करूँगा। माँ के निकट सभी लोग प्रेरणा ग्रहण करते हैं। चाहे जैसे भी हो, पूर्णता की ओर अग्रसर होने से मतलब है। कुछ लोगों की जबानी सुना है—"मेरे ही भाव को माँ सबसे अधिक पसन्द करती हैं।"

यह एक अपूर्व प्रकाश है, पूर्व के महापुरुषों की भावधाराएँ और उनके मिशनों को देख चुका हूँ। उन मिशनों के प्रचार के लिए विशेष प्रयत्न किये गये हैं, किन्तु पृथ्वी की परिस्थिति में परिवर्तन हो गये हैं। इस परिवर्तित जगत् के लिए एक नया प्रकाश है—आनन्दमयी माँ। इस बार कोई विशेष मिशन नहीं। इस बार प्रत्येक का अपना-अपना मिशन है, भाव की पूर्णता का प्रेरणा-दान है। इस बार ताली-कुञ्जी मेरे पास नहीं रहीं, सभी को सौंप दिया गया।

श्रद्धेय अमूल्य बाबू के वर्णन में एक सुन्दर चित्र देखा था—माँ ज्योतिष का रूप धारण किये परिहास कर रही हैं। आँखों में एक चश्मा पहने लोगों के हाथ देख रही थीं। स्वामी परमानन्दजी के हाथ देखकर बोलीं—"तुम बड़े-बड़े मकान बनवाओगे।" भारत के विभिन्न स्थानों में जहाँ-जहाँ माँ के पदचिह्न पड़े हैं, वहाँ-वहाँ एक-एक इमारत बिना बनवाये स्वामीजी को संतोष प्राप्त नहीं हो रहा है—ऐसा लगता है।

और एक व्यक्ति का हाथ देखने के बाद माँ ने उनको बताया—'तुम अनेक तबला बजाओगे।' एक व्यक्ति माँ को चप्पल पहना रहे थे। माँ उनकी गंजी खोपड़ी देखने के बाद बोलीं—'तुम्हारे गंजी खोपड़ी की रेखाएँ देखकर बता रही हूँ कि तुम अकेले चुपचाप बैठे रहोगे।' सुना कि वे अकेले चुपचाप कुटिया में बैठे रहना पसन्द करते हैं। इस बाग में अनेक विचित्र फूल हैं, विचित्र है उनके रूप और सौरभ। विचित्र धारा में प्रस्फुटित होकर वे सब पूर्णता से अभिसार करने जा रहे हैं। उसी वैचित्र्य के मध्य माँ विचरण कर रही हैं। इसी वैचित्र्य को लेकर माँ की मातृत्व की लीला और सुहाग है।

माँ ने छोड़ दिया है अपने आपको विश्व वैचित्र्य के बीच। अजस्र स्नेह-अश्रुधारा में अपने को सौंप दिया है सभी के निकट। "माँ तुम्हारे गुरु कौन हैं? इष्ट कौन हैं?" माँ कहती हैं—तुम लोग मेरे गुरु हो, तुम सब मेरे इष्ट हो।... ...तुम लोग जैसे बजाते हो, वैसे बजती हूँ।... ...कहती हैं, जनतारूपी जनार्दन, ...कहती हैं, वह तो एक है, जिनके पास करवट बदलने लायक स्थान नहीं है।... ...कहती हैं—वह तो तुम हो, तुम मन्दिर में हो, तुम जनता में हो,... ...सर्वमय स्व-मय आत्मसत्त्वा।... ...वही तो मैं हूँ... ...मैं तो दूसरों के हाथ से खाती नहीं, दूसरों के घर जाती नहीं—दूसरों को देखती नहीं—सभी के हाथ मेरे हाथ हैं, सभी के मुँह मेरे मुँह हैं।... ...मैं अपनी सेवा करती हूँ... ...मैं, अपने को दुःख देती हूँ...वही एक ही तो सब। फिर एक भी नहीं है, एक भी तो आपेक्षिक है... ...द्वन्द्वातीत। अतीत-अनतीत का प्रश्न नहीं है।

राँची आश्रम में उस दिन भीड़ भरे लोगों में एक युवक खड़ा होकर माँ से पूछने लगा—"माँ क्या तुमने भगवान् को देखा है? क्या भगवान् दिखाई देते हैं? अगर दिखाई देते हैं तो हम लोग उन्हें कैसे देख सकते हैं?"

माँ ने कहा—"दिखलाई देते हैं क्या? वे तो जन-जन में जनार्दन हैं। ... ...नहीं देख रहे हो? उन्हें देखने के लिए गुरु द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलना होगा, स्वधन प्राप्त करने के लिए साधना के मार्ग पर बढ़ना होगा।"

माँ के श्रीमुख से आज भी सुनता हूँ—तुम जैसे बजाओगे, वैसा ही सुनोगे। बजाओ न, बजाओ। भक्तों के बजाने के गुणों से ही क्या माँ अवगुंठन उन्मुक्त कर जननी के रूप में प्रकट हुई हैं? किन्तु यह जो प्रकाश है, यह भी बाहरी घटना है। हमारे अहंकार के अर्गलाबद्ध अन्तर में, आज भी हम उन्हें अवगुंठन मुक्त जननी के रूप में प्रतिष्ठित नहीं कर पाये हैं।

एक सुन्दर घटना 'आनन्दवार्ता' में पढ़ चुका हूँ—एक भद्र महिला माँ के निकट आयी हैं। माँ के शरीर के साथ उनकी आत्मीयता है। बड़े अहंकार के साथ कहती फिर रही हैं सभी के निकट कि माँ आनन्दमयी से मेरी रिश्तेदारी है—मैं इन्हें अच्छी तरह जानती हूँ। सत्संग के वक्त सभी के साथ बैठ गयीं—माँ की प्रतीक्षा में। किन्तु माँ के आने का नाम नहीं। भद्र महिला ने देखा—उनके निकट एक बहू घूँघट काढ़े बैठी हैं जैसे कोई मारवाड़ी बहू है। भद्र महिला बार-बार अपने मन की उत्कण्ठा उक्त बहू से बता रही हैं। बहू भी समव्यथी हैं। दोनों ही पूछ रही हैं—माँ कब आयेंगी? उधर सभी लोग व्यस्त हैं कि माँ कब आयेंगी।

माँ के कमरे में जाकर देखा गया कि माँ नहीं हैं । तलाश करने पर भी माँ कहीं दिखाई नहीं दीं । ठीक इसी समय एक सज्जन बोल उठे--"यह रही माँ ।" इतना कहने के बाद वे घूँघट वाली बहू को उठाये । उनके पास बैठी भद्र महिला अवाक् रह गयीं--"अरे ! अब तक तो मैं तुमसे ही बात करती रही ।"

माँ हँसती हुई बोलीं--"तुम्हारे इतने निकट थी, फिर भी तुम माँ को पहचान नहीं सकी ।"

कितनी सुन्दर बात है, इतने निकट थी, फिर भी तुम पहचान नहीं सकी । हम लोगों का यह अहंकार का आवरण है । वह आवरण जब तक दूर नहीं होगा तब तक उनका अवगुंठन दूर नहीं होगा ।

अभी बहुत बाकी है, बहुत बजाने की बात है । यहीं 'इति' नहीं है । अभी तक उस सुन्दर का मंगलमय स्पर्श मानव के अन्तर को छू नहीं सका है । हिंसा से उन्मत्त पृथ्वी पर--स्वार्थ विच्छिन्न नर समाज में--महीयसी माँ आज भी अवगुंठिता हैं ।

उन्हें हमने ढाँक रखा है, अपने अहं के द्वारा, अपने अर्थ के द्वारा ढाँक दिया है, स्वार्थ, दैन्य और क्षुधा के द्वारा ढाँक रखा है । आज भी हृदय-द्वार उन्मुक्त कर, अवगुंठन खोल, जननी को घर में नहीं ले आ सके हैं । आज भी हमारा स्वार्थ निमग्न अन्तरात्मा, उस पागल हरकुमार की तरह आत्म-समर्पण करते हुए, व्याकुल होकर कहता है--'खोलो माँ, अपने घूँघट को खोलो; अपने सन्तानों के साथ बातें करो ।'

——

अनुकम्पा धारा

श्री चरणकमलाश्रिता

एक पुरानी घटना :

कई वर्ष पूर्व की बात है मेरे एक भतीजे की बीमारी का समाचार, लगभग १ वर्ष से, मिल रहा था कि ज्वर, सिर में पीड़ा, कभी चक्कर, उल्टी आदि चल रहा है। कभी तबियत थोड़ी सम्हलती है कभी पुनः वैसी ही। चिकित्सा बराबर चल रही थी परन्तु कोई विशेष लाभ नहीं दिखाई दे रहा था। शायद डॉक्टर लोग रोग की जड़ नहीं पकड़ पा रहे थे। जब दुर्बलता एवं सिर की वेदना आदि अधिक बढ़ने लगी तो उसको लखनऊ ले जाकर वहाँ के डाक्टरों को दिखाया गया। एक डॉक्टर ने परीक्षा करके कहा कि ऐसा प्रतीत होता है कि brain के किसी भाग में pus है पर ठीक निश्चय एक कठिन test के उपरान्त ही हो सकता है। (इस test में सिर की हड्डी में छेद करके किसी प्रकार का रंग आदि डाल कर x'ray लेते हैं।) यदि pus हुआ तो बड़ा ऑपरेशन करना पड़ेगा। परिवार के लोग घबरा उठे। मेरे पास भी तार आया कि serious operation होगा मेरा आना आवश्यक है। लखनऊ पहुँची तो देखा जो भतीजा बहुत स्वस्थ एवं खिलाड़ी था, (उसको out-door games का बहुत शौक था विशेष कर फुटबाल का।) अब केवल अस्थि-पिञ्जर मात्र रह गया था। मुझे देखकर उसकी आंखें सजल हो उठीं। उसकी पत्नी तथा चार बच्चे भी विकल थे। मैंने उन लोगों को सान्त्वना दी व समझाया कि साहस एवं धीरज रखकर भगवान् पर भरोसा रक्खें उनकी कृपा से सब अच्छा होगा। वह लोग अस्पताल में ही थे। Test का दिन निश्चित हुआ। बेहोश करके खोपड़ी में लगभग १ इंच का छेद करके पता लगाया गया कि अन्दर pus है एवं brain का ऑपरेशन शीघ्र ही होना परमावश्यक है। वैसे तो दक्षिण-भारत में (वैलोर में) विख्यात brain के surgeon हैं पर रोगी में इतनी शक्ति नहीं थी कि इतनी लम्बी यात्रा कर सके। लखनऊ में ही मिलिटरी अस्पताल के "निउरो सर्जन" का बहुत नाम था कि, वैलोर वाले सर्जन को छोड़कर; भारत में उनके जोड़ का अन्य कोई नहीं है। पता चला कि वे शीघ्र ही विलायत जा रहे हैं। अनेक चेष्टा करके तथा case की seriousness बता कर उनको अपना जाना स्थगित करने, तथा ऑपरेशन करके जाने, पर सहमत किया।

ऑपरेशन मिलिटरी अस्पताल में ही होना निश्चित हुआ तथा ऑपरेशन की तारीख ठीक हो गई ।

Brain का ऑपरेशन वैसे ही बहुत serious होता है तिस पर रोगी इतना दुर्बल हो गया था कि इसमें भी सन्देह था कि वह उसको सहन कर सकेगा। इसलिये सब निकट सम्बन्धियों को सूचित कर दिया गया था । अधिकांश लोग ऑपरेशन से पहले लखनऊ पहुँच गए थे एवं रोगी की अवस्था देख कर सभी भयग्रस्त थे कि भगवान् जाने क्या होगा ।

जिस दिन प्रातःकाल ऑपरेशन होने वाला था उस दिन बहुत पहले से ही सब सम्बन्धी मिलिटरी अस्पताल में एकत्र हो गए । डॉक्टर ने कहा Case बहुत serious है—इधर भी हो सकता है, उधर भी हो सकता है । अतः उन्होंने हस्ताक्षर करा लिये कि यदि रोगी को कुछ हो गया तो वे उत्तरदायी नहीं होंगे । उन्होंने कहा अपनी शक्ति भर वे सफलता की पूरी चेष्टा करेंगें पर आगे भगवान् के हाथ है । जिस समय उसको 'ट्रॉली' पर 'ऑपरेशन थियेटर' में ले जाने लगे मैंने डॉक्टर से अनुरोध किया कि माँ की एक बड़ी फोटो ऑपरेशन थियेटर में उसके सामने रखने की आज्ञा दे दें, (तथा मैंने उसके मुँह में, जहाँ तक याद है, थोड़ा सा माँ का प्रसाद या चरणामृत भी डाल दिया) माँ की फोटो मैं स्वयं जा कर रख आई । भतीजे को सान्त्वना दी कि घबरावे नहीं माँ की कृपा से सब अच्छा होगा, और उसका कष्ट दूर हो जायगा । उसने मेरा हाथ पकड़ लिया तथा दोनों नेत्रों से अश्रुधारा बह निकली । वह भी समझता था कि ऑपरेशन serious है । उसकी पत्नी रो रो कर अर्धमूर्छित अवस्था में पड़ी थी । दयनीय दशा थी । हम लोग बाहर आकर बैठ गए । करीब करीब सभी यह प्रार्थना कर रहे थे कि ऑपरेशन अच्छी तरह हो जाय । मैं भी एक स्थान पर आसन डाल कर बैठ गई कि जितनी देर ऑपरेशन होगा जप करती रहूँगी । सबके मुँह पर उदासी छाई हुई थी । किसी के मुख से कोई शब्द नहीं निकल रहा था । एक विचित्र नीरवता थी । उस समय के tense वातावरण का अनुमान पाठक स्वयं ही कर सकते हैं । सबके नेत्र ऑपरेशन थियेटर के द्वार पर लगे हुए थे । मैं जप कर रही थी। कुछ देर पश्चात् बारम्बार यह प्रार्थना करने लगी "माँ ! इन सबको हँसा दो ।" (अर्थात् जितने सम्बन्धियों के चेहरों पर दुविधा एवं भय की रेखाएं खिची हुई थीं वे प्रसन्नता एवं हास्य में परिवर्तित हो जायं ।) मैंने देखा थोड़ी देर में यह प्रार्थना ही जप बन गई । साथ ही विश्वास भी था कि मां की कृपा से यह संकट की घड़ी टल जायगी । लगभग २ घंटे बाद, आपरेशन थियेटर से, एक व्यक्ति, सफेद पोशाक पहने मुँह पर मुसीका चढ़ा, निकला । सबके हृदय धक् से

हो गए कि न जाने यह क्या सूचना देने को बाहर आया है। पर उसने कोई विशेष इन्जैक्शन अथवा औषधि शीघ्र ही मंगाने को कहा सो मोटर द्वारा मँगा कर तुरन्त दे दी गई।

४-५ घंटे की दीर्घ कठिन प्रतीक्षा के बाद डॉक्टर स्वयं प्रसन्न मुख से बाहर निकले तथा हम लोगों से कहा कि आपरेशन सफल हुआ। यह सुनते ही सब आनन्द से हँसने लगे। (मानों मेरी प्रार्थना माँ ने सुन ली।) सबने डॉक्टर को बहुत बहुत धन्यवाद दिया। डॉक्टर स्वयं भी बड़े प्रसन्न थे। जब उसकी पत्नी को बताया गया कि आपरेशन अच्छी तरह हो गया तो उसका मुर्झाया मुख अपार प्रसन्नता से खिल उठा।

सुना आपरेशन के समय रोगी का शरीर बर्फ में रखा गया था और श्वासादि की क्रिया किसी विशेष यंत्र के द्वारा सम्पन्न हो रही थी। इसके उपरान्त उसको कई महीने तक अस्पताल में रहना पड़ा तथा निर्मल स्वास्थ्य लाभ करने में तो कई वर्ष लग गए।

इस घटना के कुछ ही महीनों के उपरान्त मैं किसी उत्सव में माँ के पास गई। जिस दिन माँ की पूजा करनी थी पूजा की थालियाँ आरती आदि सजा कर माँ के पास पहुँची। चारों ओर काफी लोग बैठे थे। माँ की कृपा से पूजा अच्छी तरह कर सकी। जब थाली आदि उठाकर चलने लगी तो सहसा माँ ने बड़े मृदु स्वर में मुझसे पूछा "इन सबको हँसा दूँ?" मैं कुछ समझ न पाकर बोल उठी, हाँ माँ, सबको हँसा दो।" माँ ने हँसते हुए फिर दोहराया, "क्या इन सबको हँसा दूँ?" मैंने माँ का अभिप्राय समझे बिना ही फिर कह दिया। "हाँ माँ, सबको हँसा दीजिये।" (अर्थात् सब पर कृपा कीजिये।) जब माँ ने तीसरी बार फिर वही प्रश्न किया तब मेरी समझ में आया कि माँ मुझे उस प्रार्थना का स्मरण दिला रही हैं जो मैंने लखनऊ में अपने भतीजे के आपरेशन के दिन की थी कि "माँ, इन सबको हँसा दो।" कितने सुन्दर ढँग से माँ ने मुझे जता दिया कि मेरी प्रार्थना उन्होंने सुनी थी! मां की प्रत्येक बात ही कितनी सुन्दर होती है! इधर माँ की यह बात सुन कर सब लोग प्रतीक्षा में थे कि मां ने जो हँसाने की बात कही सो कैसे हंसावेंगी सो मां ने वह भी कैसी सुन्दर लीला की! माँ की कुर्सी के बिल्कुल समीप ही एक नवयुवक बैठा था। मां ने २ मालाएँ उठा कर एक साथ उसके गले में डाल कर हंसते हुए सबसे कहा, "तुम लोगों को मालूम है कि कल इसकी सगाई हुई है इससे इसको दो माला दी हैं। वह तो लज्जा से झुक गया तथा सब लोग हंसने लगे। मेरी तो मां के श्री चरणों में अभी भी यह प्रार्थना है कि माँ सबको हँसा दें!

कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा

श्री "दत्त"

"तीर्थानुशरणं शुभम्" । (मत्स्यपुराण)
(तीर्थयात्रा करना मंगलकारी है ।)

आज १५वीं तारीख और गुरुवार का दिन था। मैंने सुना था कि तीर्थयात्रा में जाते समय; महात्मा पुरुषों के दर्शन करने के लिये या अन्य शुभ कार्यों में गुरुवार का दिन शुभ माना गया है। बाजार में से होकर गाँव के बाहर जाने पर वहाँ का भारतोय सोमा थाना (check post) में भी कुछ मिनट रुके और हमारे यात्रा संघ के आज इस समय के प्रस्थान के बारे में सूचना दे दी। यात्री, व्यापारी या और कोई व्यक्ति, जो यहाँ से आगे जाना चाहता है उसे, इस प्रकार से सूचना दे देना और अपना पासपोर्ट बता देना उचित है अन्यथा कानून का उल्लंघन किया माना जाता है और तदनुसार दण्ड भुगतना पड़ता है। अफसर साहब तो अब हमारे घनिष्ठ मित्र-से हों गये थे अतः यात्रा की सफलता की कामना करते हुए हमें भावभरी बिदाई दी। वहाँ से हम दोनों आगे के लिये चल पड़े। अब यहाँ से पगडंडी का आश्रय ग्रहण करके ही आगे बढ़ना था। वर्षा से कच्चे पहाड़ धँस जाने पर पगडंडी भी कई स्थानों पर टूट गई थी। बायें हाथ की ओर के पहाड़ में से जो मोटर बस मार्ग बन रहा था वह आगे तवाघाट होकर कालीगंगा के तीरे-तीरे गरब्यांग तक जायेगा ऐसा समाचार एक विश्वसनीय व्यक्ति से सुना था। मुझे लगा कि युग बदलता जा रहा हे, पहाड़ नई करवटें ले रहे हैं। दायें हाथ की ओर, कुछ दूर में कालीगंगा बह रही थी। नदी के उस पार की नैपाल सीमा के हरे भरे पहाड़ एवं कहीं-कहीं पर पक्षी के निबिड़-से छोटे-छोटे घर, सीढ़ी जैसे खेत इत्यादि सुबह में अतीव मनोहर मालूम पड़ रहे थे। सवितादेव की मृदु किरणों ने तो इस प्रदेश की सुन्दरता में चारचाँद लगा दिये थे। जो हुआ कि यहीं पर बैठ जाँय और प्रकृति की इस अद्भुत लीला को निर्निमेष दृष्टि से देखते ही रहें। किन्तु महासौन्दर्यराशि कैलास-मानसरोवर हमें अदृश्य रूप से अपनी ओर खींच रहे थे, अतः हम यहाँ से आगे बढ़े। प्रथम की तरह हम आज मार्ग में चलते-चलते बातचीत नहीं कर रहे थे, पर मौन ही थे क्योंकि चारों ओर के प्राकृतिक सौन्दर्य से तराबोर दृश्यों के चित्र हम अपने हृदयपट पर एकत्रित करते-करते ही जा रहे थे। या यों कहें कि सब में अपने को खोते हुए ही जा रहे थे। यदि इन अनुपम दृश्यों का वर्णन करने की इच्छा भी होती तो मौन में ही उन्हें

अभिव्यक्त करना उचित समझते थे। श्वास-श्वास का पद-पद के साथ तालबद्ध होने से चलने में भी एक अजीब सा आनन्द का अनुभव होता था, मानों कि देह जमीन से कुछ फुट ऊपर ही चल रही हो। उस समय केनोपनिषद् का स्वर्णिम सूक्त "भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः" का स्मरण हो आया और मन को कहा—"कुछ पाने से तो सब कुछ खोने में ही बड़ा आनन्द है।"

प्रायः दो मील आगे जाने पर नीचे की पगडंडी सामनेवाले पुराने शिव मन्दिर और समीप के एक घर की ओर मुड़ गयी। यहाँ के लोग इस स्थान को 'तपोवन' कहते हैं। यहाँ कालीगंगा के तीर पर गंधक के तप्त जल के निर्झर हैं। इसीलिये शायद इस स्थान का नाम तपोवन पड़ा होगा। यहाँ पर सुन्दर खेतों की पंक्तियाँ, अमरूद और केले के कुछ पेड़ हैं। समीप में एक छोटा आश्रम, शिवालय और धर्मशाला हैं। इस स्थान को सोसा गाँव की रुमादेवी नामक भक्त महिला, जो कैलास के श्री नारायण स्वामी जी की भक्त थीं, ने बनवाया था। किसी व्यक्ति से सुना था कि रुमादेवी ने श्री रामकृष्ण परमहंस जी की धर्मपत्नी, श्री. श्री. शारदा माँ, से दीक्षा ली थी और कुछ समय तक दक्षिणेश्वर में भी रही थी। इसी कारण से रामकृष्ण मिशन ने तपोवन को अपने अधिकार में लेकर वहाँ पर दातव्य औषधालय और विद्यालय चालू किये थे किन्तु रुमादेवी के साथ कुछ विचार संघर्ष हो जाने पर रुमादेवी ने मैसूर के महाराजा साहब की सहायता प्राप्त कर तपोवन पर पुनः अपना अधिकार जमा लिया था[1]। आजकल तपोवन में छोटी-सी एक दूकान भी खुली है जिससे पथिक यहाँ पर कुछ समय विश्राम कर चाय पान इत्यादि से तृप्त होते हैं। जब हम लोग वहाँ से गुजरे तब देखा कि एक आदमी गेहूँ को धूप में सुखा रहा था। यहाँ से आगे का मार्ग संकीर्ण एवं कई स्थानों से टूटा हुआ था इसीलिये अत्यन्त सावधानी पूर्वक आगे बढ़ना पड़ता था। इसी मार्ग पर कुछ दूरी पर एक वृद्ध पुरुष और दो तीन महिलायें आगे-आगे जा रहे थे। जब मैं उन लोगों के समीप में पहुँच गया तब मुझे देखकर उन लोगों ने "नमोनारायण" कहते हुए भावभक्ति प्रदर्शित की। अब मैंने तुरन्त ही उन सभी को पहचान लिया। वे हमारे यात्रासंघ के साथ में असकोट की धर्मशाला में एक दिन रुके थे[2]। कुमाऊँ प्रदेश में, और विशेषतः कैलास मार्ग में, श्री नारायण स्वामी

---

[1] —रुमादेवी अपने जीवन के शेष दिनों में श्री माँ आनन्दमयी के वाराणसी स्थित आश्रम में रहती थीं और वहीं पर उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

[2] —हिमालय के चार धाम की पैदल यात्रा समाप्त करने के बाद अपने गाँव वापस लौटते समय ये लोग असकोट धर्मशाला में रुके थे।

जी का अधिक प्रचार होने से यहाँ के लोग साधु महात्माओं को देखने पर 'नमो नारायण' या 'नमो नारायणाय' कहते हुए श्रद्धा भक्ति पूर्वक हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं। जब ये लोग दामु भाई के साथ बातचीत करते हुए धीमे-धीमे चलने लगे तब मैंने "अपनी गाड़ी का गियर बदला" और गति तीव्र कर दी। चारों ओर के सौन्दर्य का पान करता हुआ और भगवान् के नाम का स्मरण करता हुआ, कभी पत्थरों पर से कूदता हुआ तो कभी चढ़ाई चढ़ता हुआ, मैं कालीगंगा के तीरे-तीरे आगे बढ़ रहा था। यद्यपि गर्जना करती हुई माँ कालीगंगा मुझसे विपरीत दिशा में दौड़ रही थी तथापि जल रूप से तो वह मेरे साथ में ही थी, अतः मैं निर्भय था। आगे बढ़ता हुआ मैं मार्ग के छोटे-बड़े होटल, पानी के नाले, इत्यादि को पार करता और पहाड़ पर के रमणीय गाँवों को देखता हुआ करीब सवा दो घंटे में मार्ग की बाँयीं तरफ के एक होटल के समीप आ पहुँचा। अभी तक न तो मैं थका हुआ था, न क्षुधार्थी या प्यासा ही था। अतः मुझे यहाँ पर रुकने की कोई आवश्यकता प्रतीत न हुई। पूर्ववत् आगे बढ़ने लगा। यहाँ से करीब आधा फर्लांग पहुँचा होऊंगा कि इतने में तो मार्ग के दायें हाथ पर एक बोर्ड देखा जिसमें चेतावनी के शब्द अंकित थे "नीचे का मार्ग खतरनाक है, ऊपर के मार्ग से चलो।" मैं यह देखकर कुछ मिनट वहाँ पर रुक गया और विचार करने के उपरान्त नीचे का मार्ग छोड़कर बायें हाथ की ओर की चढ़ाई की पगडंडी पर आगे बढ़ने लगा। इतने में मुझे पीछे से किसी की आवाज सुनाई पड़ी। मुड़ कर देखा तो वह होटल वाला लड़का था। हाथ में पीत रेशमी वस्त्र फहराता हुआ मेरी ओर आ रहा था। यह देख मैं समझ गया कि मेरे कंधे पर की रेशमी धोती मार्ग में गिर पड़ी थी जिसको पहुँचाने के लिये वह मेरी ओर दौड़ता हुआ आ रहा है। उसने मेरे निकट आकर श्वास की गति धीमी करते हुए कहा—"आपकी यह धोती मेरे होटल के समीप ही गिर पड़ी थी। मैंने आपको कितनी ही आवाजें दीं किन्तु आप तो ऐसे भाग रहे थे मानों आकाश में उड़ रहे हों। आखिर धोती लेता हुआ मैं भी आपके पीछे दौड़ पड़ा। अच्छा हुआ कि यहाँ पर सूचना बोर्ड था जिससे आप रुक गये और मैंने आपको यहाँ पर आ पकड़ा। लीजिये आपकी 'यह धोती" मैं कुछ धन्यवाद प्रदर्शित करूँ, उससे पहले ही वह बोल पड़ा—"स्वामी जी, ऊपर वाली पगडंडी येला और खेला होकर तवाघाट पहुँचती है जो बहुत लम्बी और कठिन चढ़ाई-उतराई की है अतः आप नीचे वाले नदी के तीर पर के सरल एवं लघु मार्ग से तवाघाट जायें तो अच्छा रहेगा।" उस लड़के की प्रामाणिकता, सरलता एवं साधु महात्मा के प्रति श्रद्धा-भक्ति देख कर मुझे उसकी ओर मान हो आया। पहाड़ के निवासी कितने बड़े परहितकारी होते

है यह मेरे लिए प्रत्यक्ष प्रमाण था । यदि शहर में इस प्रकार से, रेशमी वस्त्र की बात तो दूर रही, छोटा-सा रूमाल भी गिर जाता है तो पीछे देखते-देखते ही छू-मन्तर हो जाता है । वहाँ पर फिर किसी पथ-भ्रष्ट को मार्ग दर्शन तो मिलेगा ही कहाँ से ! यही है हमारे आधुनिक शहरों के जीवन में और पहाड़ों के जीवन में अन्तर । मैं वहाँ पर खड़ा-खड़ा रेशमी वस्त्र से कटि को अच्छी तरह से कसने लगा इतने में वह लड़का वहाँ से होटल की ओर दौड़ता हुआ वापस जाने लगा । उसकी सूचना के अनुसार मुझे नीचें वाले मार्ग का अवलम्बन करना था अतः वहाँ से वापस नीचे जाकर नीचे वाले मार्ग को पकड़ने की अपेक्षा मैं पहाड़ के पत्थरों को पकड़ता हुआ और कोई-कोई स्थान पर तो बंदर की तरह झूलता हुआ नीचे के मार्ग पर आ पहुँचा । लड़का ने मुझे इस प्रकार से नीचे उतरते हुए और नीचे के मार्ग पर जाते नहीं देखा होगा अतः समझ लिया होगा कि मैं तो ऊपर वाले मार्ग से खेला की ओर ही चल पड़ा हूँ ।

नीचे वाले मार्ग से आगे बढ़ते हुए मैंने कुछ आगे जाने पर देखा कि पगडंडी तो कुछ तीक्ष्ण पत्थर वाली और पहले से भी अत्यन्त खराब थी । यहाँ से कुछ नीचे, दायें हाथ की ओर, कालीगंगा बड़े-बड़े पत्थरों के साथ टकराती हुई, और भयंकर गर्जना करती हुई, श्वेतफेनी को उछालती, तीव्र गति से बह रही थी । आगें का मार्ग जितना खराब था उतनी ही सावधानी पूर्वक धीमे-धीमे आगे पैर रखना पड़ता था । मार्ग मानों 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया··· ··· ··· ···' ही था । ऐसे मार्ग पर चलने वाले को भगवान् का निरन्तर स्मरण करना पड़ता है, चाहे वह भय से हो चाहे पार होने की महान् आशा से ही । आगे चलने पर एक जगह मुझे कुछ क्षण तक रुकना पड़ा क्योंकि पहाड़ के ऊपरी भाग में, जो मोटर-बस मार्ग बन रहा था वहाँ पर, पन्द्रह-बीस मजदूर बड़े पत्थर को नींचे की ओर गिरा रहे थे । मैंने उन लोगों को हाथ ऊँचा करते हुए इंगित किया कि मैं नीचें से जा रहा हूँ अतः कुछ समय तक वे रुक जांय । नीचे पत्थर न फेंके । मेरा मनोभाव समझने पर मजदूरों के सरदार ने सभी मजदूरों को रोक दिया और बड़े आवाज के साथ मुझे प्रत्युत्तर देते हुए कहा, "अब निर्भयता से रास्ता पार कर जाइये । धीमे-धीमे, सावधानी पूर्वक चलियेगा, कहीं पत्थर के तीक्ष्ण टुकड़े पैरों में न धंस जाय ।" यहाँ से निर्विघ्न मार्ग पार करके कुछ आगे जाने पर मैंने देखा कि एक स्थान में मुलायम सी मिट्टी बिछी हुई थी और उसमें से कुछ-कुछ तो नीचे की उस ओर धीमे-धीमे सरकती जा रही थी । जहाँ पर रुद्र रूप धारण करती हुई कालीगंगा प्रचण्ड वेग से बह रही थी इस दुर्गम मार्ग के नीचे तो वह साक्षात् महाकाली ही प्रतीत हो रही थी । यदि यहाँ से थोड़ी सी

असावधानी बरती गई, पैर थोड़ा टेढ़ा भी हुआ तो महाकाली के कराल मुख के ग्रास बनने में थोड़ी सी भी देरी नहीं लगती। "आपत्काले च कष्टेऽपि नोत्साहस्त्यज्यते बुधैः।" के उपदेशानुसार हिम्मत, धैर्य, उत्साह से मैंने जैसे-तैसे मार्ग पार तो कर दिया किन्तु पीछे मुड़कर जब देखा तो मुझे अपने कार्य पर विश्वास ही नहीं हुआ। मैं समझ नहीं पा रहा था कि अपनी ही अल्प शक्ति से मैं कैसे इस दुर्गम पथ को पार कर सका। इस अनुभव से मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि मेरे पीछे अवश्य ही कोई-न-कोई अदृश्य शक्ति का वरदहस्त है जो मुझे और मेरे नेतृत्व में जा रहे यात्रा संघ को कैलास-मानसरोवर की दुर्गम यात्रा निर्विघ्न समाप्त करवायेगा।

अब यहाँ से आगे का मार्ग अच्छा था। चारों ओर के हरे-भरे पहाड़, ऊपर नीलाम्बर और नीचे श्वेत फेन उछालती घू-घू करती कालीगंगा, इन सबका दृश्य चित्ताकर्षक था। आगे बढ़ता हुआ करीब ४५ मिनट के बाद मैं एक ऐसे स्थान पर आ पहुँचा जहाँ पर दायें हाथ की ओर से ऊपर से मुड़ती हुई, कालीगंगा आ रही थी जबकि सामने की ओर से एक दूसरी नदी (धौलीगंगा) आकर एक-दूसरे से मिल रही थी। इस स्थान में कुछ मजदूर और मिस्त्री लोग पुल बाँध रहे थे। मुझे धारचूला में इस विषय में पता चला था कि इस पुल के तैयार हो जाने पर मोटर, मोटरबस इत्यादि वहाँ से कालीगंगा के किनारे-किनारे गरब्यांग तक पहुँच सकेंगे। धारचूला से गरब्यांग तक मोटर-बस मार्ग भी बन रहा था। इस संगम के पुल की दीवाल और पाये की चौड़ाई पर से मैंने अनुमान लगाया कि यह पुल बड़ा एवं मजबूत बनेगा। इस स्थान को "काली-धौली-संगम" कहते हैं। कालीगंगा माई को भक्ति-पूर्वक प्रणाम कर यहाँ से धौलीगंगा के दायें तीरे तीरे आगे बढ़ा। पगडंडी पहले की अपेक्षा अच्छी थी। करीब दस मिनट चलने के बाद में तवाघाट नामक स्थान में आ पहुँचा। उस समय घड़ी साढ़े ग्यारह का समय बता रही थी। इससे पता चला कि मैंने धारचूला से यहाँ तक का मार्ग अपेक्षाकृत अधिक तीव्र गति से चलकर तय कर लिया था। आज मैंने मार्ग के किसी भी स्थान पर विश्राम नहीं किया था, चलता ही रहा था।

डाक बँगले पर आकर दरबान को विशेष अनुमति-पत्र दिखलाने पर उसने जल्दी-जल्दी एक बड़ा कमरा खोल दिया और उसमें टेबुल, कुर्सी, खाटें आदि व्यवस्थित करने लगा। मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि यहाँ के डाकबंगले में केवल दो ही कमरे हैं और कुछ नये कमरे तैयार हो रहे थे। यहाँ से करीब ६०० फुट नीचे उतरने पर धौलीगंगा के दांये किनारे पर पहुँच सकते हैं। यह नदी; जो "धौलीगंगा" या "धौलगंगा" के नाम से जानी जाती है, दरमा की घाटी से आती है। यह स्थान चारों ओर से पहाड़ों से आवृत होने पर मानों लोहे की

बड़ी कड़ाही जैसा प्रतीत होता है। इस लिये शायद इस स्थान का नाम 'तवाघाट' पड़ा होगा।[१] इस स्थान में एक चाय की दूकान और एक अनाज, तेल, गुड़ इत्यादि वस्तुओं की दूकान है। यहाँ से कुछ दूरी पर एक जलधारा है जिसका जल मधुर है। डाक बँगले के निकट एक बड़ा मकान तैयार हो रहा था। डाक बँगले का जो कमरा हमें निवास के लिये दिया गया था उसकी बारी में से उत्तर दिशा की ओर के पहाड़ एवं खेला गाँव की ओर के पहाड़ों का दृश्य अतीव मनोहर था। कमरे में आधा घण्टे तक विश्राम करने के उपरान्त स्नान करने की और कपड़े धोने की इच्छा होने पर साबुन खरीदने के लिये मैं दूकान पर आया। वहाँ से एक पगडंडी नीचे धौलीगंगा की ओर जा रही थी। मैं साबुन लेकर नदी तट पर आया। यहाँ देखा कि "धौली" ऐसी उछलती, कूदती, गर्जना करती हुई वेग से बह रही थी मानों अपनी ज्येष्ठ बहिन "काली" को शीघ्र ही आलिंगन कर आनन्द से विभोर होना चाहती है। नदी के तटवर्ती एक स्वच्छ और बड़े पत्थर पर मैंने वस्त्र उतार दिये और निकट में एक उपयुक्त स्थान ढूंढ़ कर वहीं पर दो-तीन वस्त्र, जो धोने थे, धो डाले और धूप में सुखा दिये। आज धूप भी कड़ी थी इसलिये वस्त्र सूखने में देरी न लगी। बाद में स्नानार्थ धौलीगंगा में प्रविष्ट हुआ। इतनी कड़ी धूप होने पर भी नदी का जल कालीगंगा से भी अधिक ठंडा मालूम पड़ा। मुझे नदी में इस प्रकार से स्नान करता हुआ देखकर एक पहाड़ी दूर खड़ा-खड़ा मेरी ओर टुकुर-टुकुर आश्चर्यभरी दृष्टि से देख रहा था। उसने सोचा होगा कि यह कौन अजीब-सा जीव होगा जो निर्भयतापूर्वक हिमजलभरी नदी में इस प्रकार से स्नान कर रहा है। स्नान करने के बाद जब मैं वस्त्र बदल कर समीप की एक बड़ी शिला पर बैठ गया तब मुझे बलवाकोट की कालीगंगा के तट का स्मरण हो आया। इस स्थान की नदी के सामने पार का प्रदेश भारत का ही है। नेपाल का प्रदेश तो काली नदी के वाम भाग में पड़ता है। ध्यानाभ्यासी के लिये धौलीगंगा का तट भी बड़ा उपयुक्त है। यहाँ पर भी चारों ओर के हरे-भरे पहाड़, सुन्दर वृक्ष, जलप्रपात इत्यादि बड़े ही सुहावने लगते हैं। इस रम्य स्थान में एक घंटा आनन्द पूर्वक व्यतीत कर मैं डाक बँगले में वापस आया। दरबान ने बताया कि अभीतक यात्रा संघ का कोई भी सदस्य आया नहीं है। इससे मुझे उन लोगों के विषय में चिन्ता होने लगी। सोचा कि

१—किसी से सुना था कि ऋषि-मुनियों ने पहाड़ों का चूल्हा बनाकर जिस स्थान में रसोई पकायी थी वहाँ से (धारचूला से) झूठी कड़ाही (तवा) देवताओं के कुत्ते मुँह में उठाकर भागे थे। ऋषि-मुनियों ने उनके पीछे दौड़कर जिस स्थान में उस तवे को छुड़वाया था उसी स्थान का नाम 'तवाघाट' पड़ा।

और भी कुछ समय तक राह देखी जाय। कुछ न कुछ तो समाचार मिल ही जायेगा। अब मैं खटिया में पड़ा-पड़ा यात्रियों की प्रतीक्षा करने लगा। करीब १५ मिनट बाद किसी आदमी के जूते की आवाज सुनते ही मैं सहसा उठ बैठा और दरवाजे की ओर दृष्टि फेंकते ही दाम भाई दीख पड़े। मैंने उन्हें इतनी देरी होने का कारण पूछा पर वे कुछ रुष्ट-से होकर अपने हाथ से इंगित करते हुए समझाने लगे कि कुछ समय तक विश्राम करने दो, थकान दूर हो जाने पर धीमे-धीमे सब बात बताऊँगा। मुझे तुरन्त ही अपनी भूल का पता चल गया कि थके हुए किसी यात्री को पड़ाव पर आ पहुँचते ही सहसा प्रश्नों की झड़ी लगाना, मूर्खता का प्रदर्शन करना ही है। कैलास की या इस इस तरह की अन्यान्य कठिन यात्राओं में भारी चढाई-उतराई पार कर रहे किसी क्लांत यात्री को तो ऐसे प्रश्न पूछ देना ही उसके प्रकोप का शिकार होना है क्योंकि ऐसा यात्री ऐसे समय में अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठता है। पहाड़ों की ऐसी यात्रा में मैंने कई बार ऐसे प्रसंग देखे हैं। जब यात्री पैदल यात्रा करता हुआ कई दिनों के बाद बद्रीनाथ क्षेत्र में आ पहुँचता है तब वहाँ के तीर्थ पुरोहितों (पण्डों) द्वारा घेर लिये जाने पर और उनके द्वारा नाम, गाँव, पता इत्यादि प्रश्नों की झड़ी लगा देने पर यात्री इतना उत्तेजित हो उठता है कि कई बार हाथापाई तक की नौबत आ जाती है। ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण घटना के दोषी तो क्लांत यात्री को प्रश्न पूछने वाला एवं मार्ग में उसे अवरोध पैदा करनेवाला ही माना जायेगा। इसलिये ऐसे क्लांत यात्री को तो मधुर एवं हितकारी भाषा में आतिथ्य देते हुए सर्वप्रथम उसे बैठने के लिये अच्छा स्थान देना चाहिये और कुछ समय के विश्राम बाद जल देने के उपरान्त उसे पूछ कर चाय-नाश्ता इत्यादि की व्यवस्था करनी चाहिये[1]।

दामु भाई ने करीब १५ मिनट तक विश्राम कर लेने के बाद अपने जेब से सूखा मेवा निकाला और उसी में से कुछ अंश मुझे देते हुए कहने लगे—"आप यहाँ पर कब आ पहुँचे? किस मार्ग से होकर आये हैं? मार्ग में किसी स्थान में क्यों दिखायी नहीं पड़े?" मैंने इन सब प्रश्नों के प्रत्युत्तर इतनी जल्दी न देकर उनसे ही प्रश्न पूछ डाला, "आप किस रास्ते से आये हैं और इतना विलम्ब क्यों हुआ?" वे बोले," जब मैं सोसावाले चारधाम के यात्रियों से बातचीत करता हुआ उनके साथ-साथ चल रहा था तब मैंने देखा कि आप तो बहुत आगे निकल चुके हैं। अतः मैं भी तीव्र गति से आपका अनुगमन करने लगा किन्तु कुछ समय के बाद मार्ग टेढ़ा-मेढ़ा आने पर

---

[1] —चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्यात्सुभाषिणीम्।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मः सनातनः॥
—महाभारत, वनपर्व श्लोक २।५७

मुझे अपनी गति मन्द करनी पड़ी। इतने में आप आँखों से ओझल हो गये। मार्ग के होटल के मालिक, एक लड़के से, आपके बारे में पूछताछ करने पर पता चला कि आप वहाँ से निकले थे, आपका कपड़ा वहाँ पर गिर पड़ा था जिससे लड़का आपके उस वस्त्र को लेकर दौड़ता हुआ आपसे आ मिला था। उससे मैंने सुना कि वस्त्र लेकर आप येला-खेला की चढ़ाई के मार्ग पर आगे बढ़ गये थे इत्यादि। यह सब सुन कर मैं भी उस रास्ते पर चल पड़ा किन्तु उस कठिन चढ़ाई-उतराई में आँखें फाड़-फाड़कर ऊपर-नीचे देखने पर भी आपका कहीं पर भी पता न चल सका। मैंने सोचा कि स्वामी जी कहीं आकाश में तो नहीं उड़ गये होंगे। येला-खेला के मार्ग में लोगों से पूछता-पूछता बहुत ही मुश्किल से आज यहाँ पर आ पहुँचा हूँ।'' दामु भाई की बात सुनकर मैंने वस्त्र गिरने का प्रसंग, लड़के के कहने के अनुसार कालीगंगा के तटवर्ती मार्ग का अवलम्बन करना, और भयंकर एवं टूटे हुए मार्ग को किसी अदृश्य शक्ति की कृपा से पार करने में समर्थ होना एवं तवाघाट में साढ़े ग्यारह बजे पहुँच जाने इत्यादि के बारे में जब सविस्तृत सुनाया तब उन्हें सारी वस्तुस्थिति का पता चला और आश्चर्यान्वित हुए। अपनी गलती छुपाते हुए और कठिनाइयों की अतिशयोक्ति करते हुए, निःश्वास छोड़ते हुए वे बोले, "येला-खेला का मार्ग भी फेफड़े फाड़ डाले वैसा ही है। यदि आप इस मार्ग से आये होते तो पता चल जाता कि पहाड़ किसे कहते हैं।'' यह सुनकर मुझे हँसी आ गई। मैंने सोचा कि यदि दामु भाई ने मेरे पीछे पीछे कालीगंगा का मार्ग ग्रहण किया होता तो अभी तक वे यहाँ पहुँच नहीं पाते। अन्य यात्रियों के बारे में पूछने पर उन्होंने बताया, "खेला से पीछे के भाग में बारबार देखने पर भी जब कोई यात्री दिखाई नहीं पड़ा तब सोचा कि शायद स्थान-स्थान पर विश्राम करते हुए वे लोग आते होंगे। आज तो सभी की धोतियाँ ढीली हो जायँगी। जग्गुभाई और भगत जी की सूरत तो फोटो खींचने जैसी हो जायगी।'' मैंने घड़ी की ओर दृष्टि की तो दो बज चुके थे। अन्य यात्रियों की राह देखते हुए हम दोनों विश्राम करने लगे। प्रायः सवा घंटे बाद अर्थात् सवा तीन बजे जागने पर मैंने दामुभाई से कहा कि आप थोड़ा दरवाजा के बाहर जाकर इधर-उधर दृष्टि तो डाल आइए। कहीं पर वे लोग दीख पड़ते हैं या नहीं। दामुभाई जा ही रहे थे कि इतने में तो "सी...ता...राम'' की बैठी हुई आवाज के साथ ही खाखोबाबा लडखड़ाते हुए आ पहुँचे और दरवाजे के बाहर ही अपने को अन्न से भरे बोरे की तरह पटक दिया। हम लोग उन्हें खड़ा करने जा रहे थे कि इतने में उन्होंने हाथ के इशारे से समझाया कि सहायता की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं उतना थका हुआ नहीं हूँ। हमने उनसे उनकी इस नाजुक हालत में कोई प्रश्न

पूछना उचित नहीं समझा अतः उन्हें विश्राम करने दिया। कुछ समय के विश्राम के बाद खाखीबाबा ने अपनी जेब से सुर्ती की थैली और चूना की डिबिया निकाली। दांये हाथ की हथेली में कुछ सुर्ती और चूना को लेकर बाँये हाथ के अँगूठे और अँगुली की सहायता से उन्हें मलने लगे। बाद में उस पर तालियाँ टप-टपाते हुए मानों कि उसे थपथपाया और एक विशेष प्रकार की अदा से उस मिश्रण को ओष्ठ में भर दिया। अब वे 'मूड' में आये और कमरे में प्रवेश कर समीपस्थ एक खटिये पर बैठ गये। मुझे यह देखकर आशा बँधी कि हमारे यात्रा संघ के हम तीन— मैं, बाबा और मंगलदास—तो आ गये हैं, अन्य भी आ पहुँचेंगे ही। खाखीबाबा को अब स्वस्थ, सानन्द देखकर दामुभाई ने पूछा—कि अन्य यात्री कहाँ हैं और अभी तक क्यों नहीं पहुँच पाये हैं ? यह सुनते ही वे खिलखिला कर हँस पड़े और सुर्ती के मूड में बोले, "अरे, क्या कहूँ मैं आज की राम-कहानी। आज तो सेठ लोगों की बम् बोल गयी है। सोभागचन्द्र भाई (राजदेव जी) को तो मैं हाथ पकड़-पकड़ कर खतरे वाले मार्ग से बाहर लाया हूँ। रास्ते में वे इतने तो घबरा गये थे कि पूछो मत।" कुछ क्षण रुकने के बाद वे गला साफ करते हुए खड़े हुए और अपने पैरों को कँपाते हुए कहने लगे, "और उस समय उनके पैर तो यूँ—यूँ—काँप रहे थे। राम जी की कृपा समझो कि धारचूला वाला हरिवल्लभ नाम का एक युवक और उसका छोटा भाई, जो पंगुगाँव जा रहे थे, मार्ग में साथ में हो गये। हरिवल्लभ ने भी सोभागचन्द्र भाई का हाथ पकड़ा था। कभी-कभी वह खतरे वाले मार्ग से पत्थर, मिट्टी इत्यादि अवरोधों को साफ-सूफ करता रहता था। इस तरह से इन लोगों को नदी के खतरे वाले मार्ग से बहुत मुश्किल से पार कर ले आये हैं।" कुछ देर रुककर वे फिर हँसते हँसते बोलने लगे, "बेचारे जयंती भाई की तो लकड़ी ही हाथ में से सरक गयी और सीधी कालीगंगा में जाकर बह गयी। क्या बताऊँ ये सब आज की लीलाएँ।" इस प्रकार कहते हुए उन्होंने बड़े नाटकीय ढंग से एक हाथ से अपना ललाट पीटा। भगत जी और जग्गुभाई के बारे में पूछने पर वे कहने लगे कि आज तो करीब करीब सभी यात्री तितर-बितर हो गये हैं। भगतजी की तो आज तवाघाट में पहुँचते-पहुँचते नस-नस ढीली हो जायगी।" आज रामजी कुछ और ही रंग से रँगे मालूम पड़ रहे थे। अब उनकी थकान बहुत कुछ अंशों में दूर हो गई हो ऐसा उनकी हास्य मिश्रित बातों से लगता था। यह देखकर मैंने उनके बारे में जानने के लिए पूछ ही दिया "आपको नदीवाला मार्ग कैसा लगा ?" मेरे प्रश्न ने उन्हें प्रत्युत्तर ढूंढने की एक विचित्र स्थिति में डाल दिया। कुछ समय तक गंभीर रहने के बाद वे धीमे स्वर में बोले, "भाई, हमने तो कभी अकेले कैलास यात्रा में निकलने की

बात ही नहीं सोची क्योंकि इन सब कठिनाइयों के बारे में कई साधुओं के मुख से पहले से सुन रक्खा था। इसलिए तो आपके यात्रा संघ के साथ-साथ चलने के लिए अलमोड़े में डा० बिन्दु के घर में १५ दिन पहले से आसन जमाया था। क्या पता है, आगे और कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ेंगी। हम तो राम आसरे चल रहे हैं। जैसी रामजी की इच्छा।" खाखीबाबा को जब मैंने बताया कि आज तो दामुभाई और मैं भी एक-दूसरे से बिछुड़ गये थे तब उन्हें यह सुनकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उनके कहने पर मैंने और दामुभाई ने अपनी-अपनी कथा सुना दी। इतने में वहाँ पर एक लड़का आ पहुँचा जिसे देखते ही खाखीबाबा बोल उठे, "देखिये, यही हरिवल्लभ है। पूछिये इसे रास्ते में क्या-क्या बीती है।" मैंने युवक को समीप में रक्खी हुई कुर्सी पर बैठने को कहा और कुछ समय विश्राम कर लेने के बाद उससे सब बातें पूछीं। वह हँस पड़ा और अथ से इति पर्यन्त सब बता दिया। जेब से रुपये का नोट निकाल कर बताते हुए कहा कि यात्री सेठ लोगों ने हम दोनों भाइयों को एक-एक रुपया पुरस्कार दिया है। हमारे यात्रा संघ के सदस्यों की ऐसे दुर्गम मार्ग पर उन दोनों भाइयों ने जो सहायता की थी इससे मुझे उनके प्रति श्रद्धा हो आयी और आज यात्रा संघ के साथ भोजन लेने एवं यहाँ पर विश्राम करने के लिए उन दोनों से अनुरोध किया। किन्तु वे कोई आवश्यक कार्य के लिए पंगुगाँव जा रहे थे अतः जल्दी में थे। और साथ में एक मजदूर भी था इसलिए ठहरने के लिए अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए क्षमा प्रार्थना करने लगे। कहा कि मजदूर पीछे-पीछे आ रहा है, यहाँ पर आ पहुँचते ही हम आगे के लिये चल देंगे और आज ही पंगु पहुँच जायेंगे।

समय बहुत हो गया था। हम लोग यात्रियों की प्रतीक्षा करते हुए कभी तो खेला की ओर के पहाड़ के चक्राकार मार्ग पर ऐसे तो एकटक से देखते थे मानों हमारी आँखें यात्रियों को खींच लाने के लिये दूर-दूर चली गई हों, तो कभी नदी के मार्ग पर इतनी लम्बी गर्दन से देख रहे थे मानों हमारी गर्दन ही बाहर निकल पड़ेगी। किन्तु अभी तक न तो यात्रियों की लकड़ियों की आवाज कर्णगोचर हो रही थी, न तो पैरों की जूतों की आवाज ही।

प्रायः चार बजे श्री रामदेव जी एवं श्री जयंतीभाई आ पहुँचे। उन दोनों वीरों की क्लांत मुखाकृतियाँ देखते ही उनके विश्राम हेतु झटपट खटिये और कुर्सियाँ खाली कर दी गईं। रामदेव जी ने अपने कंधे से थैला बाहर निकाला और उसमें से श्री जलाराम बाबा की छबि को सामने वाली दीवाल की कील पर टांगते हुए बोले—"बोल, जलीयाण महाराज की जै" तत्पश्चात् दोनों यात्री विश्राम के लिये खटियों में पड़ गये। उस समय उनके देह की हड्डियों की कड़क-

ड़ाहट मानों कह रही हो कि वे आज अपेक्षाकृत अधिक थके हुए हैं ! मैं तो इस विषय में उन लोगों से कुछ जानना नहीं चाहता था क्योंकि मुझे तो सब बातें उनके सहयात्रियों से ज्ञात हो चुकी थीं । इसलिये उनको शान्ति से विश्राम करने दिया । करीब साढ़े पाँच का समय होने जा रहा था फिर भी शेष यात्रियों के आगमन का संकेत भी नहीं मिला । कुछ समय में तो वर्षा भी प्रारम्भ हो गई । सुप्त यात्री भी जाग उठे । सबको late passengers की चिन्ता होने लगी । मैंने राजदेव जी से दूरवीक्षण यंत्र (binocular , लिया और पहाड़ों की ओर दृष्टि दौड़ाई । देखा कि दूर-दूर सूत के धागे-सी सर्पाकार पगडंडी पर दो यात्री मन्द गति से नीचे की ओर आ रहे थे । एक के सिर पर छाता था जब कि एक ने बरसाती (Rain coat) पहना हुआ था । इससे स्पष्ट था कि वहाँ पर वर्षा का परिमाण अधिक था । मैंने जब दोनों यात्रियों के आगमन के बारे में अन्यों को सूचित किया और उनकी वेषभूषा का वर्णन करने लगा तब मेरे सन्निकट में वहाँ पर के सभी यात्री आ उपस्थित हो गये और क्रमशः दूरवीक्षणयंत्र'से उन यात्रियों की ओर देखने लगे । एक यात्री ने कहा कि उन दोनों को यहाँ पर आ पहुँचने में कमसे-कम आधा घंटा तो हो ही जायेगा । वे लोग भी दामुभाई के सदृश येला-खेला के दुर्गम पथ का आलंबन कर आ रहे थे यह देख दामुभाई हैरान रह गये । सभी को चेतावनी देते हुए जयंतीभाई कहने लगे, "आज भगतजी और जग्गुभाई को कोई कुछ भी न पूछियेगा अन्यथा वे इतने तो थके हुए होंगे कि आग ही बरसाने लग जायेंगे ।" हम लोग बातचीत करने के उपरान्त जब विश्राम कर रहे थे तब, करीब छः बजे, दोनों यात्री आ पहुंचे । कटि पर हाथ देते हुए और आधा फुट ऊँची सीढ़ी पर भी मुश्किल से पैर टिकाते हुए दीर्घ निःश्वास छोड़कर जब वे कमरे में प्रविष्ट हुए तब वहाँ पर नीरवता छाई हुई थी । पहले से ही दी गई चेतावनी के अनुसार सब मौन थे । वे भी समीपस्थ खटियों में पड़ गये और देखते-देखते ही खर्राटे भरने लगे । मजदूरों के आ पहुँचने पर कुछ लोग उठ गये । खाखीबाबा ने रसोई बनाना शुरू कर दिया और रामदेव जी सायं आरती के लिये तैयारी करने लगे । रसोई होने पर भगवान् को प्रसाद निवेदन किया गया और सुप्त यात्रियों को जागरित कर सभी ने सम्मिलित हो समूह भोजन किया । मेरे लिये खाखीबाबा ने फलाहार बना दिया था अतः सभी के साथ-साथ मैंने भी क्षुधा शान्त की । "आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्" अर्थात् आहार और व्यवहार में संकोच नहीं करना चाहिये—के सिद्धांत अनुसार सभी ने आज डटकर भोजन किया । पहाड़ों में चलने पर कितनी अच्छी भूख लगती है इसका आज सबको अनुभव हो गया था । शहरी लोगों को विविध प्रकार के भोज्य पदार्थों

के होते हुए मन्द जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिये कितनी ही देशी-विदेशी औषधियों का सेवन करना पड़ता है जब कि पहाड़ी लोगों को पहाड़ों में परिभ्रमण से एवं शारीरिक परिश्रम से उद्भूत तीव्र क्षुधा को शान्त करने के लिये रूखा-सूखा, जो कुछ मिल जाय, भोजन से संतोष करना पड़ता है। "क्षुधारूपेण संस्थिता" देवी की यह लीला भी कितनो विचित्र है।

आज के भरपेट सुस्वादु भोजन से थके हुए यात्रियों के म्लान एवं कुम्हलाये हुए चेहरे पुनः प्रफुल्लित, प्रस्फुटित हुए। यात्री जब बिछौनो में करवट बदल रहे थे तब समय पाकर राजदेव जी ने भगत जी से पूछ ही डाला, "भगत, आज की आपबीती तो सुनाइये, पता तो चले कि आपने कैसे गढ़ जीता है।" यह सुनते ही भगतजी बोल पड़े–"एस० एम०, कृपया आज के बारे में तो पूछियेगा ही मत, आज तो हम कैसे आ पहुँचे हैं यह सब हमारा मन ही जानता है। आह! क्या कठिन चढ़ाई और उतराई। छाती तो मानों धौंकनी की तरह धाँय-धाँय होंने लगती है। और उस समय वर्षा शुरू हुई। मैंने मन को कहा–बेटे, अब तो मर गये समझो। खड़ी उतराई के समय यदि पैर थोड़ा-सा भी टेढ़ा हो गया तो फिसलने में देरी नहीं लगती। किन्तु जला बाबा की कृपा ही समझो कि एक कंकड़ भी न लगा और धीमे-धीमे चलते हुए आखिर पड़ाव पर पहुँच ही गये।" इस प्रकार आनंद से बातचीत करते हुए सभी लोग निद्रा देवी के आँचल में छिपने लगे। हम लोगों के मजदूरों के निवास की व्यवस्था समीप के सरकारी तंबू में की गयी थी। उन लोगों ने वहीं पर ही पत्थरों के चूल्हे बनाकर उस पर गेहूँ की रोटियाँ पकाई थीं और चटनी के साथ-साथ आनन्द से भोजन कर सब लोग सो गये थे। बिना बोझ ही पैदल यात्रा करनेवाला व्यक्ति जब इतना थक जाता है तो फिर पीठ पर मन-मन के बोझ ढोते हुए दुर्गम मार्ग को तय कर पड़ाव पर पहुँचने वाले उन बेचारे मजदूर लोगों की थकान के बारे में तो कहना ही क्या? बुद्धिमान एवं परायी पीर का अनुभव करने वाला व्यक्ति ही इस बात को जान सकता है। यात्रियों को मार्ग में चाय पान, नाश्ता इत्यादि और पड़ाव पर पहुंचकर स्वादिष्ट भोजन जितना आनन्द दे सकता है उससे भी कई गुना अधिक आनन्द पहाड़ों में बोझ ढोकर कौड़ी-कौड़ी कमाने वाले इन मजदूरों को सिर्फ सूखी रोटी और मिर्च की चटनी देती है। और इन बेचारों के देह पर न तो पर्याप्त वस्त्र होते हैं न पास में बिछौना इत्यादि ही होते हैं। पश्मीना इत्यादि के ऊनी वस्त्रों की तो कल्पना ही उन्हें कैसे हो। वे तो कभी यात्रियों के सामान बाँधने के बोरे बिछाकर, तो कभी-कभी अग्नि के समीप जाकर सो जाते हैं। यदि यात्री यात्रा से पुण्य उपार्जन करना चाहता है तो उसे मजदूरों के प्रति स्नेह, दया एवं सहायता की भावना रखनी पड़ेगी। यात्रा काल में कई

बार देखा गया है कि बोझ ढोकर आनेवाला मजदूर यदि पीछे रह जाय या देरी से पड़ाव पर पहुंचे तो यात्री उसे जैसी-तैसी गालियाँ बकने लग जाता है। कभी-कभी तो उग्र वातावरण होने पर अनहोनी होकर रहती है। ऐसा तुर्क मिजाजी स्वभाव अच्छा नहीं होता। ऐसी यात्रा करने से तो घर पर ही चुपचाप बैठे रहना श्रेयष्कर है। ऐसे झगड़ाखोर लोगों को कत्तई सुख प्राप्त नहीं होता।

हमारे यात्रा संघ के "वसुधैव कुटुम्बकम्" के महा सिद्धांत में विश्वास करने वाले सदस्यों का मजदूरों के प्रति बहुत ही अच्छा व्यवहार था। स्वयं मजदूरों ने इस बात को स्वीकार किया था। यात्री लोग अपने देह में तेलमर्दन कराने पर मजदूरों को अच्छा पारिश्रमिक देते थे। भोजन के उपरान्त जो कुछ अन्न शेष रह जाता था उसे भी मजदूरों को दिया जाता था। मार्ग में थकावट की निवृत्ति के हेतु मजदूरों को सिगरेट और बीड़ी के पैकेट भी दिया करते थे। हम लोगों के मजदूर भी बहुत ही अच्छे स्वभाव के थे। किसी ने ठीक ही कहा है—"सज्जन को सज्जन ही मिल जाते हैं।"[1]

--- क्रमशः

---

(१) 'कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा' का सचित्र बृहद् ग्रन्थ यथाशीघ्र प्रकाशित होगा। प्रकाशक का पता—संचालक—वाङ्मय प्रकाशन मण्डल, ६५ महात्मा गान्धी मार्ग, पूना १ (महाराष्ट्र)

॥ ॐ माँ ॥

मातृ-सत्संग

(४५)

स्वामी भागवतानन्द गिरि

प्रयाग—त्रिवेणी तट—अर्ध कुम्भ मेला—
२० जनवरी, १९४८-पौष शुक्ल ६,२००४

माँ—(स्वामी शरणानंद जी के प्रति) पिताजी—तुम कुछ बोलो।

स्वा० श०—एक बार जीवन में जो भूल हो गयी है उसको फिर से मत करो। बस-साधन शुरू हो जायेगा। साधन माने क्या ? विज्ञान पढ़ सकते हैं लेकिन तत्त्वज्ञान को पढ़ाया नहीं जाता। साधन पथ में साधक को पहले अपने दोषों को पहचानना पड़ता है। गुरु प्राप्ति की भी खूब आवश्यकता है। गुरु ही स्वयं शिष्य को ढूंढ़ता है। शिष्य बेचारा क्या गुरु को ढूंढ़ सकता है ? तुम यदि तुम्हारे गुणों को नहीं जानोगे तो चलेगा लेकिन तुम अपने दोषों को ठीक तरह से जानने का कोशिश करो। पीछे दोषों के मूल को ढूंढ़ने की कोशिश करो।

माँ—बिलकुल सच बात है पिता जी की।

स्वा० श०— वास्तव में भगवत्कृपा ही परम साधन है। लेकिन मनुष्य को भगवत्-कृपा पर विश्वास ही कहाँ है ? वह तो सब कुछ अपने ही करना चाहता है। विचारना चाहिए कौन सी ऐसी शक्ति है कि जितसे भगवत्-प्राप्ति हो सके ? किस शक्ति से भगवान् मिलते हैं ? भगवान् को अपना बनाने से वे मिलते हैं। भगवत्-प्राप्ति में कुछ मुश्किल है ही नहीं। भोग प्राप्ति में ही मुश्किल ज्यादा है।

प्र०—हम लोग कैसे समझें कि हमसे भूल हो गई ?

स्वा० श०—यदि भूल न हो तो फिर निश्चिंत रहो।

प्र० —गागर में सागर कैसे समाता है ?

स्वा० श०—कितनी ही वस्तुओं का विचार दोष गुण के आधार पर होता है। प्रत्येक प्रवृत्ति में से सुख या दुःख उत्पन्न होता है। सुख में प्रवृत्ति होती है दुःख में प्रवृत्ति छूट जाती है। जो सुख मिले वह तो सबको दे दो। और दुःख मिले तो दुःखहारी ऐसे भगवान् को दे दो। बुद्धि पर मन का पूरा शासन होना चाहिये। बुद्धि का उपयोग करता है। सरकार जो कानून बनाती है वह कृत्रिम है।

जहाँ सरकार कानून बनाती है वहाँ बेईमानी आती है। वीतरागी पुरुष ही सच्चा कानून बना सकता है। बुद्धि तो भगवान् ने ही दीया है। ज्ञान को भगवान् की कृपा रूप समझो। समाज में श्रेष्ठ स्थान वीतरागी पुरुषों को ही मिलना चाहिये। समाज में सच्चा कानून नहीं बनने से अव्यवस्था होती है :—यह भूल है।—इसको सुधारना चाहिये।

प्र० – मन और बुद्धि में भेद क्या है ?

स्वा० श०—जिससे ज्ञान हो वह बुद्धि–वह तो अपूर्ण वस्तु है। अपने साथ व्यवहार करते समय बुद्धि काम करती है और दूसरों के साथ व्यवहार के समय मन काम करता है। इसके बाद भक्त जन कुछ कीर्तन करने के लिये माँ से प्रार्थना करने लगे। माँ ने बहुत सुन्दर सुर से कीर्तन गाना शुरू किया।

सीताराम सीताराम सीताराम सीताराम। राम राम राम राम राम राम राम राम। राम राम राम राम राम राम राम राम।

× × × ×

ता० २१ जनवरी १९४८ पौष शुक्ल १०,२००४ बुध

प्रातः माँ आकर सत्संग में बैठी हैं। उस समय माँ के जीवनचरित्र का हिंदी में पाठ हो रहा था। इतने में डॉ० पन्नालाल जी ने माँ के लिये एक चंदन काठ से बनी हुई चामर लाये हैं और उस चामर से माँ के ऊपर से मक्खियों को हटा रहे हैं। माँ ने वह चामर अपने हाथ में ले लिया और छोटे बच्चे की तरह उसको इधर उधर घुमाया और जमीन में ठुकराया। ठीक तरह से मां ने तलास ले ली। माँ की यह बाललीला सब भक्त लोग चुप चाप देख रहे हैं। अंत में सब भक्त लोग हँस पड़े और माँ भी खूब हँसने लगीं।

× × × ×

कथा प्रसंग में माँ ने कहा, "एक बार यह शरीर भोलानाथ के साथ चुनार से जयपुर गया था। उन दिनों इस शरीर पर सुवर्ण के बहुत अलंकार इत्यादि थे। जयपुर में टाँगा में बैठ के जब जा रहे थे—तब टाँगावाला ने इस शरीर पर इतने सुवर्ण के अलंकारों को देखा। उसकी बुद्धि में लालच पड़ गई। उसने भोलानाथ से कलह करना शुरू किया। यह शरीर टाँगा के पीछे की जगह में बड़ा घूँघटा डालकर बैठा था। भोलानाथ और टाँगावाला के बीच में कलह बढ़ता ही जा रहा था। यह शरीर तो घूँघटा डालकर जैसा नशा चढ़ा हो ऐसी मस्ती में पड़ा था। इतने में इस शरीर ने पूछा,—क्या हो रहा है?—ऐसा उनसे पूछने पर इस शरीर की दृष्टि टाँगावाला के ऊपर पड़ गई—इस शरीर की दृष्टि पड़ते

ही टाँगावाला शान्त होकर बैठ गया और कहने लगा,—"अच्छा, मैं स्टेशन पर वापिस ले जाऊँगा।" जयपुर में रहना ही नहीं हुआ क्योंकि टाँगावाला से कलह हो जाने से भोलानाथ भी गुस्से में हो गये थे।

माँ के एक इलाहाबाद के पुराने भक्त श्री हरिदास मुखोपाध्याय माँ के दर्शन के लिये आये हैं। उनकी आँखें अंधी हो गयी हैं। उन्होंने माँ से कहा,—"माँ मैं तो अब अन्धा हो गया हूँ। बार-बार तुम्हारे पास आना मुश्किल है। माँ कृपा करके हर समय मेरे साथ-साथ रहना।

माँ—पिताजी, हर समय भगवान् का अखण्ड स्मरण, जप करने की कोशिश करना।"

हरिदास माँ स्मरण, जप करने की कोशिश करता हूँ।

माँ—'बेरी-बेरी' नाम के रोग से बाबा की आँखें चली गई हैं। इतने में एक वृद्धा काश्मीरी माताजी माँ के दर्शन के लिये आयीं। माँ ने पूछा,—"माताजी, कहाँ से आयी हो?"

वृद्धा—माँ, घर से आ रही हूँ।

माँ—नहीं, तुम घर से नहीं आई हो। जिसको अपना घर मिल गया है वह क्या घर से वापस आता है? तुम तो धर्मशाला में से आ रही हो।

वृद्धा—नहीं! माँ! मैं धर्मशाला से नहीं आई हूँ। मैं तो अपने घर से आ रही हूँ।"

माँ—तुम झूठ क्यों बोल रही हो? धर्मशाला से नहीं आ रही हो?

माँ और वृद्धा का यह रसिक संवाद सुनकर सब भक्त लोग हँसने लगे। तब उनको माँ की बात का रहस्य मालूम हुआ और उन्होंने कहा, "हाँ, माँ, तुम्हारी बात सत्य है।"

माँ—राम का घर ही सच्चा घर है। बाकी सब कुछ धर्मशाला है। इतने में सत्संग में परमपूज्य स्वामी शरणानन्दजी भी आये हैं। डॉ० पन्नालाल ने 'माँ' से प्रश्न किया है। मां ने कहा,—तुम पिताजी से प्रश्न करो।"

डॉ० पन्नालाल—माँ और आपके पास लोग क्यों आते हैं?

स्वा० श०—मेरे पास तो आते हैं सिर्फ मेरी सन्मान की वासना पूर्ण करके के लिये। और माँ के पास आते हैं भूख निवारण के लिये।

माँ—पिताजी को क्या सन्मान की वासना है?

इस प्रश्न से स्वामी शरणानन्दजी हँसने लग गये।

माँ—पिताजी हँस के बात उड़ा दे रहे हैं।

स्वा०श०—अहा! 'माँ' शब्द कितना सुन्दर है!

माँ—बाबा शब्द क्या सुन्दर नहीं है। बाबा सबका पिता है। भगवान् ही परममाता, परमपिता, परमबन्धु है।

स्वा० श०—एक में अनेक है।

माँ—जो महापुरुष लोग होते हैं वे अपने आचरण के द्वारा उपदेश देते हैं।

स्वा० श०—(गद्गद स्वर में) माँ! माँ! माँ!

डा० प०—किसी-किसी को तो भूख लगी भी नहीं होती तब भी माँ के पास आते हैं।

स्वा० श०—आंशिक भूख लगी होगी।

डॉ० प०—कोई-कोई कहते हैं कि हम लोग माँ के पास जाते हैं सिर्फ माँ का हास्य देखने के लिये।

स्वा० श०—वे लोग प्रसन्नता चाहते हैं। स्थायी प्रसन्नता आध्यात्मिकता में है। अन्त में प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार पाता है। फिर वह जिसके पास जाता है उसके स्वभाव में डूब जाता है।

डॉ० प०—महात्माओं के पास थोड़ी भूख लेकर जाना चाहिये।

स्वा० श०—यदि बालक को ज्यादा भूख लगी हो तो माँ खुद अपने बालक के पास दौड़ आती हैं। यदि बालक सोता हो तो जगा कर खिलाती हैं।

माँ—पिताजी जानते हैं इसलिये पिताजी के बीच में माँ हैं और माँ के बीच में पिताजी हैं।

स्वा० श०—पिताजी दीदी के रूप में भी दीखते हैं।

माँ—कोई-कोई दीदी गुरुप्रिया को दादा भाई कहके बुलाते हैं।

प्र०—साधना कैसे करनी चाहिये?

स्वा० श०—अपने अधिकार और आवश्यकतानुसार साधना करनी चाहिये।

प्र०—साधना के कितने अङ्ग हैं?

स्वा० श०—एक दवाखाना में बहुत दवायें रहती हैं। एक रोगी के लिये सब दवायें नहीं होतीं। जिस रोगी को जो दवा देने की आवश्यकता हो वह दवा दी जाती है।

प्र०—माँ, यह तो कुछ समझ में नहीं आया।

माँ—पिताजी ने क्या कहा?

स्वा० श०—साधना कैसे करनी चाहिये। पहले विचारो, पीछे अधिकार, पीछे आवश्यकता इसके बाद उसका उपयोग करो। तुम्हारी जितनी शक्ति हो उतनी भगवत्-साधन में लगा दो।

माँ—सुना, पिताजी ने यह साधन बता दिया।

प्र०—सबसे बढ़िया उपाय मालूम नहीं है।

स्वा० श०—साधक जानता नहीं है ऐसा नहीं है। उपदेशगुरु तो देता है किनले साधक उस उपदेश का पालन नहीं करता है। वह उसका दोष है। हमारे में ज्ञान नहीं है ऐसी बात नहीं है—ज्ञान तो है लेकिन अपने ज्ञान के मुताबिक चलते नहीं।

प्र०—गुरु को शिष्यों को दोष दिखा देना चाहिए।

स्वा० श०—ज्ञान और क्रियाशक्ति बिना माँगे मिलती है लेकिन इसका इस्तेमाल जीवन में न करो वह तो साधक का दोष है। अपने में जो ज्ञान और शक्ति है इसको ठीक तरह से काम में नहीं लगाता यही तो बड़ा प्रतिबंध है। हम लोग जो नहीं करना चाहते हैं वह बार-बार सामने आता है। इसका दुःख लगना चाहिए। दुःख जब आता है तो निराश हो जाता है। कभी भी निराशा का आश्रय मत लो। लक्ष्य बदलने जाओगे तो दुःख बढ़ेगा।

माँ—जबतक भगवत्-प्राप्ति नहीं होती तबतक दुःख मिलता है।

स्वा० श०—जब साधना में विघ्न, असफलता दीखे तो समझना कि साधन सफल होने जा रहा है। साधन भजन में शिथिलता नहीं आनी चाहिये। दुःख से बचने की कोशिश मत करो। दुःख कम हो जाये तो दूसरों का दुःख ले लो। दुःख को निमंत्रण देकर बुलाना चाहिये।

माँ—गुरु शिष्य के पीछे खड़ा रहता है। गुरु शिष्य की आध्यात्मिक भूख भी बढ़ाता है।

स्वा० श०—गुरु कृपा ऐसी होती है कि कभी-कभी उसका पता शिष्य को लगता नहीं। जैसे कोई व्यक्ति पेड़ को काटते हैं वैसे ही गुरु शिष्य के संस्कारों को काटते हैं। कोई व्यक्ति पेड़ का मूल काटता है तो कोई व्यक्ति सारा पेड़ काटता है। गुरु कृपा भी ऐसी दो किस्म की होती है। माँ के पास इतना रहा तो क्या प्राप्ति हुई ऐसा मत सोचो। जब समय परिपक्व होगा तब पता चल जायेगा। जैसे आयाडेक्स (Iodex) का मलहम पुराने दर्द पर जब एक दो मास लगाते हैं तब पता नहीं चलता। लेकिन पीछे नित्य लगाने से दर्द कम होता जाता है। कभी भी निराश नहीं होना चाहिये। भगवत् प्राप्ति के लिये परम व्याकुलता होनी चाहिये। सब तरह से निश्चिन्त हो जाना ठीक नहीं है। अपने काम का भार गुरु पर फेंक कर तुम आनन्द से संसार चलाते रहो वह ठीक नहीं है।

माँ—फिक्र में फकीरी नहीं होती।

स्व० श०—ईश्वर-प्राप्ति का भार तो छोड़ दिया गुरु के ऊपर और भाई

साहब चले अपने संसार करने को ! यह कैसे हो सकता है ? अपने को भी मालिक मानो और गुरु को भी मालिक मानो--ऐसे दो वस्तु साथ कैसे चल सकती है। समर्पण करना बहुत कठिन है।

डा० पन्नालाल--माँ ने एक दफे कहा था, कि हिम्मत हो तो पेड़ पर चढ़कर फल खा लो और हिम्मत न हो तो नीचे गिरे हुए फल को खाओ।

स्वा० श०--बहुत सरस बात है।

प्र०--आसन कैसे करने चाहिये ?

स्वा० श०--साधना की क्रिया की बातें तो अपने अपने गुरु के पास से सीखनी चाहिये। या तो जिसके ऊपर तुम्हारी श्रद्धा हो वहाँ से भी सीख सकते हो।

डा० प०--पूछने जाने में मुश्किल है। कारण, पूछने जायेंगे तो आचरण भी करना पड़ेगा। पूछने का मन तो होता है लेकिन डर लगता है। गुरूपदेश सुनते हैं तब भी दोषों को छोड़ा नहीं जाता। कारण, कच्ची बुद्धि है। गुरु ने कंजूसी की-ठीक तरह से समझाया नहीं।

माँ--पिताजी, यह क्या कह रहे हैं।

स्वा० श०--ऐसे भाव से गुरु के साथ का सम्बन्ध और भी दृढ़ होगा। गुरु के लिये बहुत प्रीति जागृत हो रही है इसलिये तो ऐसी बातें कर रहे हैं। यदि क्रोध करना हो तो गुरु पर क्रोध करना ही अच्छा है।

डा० प०--नारद भक्ति सूत्र में लिखा है—काम, क्रोध "तस्मिन्नेव करणीयम्" भगवान् पर ही करो।

स्वा० श०—जब उनके ऊपर ज्यादा प्रीति होती है तब क्रोध आता है।

माँ--किसी भी उपाय से भगवान् को प्राप्त करना चाहिये। सुना है कि मित्र रूप से भजन से ७ जन्म में मुक्ति होती है और शत्रु रूप से भजन से ३ जन्म में मुक्ति होती है। किसी भी तरह से अग्नि को प्रकट करना चाहिये। इसके बाद ब्रह्मचारी श्री विभु महाराजजी ने सूरदासजी का प्रसिद्ध भजन-"अखियाँ हरि दर्शन की प्यासी" गाया

× × × ×

प्र०--लोग व्रतपालन क्यों करते हैं। एकादशी-पूर्णिमा क्यों पालते हैं ?

माँ—(स्वा० शरणानन्दजी को) पिताजी, तुम समझाओ।

स्वा० श०—शरीर और विराट् के साथ सम्बन्ध होता है। एकादशी से पूर्णिमा तक विकार उत्पन्न होता है। व्रत माने तपश्चर्या। विकार माने मन और शरीर में दोष आते हैं।--उपवास से शरीर में संयम आता है। प्राण और मन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ज्ञान और शक्ति यह दो शक्तियाँ हैं। यदि

भोजन सात्त्विक हो तो प्राण भी सात्त्विक होता है। प्राण सात्त्विक होने से उसका असर मन पर भी पड़ता है। उपवास का सामान्य सिद्धान्त रखने से सबको फायदा होता है। आजकल तो उपवास से राजनैतिक प्रश्नों का भी निराकरण होता है। उपवास से अनाज बच जाता है। यदि भारतवर्ष के सब लोग एकादशी का उपवास करें तो कितना अनाज बच जायेगा। एकादशी से पूर्णिमा तक सूर्य चन्द्र में भी विकार होता है। इन दिनों किसी-किसी कों मानसिक विकार भी होता है। यह सब बातें अनुभूतिजन्य हैं। अमुक दिनों में क्यों उपवास करना चाहिए—यह तों विज्ञान की बात है। तुम जानते होगे कि अमुक औषधि सिर्फ पूर्णिमा के दिन में काम लगती हैं। एकादशी में ११ इन्द्रियों का भी संयम करना पड़ता है।

माँ—उपवास—उप माने भगवान् के पास, वास माने रहना। इस दिन भगवत्-चिन्तन में ज्यादा से ज्यादा रहना चाहिये।

स्वा० श०—उपवास में योग का अङ्ग भी आ जाता है। जब कोई नियम समाज के लिये निश्चित होता है तब अनेक दृष्टियों से विचार करना होता है। एक किस्म की साधना सबके लिये नहीं होती।

प्र०—यज्ञ कब से शुरू हुआ ?

स्वा० श०—तुमको भूख कब से लगना शुरू हुआ ? जब से भूख शुरू हुआ तब से यज्ञ शुरू हुआ। खाना-पीना—यह तो प्राण का धर्म है। यज्ञ में अग्नि देवता को आहुतियाँ दी जाती हैं।

प्र०—अग्नि में आहुति देने से क्या लाभ ?

स्वा० श०—रोटी खाने से क्या लाभ ? तुम्हारे पेट में जो अग्नि है उनको आहुति दी जाती है।

प्र०—यज्ञ करें या न करें तब भी पेट में अग्नि तो रहेगा ही।

स्वा० श०—व्यक्ति समष्टि का ऋणी है। यज्ञ माने क्या ? तुमने जो देवताओं के पास से वस्तुयें ली थीं—उनको ही देवताओं कों वापस देना है—माने देवताओं के ऋण से उऋण होना है। यदि देना अच्छा न लगे तो उनसे लेना बन्द कर दो। यज्ञ का अर्थ है कि स्वार्थ भाव का त्याग, मन का त्याग और भौतिक यज्ञ में भौतिक वस्तुओं का त्याग।

प्र०—मां, मुझको मेरे प्रश्न के उत्तर से शान्ति नहीं हुई।

माँ—पिताजी ने बहुत सुन्दर समझाया है। यह जो कुछ दृष्टिगोचर हों रहा है—यह क्या यज्ञ का फल नहीं है ?

स्वा० श०—समस्त जों कुछ है सब यज्ञ का फल ही है।

माँ—यह सारी मूर्तियां आहुति के फल से बनी हैं। जितना यह सृष्टि है सब

यज्ञ से ही बनी है। आहुति माने क्या—प्रदान करना माने त्याग करना। तुम जब अग्नि में आहुति देते हो वह सब देवताओं को मिलती है। दी हुई वस्तु को ही तुम दे रहे हो। पिताजी, आहुति देने से क्या होता है?

स्वा० श०—जिन भावनाओं के द्वारा आहुति दी जाती हैं वह भावनाएं प्रकट हो जाती हैं। चाहे वह सकाम भावना हो या निष्काम भाव हो।

माँ—जो कुछ प्रदान किया जाता है वह सब कुछ आहुति ही है। समस्त सृष्टि ही आहुति है।

स्वा० श०—आहुति से ही उत्पत्ति होती है।

माँ—तुम समझे?

प्र०—बिलकुल समझ में नहीं आ रहा है। देवताओं का कौन सा जगत् है?

स्वा० श०—जहाँ से तुम्हारा जगत् बंद होता है वहाँ से देवताओं का जगत् शुरू होता है।

माँ—देवता क्या वस्तु है?

स्वा० श०—जो व्यक्ति कम चीज लेकर ज्यादा देता है वह देवता है। जैसे हम लोग पृथ्वी में एक बीज डालते हैं तो पृथ्वी बहुत से बीज वापिस दे देती है।

माँ—दैवी शक्ति बहुत उदार होती है। वहाँ भी स्त्रीलिंग और पुलिंग रहता है।

प्र०—क्या सचमुच देवताओं का अस्तित्व होता है?

स्वा० श०—हाँ, जरूर है।

माँ—आहुति माने क्या—अपने को भगवान् के श्री चरणकमलों में अर्पण कर देना। श्री हरिबाबा ने एक दफे सुनाया था कि मदालसा ने अपने पुत्र को उपदेश दिया था कि—तुम मदालसा से उत्पन्न हुए हो—अब दूसरी कोई स्त्री से जन्म नहीं लेना है माने तुम भगवत्-प्राप्ति का मार्ग लो। पुत्र का उत्पन्न होना माने क्या? पुरुष—जो स्त्री में गर्भाधान करता है वह माँ को आहुति ही है।

स्वा० श०—उपनिषदों में भी आता है कि गर्भाधान भी एक आहुति ही है।

माँ०—विश्व में जो कुछ दीखता है वह सब कुछ आहुति स्वरूप ही है। आहुति माने प्रदान करना। प्रदान इसलिये करना है कि अपने को भी समर्पित कर देना। इससे लक्ष्य प्राप्ति होती है। निर्गुण भाव से करने से भी वह भगवान् का ही प्रकाश है। सगुण भाव से करने में भी भगवान् का ही प्रकाश है। उनका श्री-श्री चरणकमलों में सम्पूर्ण समर्पण कर दो। स्वाहा कर दो। आहुति से ही वृष्टि होती है और वृष्टि से अन्न होता है।

स्वा० श०—यज्ञ निष्काम भाव से भी होता है। वृक्ष से भी यज्ञ होता है।

यज्ञ माने स्वार्थ को सेवा के भाव में बदलना। यज्ञ वस्तुओं द्वारा भी होता है और भावना द्वारा भी होता है।

माँ—कोई कहते हैं कि विलायत में यह वस्तु नहीं है तो क्या वहाँ ऐसा फल नहीं होगा? यदि वहाँ यह वस्तु नहीं होगी तो उसके बदले में दूसरी कोई वस्तु जरूर होगी। जहाँ जाओ भोजन तो सब लोग सर्वत्र करते ही हैं।

प्र०—यज्ञ से क्या प्राप्ति होती है?

स्वा० श०—यज्ञ सिर्फ हिन्दुस्तान के लिये ही थोड़े होता है? व्यक्ति समष्टि का अंग है। वास्तविक रीति से धर्म—यह स्वाभाविक नियम है। जिस वृक्ष से फल ज्यादा आते हैं उसका आयुष्य ज्यादा होता है। यज्ञ एक भावना है वह राग को त्याग में परिणत कर देता है।

माँ—बात यह है कि यह जगत् परिवर्तनशील है। जैसे पहले बालक छोटा होता है। उसमें से बदलकर युवक होता है। माने—बालक की युवक में आहुति हो गई। और पीछे जब वृद्ध होता है तो वृद्धावस्था में युवक की आहुति हो गई। जहाँ गति है वही जगत् है। गति रूप में स्थिति भी रहती है—माने गति ही स्थिति है। परिवर्तन—यह ही जगत् का नियम है।

——

अनुकम्पा धारा

आनन्दमयी माँ कहो या विश्वमयी माँ ।
प्रेम-मयी माँ कहो या ब्रह्ममयी माँ ॥

जिस नाम से चाहो पुकारो,
अगणित हैं उनके तो नाम ।
सत्यानन्द-स्वरूपिणी माँ को,
मेरा बारम्बार प्रणाम ॥

महिमा सके कौन कह उनकी,
सामर्थ्य ऐसी कहाँ से लाऊँ ?
शेष महेश भी कह न सके हैं,
मैं अबोध कैसे गाऊँ ?

चरणों में क्षमा याचना कर,
मति अनुसार गुण गाती हूँ ।
कृपा से उनकी जैसा आया,
थोड़ा बहुत सुनाती हूँ ॥

कैसी अद्भुत निर्मल जननी,
हम सब जन ने पाई है ।
करने को कल्याण हम सबका,
इस धरती पर आई है ॥

भूला भटका जो भी बालक,
चरणों में उनके आता है ।
मातृ-स्नेह से प्लावित हो,
सुध बुध सब बिसराता है ॥

पाप ताप सब मिट जाते हैं,
शरण में उनकी आने से ।
पर शरणागति हो सच्ची,
नहीं चलता काम बहाने से ॥

एक बार जो दर्शन पाता,
वह दर्शन से नहीं अघाता है।
बार-बार दर्शन करने को,
दूर-दूर से आता है॥

कितने संतप्त दुःखी प्राणी,
माँ के समीप आते हैं।
हो के शीतल और दुःख बहा,
आनन्द संग ले जाते हैं॥

कोई पुत्र शोक से कातर हो,
करता विलाप आता है।
तो कोई दुःखिया पतिहारा हो,
जिसे नहीं कुछ भाता है॥

माँ के सांनिध्य में आते ही,
वह खोई शान्ति पाता है।
भूल के सभी कष्ट अपना,
वह धीरज को अपनाता है॥

मैंने देखा कुछ को जो,
तड़पते दुःख से आए थे।
पर चन्द दिनों में ही देखा,
मुस्कान अधर पर लाए थे॥

माँ कितनों के दुःख हरती हैं,
कितनों को सहारा देती हैं।
जो कोई चाहता जो उनसे,
सबकी झोली भर देती हैं॥

हम सबके कल्याण की खातिर,
स्वयं कष्ट वह सहती हैं।
देने को मानो वे तत्पर,
सदा ही बैठी रहती हैं॥

दयामयी माता हैं वह तो,
सबका कष्ट वे हरती हैं।

भला बुरा कोई भी होवे,
सबका पालन करती हैं ॥

कहने को दीक्षा नहीं देतीं;
पर दृष्टि ही उनकी दीक्षा है।
और प्रत्येक चेष्टा उनकी,
बस शिक्षा ही शिक्षा है ॥

पतितों को पावन करती हैं,
पावन को भवसागर पार।
अधमों का उद्धार हैं करती,
करती हैं सबको सम प्यार ॥

पावन चरणों से उनके,
"अनुकम्पाधारा" बहती है।
मल-मल के नहाते बड़भागी,
वह तो कभी न घटती है ॥

माँ जहाँ कहीं भी होती हैं,
चहुँ ओर आनन्द बरसता है।
जो कोई सके भर ले जावे,
वहाँ न कोई कृपणता है ॥

असीम कृपा की मूरति माता,
भक्तों के दुःख हरती हैं।
चाहे वह कहीं भी होवें,
साथ सदा वे रहती हैं ॥

अति अद्भुत प्रेममयी माँ की,
वाणी से फूल झरते हैं।
या तृप्त करने प्यासों को,
वे अमृत-बिन्दु बरसते हैं ॥

जो कानों द्वारा कर प्रवेश,
ताप सकल हर लेते हैं।
कर सिञ्चन मन औ प्राणों को,
आनन्द विभोर कर देते हैं ॥

फूल से भी सुकोमल माँ,
कभी जो कठोर बनती हैं।
हमारे ही परम हित की खातिर,
वह यह नाट्य रचती हैं॥

किन्तु उसमें भी तो देखो,
कैसी कृपा झलकती है।
करुणा से पिघली मातृ-
ममता ही मानो छलकी पड़ती है॥

अन्दर तो है स्नेह भरा,
कठोरता तो उसका सार।
कैसा सुन्दर देखो तो है,
माँ का अद्भुत प्यार अपार॥

अनजाने सब कुछ देकर भी,
वह जरा नहीं दिखलाती हैं।
दिखलाना तो दूर रहा वह,
उसको और छुपाती हैं॥

'डॉक्टर औषधि' को श्रेय देय,
शारीरिक रोग हटाती हैं।
रक्षा और कृपा उनकी से,
मृत्यु भी टल जाती है॥

बिन माँगे सब कुछ मिलता है,
जो उन पर निर्भर रहता है।
कृपा-मयी की कृपा का झरना,
सदा ही बहता रहता है।

कल्प वृक्ष से जो भी माँगो,
बुरा भला सब मिलता है।
पर मधुमयी माता से केवल,
भला भला ही मिलता है॥

जो जिस भाव से भजता उनको,
वैसी ही बन जाती हैं।

सबके इष्ट उन्हीं में तो हैं,
आवरण वही हटाती हैं ॥

करुणा और अनुकम्पा की,
बात जब मन में आती है ।
उस ही में खो जाती हूँ,
फिर बात कही नहीं जाती है ॥

"जितना भगवत्-अनुराग होता है, उतना ही विषय के प्रति वैराग्य आता है ।

—श्री श्री मा

गीता के अर्जुन महाभारत की पटभूमिका में

गंगा समीरण

१५—अर्जुन के विषाद की व्यंजना साहित्य में अनुपम किन्तु समरांगण में अमार्जनीय

अर्जुन के विषाद का सुगंभीर संवेदन मानव के अन्तर को स्पर्श करता है। अर्जुन की अनुभूतियाँ आन्तरिक, उनकी भावधारा स्वतःस्फूर्त और भाषा सुन्दर है। काव्य की दृष्टि से गीता का अर्जुन-विषाद-योग अनुपम है। किन्तु कार्य-व्यतिरेक में काव्य, यह आचरण महाभारत के अर्जुन के लिए स्वभाव विरुद्ध है। महाभारत के अर्जुन काम के मानव हैं, वे वीर योद्धा हैं। गीता महाभारत के भीष्म-पर्व का एक अंश है। जब कि गीता के अर्जुन, युद्ध क्षेत्र में आकर, युद्ध करने के बदले युद्ध विरुद्ध रसात्मक वाग्जाल का निर्माण करते रहे। वह केवल करुण रस हो रहा। इससे ऐसा लगता है कि महाभारत का वह लौह-पुरुष कुरु-क्षेत्र में आकर मानो मोम का पुतला बन गया था।

विषादग्रस्त अर्जुन के सुदीर्घ भाषण में कोई नयी बात नहीं थी। स्वजन-वध, अन्याय आदि उनकी जो युक्तियाँ थीं, वह सब इसी बीच महाभारत के उद्योग पर्व में विशद रूप से आलोचित हो गयी है। उन युक्तियों का उत्तर भी श्रीकृष्ण यथा समय पंच-पाण्डवों के समक्ष देते रहे।

एक ही प्रश्न बार-बार उत्पन्न हुआ था—युद्ध करना या नहीं करना। श्रीकृष्ण ने एक ही विधान बार-बार दिया—धर्मयुद्ध क्षत्रियों का अवश्य कर्त्तव्य कर्म है। श्रीकृष्ण का सिद्धान्त व्यक्त हुआ था—सुस्पष्ट भाषा में। उसमें संशय का कोई अवकाश नहीं था। आसन्न कुरुक्षेत्र के युद्ध क्षेत्र में अर्जुन का विशेष दायित्व है—यह बात श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा को बार-बार स्मरण दिलाते रहे। महाभारत के उद्योगपर्व में अर्जुन ने उस बात को स्वीकार किया था वीरोचित भाव में।

कुरुक्षेत्र युद्ध के लिये पाण्डव पक्ष की प्रस्तुति की सूचना हुई थी—बिराट्-सभा में; श्रीकृष्ण की प्रेरणा से।* समवेत राजन्यवर्ग के निकट श्रीकृष्ण ने घोषणा

---

* 'आनन्दवार्ता' के पिछले अङ्क में इस सम्बन्ध में चर्चा की गई है, दुर्योधन के आयोजन के मूल में श्रीकृष्ण—शीर्षक परिच्छेद में—(VOL. XV. NO. 3, P. 134)

की कि प्रयोजन होने पर कौरवों का संहार करना होगा। विराट्, द्रुपद, सात्यकि इत्यादि महावीरों का रक्त खौल उठा था —श्रीकृष्ण के राजनीतिक भाषण से। इन लोगों·ने धर्मयुद्ध में प्राणपण से पाण्डव पक्ष को सहायता दी। द्रुपदपुत्र धीमान् धृष्टद्युम्न ने कुरुक्षेत्र में पाण्डव सेना की व्यूह रचना की। धर्मराज की प्रतिष्ठा के आदर्श से अनुप्राणित होकर प्रख्यात महावीर युद्ध में कूद पड़े। धर्मराज युधिष्ठिर के साथ सहयोग करने का अवसर पाकर सभी अपने को धन्य समझने लगे।

किन्तु पाण्डव सेना के अधिनायक अर्जुन ने युद्ध क्षेत्र में क्या किया? वे नायक बने 'अर्जुन विषाद योग' के। इस विषाद की व्यञ्जना साहित्य में अनुपम है, किन्तु यह समर-प्रांगण में अमार्जनीय है।

१६ — युधिष्ठिर विषाद में अर्जुन की भूमिका

गीता के 'अर्जुनविषादयोग' के नायक यह अर्जुन नैराश्य की प्रतिमूर्त्ति हैं। इन्हीं की एक अन्य मूर्त्ति हम देखते हैं—'युधिष्ठिर विषाद' के समय।

कुरुक्षेत्र में दुर्योधन की विशाल सेना युद्ध के लिये प्रस्तुत है। पाण्डवों की तुलना में कौरव सेना संख्या से वरिष्ठ है। युधिष्ठिर की ओर ७ अक्षौहिणी सैन्य और दुर्योधन की ओर ११ अक्षौहिणी। दुर्योधन के सहायक हैं—भीष्म; द्रोण, कर्ण, जयद्रथ एवं नारायणी सेना। यह सब देखकर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर विषण्ण हुए—"विषादमगमद्राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः"। युधिष्ठिर के इस विषाद के कारण—पराजय भय, आत्म विश्वास का अभाव थे। कौरव सेना की व्यूह रचना स्वय भीष्म ने की थी। अभेद्य था वह व्यूह। यह देखकर युधिष्ठिर विवर्ण हो उठे—"कैसे इस महाव्यूह से हम निस्तार पायेंगे?"[३७]

इस समय तक अर्जुन प्रकृतिस्थ थे। तब तक मोह का आक्रमण इन पर नहीं हुआ था, स्वजनवध भीति उनकी बुद्धि को आच्छन्न नहीं कर सकी थी। अर्जुन ने घोर भाव से एवं दृढ़ता के साथ युधिष्ठिर को ढाढ़स दिया, विषाद ग्रस्त अग्रज को उत्साहित किया यह कहकर—"आप यह जान लें कि इस युद्ध में हमारी विजय निश्चित है।" उस दिन अर्जुन यह बात कह सकते थे दृढ़ता के साथ, इसका कारण यह है कि उन्हें दृढ़ विश्वास था कि जिधर धर्म है, जिधर कृष्ण हैं, उधर ही जय होगी।

उस दिन अर्जुन युधिष्ठिर को नारद की बात बताते रहे—"यतः कृष्णस्ततो जयः"। नारद की इन्हीं बातों को विस्तारित रूप में समझाते हुए अर्जुन अपनी भाषा में सान्त्वना देते रहे विषाद ग्रस्त युधिष्ठिर को—"जय कृष्ण का अनुगत है,

---

(३७) महाभारत, भीष्मपर्व—एकविंश अध्याय, १–२

जय सर्वदा कृष्ण का अनुसरण करता है। असीमतेजा कृष्ण शत्रुओं के मध्य निर्भय होकर रहते हैं, वे सनातन पुरुष हैं। जिधर कृष्ण रहते हैं, उधर की जय होती है।[३८]

युधिष्ठिर को प्रबोध देते समय अर्जुन के मन में अणुमात्र भी संशय नहीं था कि धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में धर्मराज का संग्राम होगा अधर्म के विरुद्ध एवं ऐसी स्थिति में धर्म की जय होना अनिवार्य है। उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर को ब्रह्मा के उपदेशों का स्मरण कराया। देवासुर संग्राम के समय इन्द्रादि देवताओं से ब्रह्मा ने कहा था—"जयाभिलाषी लोग सत्य, दया, धर्म और उद्यम द्वारा जिस तरह विजयी बनते हैं, बल या वीर्य द्वारा ऐसा संभव नहीं होता। अतएव आप लोग अहंकार शून्य होकर, सभी प्रकार के अधर्म और लोभ त्यागकर, उद्यम के साथ युद्ध कीजिये; क्योंकि जिधर धर्म है; उधर ही जय है।"

युधिष्ठिर जब विषादग्रस्त थे, महाभारत के अर्जुन तब यह बात अच्छी तरह जानते थे कि इस युद्ध में पाण्डव पक्ष में ही था—सत्य और धर्म। गीता के अर्जुन जब स्वयं विषादग्रस्त हुए तब उनमें ऐसी धारणा हुई कि इस युद्ध में स्वजन वध करने पर पाण्डवों के लिए अधर्म होगा, पाप होगा।

उपसंहार में अर्जुन ने युधिष्ठिर से कहा—"सर्वसंहारकर्त्ता और त्रिभुवनाधीश स्वयं श्रीकृष्ण जिसकी विजय कामना करते हैं, उसी धर्मराज को इस युद्ध में मनोवेदना का कोई कारण मुझे तो दिखाई नहीं देता।[३९]

युद्ध जब आगतप्राय है तब युधिष्ठिर को मनोवेदना का कोई कारण अर्जुन को दिखाई नहीं पड़ा। किन्तु जब युद्ध आरंभ हो गया दोनों पक्षों को शंख ध्वनि के संकेत से, तब अर्जुन अपनी मनोवेदना के समर्थन में तरह-तरह की युक्तियाँ आविष्कार करने लगे।

१७—अर्जुनविषाद भागवत उद्देश्य का परिपन्थी

अर्जुन का कर्मनाशा विषाद एवं तामसिक अवसाद श्री भगवान् के भागवत उद्देश्य का परिपन्थी है। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है एवं अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब-तब श्रीकृष्ण अवतीर्ण होते हैं। महाभारत युग में धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान हो गया था। इसी कारण श्री भगवान् धराधाम में आये थे धर्माश्रयी साधुजनों के परित्राण और दुष्कृतजनों के विनाश के लिए।

---

(३८) महाभारत, भीष्मपर्व—एकविंश अध्याय, १२-१४

(३९) महाभारत भीष्मपर्व—एकविंश अध्याय, १३-१७

श्रीकृष्ण ने कहा है—"दुर्योधन एक मन्युमय महावृक्ष एवं अविवेचक धृतराष्ट्र उसका मूल है और युधिष्ठिर एक धर्ममय महावृक्ष एवं सगुण ब्रह्म कृष्ण तथा ब्राह्मण उसके मूल हैं।[४०]

श्रीकृष्ण ने अधर्म के अभ्युत्थान में कौरवों के अवदान का वर्णन किया है—"राजा धृतराष्ट्र पुत्रों से मिलकर बिना कारण, पाण्डवों का धर्मसंगत पैतृक राज्य हरण करने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु धृतराष्ट्र-पुत्रगण प्राचीन राज-धर्म का भी पालन नहीं कर रहे हैं। जो व्यक्ति दूसरों का धन अपहरण करता है, चाहे छिपाकर हो या प्रत्यक्ष रूप में, वह चोर है, वह निन्दनीय है। दुर्योधन के साथ चोर का पार्थक्य क्या है? अधार्मिक कौरव धर्म का मर्म बिना समझे जिस तरह का आचरण कर रहे हैं, उसके फलस्वरूप गुरुतर दस्युता का प्रादुर्भाव हो रहा है।"[४१]

दुर्योधन की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध प्रतिवाद स्पष्ट हो उठा है, श्रीकृष्ण की निम्नोद्धृत उक्ति में—"क्रोध के वशीभूत होकर लोभी दुर्योधन पाण्डवों का राज अंश छीन ले रहा है और इस कार्य को वह धर्मसंगत समझ रहा है। वस्तुतः यह पाण्डवों का हिस्सा है।[४१]

"वस्तुतः यह पाण्डवों का हिस्सा है"—सिर्फ इतना कहकर श्रीकृष्ण शान्त नहीं हुए। उन्होंने धृतराष्ट्र के दूत संजय से यह भी कहा—"हम लोगों के उस हिस्से को दूसरा कोई क्यों लेगा? अतएव इसके लिए युद्ध करते समय हमारी मृत्यु हो जाय तब भी वह प्रशंसनीय होगी। संजय! तुम इन धर्म कथाओं को कौरवों के राज्यों में जाकर कहना।"[४१]

'हमारा' शब्द दो बार प्रयोग करके श्रीकृष्ण ने संजय को जताया कि श्रीकृष्ण और पाण्डवगण अभिन्न हैं। पाण्डव पक्ष में ही धर्म था, यह बात श्रीकृष्ण ने स्पष्ट रूप से संजय को सूचित किया था—"संजय! तुम मेरी या युधिष्ठिर की धर्मच्युति नहीं देख पाये हो, फिर क्यों युधिष्ठिर की धर्मच्युति की बातें कह रहे हो? उन्होंने कोई अन्याय नहीं किया है—क्षात्र-धर्म का पालन किया है। न्यायतः प्राप्य राज्य का उद्धार कर रहे हैं।[४२]

श्रीकृष्ण ने भविष्यवाणी की—"बलदर्पित और पापिष्ठ धार्तराष्ट्र अपने कर्म दोषों से दग्ध होंगे। अर्जुन रथ पर आरोहण कर युद्ध में उनका ध्वंस करेंगे।"[४३]

---

(४०) महाभारत, उद्योगपर्व—ऊनत्रिंश अध्याय, ५२–५३

(४१) महाभारत उद्योगपर्व—ऊनत्रिंश अध्याय, ५२–५३

(४२) महाभारत उद्योगपर्व—ऊनत्रिंश अध्याय, ४

(४३) महाभारत उद्योगपर्व—ऊनत्रिंश अध्याय, ५०

दुर्योधन के निकट श्रीकृष्ण ने संवाद भिजवाया—"मैं और अर्जुन, हमारे साथ तुम लोगों की शत्रुता है। मैं अर्जुन के द्वारा युद्ध में तुम्हारा वध कराऊंगा। इसके बाद पाण्डवों को दान करूंगा उत्तम राज्य।"[४४]

श्रीकृष्ण की इस उक्ति में स्पष्ट हो उठा है—अवतार के आविर्भाव का गूढ़ रहस्य–साधुजनों का परित्राण, दुष्कर्मियों का विनाश एवं धर्म संस्थापन। महाभारत में अर्जुन को यही भागवत उद्देश्य बारंबार सूचित करते रहे। किन्तु कार्यकाल के समय गीता के अर्जुन सामयिक रूप में उन बातों को भूल गये।

१८—धर्म की ग्लानि और अधर्म के अभ्युत्थान का केन्द्र दुर्योधन

बाल्यकाल से ही दुर्योधन था दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य एवं ईर्ष्या की प्रतिमूर्त्ति। उसकी उद्धतता की सीमा नहीं थी। धरा को तुच्छ समझने लगा। एक-एक सीढ़ी चढ़ता हुआ वह चरम सीमा तक पहुँच गया—श्रीकृष्ण के प्रति विकृत आचरण करने में।

कौरव-सभा में श्रीकृष्ण आये थे पाण्डवों के प्रतिनिधि रूप में—दूत की भूमिका में। उनके शुभागमन का मूल उद्देश्य था—सन्धि प्रस्ताव। कौरव-सभा में श्रीकृष्ण को 'एकाकी' पाकर मूढ़मति दुर्योधन ने उन्हें बाँधने का उपक्रम किया। उस समय श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को श्रीकृष्ण स्वरूप देखने का सुअवसर दिया। देव दुर्लभ था वह सुयोग।

श्रीकृष्ण ने कहा था—"अति दुर्बुद्धि दुर्योधन! तुमने मोहवश सोचा है कि मैं अकेला हूँ, इसलिए तुम मुझे पराभूत करके बाँधना चाहते हो! तब देखो।"[४५] इतना कहने के बाद उन्होंने दुर्योधन को स्वीय विश्व रूप दिखाया।

दुर्योधन ने देखा—उस विराट् विश्व रूप में हैं—पाण्डवगण, अन्धकवंशवाले, वृष्णी वंशवाले, और कितने महर्षि, आदित्य, रुद्र, वसु। दुर्योधन ने प्रत्यक्ष अनुभव किया कि श्रीकृष्ण एकाकी नहीं हैं। श्रीकृष्ण के उस ज्योतिर्मय शरीर से उद्भूत हुए—अग्नि शिखा की तरह उज्ज्वल देवगण, ललाट में ब्रह्मा, वक्ष में रुद्र, मुँह में अग्नि, बाहु युगल में अर्जुन और बलराम। भयंकर सर्वव्यापी श्रीकृष्ण का वह विश्व रूप था। दुर्योधन उसके मर्म को नहीं समझ पाया। उसने सोचा—यह सब कृष्ण की जादू विद्या है। सगर्व उसने श्रीकृष्ण के सन्धि प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

---

(४४) महाभारत उद्योगपर्व—ऊनपंचासदधिकशततम अध्याय, ५८-५९

(४५) महाभारत, उद्योगपर्व, द्वाविंशत्यधिकशततम अध्याय, २

कौरवसभा की इस घटना के कुछ दिनों बाद जब दुर्योधन-दूत उलूक पाण्डव शिविर में आया तब श्रीकृष्ण को दुर्योधन का वाचिक (वक्तव्य) सुनाया गया। वे बातें रूढ़, विद्रूपपूर्ण तथा अपमानसूचक थीं। दुर्योधन ने सूचित किया है—"कृष्ण, तुमने उस दिन हस्तिनापुर की सभा में माया रूप धारण किया था। उसी तरह पुनः वही मूर्त्ति धारण करके, अर्जुन को अपने साथ लेकर मुझ पर आक्रमण करना। देखो, माया, छल, इन्द्रजाल, विभीषिका की अवतारणा सभाओं में हो सकती है, युद्धक्षेत्र में अस्त्रधारी वीरों के निकट इन सबकी प्रतिक्रिया अलग प्रकार की होती है। अस्त्रधारी वीर इसका उत्तर देते हैं—हुङ्कार गर्जन द्वारा। हम लोग भी माया करके स्वर्ग जा सकते हैं, आसमान में उड़ सकते हैं। पाताल में प्रवेश कर सकते हैं और इन्द्रपुरी भी जा सकते हैं किन्तु क्षमता-शाली व्यक्ति इन सब तुच्छ कृत्रिम उपायों को अपनाकर कार्य सिद्ध नहीं करते।"[४६]

श्रीकृष्ण को तुच्छ बनाने की गरज से दुर्योधन ने उलूकके माध्यम से कहलवाया था युद्ध का आह्वान अत्यन्त अभद्रभाषा में—"कृष्ण, पाण्डवों के लिए पराक्रम प्रकाश कर, युद्ध में यत्नवान् होकर आज तुम युद्ध करो। देखना है तुम्हारे वीरत्व को। तुम पुरुष बनो। कृष्ण, अकस्मात् तुम्हारा गुरुतर यश जगत् में विख्यात हो गया है। किन्तु अब हम यह जान लेंगे कि पुंलिङ्गयुक्त नपुंसक भी अनेक हैं।"[४७]

श्री भगवान् के विश्वरूप को विद्रूप करते हुए दुर्योधन ने यह भी कहा था—यह सब छल, माया, इन्द्रजाल और विभीषिका है। स्वयं पुरुषोत्तम को उन्होंने उपदेश दिया था—"पुरुष बनो।" चरम स्पर्धा।

१९—धर्म संस्थापन कार्य में पाण्डव श्रीकृष्ण के लीला सहचर बने

महाभारत में श्रीकृष्ण की धर्म स्थापना सम्बन्धी जो लीलाएँ हुईं, उसके सहचर थे—धर्मराज युधिष्ठिर, उनके चारों भाई और उनकी महिषी द्रौपदी। विशेष आख्यात लीला सहचर थे अर्जुन। अर्जुन में मूर्त्त हुआ था, श्रीकृष्ण की विभूति का सम्यक् विकास—"वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः"—(गीता १०/३७)

पाण्डवगण थे श्रीकृष्ण के प्राण। कौरव सभा में दुर्योधन को सम्बोधित करते हुए श्रीकृष्ण ने खुलेआम घोषणा की—"राजा, आप पाण्डवों के प्रति विद्वेष रखते हैं, किन्तु पाण्डव मेरे प्राण हैं। ……… जो व्यक्ति पाण्डवों के प्रति विद्वेष

---

(४६) महाभारत उद्योगपर्व—ऊनपंचासदधिकशततम अध्याय, ५३-५७

(४७) महाभारत-उद्योगपर्व—ऊनपंचासदधिकशततम अध्याय, ५३-५७

रखता है, वह मुझसे भी विद्वेष रखता है। जो व्यक्ति उनके अनुकूल हैं, वे मेरे लिए भी अनुकूल हैं।… … …धर्माचारी पाण्डवों के साथ मुझे भी अभिन्न समझ लेना—ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः।[४८]

भक्तों के लिए भगवान् क्या नहीं कर सकते? श्रीकृष्ण ने पहले कहा था कि कुरुक्षेत्र-युद्ध में वे रहेंगे अयोध्य—युद्ध नहीं करेंगे। तिस पर भी पाण्डवों के परित्राण के लिए भीष्म से लड़ने के लिए तैयार हो गये थे। विपन्न एवं प्रपन्न भक्त की रक्षा के लिए उन्हें अपनी उक्ति लंघन करने में कोई सकोच नहीं हुआ था।

कुरुक्षेत्र—युद्ध का नवम दिन। भीष्म दुर्धर्ष रूप में दिन भर तुमुल लोमहर्षण युद्ध करते रहे। पाण्डव-सेना विपर्यस्त विध्वस्त होकर बिखर गयी है। उनमें न शृंखला है, न उद्यम और न शक्ति। जो लोग सेनानायक थे, उनकी इच्छाशक्ति कमजोर हो गयी है, खो बैठे हैं वे सब वीरों का शेष संबल 'जय की आशा।'

युधिष्ठिर म्रियमाण, शोकसागर में निमग्न हो, युद्ध विरति के पश्चात् सायंकाल शिविर में आकर श्रीकृष्ण से बोले—'मेरा जंगल में जाना ठीक है। अब मेरी लड़ने की इच्छा नहीं है। हे केशव, हम लोग तुम्हारे लिए अनुग्रह के पात्र हैं। अब यह बताओ कि क्षत्रिय-धर्म के अनुकूल और हमारे लिए हितकर क्या है?"[४९]

धर्मयुद्ध से धर्मराज पराङ्मुख हैं! अगर इस युद्ध में पाण्डव विजयी न बने तो कृष्ण की कुरुक्षेत्र-लीला असम्पूर्ण रह जायगी! ऐसा नहीं हो सकता। श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को सान्त्वना देते हुए कहा,,—"धर्मराज, आप विषाद न करें। आपके तो महावीर भ्रातागण हैं।"[५०]

किन्तु उस समय युधिष्ठिर की ऐसी मनःस्थिति हो रही थी कि ऐसे प्रबोध वाक्य भी कोई प्रभाव डाल नहीं सके। श्रीकृष्ण ने उन्हें प्रतिश्रुति देते हुए कहा—"अर्जुन अगर भीष्म का वध न करना चाहें तो मैं स्वयं युद्ध में कुरुश्रेष्ठ भीष्म को आह्वान कर धार्तराष्ट्रों के समक्ष उनका वध करूंगा।"[५१]

इसी उपलक्ष्य में श्रीकृष्ण ने बताया कि अर्जुन के साथ श्रीकृष्ण का कितना निबिड़ सम्बन्ध है। उन्होंने कहा—अर्जुन मेरे सखा, शिष्य और बहनोई हैं। अतएव मैं अर्जुन के लिए अपने शरीर का मांस भी दे सकता हूँ—मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते।"

---

(४८) महाभारत उद्योगपर्व—चतुरशीतितम अध्याय, २७–३०

(४९) महाभारत, भीष्मपर्व—त्र्यधिकशततम अध्याय, १६–२३

(५०) महाभारत भीष्मपर्व—त्र्यधिकशततम अध्याय, २६–२७

(५१) महाभारत भीष्मपर्व—त्र्यधिकशततम अध्याय, २८–२६

और अर्जुन भी मेरे लिए जीवन-त्याग कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त हम दोनों में इस बात की शपथ है कि हम परस्पर एक दूसरे का विपद से उद्धार करेंगे। अतएव राजश्रेष्ठ, मुझे आप नियुक्त करें। मैं युद्ध सज्जा में सज्जित हो जाऊं।[५२]

किन्तु भीष्म वध श्रीकृष्ण के हाथ होना नहीं है। कुरुक्षेत्र में कृष्ण लीला के एकान्त सहचर तो अर्जुन हैं। धर्मराज युधिष्ठिर श्रीकृष्ण के इस प्रस्ताव पर सहमत नहीं हो सके। उन्होंने कहा—"हे माधव, मैं अपने स्वार्थ के लिए तुम्हें मिथ्याचारी नहीं बना सकता। कुरुक्षेत्र में तुम अयोध्य ही बने रहो और दूसरे रूप में हमारी सहायता करो।"[५३]

अयोध्य रह कर श्रीकृष्ण सब कुछ करते रहे। अर्जुन तो निमित्त मात्र थे। इस कथा की चर्चा पहले की जा चुकी है।*

२०—श्रीकृष्ण का निर्देश—युद्ध करना उचित है।

युद्ध के अनेक दिन पूर्व ही श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को युद्ध के लिए उत्साहित किया था। युधिष्ठिर शान्तिप्रिय हैं। इसीलिए युधिष्ठिर से श्रीकृष्ण ने कहा था—"विधाता का निर्देश है, युद्ध में जयी या निहत होना, क्षत्रियों का सनातन धर्म है; किन्तु दुर्बलता उनके लिए प्रशस्त नहीं है। महाराज! आप विक्रम दिखाइये।"[५४]

युद्ध को टाला जा सके, इस उद्देश्य से श्रीकृष्ण पाण्डव पक्ष की ओर से दूत बन कर सन्धि का प्रस्ताव लेकर गये थे। सन्धि प्रस्ताव विफल हो जाने के बाद श्रीकृष्ण पाण्डव-शिविर में वापस आ गये। परिस्थिति अत्यन्त संगीन है। युद्ध के अलावा और कोई उपाय नहीं रहा। पृथ्वी पाप से परिपूर्ण हो गयी है। महाकाल की ध्वंसलीला का महालग्न समुपस्थित है। श्रीकृष्ण के निकट कुछ भी अविदित नहीं रहा। वे कौतुक देखते रहे।

यथोपयोगी गांभीर्य के साथ श्रीकृष्ण ने पंच पाण्डवों से कहा—"नागपुर (हस्तिनापुर) में जाकर कौरव-सभा में मैंने निवेदन किया सत्य घटनाओं को, समझाया न्यायसंगत नीति, जिससे दोनों पक्षों का भला हो—"तथ्यं पथ्यं

---

(५२) महाभारत भीष्मपर्व—अधिकशततम अध्याय, ३३–३६

(५३) महाभारत, भीष्मपर्व—अधिकशततम अध्याय, ४४

* आनन्दवार्त्ता, Vol.XV. No. 3, P. 140

(५४) महाभारत, उद्योगपर्व—अष्टषष्टितम अध्याय, ४-५

हितश्लोक्तं', किन्तु दुर्मति दुर्योधन ने मेरी बातें नहीं सुनीं—"न च गृह्णाति दुर्म्मतिः' ।"[५५]

इसके बाद श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से एक महत्त्वपूर्ण बात कही—"दुर्योधन ने अपने सहायक राजाओं को कुरुक्षेत्र जाने के लिए आदेश दिया है। संभवतः अब तक कौरवों की ११ अक्षौहिणी सेना समरांगण में समवेत हो गयी है और उनके सम्मुख कालकेतु भीष्म शोभायमान हैं।[५६]

दुर्योधन अपने अन्याय संकल्प में दृढ़निश्चयी है। उसकी हठकारिता और राजलिप्सा का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है—"धार्तराष्ट्र वर्ग बिना युद्ध के राज्य नहीं छोड़ेंगे, पाँच गांव भी नहीं देना चाहते पाण्डवों के लिए। मृत्यु उनके लिए आसन्न है और जगत् के विनाश का कारण बनेंगे—वे ही लोग।[५६]

पाण्डवों के शिविर में पुनः उत्थापित हुआ वही पुरातन प्रश्न—युद्ध करना चाहिए या नहीं। युधिष्ठिर युद्ध नहीं चाहते, किन्तु वे श्रीकृष्ण का सदुपदेश अवश्य चाहते हैं। वे इस तरह चलना चाहते हैं ताकि पाण्डवगण धर्मच्युत न हों। युधिष्ठिर ने स्पष्ट रूप में श्रीकृष्ण से अनुरोध किया—"वासुदेव, तुम इधर मेरा और मेरे भाइयों का और उधर दुर्योधन का मत, कर्ण तथा सुबलनन्दन शकुनि की तरह जानते हो। तुम भीष्म और विदुर की सारी बातें सुन चुके हो, कुन्ती की इच्छा से अवगत हो। हे महाबाहु, इस वक्त तुम इन मतामतों की बात छोड़कर, स्वयं बार-बार विवेचना कर, हमारे लिए क्या करना उचित है, उसे स्वतंत्रतापूर्वक बताओ।"[५७]

धर्मराज की धर्मार्थयुक्त वाणी सुनकर श्रीकृष्ण मेघ और दुन्दुभि की भांति गंभीर स्वर में प्रतिवाद करते हुए बोले—"महाराज, आप जो धर्मार्थयुक्त हितकर बातें कह रहे हैं, इन बातों का प्रतारक दुर्योधन के निकट कोई मूल्य नहीं है। वह व्यक्ति न तो धर्म चाहता है और न यश। दुरात्मा और पापिष्ठ दुर्योधन ने मुझे बाँधने का आदेश दिया था, किन्तु उसे इस कार्य में सफलता नहीं मिली। × × × × संक्षेप में बता रहा हूँ—दुरात्मा दुर्योधन आपके साथ न्यायसंगत आचरण नहीं कर रहा है। आपके सैन्य पक्ष में जितने राजा एकत्रित हुए हैं, इन सभी का पाप और अनिष्टकारिता मिलाकर जितनी होगी, अकेले दुर्योधन में उतनी पाप और

---

(५५) महाभारत, उद्योगपर्व—सप्तत्रिंशदधिकशततम अध्याय, ६
(५६) महाभारत उद्योग पर्व—चत्वारिंशदधिकशततम अध्याय, २-५
(५६) महाभारत, उद्योगपर्व—चत्वारिंशदधिकशततम अध्याय २, ५-१७-२०
(५७) महाभारत, उद्योगपर्व—त्रिचत्वारिंशदधिकशततम अध्याय, २-५

अनिष्टकारिता है। वह चाहे जो भी हो, हम कभी सर्वस्व त्यागकर कौरवों के साथ शान्ति की कामना नहीं कर सकते। अतएव हमारे लिए युद्ध करना अनिवार्य है।"[५८]

श्री भगवान् की इस उक्ति में, स्पष्ट भाषा में व्यक्त हुई है—भगवदिच्छा—"सर्वस्व त्याग कर हम शान्ति की कामना नहीं कर सकते।" और सूचित हुआ है कर्त्तव्य का निर्देश—"युद्ध करना उचित है।"

युधिष्ठिर जानना चाहते थे कि युद्ध करना चाहिए या नहीं—इस बारे में श्रीकृष्ण का स्वतंत्र मत। श्रीकृष्ण ने भी अपना स्वतंत्र मत निस्संशय रूप में दिया था। किन्तु कंस की ताण्डव लीला युधिष्ठिर के निकट एक दुर्विसह विभीषिका थी। दीर्घ निःश्वास त्याग करते हुए उन्होंने भीम और अर्जुन से कहा—"इतना प्रयत्न किया, परन्तु शान्ति स्थापित नहीं कर सका। भले ही हम युद्ध के लिए प्रयत्न न करें, वह (महायुद्ध) हमारे निकट उपस्थित हो गया है। अवध्य गुरुजनों के साथ कैसे युद्ध करूंगा?"[५९]

श्रीकृष्ण की वाणी का मर्म युधिष्ठिर नहीं समझ पाये थे, अर्जुन समझ गये थे। श्रीकृष्ण की बातें पुनः एक बार अर्जुन ने सुनायीं युधिष्ठिर के निकट। "इस वक्त हमारे लिए युद्ध करना उचित है।" यही थी श्रीकृष्ण की आखिरी बात।

इस बात का समर्थन करते हुए वीरोचित रूप में अर्जुन ने कहा—"युद्ध करने आकर, बगैर युद्ध किये लौट जाना संगत नहीं होगा।"

अर्जुन के इस सिद्धान्त को सुनकर मुस्कान की हल्की रेखा श्रीकृष्ण के ओठों पर थिरक उठी। वे बोले—"यह बात ही युक्तियुक्त है।"[६०]

श्रीकृष्ण और अर्जुन एक मत के हैं। अर्जुन की उक्ति उस वक्त 'युक्तियुक्त', अर्जुन का चित्र कृष्णयुक्त है। योगेश्वर कृष्ण की वाणी से एवं धनुर्धर पार्थ के मुँह से उस वक्त एक ही स्वर निकल रहा था—"युद्ध करना उचित है।" यही सूचित हुई है—श्रीकृष्ण की कुरुक्षेत्र-लीला की मूल बातें—योगशक्ति और कर्मशक्ति का समन्वय। यह समन्वय जहाँ है, वहीं है—"श्री विजय, विभूति और ध्रुवा नीति।"

(क्रमशः)

---

(५८) महाभारत, उद्योगपर्व, त्रिचत्वारिंशदधिकशततम अध्याय, ७-१५

(५९) महाभारत, उद्योगपर्व—त्रिचत्वारिंशदधिकशततम अध्याय, १९-२२

(६०) महाभारत, उद्योगपर्व—त्रिचत्वारिंशदधिकशततम अध्याय; २३-२७

Mātri Vāni

How can there be an ego where the *Ātmā* is? In the sphere of 'mine and yours', there the ego exists, does it not? Renunciation and attraction dwell side by side. He Himself is both change and immutability. Live for the revelation of the Self hidden within you. He who does not live thus is committing suicide. Try to remove the veil of ignorance by the contemplation of God. Endeavour to tread the path of immortality: become a follower of the Immortal.

* * *

To carry out scrupulously the Guru's instructions is the greatest service. It is written: "The gratification of one's own will and pleasure is called self-indulgence, the fulfilment of Sri Krishna's will and pleasure is called love." Therefore: to put into practice without reasoning the Guru's orders means engaging in the greatest service of all.

* * *

Wherever you are, from that very state you must obey the Guru's commands. Of course, at times the Guru Himself arranges for the carrying out of His orders. If you exert yourself, the power to live according to His injunctions may manifest. One should have complete faith in the Guru's precepts.

* * *

This body is not here to reply to your questions. In actual truth this body does not stay with another, nor eat or wear anything given by another, nor enter the home of another, nor converse with another. Then again, expressed from a different angle, this body, as it were, speaks to its own mothers, fathers and friends. To deliver a talk or lecture does not occur to this body. As you ring the bell so you hear the sound.

* * *

He alone IS; therefore, He Himself speaks to Himself for the sake of His own revelation. The ONE who appears as movement as well as stability; He is also the *Akṣara*—that which is indestructible. On the surface and in the deepest depths is none but He; in movement He is spontaneous movement where, although ever remaining motionless, He is perpetual motion.

* * *

The store of action which leads to vain results, vain experience—appearing to be quite useless—even in the guise of futility is He and no other. This is so where the question of store or no store of action does not arise, where everything exists, although there is nothing: One's own true Self—the Self reposing within Itself.

* * *

The delightful words or sayings that help towards Self-realization, anything leading in that direction, should be accepted. Just as a thirsty man cannot forget water, so should one endeavour to keep the Goal awake within oneself.

* * *

Different kinds of flowers are prescribed for different kinds of *pūjā*; similarly there are various mantras and various kinds of rosaries. To practise *japa* with the help of beads is certainly necessary. But when *japa* comes about of itself—spontaneously—then of course there is no more need to count. However, as long as one performs *japa* by effort, one will have to keep count of it. There is all the difference between doing *japa* and *japa* occurring of itself. The mind must reach a condition where it cannot remain without the remembrance of God.

* * *

One should make an effort to practise *sādhana*, in other words, to go to one's real home. If the mind is not turned in that direction there will be foolishness, misery—suffering. As if by compulsion the mind runs after the gratification of its desires, which leads to suffering. The mind has become uncontrollable. By the repetition of a divine name or mantra and by meditation this illness can be cured.

* * *

You have not seen Him, but you are yearning for Him—because He is your very own. Does one pine for that which one is seeing? One's own has been lost, or rather is hidden behind a screen, this is why one is hankering after it.

= = = =

Mother—As I Have Known Her*

Girijashanker Bhattacharya

On the eve of the summer vacation of 1925, my very revered friend Rai Bahadur Pran Gopal Mukherjee, then Dy. Post Master General at Dacca, invited me there, holding but as a bait the likelihood of hearing the exposition of the *Bhāgavata* by two very learned Goswamis and also meeting a "Māji" who, the Rai Bahadur added, had impressed him very deeply. I did not give much thought to the Māji, but accepted my friend's invitation with some alacrity as both the Goswamis he mentioned commanded great respect as sound exponents of the doctrine of the Bengali school of Vaishnavism. So I went to Dacca; and a day or two after reaching there, I accompanied the Rai Bahadur and Srijut Nani Gopal Banerji, then lecturer in Sanskrit, Dacca University, to Shahbagh, a magnificent garden of the Nawab of Dacca. The late Ramani Mohan Chakravarti, known subsequently as Bholanath, husband of Ma Anandamayi, was Superintendent of the Shahbag gardens.

Ramani Babu was then living in a small building in the garden with his family, i.e. Ma Anandamayi and one or two other members. There were two rooms in the building, one rather small and the other a little bigger. The shades of evening were gathering, and the extensive and carefully tended garden looked sombre owing to the tall and leafy trees, filling our hearts with reverence, while the sweet perfume of the numerous flowering plants nearby added a rare charm. We were given *āsanas* on the floor of the bigger room and near the door between the rooms sat

---

* The following are portions of an article published in the book: "Ma Anandamayi" by Devotees, in 1946. The book has been exhausted years ago and will not be reprinted.

Ramani Babu while in the small room sat Mataji. She did not yet speak to any stranger, and questions put to her would be answered through Ramani Babu. She sat partly veiled so that I could not get a full view of her face.

No sooner had I taken my seat, than I felt myself in a peculiar state of mind, of which I had had no previous experience and the reason for which is yet a mystery to me. I had gone to see Mataji with hardly any preconceived notion, and indeed I did not expect to be very much interested. The state of mind of which I speak, is difficult to describe; in any case I cannot give an adequate idea of it. All thoughts and ideas seemed to have vanished from my mind; and practically oblivious as I was of the surroundings, there was a sense of pleasure, very great pleasure, arising from what I do not know. Almost as long as I was in the presence of Mataji my mind was in that state. I left the place however with the Rai Bahadur, somewhat surprised at what had happened, and spoke to him about it on the way. He gave me the *śāstric* name for it. What struck me then, as it strikes me now, is that this was an experience which came, as it were of itself. I should have regarded it as accidental were it not for the fact that a similar experience came to me next year (1926) at 'Shibnivas' in the Nadia District in the same circumstances, i. e. sitting near Mataji while the evening closed upon us. I was therefore led to think that on both these occasions, Mataji, for reasons best known to her, induced the peculiar state of mind in me, and since I found it very pleasurable I felt attracted towards her. Thus began an acquaintance which her ineffable grace has ripened into a relation no whit less dear than the dearest in the world.

By 1927, Mataji began to talk to all who sought her blessings, without the restrictions she had imposed on herself so far. Oh! For the glorious days we passed, in her company then! Now she does not enter the dwelling-rooms in the residence of *grihasthas*; and wherever she goes she has to be accommodated in a temple, dharmasala or ashram. But in those days she came to our homes just like a member of the family. The ladies of the house would prepare their beds alongside that of Mataji where they would sleep with her. But generally sleep there would be very little, for there would be *kirtana* and conversation with her till very late at night, sometimes even till the early hours of the morning. On those occasions Mataji would listen sympathetically to all, sometimes speak of her own early experiences and above all, by kindliness of speech, gracious looks and sweet manners, inspire not only love and affection for her but also a faith that her presence enveloped us and would protect us in all circumstances. We did not care to ask ourselves whether she was a *Siddha Mahātmā* or an *Avatāra* (divine incarnation). We felt that she was *Mother* and that we might depend upon her. Could we but be with her always in this life and hereafter, we thought we would be perfectly happy, and more we did not want. Thus it is seen that she made an assault upon our hearts, and they were hers before we knew it—the intellect came into play much later.

In February 1945, Mataji's bhaktas at Berhampore (Bengal) made arrangements for celebrations lasting for a fortnight in view of her presence in their midst, and some *sannyāsis* and *sādhus* travelled all the way from Benares and other distant places to attend the function. I met there a very learned Swami of the *Śri Sampradaya* who had come from Vrindaban. In the course of conversation he asked me: "What do you think of Anandamayi Ma?" I replied in a non-committal manner: "The Divine Power (*Daivi Śakti*) seems to be manifest in her." The Swamiji said: "Mataji is certainly a saint of the highest order. We cannot however, believing as we do in the *Śāstras* (Hindu Scriptures), agree with people who declare that she is an *Avatāra* or that she is the *Bhagavati* Herself."

Another very old saintly person, widely recognized as a *sādhu* of high order, on the other hand, prostrated himself before Mataji, saying that she was the Universal Mother Herself (*Svayam Jagadamba*). When someone asked Mataji why she allowed him to fall at her feet, for at this his disciples were mortified, she replied: "Tell them that the feet of the Baba are always on my head."

I am of the opinion that for us it is an idle and entirely meaningless discussion whether Mataji is an *Avatāra* or a *Siddha Mahātmā*. While all other creatures come to the world in accordance with the law of *karma*, the *Avatāras* come of their own free will. *Siddha Mahātmās*, as is well known, are also free from *māyā* and come to the earth of their own will, proceeding from their *samskāras* of doing good to the world. Some hold, however, that the difficulty of regarding Mataji as a *Siddha Mahātmā* is unsurmountable. For we have no information of any *sādhanā* by her in this body.

On this point there is no room for any doubt. I have made enquiries for myself. The first occasion when Mataji was discovered to be in *Bhāva Samādhi* was when she lived in our village (Ashtagram), and I have the evidence of reliable people, indeed of everybody living near about the place, that it lasted for nineteen hours during which she was, as it were, lifeless, so much so that ants gathered round her eyes. The different stages that she seemed to pass through after this came naturally and were completed within a short time and also without any instruction whatsoever from any living being, indeed, for some time, in spite of the opposition of relatives. All this points to the strange but incontroversible fact that the various stages and forms of *sādhana* or spiritual exercises and evolution took place automatically in her body without any active agency on her part. The theory that her *siddhi* has not been attained in this body but in a previous one does not either seem to be tenable since she has said that she had no previous birth.

Again "*Brahmavid Brahma eva bhavati*" ("one who knows the Brahman becomes the Brahman Himself"). This too some hold is not applicable to Mataji because, as she says there has never been any question of knowing or not knowing so far as she is concerned. This superconsciousness may be regarded as her very nature (*svabhāva*).

This diversity of opinion regarding her essential nature hardly touches Mataji and her reply to those who ask her: "What really are you?" hits in my opinion the nail right on the head. She says: "I am what you think I am."

In 1927, when Mataji was staying with us for a day or two at Rajshahi, late Professor Aswini Kumar Mukerji put some questions to her. In those days Mataji used to have *Bhāva Samādhi*, sometimes so deep that she seemed almost lifeless. Hardly could any respiration be perceived and the pulse felt at the wrists. Sometimes again she would roll from one end of the room to the other; and on one particular occasion in 1926, I remember she moved forward and backward on a fairly large platform in the Ashram of the late Balananda Brahmachari Maharaj at Deoghar. Her movements were so rhythmical and yet so awe-inspiring that I, for one, was reminded of the Cosmic Dance of Devi Kali. Again at times, Mataji would in her *āvesha* (trancelike state) utter sweet and sonorous *stotras* (verses) not however in ordinary Sanskrit and with a preponderance of seed *mantras* (*bijas*).

Referring to Mataji's deep *samādhi*, Professor Mukherji asked: "How do you feel when you are in that state?" I am afraid she will not answer such a question now. She tried then also to avoid answering; but the Professor, old as he was, respectfully insisted. Mataji then said: "As you sit in this room you can see everything outside through the doors and windows, but when they are shut you cannot. This body feels as if all its doors and windows were shut. Again when you take a handful of mud and wash it in the water of a pond you see how finely it spreads on the water. So does this body feel". I do not know what

Prof. Mukherji understood but to me the meaning was clear. I understood Mataji to say that she became inwardly conscious while her outward consciousness received a check for the time being and she had a sense of expansion—Infinite Consciousness and Infinite Expansion.

Then the Professor asked: "Do you perceive the presence of any god or goddess at that time?" Mataji tried to parry a good long while saying that gods and goddesses might be seen if one wished to do so. But the Professor insisted: "Do *you* see them?" And finally she said: "They were seen before." I understood therefore, that she had passed from all forms to the Formless. Thus must all seekers after Truth and Reality do before their efforts are crowned with success.*

Mataji, to me, is one through whom shines forth in all its effulgence the Infinite, and when I bow down to her, I bow down to *It* (*Tat*). At the same time, however, I am not blind, nay I value very much the human kindness in her, her solicitude for the least of our comforts when we are with her, the sweetness of her speech and smile, the affectionate inquiry about our welfare. Call her an *Avatāra* if you like or a *Siddha Mahātmā* if you prefer, it makes no difference to me for all practical purposes.

Is it a tiny tot that has been brought to her? See how her face beams. Does a school or college girl want to talk to her? How kindly she receives them! Can you be half as tender as she is to the sick and decrepit? And has anybody ever had elsewhere such a balm of sympathy at the loss of a near and dear one? Yet, if you are tired of walking in the mazes of philosophy, in a few words she points out the way and you are thrilled with surprise and delight. Or if in your *sādhana* a knot has to be straightened out, seek her help and see what happens. *Avatāra, Siddha Mahātmā,* whatever she may be, above all she is the Mother, ever tender, ever helpful, radiating love and affection. Her very sight purifies and ennobles.

---

* In Mataji's case there was never any effort. All the various stages came to her of themselves and as a play, not in order to attain anything.

That expression "shine forth" which I have used reminds me of an experience. It was in 1926 or 27 at Shahbag and I saw her on my way to my native village. It was about 9 o'clock in the morning. She was sitting on a cot in a small room and I was squatting on the floor. There was some ordinary conversation and for a fraction of a second I looked away from her. The next moment when I turned to her, gone was the Bengali lady and instead a resplendent form with light shining out of every pore of her body dazzled my eyes. I remember, I asked myself : "Where is the third eye ?" On other occasions as well I noticed similar transfigurations. It seems to me she no longer has these transfigurations, nor does she have *avesh* or *samādhi.* Instead she seems now to live forever on a plane difficult or impossible for ordinary people to conceive. Once she was asked in my presence whether those who are ever conscious of the Brahman have dealings with people. Her reply was in the affirmative. I feel she is now like that. Sympathetic and tender she undoubtedly is, yet a mystery seems to envelop her. I feel she has travelled away from us although I know that nothing can be more false than this. She once said : "Are we separate ?" Nay, Ma, I know we are not and in this knowledge is bliss ; but I want to realize the truth of it, be always conscious of it.

Were I to point out one characteristic which above all shines in Mataji, I would at once say, "Non-attachment." She is kind, no one can be kinder ; she is affectionate, no one can have more affection ; she is sympathetic, no one can be more ; she is solicitous of our welfare, I have not seen greater solicitude in anyone. My young daughter-in-law was with her at Vindhyachal for a few days and every letter she wrote was full of the description of what Mataji did for her, how she took care of her. So that in spite of her shyness she was not in the least uncomfortable. Even now, when speaking of Mataji, her face lights up with joy. This is the feeling everyone has in the company of Mataji. And yet she is completely non-attached, nay it is because she is unattached that she can be so affectionate, so sympathetic, so kind. A non-attached person having no axe of his own to grind is the fittest to be really charitable and kind. From this non-attachment again proceeds another peculiarity of Mataji: nobody, whatever his character, seems to be unwelcome to her. Her patience too is inexhaustible. In Calcutta I have seen her surrounded by innumerable people almost the whole day and far into the night. She had the same gracious demeanour throughout and her kindly smile never left her face. People of all sorts and conditions come to her and probably no one goes away without feeling, however slightly, the better for the visit.

The next characteristic of Mataji that I would mention is her unwillingness to impose her will upon anybody. I have never known her do so for all these twenty years and more. She suggests, she recommends, she says it would be proper to do such and such things under the circumstances, but with a fine delicacy of feeling, never insists upon anyone following a particular line of action, both in matters earthly and spiritual. Indeed, the liberty she gives to all, often makes us apprehend that there is not sufficient cohesion among her followers. This does not trouble her in the least, for she is not out to form any new sect or party. On the contrary, all sects and creeds dissolve of themselves in her presence and under her influence.

Mataji is absolutely without any *sankalpa* i.e. motive. This sounds strange to ordinary mortals all whose actions proceed from a purpose. When asked what should be done in future regarding anything, her habitual reply is "*Jo ho jaye*" —wait for whatever happens. This is not putting off things in the manner of lazy men, but it means that she acts spontaneously on the inspiration of the moment. Frequently has it happened during her travels that railway tickets have been bought at her direction for places not very far although her ultimate destination was far enough. Starting from Calcutta, for instance, tickets were purchased for Benares, where again without interruption the journey was continued to Delhi and then in a similar manner to Simla. This kind of motivelessness I have noticed in other great saints as well. It is this want of purpose that makes Mataji's actions tantamount to *Līlā* and indeed the actions of personalities like her make it possible for us to believe that the whole universe is the *Līlā* of the Eternal.

Mataji's way of bringing others to her point of view, if necessary, is also peculiar. I will give an instance. It is well known that Bholanath would, at times, like a stubborn child insist on doings things that happened to come to his mind. In this as in many other things he was a veritable child, simple, frank, truthful and always anxious to help. Mataji, as is also well-known, would never directly go against his wishes. Indeed, on this point as in everything else, she set an example to the most devoted of wives. On a certain occasion in my house at Rajshahi, Bholanath insisted that a goat should be sacrificed. I was in great difficulty, for I could never think of doing such a thing. As luck would have it, someone happened to bring a goat along to the great joy of Bholanath. I spoke to Mataji, without his knowledge of course. She said : "Wait and see what happens." I was extremely worried. She, in the meantime, lay down and seemed to go to sleep. Preparations were made to take the goat with suitable *pūjā* to a Kali temple. There was some delay, in any case arrangements for the sacrifice were not made quickly enough and when the party with the *pūjā* arrived at the temple, the priest said *Dashami*, (tenth day of the moon) having set in a few minutes before, there could be no animal sacrifice that day. I did not think I was yet out of the wood, for Bholanath might have insisted on the sacrifice the next day, but to my great relief he forgot all about it. And Mataji? What did she do? She sat up when the party had started for the temple.

* * *

Neither by knowledge of the *Śāstras* nor by *sādhanā* am I qualified to say what Mataji really is. To me she is more or less a fascinating mystery, an attractive and elevating personality with Infinity brooding over her. To know her is definitely blissful. Thousands all over India have now come in contact with her and to say the least, hundreds have been attached to her.* It is not at all likely that all these will have the same idea about her. May we have regard for all of them nevertheless; for truth is elusive and has many facets. Dull uniformity is not its hallmark. The man who *sincerely* regards Mataji as but a woman of extraordinary spiritual development, is in my opinion more blessed than one who *lightly* talks of her as a divinity that has strayed into our world of dust and storm. The great thing is to fix our attention upon Mataji, her words and actions, not at all the sundry theories and legends that float upon the stream of popular opinion. I may even go further and say that we should beware of the legends.

May the bliss of Mataji descend upon us all! May we all realize the truth about her! May we all be one in her Infinitude.

Om Shanti

---

* This article was written in 1945 or 46.

Some Recollections*

Arun Prakash Banerji

I.

It was Easter 1942. I had gone to meet Mataji in the Kishenpur Ashram on the Dehradun-Mussoorie Road. This was my first visit to Ma after I had met her at Lucknow a few months ago. On reaching Dehradun I came to know that some dovotees were expected to come from Delhi for their annual *kirtana* in Mataji's presence. It was to take place on Easter Sunday from sunrise to sunset. On the previous evening all arrangements were completed. Some of the Dehradun devotees wanted to give a feast (*bhāndāra*) on the occasion and sought Ma's permission. She asked: "How many people are you going to provide for ?" One said: "Two hundred." Mataji remained silent. Another said: "Ma, if you permit, we can make arrangements for, say, three hundred." Still Mataji kept quiet. A third said: "Ma, without your permission nothing can be done." Mataji looked up and said: "All right, let us hope that your wishes will be fulfilled."

The market was about five miles from the Ashram. Provisions had to be purchased the evening before. The bhaktas were busy.

Next morning the *kirtana* started with due rites and solemnity. The hall and the verandas were all packed, the crowd even over-flowed into the garden. Besides listening to the *kirtana* everyone wanted to have *darśana* of Mataji. The beggars and the sweepers of the locality also turmed up, even passers by on their way to Mussoorie and other curious sight-seers, on noticing a crowd, flocked into the Ashram.

---

* Reprinted from the book "Ma Anandamayi" by Devotees, which has been out of print for nearly 15 years.

At about noon, Mataji withdrew from the hall and retired to her small room upstairs. Then she summoned those who were arranging the feast and asked them if they were ready. One of them said frankly : "Mataji, our arrangements are complete, but we had only about four hundred people in view. Now we find that more than five hundred are to be fed." Another : "The market is far off, otherwise something could be done." A third pleaded : "If we put off the meal until a little later we might manage." Mataji could no longer remain silent. "It is already noon; are they not hungry ?" she said and became silent. But soon afterwards she added : "No, they are to be fed, and fed immediately." Again she stopped for a moment and then spoke with a clear voice : "Make arrangements for serving them. The meal should be over within an hour and a half. Not one should go without food. Leave this body alone. Report only if there be any shortage. Otherwise do not come to me." I was present there. We all felt uncomfortable. But Mataji said with perfect ease : "Go and do as you are told. Do not forget, not one should go unfed. Don't be unhappy. God's service must be done with a cheerful heart."

I was perplexed. I was only an onlooker and could not help in any way. I made up my mind to avoid the meal knowing the situation. I no longer felt hungry. But after, a few minutes, Gurupriya Didi came to me in haste, saying : "Dada, please came soon. Haven't you heard Ma's command ? Everything must be over in an hour and a half. Won't you help by joining us without delay ?" I cast my thoughts aside. Mother had offered the boon of this meal and as her child I must enjoy it.

I took my seat with the crowd and began to eat the delicious things provided. Everyone was happy. Those who served seemed quite free from anxiety. I ate almost double the usual quantity. The meal proceeded in the midst of a good deal of laughter and merriment with occasional shouts of "*Jai Ma*".

After the repast I went upstairs but did not want Mataji to discover me. I stood behind the door of her room, then with a happy heart prostrated, whispering to myself : "Ma, bless me that I may be worthy of a feast like this which brings your grace."

Those in charge of the *bhāndāra* were coming up to report to Mataji: the hour and a half was over. They opened the door and I found Mataji sitting in her usual tranquil mood. She smiled and asked: "What news?" The devotees cheerfully replied: "Ma, everyone has been fed sumptuously. We never had so much pleasure in serving food." Mataji asked: "What about your provisions?" One of them burst out: "More than five hundred people have eaten and yet there is enough left for two hundred more." Mataji said gravely: "This is very good. Not a particle should be wasted. Let those who come or are staying here be fed again in the evening. Everything must be consumed to-day. If it cannot be eaten here, let it be given to those outside who are hungry."

We all left her for an hour or so for rest. Our minds were busy with the laws of arithmetic: how could eatables for four hundred people satisfy more than five hundred and yet enough be left over for two hundred more? It was very baffling.

2

Shall I relate another incident of the same afternoon, when five *sādhus* arrived from Hardwar. There, at a religious meeting, acute controversy had arisen between them over some passage of the scriptures, for they were of different schools of thought. It was about to end in bitterness, when some gentleman implored them to accept arbitration. It was somewhat difficult to find a suitable arbiter who would be acceptable for purposes of setling disputed points of the *Sāstras*, particularly to *sādhus* belonging to different sects. At last they suddenly agreed to refer the matter to Sri Anandamayi Ma. So they had come to her. They entered the Ashram scowling and full of gloom. When they were taken upstairs to Mataji's room, I followed them. Briefly told of the situation, Mataji smiled and entreated them to be seated in their daughter's room. Then she asked for fruit and sweets to be brought for their refreshment, but they refused to eat. Mataji insisted, saying: "When you have come to your little daughter, you will have to pay heed to her wishes." This was not a mere request but a command of love. The sadhus refused no longer. Then they asked to be left alone with Ma. After an hour the door was opened. They came out full of smiles, almost embracing each other. And Mataji's laughter filled the room. I could not help wondering how Ma; quite untutored in the *Sāstras*, could have settled the dispute.

3

In 1942, Mataji spent part of the summer in Bhimtal and I was privileged to stay with her. She was repeatedly asked to visit some ardent devotees in the neighbourhood. She was to return in three or four days, but actually stayed away for eight or ten days. Four or five of us remained at Bhimtal. The weather suddenly changed; there were showers and it grew cold. With Mother away, there was no warmth left in our hearts. My old trouble, asthma, reappeared. I had great difficulty in breathing during the night.

Incessant coughing forced me to sit up. I thought of Mataji. When would she come? Just before starting, she had told me: "Baba; stay here like a good boy." I had not been a good boy; so I was visited with this malady. How long could I wait without treatment? I wanted to see a doctor in Lucknow, but of course with Ma's permission. But she delayed.

At last she came one evening at dusk. Someone who had accompanied her came running to my room. "Dada, how are you ? Ma was very anxious to return on your account. For the last few days she repeatedly said that you were not well. Are you not well? Mataji has come. You will soon be all right."

I was no doubt relieved by her return but did not show satisfaction. I was inwardly displeased and unhappy. When she knew of my illness, why did she not come earlier ?

The person who had reported to me, returned to Ma, perhaps to inform her about me. On her way she paused for a moment at the door of my room and looking towards me, said: "Baba, are you oppressed with trouble ? Don't you worry. Everything will be all right."

Then she went away. Her talk fell flat on me and I found no solace. I now had to make up my mind to return to Lucknow next morning for treatment. I did not go to Ma. People flocked to her room and I could hear their happy laughter and rejoicing. Perhaps she was relating some of her experiences. But I was in no mood for such stories. The night was fast approaching. My mind was overlast with the thought of the troubles and vexations in store for me during the night. Everyone in the premises was happy with the exception of my poor self. Whether I ate anything that evening I do not remember. But solitary, brooding, hopeless I was, feeling that Mataji was cruel, indeed very cruel to me. I tried to console myself with the thought that what was to happen must happen, and that there was no help. I reflected bitterly: "What am I to Ma?" Such considerations tormented me and made me even more miserable.

It was past midnight. The paroxisms of asthma, the difficulty in breathing and the strain of sitting up for a long time with practically no food, was more than I could endure silently. I came out of my room to go to Mataji. The door of her room was ajar. A lamp was burning inside. Mataji could not possibly have seen me as I stopped just behind the door. I hesitated to enter and thought of returning. But I heard Ma's voice. "Come in!" she said. My burden was already considerably lightened. I went inside. She said: "Baba, you are suffering much, aren't you?" "I do," I answered, "I am unable to lie down and sleep."

"You will be all right, if you can just lie down and go to sleep," replied Mataji.

"But this is not possible. I have not slept for several nights and I am unable to stand it any longer."

Said Ma after a slight pause: "Do you keep a lamp burning in your room?" "I don't," I replied.

"Do you keep the doors and windows open?" "No, I keep one window open for ventilation."

"Do you use a blanket or a quilt?" "A blanket." "That is all right." She was silent for a moment. I also waited. Then she said: "Will you do one thing?" "I will, Ma, what is it?"

"Close your doors and windows as usual. Put out your lamp. Then go to bed. Before lying down make a clear resolve that you are going to sleep. And then lie down for rest. Will you do this?" I looked dully towards the wall and said: "I have done all this many times, with no effect."

She said with some warmth: "Do it once more as you are now told and do not worry!"

I did not know what to say, I kept quiet; then slowly left the room. I remembered her advice: "Do not worry!" but my mind was busy. How will it be possible? If I love Ma, it may be possible. If I fix my attention on her, it may be easy. Love alone can calm down all mental disturbances. Thoughts like these kept running in my mind. I went to my room. I did as I had been ordered. Before lying down, I sat on my bed with folded hands in order to say my prayers but I could not pray. All my pent-up feelings broke out into sobs and I burst into tears. I needed rest. Would the divine Mother give me what I needed ?

I lay down. Within a minute or so my eyes were closed and I fell asleep without any effort.

Next morning I got up late. When I opened the door of my room, Lina, a sweet girl-visitor who is no more alive, came running and said : "Dada, were you sleeping? Mataji enquired about you several times." I felt ashamed of myself and went straight to Mother's room.

She smiled and said : "Well, Baba, did you get sleep ?"

"I have never slept so happily in all my life. I felt I was sleeping on the lap of the MOTHER." "Yes, it is the MOTHER's lap where everyone sleeps. She is loving. Is not sleep a manifestation of the MOTHER ?"

That evening, I joined the happy gathering in Ma's room and laughed and jested with them. But all of a sudden I remembered that the night was approaching and feared that my trouble might recur. Mataji could read my thoughts. She at once said : "Baba, do as you did last night ; *just as you did.* But you should go to bed earlier to-night. Better go now and rest."

I prostrated, inwardly praying for her blessing, and retired. I had plenty of sleep that night as well and had almost become normal. The third night again Mataji's counsel bore fruit and I no more feared the recurrence of my troubles.

Then I went to Ma when she was alone and said : "It seems to me that I have become all right. There is no trouble anymore. But do please tell me how you have cured me ! You did not give me any medicine. You did not touch me. When you looked at me, I could hardly look you in the face, so full of worries and anxieties was I, When you talked I examined myself and found that I was not worthy of being your son. Tell me, Ma, how have you cured me ? Or tell me what to do if the disease recurs." Mataji looked at me with great concern, saying: "Why should the disease recur? It is already gone." I said: "Shall I take it that you have cured me?" Mataji looked up with a smile and said: "You should know that you have cured yourself."

I exclaimed in surprise: "What!"

Mataji repeated with great affection: "*It is you who have cured yourself.*"

I could not understand, but there was no mistaking her love and affection. I wanted no more. Some of my more sceptical friends ask me at intervals: "Did you have any more attacks?" I am happy to be able to answer them all in the negative.

4.

One more episode of a still more intimate nature. A son's relation with his mother must always be somewhat personal. But the feeling of love and gratitude or of repentance impels me to put on record some of my experiences so that others may also share them.

It was in summer 1943. I had gone to the Ashram in Raipur, Dehradun, for a short respite. On arrival I came to know that Mataji had also come down from Almora in connection with some *yajña* (sacrificial ceremony) at Sahasradhāra (about five miles from Raipur) and was staying there. I felt happy and eventually met her there the same day. I found her in her usual tranquil mood, spreading happiness around her. Two or three days later, when the actual rites and ceremonies were over, she came to the Raipur Ashram for a halt. She was to return to Almora very soon. I was a mere witness to the daily gathering of men and women who came from Dehradun and attended on her. I had so far no opportunity to meet her in private. When at last I did so, she said to me: "You are also going to Almora." "Mataji", I replied, "I have not brought the necessary outfit and Almora is a cold place." "It does not matter, you will be given all you need." I was at the point of arguing but Mataji said: "It is settled then that you are going to Almora."

I remember the state of revolt I was in at that time. I was a pray to the blackest despair. I knew I was helpless and yet resented the idea of being helped. I wanted to be left alone. That was why I had chosen to come to Raipur, a comparatively solitary place, in order to regain the composure of my mind, but mataji took the task into her hands. I had to accompany her.

We were a party of four including Mataji. The story of our journey from Dehradun to Kathgodam alone would fill pages. But I must hasten to that part of the story which concerns us here. Just before we reached Kathgodam, Mataji disclosed her intention of going to Nainital. This is just like Mataji. She never announces beforehand what she is going to do. I was perplexed. "I am not going," I said. "What is the matter with you?" said Ma. "Nainital is a very cold place, colder than Almora, and you know I have no warm clothes with me."

Mataji interrupted me: "That is known. You will get all you need. So come along. Our stay in Nainital will be very short, say three or four days, then you will also proceed to Almora."

I had no inclination to go to Nainital, so I looked round and said: "Mataji, you have got so much luggage with you. Allow me to go ahead to Almora and take the extra luggage with me. Those are things meant for the Ashramites of Almora. Why carry them unnecessarily to Nainital?"

Mataji seemed to consider my suggestion and then said: "All right, if you want to go, then it cannot be helped."

It was midday. Kathgodam was hot and stuffy. Some lemonade was prepared and given to us. Fruit was also served. Mataji look the trouble to explain to me all about the road from Almora Motor Station to the Ashram, It was about two miles. But she told me not to take the ondulating bridle path although it was a shortcut. According to her, the motor road was always to be prefesred, considering my age and strength. I was not paying much heed as these details, I thought, were known to me owing to my long stay as a teacher at Almora twenty years ago. Yet I was not altogether inattentive, because whatever Mataji says, even her lightest words command attention, partly because of her charming manner. She then gave me her hurricane lantern and instructed me to be very careful on my way. I thought this was but the outcome of a mother's anxiety for her child. I remember boarding the mail-car and Mataji standing there watching it go. I felt proud of the occasion.

As soon as the car began to move, I felt very unhappy and forlorn. Why did I choose to leave Ma ? The car was ascending the motor road and the landscape should have attracted me. But everything appeared stale and hackneyed to me. Why did I not go with Mataji ? There was none to talk to me. I was sitting beside the driver and thinking of Mataji. Sometimes I would doze off. In this manner, the tedious journey at last came to an end.

It was dark when I alighted at Almora station. I remembered Mataji had given me a lantern. How very thougtful of her ! She had anticipated its need although I had no idea then. The coolies picked up the luggage and began to move off. I had given them positive instructions of the route as Mataji had told me. But they chose the short cut. I discovered it too late. It was no longer possible to retrace my steps. So, with some aprehension, I followed them with unsteady steps. The path became narrow, craggy and full of sudden ups and downs. I would survey a few feet of ground with the lantern and then plod on. My nervousness increased and I almost seemed to lose my grip over myself. We had almost reached the Ashram when my foot slipped ; I stumbled and fell down. One of the coolies threw off his load and came running to me. The chimney of the lantern was broken. My hands were bruised and my thighs bleeding. I had also received a severe jerk in my hip. I however stood up and began to reprimand the coolies. But was it their fault? Like good brothers they took me to the Ashram and there I lay down as I had reached my journey's end.

When Mataji arrived three days later, I was somewhat better. but still confined to bed. The inmates of the Ashram had given me blankets and all I needed. They were extremely attentive to me and I should have been happy. But one question vexed; almosted tormented me. If Mataji had known of the impending accident, why had she not told me about it.

When Mataji came, I was eager for her sympathy. So on her approach, I said: "I had an accident." But to my mortification I found her stiff. She said: "I do not want to hear." Then she moved in another direction to attend to some *sādhus* who had come with her from Nainital. It was a sharp rebuff.

Two or three days after, when the *sādhus* had left for Badrinath and the Ashram had become comparatively quiet, Mataji came to me and said: "Now; what about the accident you had? "I said: "Mataji, the other day I wanted to tell you but you did not want to hear. Today you wish to know but I do not feel like speaking."

Mataji said: "It was for getting this reply from you that the question was asked."

I could no longer bear my condition. I said: "You knew of the accident but never said a word about it. Instead of it you gave me instructions for guidance."

Mataji was listening. I continued: "If you think that I am grown up enough to follow your commandments, I must make it clear that I do not feel worthy or competent to receive your advice and follow it. I think I am yet a baby in that respect. If you can accompany your child in all his troubles and ordeals, I remain with you. If not, let us part company. The child is sure to perish. Who can enable a motherless child to survive ?"

I do not know why I spoke in this strain. It was not a very childlike statement. But I had no time to analyze myself, perhaps I was incapable of it. Mataji looked blank, like a white sheet of paper. The next moment there was a great change in her face. I could discern there all my faults writ large. She had taken upon herself the burden of my heart. I knelt down at her feet and my tears showed that I could no longer think of separation.

5

One last episode. This time an episode purely of imagination, a dream. Dreams about Mataji can be narrated by many of us. Mine is a gift to those who are dreamers like myself. I dreamt I was strolling through a rural lane. The path moved in a zig-zag manner and beautiful flowers and green creepers were visible on both sides of the fences. There were gardens and villas on either side. Occasionally there would be an isolated cottage. I reached a cottage that was visible from the lane. I slowed down my pace and stood at the garden gate and observed that Mataji could be seen on the veranda of the cottage. When I saw her I entered the gate and seemed to have reached my destination.

When I approached Mataji, I was startled to find that she had a baby on her lap. What was this ? There was no one else whom I could ask. I looked at Mataji. She looked towards me but immediately was all attention to the child. How was the infant related to Ma ? What an odd question to ask ? Are we not all her children ? But the question persisted in my mind. I was, no doubt, her son, but in what sense was the baby hers ? What did it matter if he happened to be the physical son of Mother ? So I argued in my dream.

Mataji was, all the time, fondling the baby. I thought to myself to put the question in a suitable form. "How does the baby get his nourishment ?" I said. Mataji smiled : "Baby does not like milk from outside, I have to suckle him."

I felt compassion for Mataji : I began to scrutinise her appearance. She looked considerably reduced and her collar-bones were visible. Surely the child was a demon and was sucking her blood and living on it. I began to detest the child. The baby too, perhaps detested me. Lying on Mataji's lap, he began to stamp his foot on the ground. Was he not kicking at me ? So I thought.

Suddenly my feelings changed in my dream. He was, after all, Mataji's own son. If I could love her so much, could I not love her baby as well ? I looked at the child and tried to feel love for him. Mataji saw my affectionate looks and said : "Would you like to take the baby on your lap ?" Realizing that Mataji might get some relief, I at once sat down and extended my arms. Mataji placed the child on my lap.

I felt happy. I began to ask myself, how could I atone for my previous resentment towards the baby ? I had thought of him as a demon. I thought that he wanted to kick me. So if I love him I must touch him affectionately.

I thus touched his right foot and at heart tried to feel that I really loved him. But now something occurred that can only happen in a dream. His foot dropped out as if it were an artificial one and along with it the entire leg came out, stuck to my hand and dragged my hand towards my own right leg. There the entire limb of the baby vanished. I was extremely upset. I quickly placed my fingers on the baby's left leg. The same thing happened: the left leg in a similar manner merged into my own left leg. His right and then left arm, and afterwards other parts of his body which I was quick in grasping in succession thinking of them to be separate tangible entities, proved deceptive in the same way and so the entire baby merged into my body, limb by limb, one part after another.

Mataji was looking at me and gauging my quick movements and my growing bewilderment. I also fixed my gaze on her, saying : "Mataji, what is this ? This baby, your own baby, is it my own self ? Am I this child who looks so ugly and is fond of kicking others and always sucking your life-blood out of you ? Do tell me, is it myself ? Mataji, do tell me please !"

I looked staggered. My whole body was pulsating with excitement. Mataji laughed in her sweet way. Her peals of laughter were so thrilling and prolonged that they entered into every fibre of my being. My anxious state, my petty self, in short my startling dream, all disappeared in the twinkling of an eye.

I was wide awake. It was almost morning. But though no more sleeping, I could still hear Ma's laughter ringing in my ears as if echoing through my room, ultimately finding its way to the world abroad, to mingle with the horizon. It was Mataji who transcended my all and yet left me full.

One chapter of my dream-life was over.

6.

To conclude. Spring 1945. *Vasanti Puja* (worship of the goddess Durga in spring) was being celebrated in the Benares Ashram in Mataji's presence. I had also gone there. I passed through the courtyard where people had assembled in groups. I listened to their conversation. Someone was saying : If Mataji could appear in the form of Sri Krishna, I would accept her without hesitation. You see, I regard Sri Krishna as the complete manifestation of God." I could not hold my tongue. "Brother", I said, "would you be able to recognize Sri Krishna if he appeared before you in a physical form. Have you ever seen Him ?" The man did not retort but he looked extremely discomfited and disturbed. I also fretted and fumed but prefered to move off.

I went upstairs where Mataji was walking up and down the veranda overlooking a part of the Ganges. Some men and women were watching her from a respectable distance. I forgot myself. I reached Mataji and wanted to walk a few steps with her.

But I could not walk without talking. I said : "Mataji, why do I like to speak of you so often and so vehemently and bluntly ?" Mataji was listening. I continued : "When I am garrulous I feel puffed up with pride. When words fail, depression sets in. I suffer both ways. What shall I do ?" Mataji said : "What do you want me to do ?" "Mataji, grant me one favour : Make me speechless about you. I think I should not speak of you. All my prattle is an insult to you. It is already oppressing me." I felt relieved when I laid bare my troubled heart before her. It was now her turn to speak. The idol of all adoring hearts at last opened her lips : "Recognizing me as your daughter, you may say what you think. No harm will touch you. Do you understand ?"

I know her to be my mother and myself, her son. Out of this devotion some day the real spirit of service may be vouchsafed to me. And then the relationship would be reversed : She would become the daughter and I, as she usually calls me, the father. I am waiting for that day of service to dawn in my life.

"They also serve who stand and wait."

Jai Ma !

'SAROJ'

It is by way of being blessed by Ma Anandamayi, my spiritual preceptor, that I have ventured to relate some of my experiences of her infinite grace showered on me.

Samyam Mahavrata was held during the second week of November 1967 at Vrindaban *dhāma* in Ma's sacred Ashram. It was a real occasion offered to us by gracious Mataji to wash off the impurities and dross of our *saṁsakāra* accumulated through numberless lives.

It is a well-known fact that our animal instincts often prevent us from undergoing penances of high spiritual value such as *samyam*, *yoga*, *vrata* and so forth, as prescribed by the *Śāstras*. And consequently, being engrossed in the deep-rooted human ignorance, one is inclined and merrily inclined, to stick to one's daily domestic pleasures of eating and drinking. This is how one gropes in the dark. Eventually a mental fog is manifest everywhere.

I too, was frivolous and unscrupulous about attending functions like *Samyam Saptaha*, *Mahā Sivaratri* and others. Before attaining to Mataji's grace, I used to evade the idea of participating in the yearly *Samyam Vrata* under some pretext or other, since I had a great weakness for regular meals. To me *Samyam vrata* meant starvation for a week. Hence I ever failed to join in the austerity of *Samyam*.

However, by Ma's beneficient influence, the urge within me to be a *samyami* did not wither away completely. Besides, the more I faltered from partaking in the *vrata*, the greater was the thirst for it, and the more I resisted it, the sharper it grew. It was, of course, an ordeal for me to continue in this manner. Feeling intensely miserable, I inwarldly prayed to Ma to enable me to undertake this penance in future. From the year 1964 onwards, I had been preparing myself to join the *Samyam Mahavrata* in its true spirit. For this I beseeched Mataji day and night and entreated her to fill this child of hers with spiritual vigour.

Time elapsed. One fine morning, to my utter surprise, I woke up with a new vision and a fresh urge to attend the *Samyam Saptaha* that was going to be observed at Vrindaban from 9th to 14th November, 1967 During that time I could feel Mataji's grace descending upon me. A week before the actual commencement of that sacred function, I felt as if my inner being was slowly undergoing a cleansing. What a wonderful experience it was! Something beyond description. Each day, henceforth, gave me new strength and an unflinching faith to interpret the subtleties of all the activities followed during *Samyam* in a new light.

This is how Mataji took me out of the gross ignorance I had been involved in. My further experiences will reveal how she makes one achieve success in *sādhanā* through the process of inward transformation going on silently within oneself, provided one leaves everything to her will. By way of establishing my own faith in *Nimitta mātram bhava savyasāchin** ("be thou a mere instrument") the eternal exhortation of Lord Krishna to his disciple Arjuna, it may be pointed out that one may not experience any wonder or grace through Mataji if one has failed to reach the state of self-surrender. It is really deplorable for a *sādhaka* to be assailed by fears and doubts and if he harbours these at all, the idea of self-surrender cannot be intelligible to him. Therefore, when I felt inwardly aroused to participate in the *Samyam Saptaha*, I left everything to Ma.

Vratis are instructed to remain steady and motionless during the periods of silent meditation, both mornings and evenings. They are also supposed to maintain one posture, one *dhyāna* and one mood during that particular hour—a practice pretty difficult for a person like myself. But what happened to me during the collective meditation from the very first day of the function beggars all description. My words, truly speaking, fail to depict the state in which I found myself sitting for the whole hour. O! My hundreds of salutations to Ma, my *Sadguru* who inspired me at that time to be one with her, sitting in one pose, one *dhyana* and one mood beyond all separate consciousness. After the lapse of a day or two, I began to remain absorbed in meditation. As the fourth day of the function passed, I had come to feel that *Vrata* of that kind was my need, not only for one week but for a whole life. From that day onward, the whole Ashram appeared to me animated with the spirit of motherhood (*Matritva*). Each devotee, each *sādhaka*, each visitor, each *sannyasin* was then, nothing to me but a reflection of Mataji. In this way I was brought to a world in which one had become many, and many had become one; where Ma and Ma alone was singly extending her grace to numerous souls pursuing light like rising stars, to strive, to seek and to find the City of God.

---

* Bhagavad Gite, Chapter XI/33.

Jai Ma!

A Visit to the Ashram of Sri Anandamayi Ma

MADELEINE LANGEVINE

*(Translated from French)**

We think we direct the course of events but in reality events direct us !

This is what I was made to feel on the occasion of our visit to Sri Anandamayi Ma. Actually, after having—due to wrong informations—thought that it would be impossible for us to meet her, we came to know that the "Saint of Bengal" was at Vrindaban, two and a half hours by car from Delhi and that we could go there.

At that time, the twelve French friends who had come to India with us, were at Agra, while Dr. Jacqes de Marquette and myself had remained in Delhi. Our friends had arranged to go to Varanasi from Agra. How to send word to them who had been so disappointed on hearing that they would not be able to have Mataji's *darśana* ? The telephone line between Agra and Delhi was out of order. Finally, with the help of a tourists' agency, we decided to despatch a long telegram with detailed instructions so as to make it possible for our friends to join us at Vrindaban.

We ourselves hired a taxi and proceeded on our journcy, feeling certain that we were being expected at the Ashram and that our friends would meet us there. Both these presumptions proved to be wrong. Our friends were prevented by circumstances to carry out the plan suggested in our wire and never came to Vrindaban.

On arrival we found that the Sri Anandamayi Ashram had not received any information about our visit. However, a devotee of Mataji, Austrian by birth, who has been with

---

* The French original appeared in "*Panharmonie*", February 1967.

Mataji for 23 years and who speaks French, did her best to help us.

Mataji's *darśana* could be had only much later in the evening. In the meanwhile we had to secure some accommodation as we could not stay in the Ashram. So we drove to the nearest town, called Mathura. A person who has not seen the small towns of India has not seen anything! Of course, the word 'small' is relative to the immensity of the country. Mathura has a population of about 130.000. In the 3rd and 2nd centuries B. C. it was in fact a prominent centre of politics, religion and art.

Imagine a maze of streets with some extremely beautiful houses here and there that testify to its glorious past. Great numbers of shops and in the narrow roads an incredible throng of pedestrians, cycles, bullock-carts, horse-carriages, cars and trucks. It was not a simple matter to trace our way in the midst of this crowd, the more so because everyone follows his own path without bothering about anyone else, crossing the roads at his own sweet will.

There were two hotels in Mathura where we could have stayed without supplying our own bedding (matress, blankets, pillow, bedsheets and towels, which everyone in India carries with him when travelling). But finally we decide to buy some beddings and return to Vrindaban where we are put up in a guest-house which will provide us even with meals, thanks to our recommendation by the Ashram. The proprietor `is in fact a wealthy man who carefully chooses his guests. Having been sent by Mataji's Ashram, opens the doors to us.

It looks quite comfortable. We are alotted a nice clean room with an attached bathroom and W. C. to ourselves. As soon as this is settled we return to the Ashram for Mataji's *darśana.*

Mataji, as usual dressed all in white, is sitting on her couch, and along the wall at right angles there is another couch for her ancient mother with her shaven head. She is robed in orange. Mataji is surrounded by a comparatively small group of people. We have not come at a time of large gatherings. Mataji is expected to leave Vrindaban in a few days.

Paying attention even to insignificant details, Mataji wants to know all about us. Have we found suitable accommodation ? Are the other twelve also coming ? They may be put up in the same guest-house, she says. We have brought with us copies of "*Panharmonie*" that contain the French translation of portions of "*Mātri Vāni*". Although Mataji neither speaks English nor French, she shows interest, scrutinizes the symbolic design on the cover and is specially pleased to learn that we are strict vegetarians, which seems to have considerable importance. Dr. Marquette has brought along some of his books as well, which he presents to the Ashram library and to our guide, Atmananda. The books evoke lively interest.

Mataji talks quite a lot to various people, always with great simplicity and intense kindness and sympathy. We donot understand anything that is said. But, as during our first visit four years ago, to be near Mataji is enough to feel that abiding peace and that great serenity which does not allow of any pre-occupation besides just being in the presence of Ma.

Usually, at the end of the *darśana* there is silence and Mataji's expression that is so active, so lively when she talks' becomes very serious. One should like to know what she thinks. what she sees what she discerns at that time. And one is filled with inexpressible veneration for this Being who is a link between heaven and earth. When referring to her own person, she says 'this body'. Why ? Because she does not attach any importance to this body which is something impersonal, which serves but as an instrument for the outpouring coming from the beyond. Did she not reply to one of Brother

Jacqes, questions four years ago: "When the ego has been overcome it is not you who speak, but God who speaks through you".

The next morning we arrive at the Ashram at about 10-30 a.m. Mataji has gone to another Ashram to attend a representation of scenes from Sri Krishna's life. When we reach there she is about to leave. Men and women touch the ground on which she has walked.

Vrindaban is a specially sacred place. Sri Krishna is supposed to have lived there and charmed the Gopis. The atmosphere is particularly favourable to meditation,

The morning *darśana* that day is quite agitated. An elderly gentleman who has been working in one of Mataji's numerous Ashrams cannot fulfil his task anymore and has been asked to give up his work. He has come to defend his cause before Mataji. There is no end to his argument which continues right through the time of *darśana*. Not for the fraction of a second Mataji loses her calm and her understanding kindness. "How patient Mataji is," Atmananda whispers to me, "he goes on repeating the same thing over and over again. I should have got rid of him long ago".

Our Austrian friend remarks that 'saint' is not the right word for Mataji, the she is something quite different. Although I can sense the correctness of her statement, I ask her to explain more precisely. "A saint", she replies, "is one who by practice and aspiration has attained to a degree of perfection. But Mataji has always been what she is. She was born perfect."

In the evening when we all assemble in the beautiful place where one meets Mataji, three gentlemen arrive from outside. One is a physician, the other a former politician, who was Nehru's right hand. He lives a life of the utmost simplicity. All three are greatly devoted to Ma Anandamayi. After some time Mataji asks everyone to disperse. She wants to talk to her guests in private. But when we are about to follow the others, Mataji make signs to us to remain.` This is a great favour. She explains who we are, shows them our magazine and Dr. Marquette's books and adds that we are strict vegetarians, which gives rise to remarks of sincere appreciation by the doctor. He translates into English what is being said and then relates to us some incidents connectcd with Mataji.

"I was very sceptical at first," he tells us, "and to begin with came to confound Mataji. But she took me for a drive and on the way all my problems dissolved as if by miracle. Another time I brought with me a Swami who had no faith at all in her. He had devoted three whole days in formulating seven questions which he felt certain she would be unable to reply to. When we arrived, Mataji asked me to accompany her on a drive for ten minutes. 'Of course,' I, thought, 'this is how she is going to evade the Swami'. But ten minutes later she told me she had to return in order to keep her appointment with the Swami. 'Do you want to talk to me alone or in public ?' she asked him. 'In public,' he said and put his first question for which he received an answer. Then the second and the third and every time Mataji replied without hesitation. Finally the Swami said: "I humbly beg your pardon for having doubted you. With great care, working for three whole days, I prepared seven questions in order to defeat you. After having put three questions, I have nothing more to ask, for you have already replied to all my other questions as well.' And ever since the Swami is one of her devoted followers."

We felt extremely fortunate to have been able to contact Mataji and some of her people in this manner.

The next day we have our last *darśāna*. Mataji has been told of our impending departure. We might possibly have stayed for another day, but the street noise at night disturbs our sleep and, moreover, what one receives from Mataji is not in time and space. When we met her four years ago it was sudden and short, but this time – did we not bathe in her radiance, did we not feel the powerful influence of her presence? In what way? It is difficult to define. One could perhaps say that her vibrations act on ours; but this sounds bad when speaking of something so very subtle. What can be stated with certainty, is that something develops by her contact if one is sensitive to it and this something is like a seed that sprouts and ripens. And it matters little whether one remains with her for a few more hours. The seed has been sown. It is for us to tend it inwardly and provide the right conditions for it to develop.

That last evening we ask Mataji for a word of guidance to help us on our path. Mataji says: "There is only one *Ātmā*, you are that *Ātmā*, I am that *Ātmā*, everyone is that *Ātmā*. So, wherever you may be, I am always with you." Then she keeps everyone around her busy fetching suitcases, opening boxes and bundles. What is it all about? "She is probably preparing for her journey," I say to Brother Jacques. And then, suddenly, she motions to us to approach her and presents to each of us a delightful coloured handkerchief into which she pours some sacred leaves that have been dipped into sandal paste and with full hands she distributes *prasāda* to us, consisting of sweets, nuts and almonds.

We are overwhelmed and exuberant with gratitude and joy. Then she remains silent for a long time and that silence seems frightening to me, for it is full of mystery, full of unknown possibilities .... At last, emerging from her silence, she smiles at us and that smile makes me understand that what she has told us is a reality: no matter what may happen, we shall never again be alone.

—: o :—

From the Diary of a European

MELITA MASCHMANN

XI

(Translated from German)

Puri, January 1964.

On the eve of my birthday Mataji grants me a private *darśana.* Before Chitra leaves us alone, I ask her to tell Mataji that I do not want to put any question, but have only the desire to sit by Mataji in silence for some time. With a smile Mataji nods assent. She settles down on a stool before me so that I can view the mighty ocean in the background while sitting in front of her.

What happens during the next few minutes in entirely beyond words. When I later return to the hotel, I note something in myself that has so far been unknown to me, something almost paradox: It cannot be denied that my body exists and functions in the accustomed manner, and yet I have a sensation of being bodiless. It is so intense that I have to touch my limbs to make sure that everything is as usual. Off and on Mataji brings about situations that remind one of fairy-tales. Now I should like to say: There were moments in which my body was not made of flesh but of spirit. My memory has retained this just as one remembers severe pain after it has passed—in one's imagination.

The next morning, Mataji lavishes an abundance of gifts on me that she laughingly throws down to me from the first floor. In the evening we leave for Calcutta and in the train both Didima and Mataji send *prasāda to me.*

Calcutta, January 1964.

For three days Mataji is the guest of a family staying in a distinguished residential quarter of Calcutta. At midday after our arrival, Mataji gives *darśana* for the first time in the elegant blue-white tent on the roof which is pleasantly airy. One can notice that Mataji feels at ease here. During the welcome she sparkles with humour and vivacity; then she composes herself to a stillness which has a great intensity of radiation. I never know how to express what I observe on such occasions. Very likely Mataji does not meditate. She does not need to still her mind by a special method. When she withdraws her attention from the outer world and directs it inwards, the transcendental Light that shines in her soul absorbs every movement of thought and emotion. Everything that can be called the contents of consciousness dissolves in that Light. The more complete this immersion, the more visibly—because more vigorous - the transcendance shines also through Mataji's physical being. With these concepts I try to explain to myself to some extent what I observe.

Mataji remains transfigured for hours while the power of her effulgence does not weaken. Twice or thrice her consciousness returns for a few moments. Her gaze drifts away, far beyond us. When it falls on a young man whose face I can see from where I sit, he quickly covers his eyes. I have several times had to suppress an impulse to do something similar and therefore know what has happened to him at that moment. Not that one covers one's face in shame when a penetrating glance from which nothing can be concealed grasps one's whole being with all its shortcomings and its pettiness. Using a simile, I could say: one stands before a fire and suddenly feels as if a flame rushed into one's eyes. That is to say, one's eyes are able to take in the fire as a symbol but they are incapable of absorbing the fire itself. The raising of one's hands expresses one's fear to be burnt to ashes.

It is marvellously quiet in the tent. Perhaps most people have not yet heard of Mataji's arrival in Calcutta. Only about a third of the available space has been occupied and nobody disturbs Mataji's contemplation.

* * *

I am full of admiration for Didima, Mataji's mother aged about ninety. With what dignity and wisdom she plays the role that falls to her lot in the community of Mataji's devotees. It is the more surprising when one remembers that she was born and bred in a village of Bengal in the insignificance of a life whose horizon seemed destined to be limited to the day-to-day humdrum of villagers. Instead of this, she has in the spiritual sphere risen to the role of a queen-mother as it were. She receives the veneration of thousands from all classes of society. I do not know how many see in her their Guru who has given them initiation. Their number must be very large too. Years ago Didima took *Sannyāsa* and I have met several people who regard her as a saint.

All this has not in the least changed her human simplicity and humility. She has obviously learnt long ago to move with dignity and a genuine self-assurance among prominent people of every order who come for Mataji's *darśana*, yet she always remains in the background. Her presence is not striking, and yet something would be missing if she were not there. Because of the fact that Didima is with her, Mataji, in a certain sense, remains with a part of her being in the familiar sphere of the human. Her remoteness from this realm can never be so complete as to make us fear that she may slip away from us. She has not fallen to our earth from another planet like a shooting star but has been born by this lovable, intelligent, humble woman who is fond of smiling and who is said to be an indefatigable reconciler of tensions.

To-day Didima is radiant. Her son has come for a visit from Benares. With her ninety years she is still his mother and he her child. I wish I could look into her heart and see how her feelings of a mother—for after all Mataji is her daughter—can exist side by side with the veneration for a Being that can say: "The Brahman am I." But probably this would be difficult only for a Westerner. Countless Hindus worship the divine child Gopal as their beloved Divinity (*Iṣṭa*). Besides, Didima an unshakable balance proves it—the synthesis in her attitude of mind has been achieved effortlessly.

* * *

When it is pointed out again and again that Mataji is egoless, one must not infer from this that she lacks what is called 'personality.' No such thought can ever enter the mind of anyone who has met her. On the contrary. he finds himself face to face with an unusually intense and powerful personality whose fascination is undeniable. It is based on qualities which at once evoke affection, confidence and veneration. Never in my life have I felt equally certain at the first sight that here was someone incapable of the slightest egotistic reaction, someone who could never colour Truth to the least degree. Although Mataji's egolessness frightened me, yet the special, the unique in her—in short her personality—strongly attracted me. (Except for the element of the noumenous, of which I cannot easily say that it is also terrifying.)

An old Hindu who, although his Guru had passed away years ago, still felt the living contact with him, told me. "Do not think that the divine personality disappears in a fog of impersonality when the physical form is not visible to us anymore." This is surely so when the ego has been dissolved by an Enlightened Being or—as many of Mataji's followers think—if an Enlightened-One has been born egolessly.

What would be more natural than to desire a friendly and personal relationship with someone whose charm is based on singularly admirable and lovable qualities ? But just at this point one becomes aware of the complete difference in being that confronts us in Mataji. One feels atonce : In her the supposition for a resonance that could respond to such a desire is non-existant. Just as there is no attachment to possession, place or doctrine in her, there can be no attachment to human beings either.

Someone related to me that when Bholanath once asked in the presence of several people : "You always say that everyone is equally dear to you. Dont you love me a little more than other people ?" Mataji replied with an expression of extreme kindness, but with a clear "No !"

* * *

Agarpara, January 1964.

A morning on the roof of the Ashram. I struggled with my sari at which the wind was tugging. Mataji stood in the sun enjoying the vigour of the storm. Suddenly our eyes met. Her look had an expression of all-embracing love. It rested on me for a long time. But while feeling held by it, I simultaneously felt that it also encompassed the trees behind me, the village, the clouds and the thief who was walking down the road with a stolen kid, Strangely, I did not feel that I received any less of the love that was lavished on the trees, the village and the thief. On the contrary I felt more loved because of it. In Mataji's love reached up to the horizon.

Something of this I had already felt at my first *darśana* of Mataji. But then I did not know anything of her actual realisation of *Advaita-Vedanta*. It is not that Mataji has adopted a philosophical doctrine which she found convincing and translated into behaviour ; rather the final mysterious Truth expresses itself and takes shape in her life, as it has manifested again and again in this country in special human beings. About eleven hundred years ago it was formulated into the doctrine of *Advaita-Vedanta* by an Enlightened-one, Sri Shankaracharya.

* * *

Vrīndaban, February, 1964.

When I ask myself what experiences or realisations I owe to my contact with Mataji, three things seem of the greatest importance: I feel that I may be compared to a crow which since it was born has lived with a swarm of crows without ever meeting other birds. One day a white eagle alights on the tree just above the crow. At first the crow is so terrified that it for a moment fears to be killed by the shock. But this shock holds an indescribable joy: the crow realises that it is possible to be a white eagle instead of a black crow. And suddenly it hears the eagle say: "It is not only possible, it is your true nature. One day you will come to know that you have only been disguised as a crow. In reality you are a white eagle." One could also put it differently: "it is only *māyā* that makes you think of yourself as a crow."

'One day' need not be in this very life. And this is the second thing I have begun to understand: that we have time, because in actual truth time does not exist. Time is an invention of the calculating, measuring human mind, which has also invented miles, pounds, and degrees of temperature. Has it any significance for the sun that we have calculated how far it is from us? None whatever. What does it mean to my *Self* if we declare that I shall remain in this body for about seventy years? Nothing at all. If time were not a fiction I should say: The Self has infinite time. More correctly I state: It has eternity. In this eternity seventy years are like a drop in the ocean.

Having been born and bred in Europe, I until now believed in time. To live meant to live this life which may possibly last for seventy years or so. Since I have met Mataji, I have realised that we look at this life as we see a drop of water with the help of a microscope. That this drop is only a tiny part of the infinite occan we do not want to see. Perhaps because we cannot view the ocean through our microscope.

Since I have come to Mataji, an organ is growing within me with which eternity can be perceived. I am beginning to feel the eternal present. More precisely I cannot put it. To express it in our ordinary language I would say : I suddenly sense something of the infinite past stretching behind me and the infinite future lying before me. This would be correct on one level. I am beginning to perceive my being in its extension in both dimensions. But on a higher level - not the plane of thinking but of a more direct perception—the two dimensions of past and future contract into one single point. This also I can feel although it sounds rather incredible. In this point my being lives embedded within the Self or Eternity.

The third thing is that I now realise that the inner Guru has been active in me as far back as my memory reaches. And I see that He is identical with Mataji. There is only One. But it is God's grace if He shows Himself as He does in Mataji, so that one can perceive and love Him.

While I am afraid of the fact that already tomorrow I shall be in a place where I cannot see Mataji or ask her advice, I also know at the same time that the separation will only be illusory. An old man said to me once in Calcutta: "For the last thirty years my son has been in the U.S.A. Inspite of this he is always with me. His physical absence may be compared to the apparent absence of the moon during a lunar eclipse."

I am granted a long final interview. The most significant part of it proceeds in silence. Then I am given leave to go with so many presents that I can hardly carry them

For a second Mataji's right hand rests on my head, then glides over my forehead, cheeks, shoulders, back. I quickly get up and walk to the door. Mataji says three times: "Look after yourself and come back well; look after yourself and come back well; look after yourself and come back well!"

Mātri Līlā

(*January—June, 1968*)

On January 6th Mataji arrived in Rajgir from Varanasi with a very few companions. She had a fairly quiet time there. Many improvements had been made in the Ashram since Mataji's last visit. Mataji visited a few sites where the Lord Buddha is supposed to have dwelt.

On January 16th Mataji proceeded to Katrasgarh Colliery at Dhanbad where she spent two nights. Sri Morarjibhai Thacker, the owner of the colliery, a Gujerati devotee of many years' standing, made excellent arrangements for Mataji and her whole party. Satsang was held daily and many came for Mataji's *darśana*.

On the 18th Mataji left for Dubrajpur to visit the "Niramoy" T. B. Sanatorium where about three years ago a *Śiva Mandir* had been consecrated in Mataji's presence. On her way to the Sanatorium Mataji halted at Durgapur for a couple of hours at the invitation of a devotee who gave *bhoga* to Ma and entertained the whole party and many local guests. The General Secretary of the T. B. Hospital had requested Mataji to grace "Niramoy" with her presence for the uplift of the patients. Mataji remained for three nights. She enjoined on the patients to practise the presence of God by the repetition of any mantra or name that appealed to them most. She sang "*Jai Śiva Śankara*", "*Jai Rama Sri Rama*", the *Mahāmantra* and various other well-known mantras to them, asking them to choose any one of them for their daily prayers. They should try to feel that God had come to them in the guise of disease. All who could walk attended the *satsang*. Many were moved to tears. To the doctors and nurses Mataji said that all service was His service only and that they were serving God in the guise of sick men and women. Mataji also visited the bed-ridden patients who felt greatly comforted. One day Mataji was taken to the famous Siva Temple at Bakreswar near Dubrajpur. Bakreswar has hot springs.

On January 21st Mataji travelled to Tarapith.* It is a place in Bengal where many *tāntrik sādhakas* have practised austerities. The legend has it that Rishi Vasistha, while in China, North of Kailash, was ordered in a vision to go to Tarapith and take *dīksā* from the Goddess Tara. At Ṭarapith, while sitting under a cotton-tree, he had a vision of the Goddess. The image for the temple was sculptured according to his vision. The head of the sculpture is detachable and is removed every night. It is said that Sati's third eye fell down at Tarapith. The great *tāntrik sādhaka* Vamadeva also did *tapasyā* there. This is historical.

At Mataji's advice Sri Bholanath went to Tarapith to practise meditation in the temple. He had many beautiful experiences there and reached a state of complete absorption. In 1929 Sri Bholanath and Sri Jogesh Brahmachari took some of the holy fire to Tarapith which had been lit in a particular way and been kept alive in Dacca for several years. It is the same fire by which the *Mahayajna* held in Varanasi from 1947-1950 was lit and which is being preserved to this day in our Ashrams at Varanasi and Agarpara. As first the people of Tarapith used to light funeral pyres from this fire. But later the fire somehow became polluted and the practice had to be abandoned. A *Śiva Mandir* was erected in memory of Bholanath. For several years it contained only Bholanath's picture. Only in 1961 Brahmachari Kamala Kanta brought a Sivalinga from the river Narmada which was installed in the temple.

Mataji used to visit Tarapith almost regularly once a year from 1929 to 1936. She was greatly revered and loved by the Pandas and their wives and children. Her visit this time occurred after an interval of about 32 years. It is in Tarapith that Mataji sang for the first time *"Krishna Kanhaiya bansi bajaiya etc."* and she sang it again there this time. A small Ashram has recently been built near the Siva Temple and Mataji came for the opening ceremony. A large crowd of devotees had arrived from Calcutta to be with Ma on this special occasion. A pandal had been put up near the burning ghat. The Ashram is near the Tara Mandir and Mataji went there twice on the first evening. Km. Chhabi Banerji delighted everyone present by her beautiful songs. Villagers flocked in their thousands from all the neighbouring villages and also from a distance by bullock-carts with their whole kith and kin to welcome Mataji after all those years. Mataji was visibly moved by their genuine affection and faith. She was in a great mood throughout those three days and related many interesting incidents that had taken place at Tarapith. She pointed out the places where she had slept, where Bholanath had sat for his *tapasyā*, where Gurupriya Didi and Marani* received their sacred threads, etc. On a Tuesday a special puja was celebrated at the Tara Mandir and Mataji presented a costly sari to the deity.

---

* See Ananda Varta, Vol XV/No. 3, November 1967, which contains a note on Tarapiṭh and several pictures.

Tarapith had been a rough and very primitive place when Mataji went there in the early days. Through Mataji it became known and developed considerably. A proper motor road has been constructed and the temple renovated. It is a fact that Mataji by her mere presence revives places of pilgrimage. Mataji is always at her best in rural surroundings. Her short visit to Tarapith was treasured by all and will not easily be forgotten.

On January 24th, Mataji motored to Deoghar. Nine cars, carrying most of her companions, drove in a line. The journey took three hours. At Deoghar Mataji put up at

---

* Bholanath's niece who was brought up by Mataji.

"Deva Sangha", the Ashram of Sri Naren Brahmachariji Maharaj. Mataji had last visited Deoghar in 1953 to be present at the consecration of Haimavati Temple in the grounds of the Deva Sangha. The Ashram is extremely peaceful, well kept and in beautiful surroundings. Sri Naren Brahmachariji had made wonderful arrangements for Mataji and all who came with her. Mataji also visited the Ashram of the late Sri Balananda Brahmachari. The present head of the Ashram was out on tour. Further Mataji paid visits to "Nirvan Math" (Sri Brahmajña Ma's Ashram) and to the Sri Rama Krishna Mission Vidyapith. On the New moonday Mataji went to Baidyanath Temple near Deoghar where *Rudrabhisheka* was performed by twelve pandits. Mataji sang, *Jai Siva Sankara* while water was poured over the Sivalinga.

On January 30th Mataji reached Varanasi, leaving the next day for Allahabad, where *Saraswati Puja* was celebrated on February 2nd, *Vasant Panchami* day, in a pandal in the compound of Sri Bindu Mukerji's residence. For two nights Mataji stayed at Satya Gopal Ashram before moving to Mukerji's place, where a small house has been built several years ago for Mataji. In her absence it serves as a shrine-room. The Puja had been prepared with great care and went off beautifully. The crowd was well managed and very orderly. After three nights at 31, George Town Mataji spent the last night of her sojourn again at Satya Gopal Ashram. On February 5th. Mataji followed an invitation to the house of Sri Virendra Saksena, who entertained the whole party for lunch.

On February 6th Mataji returned to Varanasi, where she remained over *Sivaratri*, on February 26th. For a number of years Mataji had not been in Kashi for this festival. It was celebrated in great style, many having flocked even from considerable distances for this solemn occasion. As customary, puja and kirtan was performed throughout the night on all the three storeys of the Ashram building by

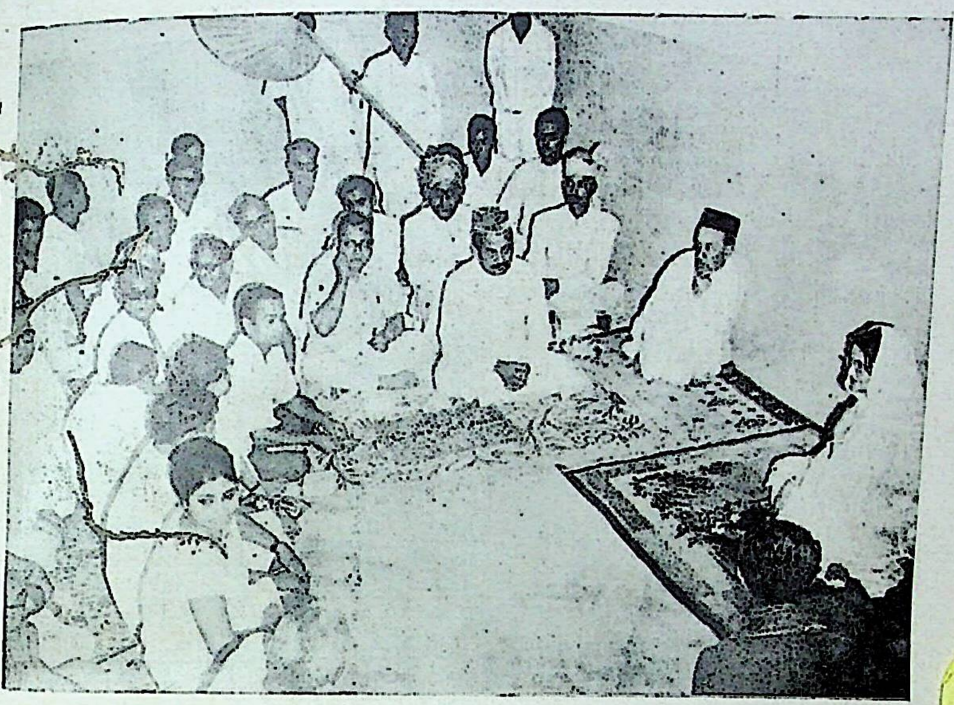

A scene from the Hospital opening ceremony. Mataji with Maharaja Benares & other dignitaries.

Mataji along with Hari Baba and others inside the Hospital premises.

Gopalji being taken to the new temple before installation.

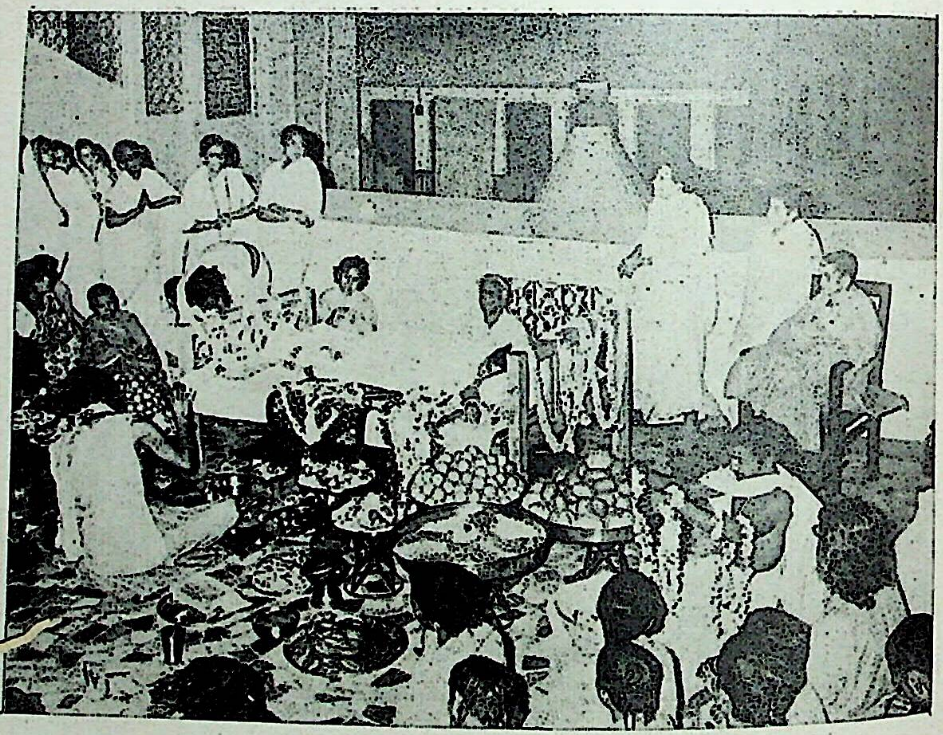

Mataji in samadhi during the Birthday Puja — lying on a sandalwood cot on the terrace of the new temple.

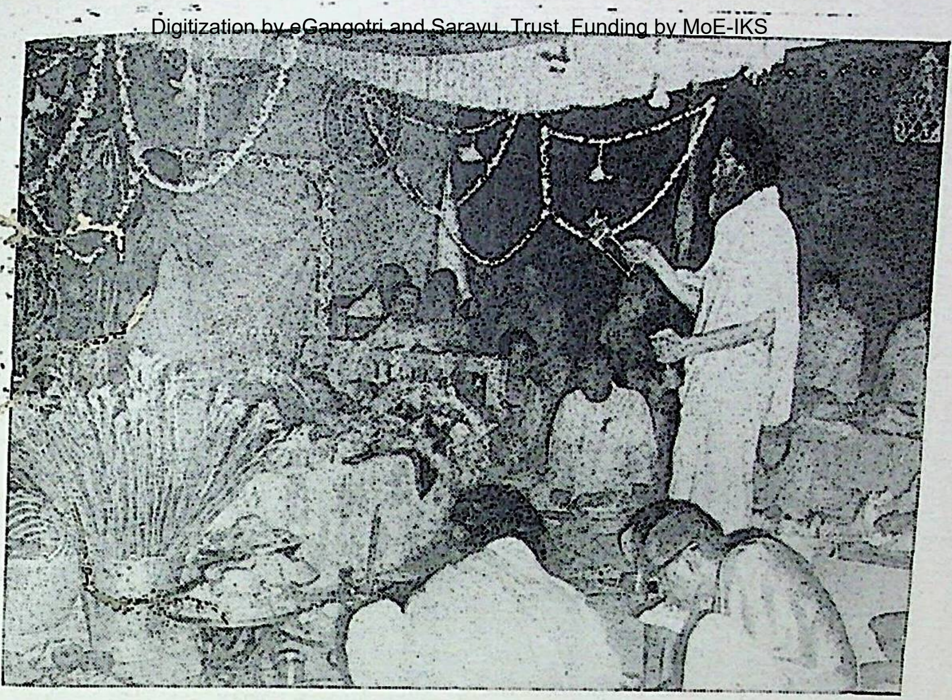

Concluding scene from the Tīthi-Pujā in the pandal — Mataji in deep samādhi.

Mataji, still in deep samādhi, being carried from the pandal after the Tīthi Pujā.

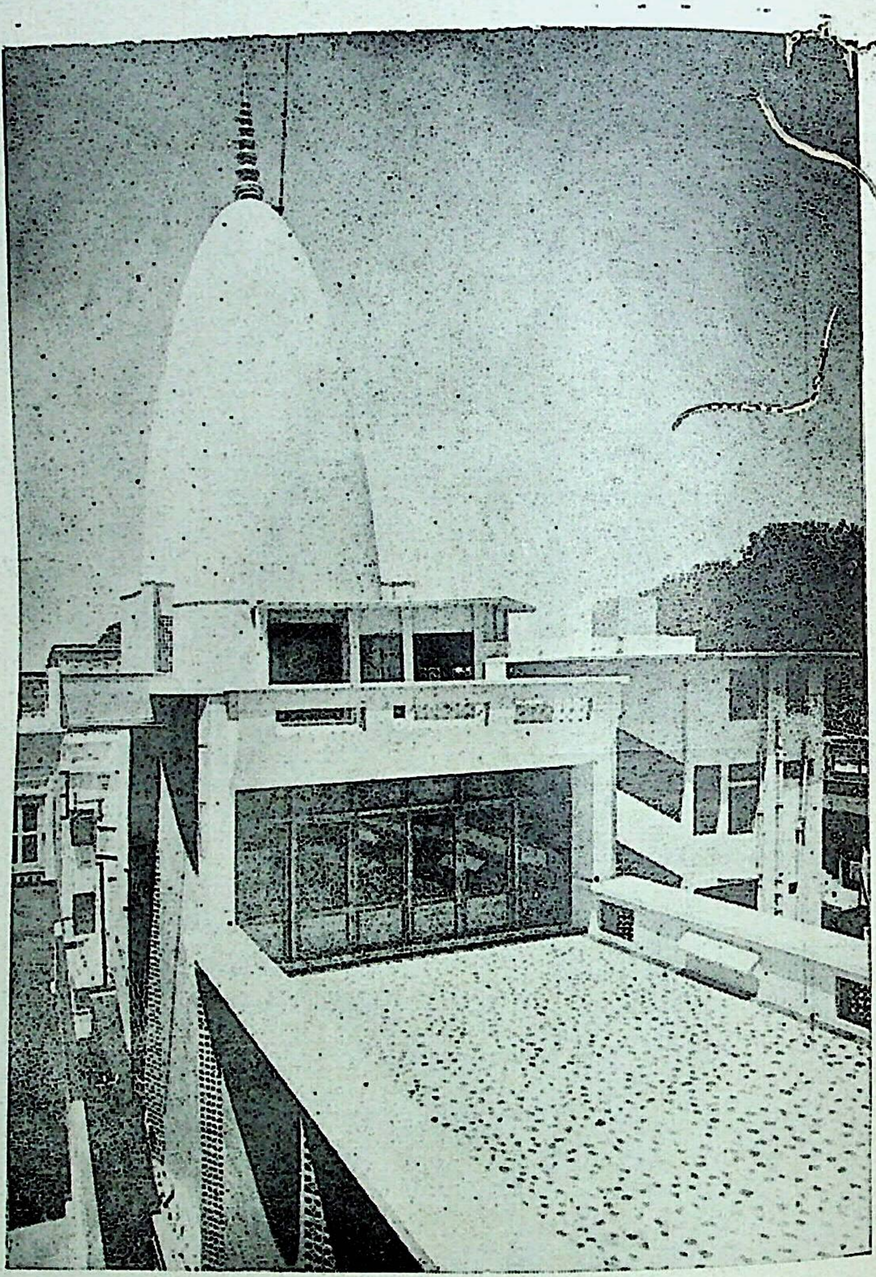

Front view of the newly inaugurated Ananda Jyoti Mandir at Vāraṇasī Āshram.

everyone who wished to take part. Mataji gave *darśana* several times during the night, moving from one place to the other. At about 2 a. m., when many were about to doze off, she began to lead the *kirtana*. Instantly everybody was wide awake.

One day Mataji paid a visit to the aged Swami Swarupanandaji, the present head of the Bholagiri Ashram at Sonarpura.

Soon after Sivaratri Mataji left for Vrindaban, alighting there on February 29th. The first few days Mataji had a comparatively quiet time. *Darśana* hours were restricted to 15 minutes in the morning and half an hour in the evening. Mataji would however attend Sri Haribabaji's satsang at the Uriababa Ashram two or even three times daily. Among visitors from abroad was a French Trappist monk who stayed for ten days and had some private talks with Mataji. He seemed greatly impressed. We later heard that on returning to his monastery, he felt homesick for the atmosphere of India and her saints.

Holi, on which falls the birthday of Lord Gouranga and also of Sri Haribabaji, was celebrated in our Ashram by special *kirtana* and a feast. A new cottage in the Ashram grounds and some rooms built above the kitchen and dining-halls were ceremonially opened on that auspicious occasion. On March 15th the society of *sādhus* of Vrindaban held a meeting in our Ashram to discuss the spiritual welfare and uplift of Vrindaban. Since Mataji welcomes men and women belonging to all sect and religions and our Ashram being entirely non-sectarian, it was chosen as the most suitable place for such a gathering.

On March 16th Mataji returned again to Varanasi. While in former years Mataji came to Varanasi frequently and sometimes for long spells, she had during the last few years been there only rarely and for very short periods. This year at last the holy city of Vishwanath has been favoured by her presence again. After ten days Mataji left for Hoshiarpur. On her way she visited Hardwar for a couple of hours on March 27th and from there motored to Dehradun, where she remained for 26 hours, leaving for Hoshiarpur on the 28th. Only very few were allowed to accompany her. Didima, Didi and most of her party remained in Kishenpur and joined Mataji in April at Hardwar. At the invitation of Sri Haribabaji Maharaj, Mataji went from Hoshiarpur to Gandhwal, his native village, and stayed there for two nights. On *Rama Naomi* day, April 7th, a new Rama-Sita-Lakshman temple was consecrated in Gandhwal in Mataji's presence. The whole of the *Granth Sahib** also was read and installed in the Mandir. Thousands of villagers attended the *satsang*.

On April 9th Mataji reached Hardwar. Due to the *Ardha Kumbha* Mela the crowd was immense. However, Government had made such elaborate and efficient arrangements that everything proceeded in perfect order and without any mishap. Didima's *Sannyāsa*. *Utsava* was celebrated on April 13th by a full programme of *Puja Kirtana* and discourses by *Mahātmās* from early morning until late at night. This was also the main bathing day of the *Kumbh* and in spite of very large congregation, the function was beautiful and harmonious. Mataji was very approachable and gave *darśana* several times daily in spite of indifferent health. On April 15th morning Mataji motored to Rishikesh for the opening ceremeny of a new house at Sri Sivananda Ashram, built by Dr. Mrs. Padma Mudholkar, Deputy Director of Health, Maharashtra Pradesh. The house has been named "*Gurukripa.*" From there Mataji drove to Kankhal where she spent the rest of the day. The pupils of the Girls' College "Sri Anandamayi Seva Sadan" at Hardwar paid her a visit and at the end Mataji sang for a short while at their request. By the night train she left for Varanasi with a large party.

---

* Sacred scripture of the Sikhs.

At Varanasi preparations for the consecration of the new temple for Gopalji and for Mataji's birthday celebrations were in full swing. Soon after her arrival some new buildings of the Ashram were inaugurated. On April 22nd, Sri Dayamata, President of the Self-Realization-Fellowship* came to see Mataji, accompanied by Sri Mrilanini Mata, the Vice-President and Yogacharya Sri Binoy Dube. They were the guests of our Ashram until April 24 and had several talks with Mataji.

Brahmachari Mohananandaji, Mahant of the Sri Balananda Ashram at Deoghar, paid two visits to Mataji. One evening, Mataji attended a musical soiree by Sri Dilip Kumar Roy at the residence of Dr. Gouri Nath Shastri, Vice-Chancellor of the Sanskrit University. Subsequently, Sri Dilip Kumar and his party sang *bhajans* twice in our Ashram. One day, Mataji paid a visit to the ex-Chief Minister of U.P. Dr. Sampurnanand who was lying ill in hospital. He was deeply moved by her solicitude. Sri Hari Babaji Maharaj arrived with his *entourage* on the 28th evening.

Akshaya Tritiya fell on April 30th, which by the way is the day on which Mataji was born in 1896, although the celebrations of her birthday usually begins on May 2nd. The consecration of the new temple and opening of the *Satsang* hall as well as the ceremonial opening of the newly constructed wings of the Ma Anandamayee Seva Hospital were scheduled for this auspicious date.

At 8-30 a.m. the opening ceremony of the hospital took place in Mataji's presence. H.H. Maharaja of Benares, who is the President of the hospital, many Government officials of the city, many doctors and other distinguished citizens of Varanasi attended the solemn and dignified function. The rooms on the ground floor were beautifully decorated. *Rudrābhisheka* was also a part of the well-planned and impressive ceremony.

---

* A worldwide organization founded by Sri Paramahansa Yogananda.

After 11 a m. the consecration of the "*Ananda Jyoti Mandir*" took place, followed by an elaborate *puja.* The beautiful image of Gopalji had been presented to our Ashram in 1954. Before that it had been worshipped for 81 years by a *pūjāri* somewhere in Varanasi. Its rightful owner, living in Pakistan, and unable to send the necessary funds for three years, Gopalji was about to be immersed in the Ganges, when at the 11th hour, he found a home in the room adjoining the Annapurna Temple of our Ashram.†† Now, fourteen years later, he has been installed in the magnificent temple designed and personally supervised by Sri P. L. Varma, retired Chief Engineer; Punjab and a renowned architect as well. It was really unfortunate that Sri Varma, who had taken great pains for about six years past to complete the structure, which is an exquisite piece of architecture, could not personally attend the inauguration ceremony as he had a heart-attack in Chandigarh and was unable to undertake the long journey to Varanasi.*

The preliminary rites for the temple consecration took place on April 29th in the *Chandi Mandap* of our Ashram. On the 30th morning at 11 a.m. a small procession started from there for the *Ananda Jyoti Mandir.* Mataji herself and Sri Ḥaribabaji Maharaj took part in it and together opened the *Mandir*. Dr. Gouri Nath Shastri entered first, carrying a small *vigraha* of *yogamāyā,* emblem of *Śakti.* Second Gopalji was carried on his sandalwood throne by four *sādhus* of the Ashram, followed by several devotees carrying on their heads sacred scriptures, such as the *Bhagavad Gita, Bhāgavata, Rāmāgana.* The temple also contains a small *Siva Linga* and pictures of Krishna, Sita Rama and Mataji. From the *Satsang* hall adjoining the temple, one can have beautiful *darsana* of Gopalji. On the 30th evening 51 Vedic pandits of Varanasi chanted portions from the four Vedas in the new *Satsang* hall.

---

†† See A.V., Vol. II/No. 3, pp. 283-285.

* We hope to put together and publish in a later issue of A.V. the history of the temple and of its main *vigraha*, a large Gopal made of black touch stone.

* * *

Mataji's birthday had not been celebrated in Varanasi in her presence since her 60th Jayanti celebration in 1956. This time initial puja was performed in her personal presence in the night from 2nd to 3rd May on the terrace of the new temple. Since usually Mataji retires to her room on that occasion, the attendance was not too large. The function was intimate and of deep concentration and therefore treasured by all present.

A spacious pandal, artistically decorated and equipped with lights, fans and loudspeakers had been erected in the hospital grounds. *Satsang* took place there mornings and evenings, while the afternoon session was held in the new Satsang Hall. The highlight of the daily programme for the largest number of people was the *Lila*, performed every morning. The attendance was enormous. Many citizens of Varanasi expressed their gratitude for being able to witness those artistic and moving representations of scenes from the lives of Sri Krishna and Gouranga Mahaprabhu saying that they did not feel inclined to go to the cinema anymore, as the *Rāsalila* was infinitely more enjoyable.

Sri Haribabaji was present from the very beginning of the birthday celebrations, while other *Mahātmās* came several days later. Among them were Sri Maheshwaranandaji of Bombay, Sri Vishnu Ashram of Sukhtal, Sri Sharananandaji and Sri Krishnananda Avadhutji. In addition to their brilliant and highly interesting discourses, there was an hour of exquisite music programme almost daily from

9-10 p.m. Amongst the articles was Sri Lal Mani Misra who played on the *Vichitra Veena*, accompanied by the famous *tabla* player Sri Ashutosh Bhattacharya. Sri Jyotin Bhattacharya, disciple of the great musician Alauddin Khan, gave a *sarod* recital. Among singers were the renowned Sm. Jayalakshmi of Madras, called the "Queen of Music in S. India and Km. Chhabi Bannerji of Calcutta. The famous sitarplayer, Sri Ravi Shanker, came for Mataji's *darśana* twice, but was too busy to give a recital. The music was followed by *Matri Satşang* from 10-11 p. m. Mataji was very generous with her replies and occasionally also sang. On some days the programme continued until midnight and even later.

Throughout the 15 days and nights, *akhanda japa* was kept up as usual; also kirtan during the intervals of the daily programme. *Sat Chandi Patha* was recited by pandits. Besides there was leper feeding, *Kumāri Pujā* and a feast and presents given to 108 little girls.

*Tithi Pūj*a was celebrated on the 15th might in the specially decorated pandal, which could with difficulty hold the extremely large congregation.

Inspite of excessive heat and the strain of a very heavy programme Mataji kept fairly good health at Varanasi.

On May 17th, Mataji, Sri Haribabaji and a large party boarded the train to Dehradun. Mataji alighted in Kishenpur in the early morning of May 18th. She first accompanied Sri Haribabaji to Kalyanvan and in person inspected the arrangements made for Sri Haribabaji and his party's accommodation, before proceeding to the Ashram a couple of hours later.

Mataji has not fixed any time for *darsana* during the day, but regularly attends Sri Haribabaji's *Satsang* at 8 p.m. She however meets people at irregular hours in her room or on the veranda and occasionally in the hall.

On Sunday, May 26th, our Delhi Kirtan party came in full force and performed *Nama Yajna* from sunset. Mataji and Sri Haribabaji joined the very inspired *kirtana* for sometime at midday. Mataji was in an extraordinary awe-provoking mood. Hundreds of devotees from Dehradun had come that day.

On June 4th, *Akhanda Ramayana* started at the Raipur Ashram. On the 5th morning, Mataji and the Ashramites and guests of the Kishenpur Ashram went to Raipur. Mataji was present for the "*Pūrnahuti*" of the Ramayana at midday. In the afternoon a charitable dispensary for children under 12 years of age was inaugurated in the Raipur Ashram. The first patient, a little girl carried by her mother was examined and given medicine in Mataji's presence. *Ārati* was performed to the child. Mataji never tires in stressing that all service must be performed as a service to *Janardana* (God in the guise of man). The dispensary was thus given the name "*Paramātmā Swarūpa Parabrahma Bālgopāl Kumārī Sevā.*" A young *brahmachārini* of our Ashram, who is an M.D. and a Specialist in child diseases, has been put in charge of the dispensary, which will be open for 3 hours daily on 6 days of a week.

One evening during Sri Haribabaji's *satsang* Mataji 'saw' a small boy with long wavy hair sitting near her. He was singing with intense absorption, swinging his whole body from side to side in rhythm with the tune. It seemed to be the same boy who had sung "*He pita, he hita,* etc." during the first *Samyam Vrata* at Varanasi in 1952. Mataji could hear the melody and the rhythm of the song very clearly, but the words were indistinct. Mataji then composed them herself which run as follows:

नर तन पाया आओ प्यारे बोलो राम नाम
राम नाम लेकर मस्त होकर चलो राम धामं ।
तन मन भरके हा प्यारे लियो पियो राम

राम नाम लेकर शान्त होकर चलो साकेत धाम ।
राम राम राम……………………आराम
राम……………………………प्राणाराम ॥

It was first sung to Sri Haribabaji at Kalyanvan. Mataji has asked the girls of the Ashram to sing it daily after the *Rāmāyana Pātha*. On June 8th *Akhanda kirtana* of the song was held in the Ashram hall for 12 hours.

On June 12th Mataji followed an invitation by the neighbouring Sri Ramakrishna Mission to a function in honour of one of their seniormost Swamis who had recently passed away.

Mataji is expected to stay in our Ashram at Kishenpur till atleast the end of July. The programme thereafter still remains indefinite. The next Durga Puja is, however, scheduled to be held in Kishenpur, Dehradun from 28th September.

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA

LIST OF PUBLICATIONS

Hindi

Mātri Darshan—"Bhaiji"	2-50
Sad Vāni „	1-00
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I to XIII	34-50
Ma Anandamayee—Dr. Pannalal	2-50
Akhanda Mahāyajña—Gurupriya Devi	2-50
Kirtan Rasa Swarūpa	6-00
Saṅkirtan, Stav, Aratī	0-50
Amar Vani	6.00

Bengali

Matri Darshan—"Bhaiji"	3.00
Sad Vāni—"Bhaiji"	1-50
Mātri Vāni	0-75
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I–XIII	32-00
Ma Anandamayee Upadeshamrita Sangraha	1-50
Akhanda Mahāyajña „ „	2-50
Kirtan Rasa Swarūpa	6-00
Suno Bali Maer Kotha—Sailesh Brahmachari	1-25
Mātri Lila Sankirtan	0-31
Anandamayee Ma—Ganga Samiran	2.50
Namavali— „	0.50

Gujarati

Mātri Darshan—"Bhaiji"	1-50
Ma Anandamayee Ke Sannidhyame, Part I & II —Br. Kantibhai	
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand	2-00

English

Mother As Revealed to Me—"Bhaiji"	4.00
Mātri Vāni (Sayings)	1-50, Special edition 2-50
Words of Sri Anandamayee Ma	3-00, „ „ 5.00
Mother as seen by her devotees	5·50, „ „ 6·50

Photos etc

Photos—various sizes	0-40 to 15-00
Lockets	1.50

श्रीश्री आनन्द मयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Registered with the Registrar of Newspaper for India under No. N. 4720/57.

ānanda VĀRTĀ

HINDI & ENGLISH

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Vol. XV. October, 1968 No. 6

प्रथम बार प्रकाशित

अध्यात्म-साहित्य की अनुपम कृति

श्री श्री माँ आनन्दमयी के अमूल्य उपदेशों का अपूर्व संग्रह

★ अमर-वाणी ★

व्याख्याकार—म०म०डॉ० श्री गोपीनाथ कविराज एम०ए०, डी०लिट्०

• विभिन्न जिज्ञासु भक्तों के विभिन्न प्रकार के संशयों के समाधान के लिए, विभिन्न स्थान और समय पर जो उपदेश श्री श्री माँ के श्रीमुख से प्रकट हुए थे, उन सबका यथासंभव परिवर्त्तनहीन अवस्था में इस संग्रह में लिपिबद्ध किया गया है।

• श्री श्री माँ के श्रीमुख की वाणी स्वभावतः अत्यन्त सरल और सहज भाषा में होती है; किन्तु कुछ स्थलों पर साधारण पाठकों के लिए भाव समझना कठिन हो जाता है। ऐसे सभी कठिन स्थलों को श्रद्धेय महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज जी ने अपनी व्याख्या के द्वारा सरलीकृत किया है।

• श्री श्री माँ की यह वाणी वास्तव में मातृभक्तों के निकट महावाक्य के सदृश गुरुत्वसम्पन्न है। उनके श्रीमुख से निकले सभी उपदेश महावाक्यों के समान परम आप्तवचन हैं जिसमें शास्त्रों के ही निगूढ़ सिद्धान्त हैं।

* ४०-पौण्ड का उत्तम कागज * माँ के दो नयनाभिराम चित्र *

* आकर्षक गेट अप और साजसज्जा से युक्त *

पृष्ठ-संख्या : ३६६ मूल्य : ६) रुपये

श्री श्री आनन्दमयी संघ

भदैनी, वाराणसी—१

१९वाँ संयम सप्ताह महाव्रत

आनन्द के साथ सूचित किया जाता है कि श्री श्री आनन्दमयी संघ के प्रयत्न से संयम सप्ताह महाव्रत का १९वाँ अनुष्ठान आगामी २९ अक्टूबर से ४ नवम्बर तक १७६/ए राजपुर रोड, देहरादून में सम्पन्न होगा। अपने को जानना, अपने को पाना, सर्व प्रकार से सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि के पालन द्वारा अपने आध्यात्मिक जीवन में उन्नति साधन की चेष्टा करना तथा सबकी आत्मोन्नति सम्पादन में सहायता देना ही संयम सप्ताह के उद्देश्य हैं।

इस समय श्री श्री माँ देहरादून में विराजमान रहेंगी, ऐसी आशा की जा रही है।

श्रीमान् दुर्गा सिंह
(बघाट नरेश)

१० अक्टूबर, १९६८ ई०　　प्रेसीडेण्ट—श्री श्री आनन्दमयी संघ

विशेष द्रष्टव्य--

जो लोग इस उत्सव में सम्मिलित होना चाहते हैं व जिनको पृथक तम्बू की आवश्यकता हो वे शीघ्र आगमन की सूचना नीचे के पते पर देने की कृपा करें—

स्वामी परमानन्दजी
श्री श्री माँ आनन्दमयी आश्रम
किशनपुर, पो० राजपुर
देहरादून।

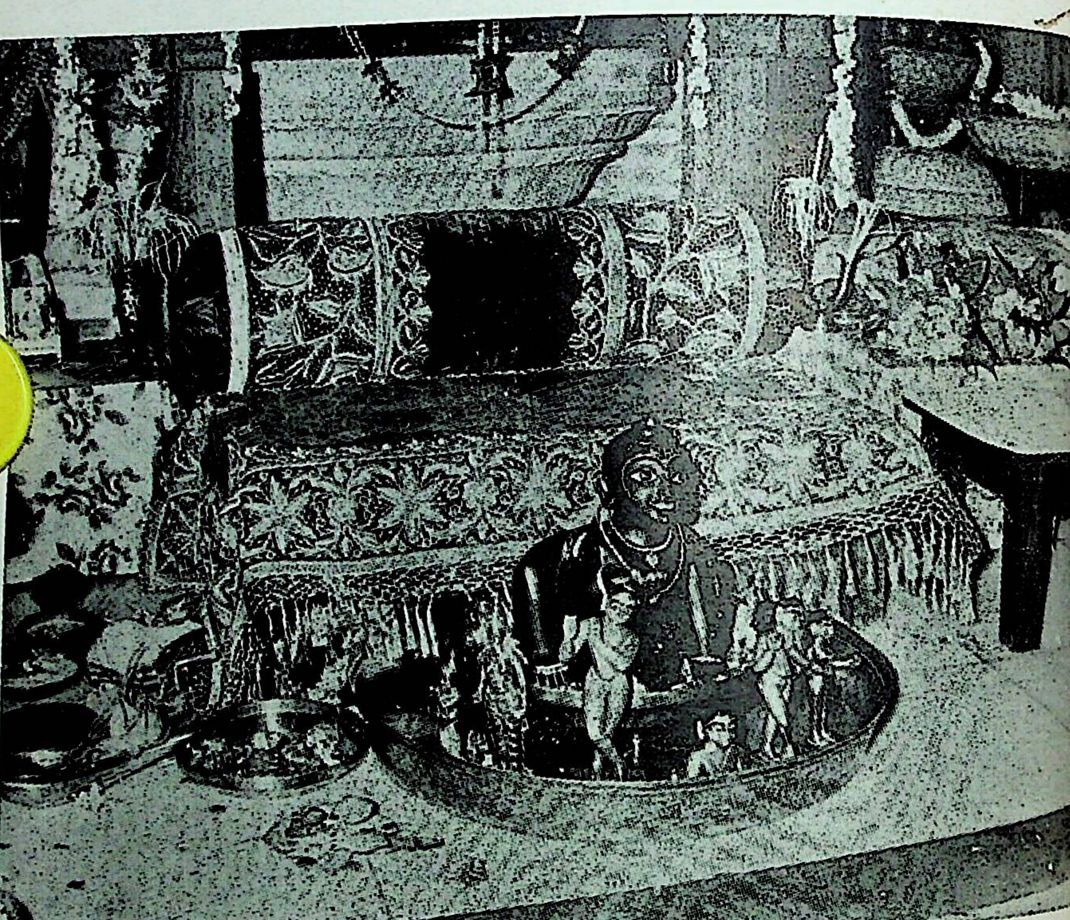

Sri Gopalji during Janmasthami festival.

Ānanda Vārtā

"अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपनेमें आप।"

VOL. XV] OCTOBER, 1968 [NO 6

—मातृवाणी—

भगवान् को छोड़कर तुम कहाँ? यह झलक किसी रूप में किसी प्रकार प्रकाश होती ही है।

× × × ×

जिसको दुनिया की किसी वस्तु का अभाव नहीं—किन्तु शान्ति कहाँ? तुम ज्ञान स्वरूप, शान्ति स्वरूप—जब तक यह नहीं पाते हो तब तक शान्ति नहीं। दुनिया का स्वभाव ही है अभाव जागरण करके रखना। दुनिया में दुनिया की वस्तु पाकर परमशान्ति कभी हो नहीं सकती। इसीलिए स्वभाव का जागरण होना चाहिए। अभाव के बीच में तुम रह नहीं सकते हो।

× × × ×

अभाव में शान्ति कहाँ। नित्य नई चाहना आएगी ही। विषय जो विष होता है, उससे परम शान्ति नहीं। जो आने-जाने के बीच में है, उसमें ही शान्ति कहाँ। जब तक दो तब तक दुःख। दो होने से ही द्वन्द्व दुःख। अभाव से दुःख। जब तक स्वभाव में प्रतिष्ठित नहीं होंगे, तब तक शान्ति हो ही नहीं सकती।

× × × ×

जो नित्य सत्य है, उसके प्रकाश के लिए सभी को चेष्टा करनी चाहिए। अपने घर जाने की चेष्टा करो। दूसरे के घर में, दूसरे के साथ रहने से दुःख द्वन्द्व—माने दो लेकर अन्ध। अन्धकार माने अज्ञान।

× × × ×

क्रिया इच्छाधीन—और इच्छाधीन नहीं भी। उनकी इच्छा ही इच्छा। जो इच्छा तुम व्यवहार करते हो, इस इच्छा को भगवच्चिन्ता में लगाना चाहिए। तभी महा इच्छा का सन्धान पाया जायगा। परम इच्छा चाहिए—जिस इच्छा से इच्छा अनिच्छा के पार जाया जाय।

× × × ×

प्रारब्ध है। और प्रारब्ध के ऊपर भी एक स्थिति है जहाँ अधिकारी अनधिकारी की बात नहीं है। जब बाढ़ आती है, सब कुछ बहा ले जाती है।

× × × ×

महापुरुष के निकट यदि आना हो गया तो अवनति हो ही नहीं सकती। आग के पास जाओगे और ताप नहीं लगेगा—यह हो ही नहीं सकता। महात्मा के पास जो आना-जाना है वह संसार में आने-जाने से छुट्टी पाने के लिए। आने-जाने की बात ही नहीं उठती। आना रहने से जाना, जाना होने से आना।

मातृ-कथामृत

(पूर्व्वानुवृत्ति)

नीलमणि

स्थान : राँची आश्रम काल : ९–६–६५ प्रातः ११–१५.

प्रश्न (नूपुर)—जिन भक्तों की भक्ति की बाहरी अभिव्यक्ति है, वे श्रेष्ठ हैं या जिनकी बाहरी अभिव्यक्ति नहीं वे श्रेष्ठ हैं ?

माँ—जिसका बाहर-भीतर भक्तिरस से समरस है वही उत्तम। भीतर-बाहर के प्रकाश के अलग होने का प्रश्न ही नहीं।

काल : ११–६–६८ प्रातः ११.

प्र० (एक छोटी लड़की)—माँ काली को कैसे पाया जाय ?

माँ (माँ काली की एक फोटो हाथ में देकर)—यह लो, माँ काली का ध्यान करोगी, जप करोगी, नाम करोगी। फोटो साथ रखोगी। माँ काली ही सब हैं। तुम भी माँ काली। इसी बोध का प्रकाश होने के लिए ही साधना का रास्ता, समझीं ? अपना नाम, जप ध्यान वे ही कराती हैं।

काल : १६–६–६८ दोपहर १२.

प्रश्न : (एक वृद्ध व्यक्ति)—देह त्याग के समय भगवान् का स्मरण कैसे होगा ? गीता में जो लिखा है, "अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।"

माँ :—जीवन बनाओ सत्संग के द्वारा—अभ्यासयोग के द्वारा। Theoretical नहीं practical करना होगा। जैसे व्यावहारिक जीवन में प्रत्येक कार्य अभ्यास-अनुयायी होता है, उसी तरह ईश्वर स्मरण के लिए नित्य अभ्यास करना होगा। गीता में क्या है, यह शरीर तो जानता नहीं, पढ़ा सुना भी नहीं। तुम नित्ययोगी, अभ्यासयोगी भी होओ—तब अन्तकाल में वे ही स्मरण करा देंगे। श्रद्धासहित निरन्तर नित्य अभ्यास। छात्र की स्थिति। अभ्यास में भी तुम स्थित। वे ही अभ्यासरूप में स्थित होकर शेष मुहूर्त में स्मरण में आ जायेंगे। सर्वदा करो, नित्य करो।

प्र०—नित्य करने से प्रयाणकाल में क्यों ?

माँ—२४ घंटा करने से केवल प्रयाण काल में क्यों ? जिस मुहूर्त में स्थिति आएगी, तभी होगा। काष्ठ घर्षण से जैसे अग्नि होती है। किसका कब वह मुहूर्त

आवेगा, वह तो जानता नहीं। तुम नित्य का अभ्यास रखो; यदि आगे प्रकाश हो तो अच्छा, न भी होने पर अन्तिम निश्वास में तुम पाओगे।

प्र०—अन्तिमकाल में स्मरण का क्या वैशिष्ट्य है ?

माँ—एक कहानी कहती हूँ, सुनो। एक आदमी तेल बेचता था। ८०, ९० वर्ष का तेली। उसका अन्तिम समय आ गया। लड़के लड़की पास थे। अन्तिम समय सब घेर कर बैठे थे। एक जन कह रहा था, बाबा, तुम काली-काली बोलो। उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गई थीं। वह उस समय बोला, एक बूँद भी नहीं। अपने तेल बेचने के अभ्यास से वह यह भाषा बोल रहा था। तो देखो, अभ्यास का कैसा प्रभाव है। यह सत्य घटना है, practical उदाहरण। इसी से कहती हूँ तुम उन्हीं को लेकर रहो। जीवन में न होने पर भी यदि शेष मुहूर्त में वह उच्चारण वा स्मरण होय तो मुक्ति होगी। जीवित रहते प्रकाश होने पर तो कोई बात ही नहीं। यदि अन्त में स्मरण होय तो समझो कि तुमने मरना जाना। मृत्यु की मृत्यु हुई। यह जरूरी है। यह नहीं होने से तुम अमृत की सन्तान हो, यह नहीं समझ सकोगे।

और एक कहानी कहूँ। कमल (विरजानन्द) की माँ ने लड़के को भेजने के लिए चिट्ठी लिखी। उसके बाद ही चिट्ठी आई, भेजना नहीं, एक विकट स्वप्न देखा है। उसके बाद उसकी माँ, स्त्री सब उसे ले जाने के लिए काशी आए। कमल ने स्त्री से कहा, “मैं जब निकल आया तो अब लौटूँगा नहीं। बल्कि तुम भी मेरा रास्ता लो।” स्त्री राजी नहीं हुई, चली गई। मैंने उसकी माँ से कहा, “तुम लड़के को लेकर विन्ध्याचल चली जाओ। राजी कराओ।” उनको भेज दिया। एक दिन उसकी माँ शिव पूजा के बाद, खाना बनाकर भोग देकर प्रसाद पाकर १२ बजे के बाद जब लेटने गई तो देखा उसके बिस्तर में एक चूहा घुसा है। उसे हटाने लगी तो वह मर गया। वह शुद्धाचारी विधवा। मैंने प्रायश्चित्त के विषय में काशी के पण्डितों से पूछने को कहा। सभी ने कहा, “चूहा मारने पर क्या प्रायश्चित्त, वह हम नहीं जानते।” पर उसके प्राणों में शान्ति नहीं। यह शरीर बोला, “तुम लड़के को लेकर विश्वनाथ जाओ। लड़का यदि कुछ चाहे (माँगे) तो हो सके तो दो।” पहले बोल चुकी थी, “तुमने किसी की सन्तान को मारा है। तुम अपनी सन्तान को विश्वनाथ को अर्पण करो।” उसे अच्छा नहीं लगा। उसके बाद बोली, “तुम्हारा लड़का यदि कुछ चाहे तो दे सको तो दो।” वह प्रायश्चित्त के इस विधान से सुखी हुई। लड़के से मैं बोली, “माँ का काम देखे जाओ। काम होने पर कहना माँ मुझे दीक्षा दो।” उसका हाथ शिव के मस्तक पर देने पर उसने दीक्षा माँगी और माँ का मन्त्र पाया।

उसके बाद उसकी माँ उसे और बुलाती नहीं थी। उसके मन का भाव बदल गया। उसने योगेश ब्रह्मचारी द्वारा विन्ध्याचल से जिनिषपत्र मँगा लिया। लड़के को बुलाया भी नहीं। उसके अन्दर परिवर्तन हो गया। आश्रम में रहती। नित्य-कर्म करती।

उन दिनों भरी गंगा। खूब बड़ी छत। छत के ऊपर खड़े होने से मणि-कर्णिका की अग्नि दिखाई देती थी। किसी ने आकर कहा कमलदा की माँ बहुत बीमार हैं। मैंने कहा, "इससे क्या, यही तो मणिकर्णिका।"

दूसरे दिन तीन बजे। हठात् इस शरीर का ख्याल हुआ माँ के पास जाऊँ दीदी खाने जा रही थी। मैं नीचे गई। बोली, "माँ, तुम कैसी हो?" वह बोली "तुमने इतने दिन दर्शन नहीं दिया इससे मुझे अभिमान हुआ"। मैंने कहा, "यह तो मैं आ गई" उसकी निश्वास की गति ठीक नहीं। कमल का भी घुटना फूला हुआ था। उसकी माँ उसे देख भी नहीं पाई। आफिस का कमरा खाली कराके वहाँ माँ को लाया गया। और एक खाट पर लड़के को रक्खा गया। उसे यह सब ग्राह्य नहीं था।

सन्ध्या हो गई। शक्ति के पिताने दवा दी। पर मुझे सन्देह था कि महा-श्वास चल रहा है। मैं पुकारती थी। वह जवाब देते हुए "उ" न बोलकर ॐ बोलती। शेष समय प्रति श्वास से ॐ कार जप कर रही थी। भीतर खुलकर प्रणव नाद आ रहा था। सर्वदा अभ्यास के कारण शेष मुहूर्त में भी प्रणव उच्चा-रण हो रहा था। सर्वदा जप का अभ्यास रखने से शेप मुहूर्त में वह स्मरण होगा ही। इसी से अभ्यासयोग में लगा रहना चाहिए। उसका इष्ट मंत्र गुप्त न रह कर बीच-बीच में स्फुरित हो रहा था।

सन्ध्या समय थोड़ा दूध पीकर, जप करके फिर लेट गई। लेटे हुए भी जप कर रही थी। निश्वास प्रश्वास से उसका सहज जप चल रहा था। रात को दस बजे जब मैं गई वह बोली, "माँ"। शक्तिमन्त्र था, वह उस समय सर्वत्र सब कुछ को जगदम्बा देख रही थी। हाथ से जप हो ही रहा था। बीच-बीच में मुख से "जगदम्बा" शब्द निकल रहा था। रात को उसके पास एक स्त्री को रख दिया। दूसरे दिन सवेरे ब्राह्ममुहूर्त में उषा आरती के समय अन्तिम निश्वास पड़ी। पर हाथ के ऊपर उंगली थी। शरीर का अंग-प्रत्यंग इस तरह साधना में योग दे रहा था। ऐसा किन्तु कम देखा जाता था। यह घटना १५-१६ वर्ष आगे हुई थी। मनमोहन बाबा जब उसका शरीर मणिकर्णिका ले गया, उस समय (जप की मुद्रा में) दोनों हाथ ऊपर उठ गए थे—वह देखकर आश्चर्य में पड़ गया। आकर उसने मुझसे सब कहा।

अभ्यासयोग से क्या होता है, इस समय तुम विचार करके देखो।

प्र०—तुमने उसकी वकालती क्यों करी ?

माँ—जब किसी पंडित ने उसे विधान नहीं दिया, तब इस शरीर ने उचित विधान दिया। इसमें वकालत क्या ?

प्र०—जिसने सारा जीवन कुछ नहीं किया, उसको शेष काल में नाम सुनाने से क्या कुछ होता है ?

माँ—तुम तो जानते नहीं सारा जीवन एक आदमी ने क्या किया। यदि शेष मुहूर्त में हरिनाम करो, तो हो सकता है उसको हरिनाम स्मरण हो आए। इसीलिए आत्मीय स्वजन को उचित है कि शेष काल में स्मरण में सहायंता करें। अवश्य पूर्व योगायोग न होने से हरिनाम सुनने का योगायोग नहीं होता। कर्म के साथ सब युक्त है। फाँकी देने से फाँक में पड़ना पड़ेगा। नकल से नहीं होगा। सारा जीवन कुछ न करके शेष काल में फाँकी देकर हरि स्मरण नहीं होगा। कोई किसी को कुछ नहीं देता। अपना ही रखा रहता है। उनके यहाँ चूलचीरा (बाल से सूक्ष्म) विचार।

प्र०—सब कोई क्या कर्म का फल इसी जीवन में भोगते हैं ?

माँ—बहुतों का रखा (जमा) रहता है। Return ticket ले जाता है। फिर आएगा, भोगेगा।

प्र०—अनेक ही इस जीवन में खूब सुखी रहते हैं परन्तु धर्मात्मा नहीं।

माँ—उनका बड़ा सूक्ष्म विचार है। सब भोग करना पड़ेगा— इस जीवन में वा जन्मान्तर में। क्रमशः

श्री श्री माँ आनन्दमयी प्रसंग

पंचम खण्ड

श्री अमूल्य कुमार दत्त गुप्त एम० ए०, बी० एल०

गीता-जयन्ती के उपलक्ष्य में श्री श्री माँ का काशी आगमन

२८ अगहन, मंगलवार १३५५ सन् (१४-१२-४८ ई०)—खुकुनी दीदी आज विन्ध्याचल से काशी के आश्रम में आ गयी हैं। कल श्री श्री माँ यहाँ आने वाली हैं। भविष्य की श्री श्री माँ की गतिविधि के बारे में दीदी द्वारा निम्न जानकारियाँ प्राप्त हुईं—काशी में माँ गीता-जयन्ती समाप्त करने के बाद पुनः देहरादून चली जायँगी। इसके बाद श्री श्री माँ हरि बाबाजी के साथ पंजाब जायँगी। पंजाब में हरि बाबाजी का जन्म-स्थान है। इसके बाद वहाँ से वापस आकर वृन्दावन में दोल-उत्सव (होली) करेंगी। वृन्दावन में उड़िया बाबाजी का आश्रम है। वे एक प्रवीण साधक हैं और हरि बाबाजी के अन्तरंग मित्र। झूसी में देख चुका हूँ कि हरि बाबाजी जब पाठ-कीर्त्तन आदि करते थे तब उड़िया बाबाजी के लिए एक आसन बिछा रहता था। उड़िया बाबाजी के आश्रम में भी संभवतः हरि बाबाजी के लिए इस तरह एक आसन बिछाकर रखा जाता था। उड़ीसा निवासी होने के कारण उन्हें उड़िया बाबा कहा जाता है।

२९ अगहन, बुधवार (१५-१२-४८ ई०)— श्रीश्री माँ काशी आ गयी हैं। रामापुरा वाले भवन से तीसरे पहर आश्रम में गया। उस वक्त पाठ चल रहा था। पेतित साहब के साथ मुलाकात हुई। उनसे पूछने पर ज्ञात हुआ कि वे वृन्दावन से रायपुर गये थे। वहाँ से वृन्दावन होते हुए काशी आ रहे हैं। उनसे वृन्दावन और काशी के बारे में प्रश्न करने पर उन्होंने कहा—"वृन्दावन और काशी— इन दोनों स्थानों का विशेष महत्त्व है। इन दोनों स्थानों में मैंने यह अनुभव किया कि भाव आकर मुझे अभिभूत कर देते हैं। बम्बई और कलकत्ता में ऐसी बातें नहीं होतीं। वृन्दावन में भी पूजा का विशेष प्रबन्ध था और वह सब देखकर रोते-रोते मैं बेहाल हो उठता था। दिल्ली से जब मैं वृन्दावन की ओर रवाना हुआ तब माँ के डिब्बे में मुझे स्थान प्राप्त नहीं हुआ। मैं बगल के अन्य डिब्बे में चला आया। यहाँ आकर मैं इतना रोने लगा कि यह दृश्य देखकर पण्डाजी मुझे माँ के डिब्बे में ले गये।"

उड़िया बाबाजी एवं हरि बाबाजी

पाठ के अन्त में माँ बाहर आकर बैठ गयीं। हरि बाबाजी की चर्चा होने लगी। माँ कहने लगीं—"इस बार होली के अवसर पर बहरमपुर जाने की बात थी, किन्तु हरि बाबाजी ने कहा—'तुमसे मुलाकात होने के बाद से, होली पर एक माह समय देने की बात हो गयी है, इस बार अगर होली के समय नहीं रहोगी, तो कहो कि दोल-उत्सव (होली) की जरूरत नहीं है, उसे बन्द कर दूँ।'

वृन्दावन में उड़िया बाबाजी का आश्रम काफी बड़ा है। वहाँ बड़े-बड़े दालान और कोठे हैं। एक बार शायद हरि बाबाजी ने उड़िया बाबाजी के निकट पत्र लिखते हुए यह इंगित किया था कि उड़िया बाबाजी प्रवृत्ति के मार्ग पर चल रहे हैं। प्रत्युत्तर में उड़िया बाबाजी ने हरि बाबाजी से कहा था—"मैं फक्कड़ रूप में घूमता-फिरता था। तुम्हीं लोगों ने मुझे आश्रम में बैठाया है। अगर मैं प्रवृत्ति के मार्ग पर चल रहा हूँ तो इसकी सीमा जरूर देख लूँगा। तुम निवृत्ति मार्ग की सीमा देख लो।" उड़िया बाबाजी वेदान्तिक और हरि बाबाजी भक्त हैं। उड़िया बाबाजी जब वेदान्त पाठ करते हैं, तब हरि बाबाजी उपस्थित नहीं रहते। हरि बाबाजी के पाठ के समय कुछ देरतक अनेक दिन उड़िया बाबा बैठे रहते थे। साधक की दृष्टि से दोनों में मेल नहीं है, जब कि दोनों में गहरी मित्रता है। उड़िया बाबाजी कहते हैं—"आकाश में मेघ के छा जाने पर उसे देख जिस प्रकार मयूर नृत्य करते हैं, हमें एक दूसरे को देखने पर उसी आनन्द की अनुभूति होती हैं।"

भावों का उदय भाषा ज्ञान पर निर्भर नहीं रहता

टमसन साहब भी श्री श्री माँ को देखने आये हैं। टमसन और पेतित साहब फ्रांसीसी भाषा में आपस में खूब बातचीत कर रहे थे। उन्हें तन्मयता के साथ बातचीत करते देख, माँ पेतित साहब को दिखाती हुई बोलीं—"इतने दिनों बाद इसे अपने देश की भाषा में बातें करने का मौका मिला है। इस देश का कीर्तन सुन इसकी दोनों आँखों से अविरल रूप से पानी गिरता है। उसे रोक न पाने के कारण यह अधिकतर पेट के बल लेट जाता है। और इसकी आँखों से पानी कम नहीं निकलता है। जैसे स्रोत बहता है। इसकी यह हालत देखकर प्रश्न हुआ था कि ऐसा कैसे होता है? जिन गीतों का यह एक पद भी नहीं समझता, उसे सुनने पर इसकी आँखों से पानी कैसे निकलता है? योगेश ब्रह्मचारी ने इस प्रश्न का समाधान कर दिया। उन्होंने कहा कि वेद के छन्द मन पर जैसी क्रियाएँ करते हैं, उसी प्रकार गीतों के सुर—लय भी मन पर क्रियाएँ कर सकते

हैं। वास्तव में यह (अर्थात् पेतित साहब) इस भाव का भावुक है, इसोलिए कोर्त्तन और गोतों की इस पर क्रियाएँ होती हैं।''

श्री कृष्णमूर्त्ति और उनका उपदेश

बात-बात में श्रोकृष्ण मूर्त्ति की चर्चा चली। माँ ने कहा—"इस बार दिल्लो में कृष्ण मूर्त्ति से मुलकात हुई थी। तुम लोगों की छोटी माँ जैसा कहती हैं कि हरि, दुर्गा – यह सब नाम जपने से कुछ नहीं होगा, 'माँ' नाम जपना चाहिए। उसी प्रकार कृष्ण मूर्त्ति भी कहते हैं कि गुरु-दीक्षा, नाम-जप आदि से कुछ नहीं होगा, विचार चाहिए। सर्वदा अपने आप विचार करना चाहिए। यदि मन में प्रश्न उत्पन्न हो तो चाहे पुस्तक अध्ययन कर चाहे किसी से पूछ कर, उसका समाधान कर लेना चाहिए। इसी प्रकार विचार करते-करते ज्ञान या मुक्ति आयेगी, अन्य मार्ग से नहीं। मैंने उनसे कहा था—'पिताजी, आपकी बात मानकर जो चलेगा, क्या तुम उसके गुरु नहीं बन जाओगे ?' उन्होंने कहा—'शिष्य भाव रहना चाहिए।' मैंने कहा—'शिष्य के रहने पर गुरु रहेगा ही।' इस बात का कोई जवाब उन्होंने नहीं दिया। यह तो जानते ही हो कि इस शरीर के साथ किसी का विरोध नहीं है, यह कहा जा चुका है, यह भी एक अवस्था है, कहाँ से इस तरह की बातें हो रही हैं, उसे मैं समझ रही हूँ।"

मैं—"मन में कोई प्रश्न उत्पन्न होने पर, उसके समाधान के लिए अगर अन्य व्यक्ति की सहायता लेनी पड़े तो जो लोग समाधान कर देंगे, वही तो गुरु कहलायेंगे।"

माँ—"ये लोग समझते हैं कि किसी के निकट किसी प्रश्न का समाधान पाने पर उसे गुरु मानना पड़ेगा, ऐसी बात नहीं है। मान लो, तुम रास्ते से जा रहे हो, इसो समय एक कुत्ता भयानक रूप से चीख उठा, आवाज सुनकर तुमने कुत्ते को ओर देखा कि एक साँप को देखकर कुत्ता इस तरह भूक रहा है। अगर कुत्ता ऐसा न करता तो तुम सांप के ऊपर गिर पड़ते। ऐसी हालत में कुत्ते ने तुम्हें सावधान कर तुम्हारी रक्षा की। फलस्वरूप तुम भी यहाँ कुत्ते को अपना गुरु मान सकते हो, किन्तु ऐसे मौके पर जैसे लोग कुत्ते को गुरु नहीं मानते, उसी प्रकार किसो के निकट किसी प्रश्न का समाधान पाने के बाद भी ये लोग उसे गुरु मानने को प्रस्तुत नहीं होते।"

इस चर्चा के बाद पुनः पाठ आरम्भ हुआ। मैं प्रणाम कर चला आया।

१ पौष (१६-१२-४८ ई०)—सवेरे सौदा वगैरह खरीदकर आश्रम की ओर रवाना हो गया। यहाँ आकर देखा कि यज्ञ हो रहा है। यज्ञशाला में श्री

श्री माँ बैठी हुई हैं। मैं यज्ञशाला के बाहर खड़ा होकर यज्ञ देखने लगा। यज्ञ कुण्ड के चारों तरफ दस ब्रह्मचारी बैठे हैं, सभी श्वेत पगड़ी पहने हुए हैं। कुण्ड के ऊपर एक ताम्रपात्राधार में घी लटकाया गया है, उस पात्र से बूँद-बूँद घी आग में पड़कर भक-भककर जल रहा है। इसके साथ ही दसों ब्रह्मचारी जौ, तिल इत्यादि द्वारा सावित्री मंत्र से आहुति दे रहे हैं। कुण्ड के दक्षिण ओर बटुक दादा एक आसन पर बैठे वेद पाठ कर रहे हैं। श्रीयुक्त कुसुम ब्रह्मचारी (निर्व्वाणानन्द) गायत्री मंत्र जप कर रहे हैं और कुण्ड के उत्तर ओर बैठी हुई श्री श्री माँ यह सब देख रही हैं। आश्रम से सटकर गंगा प्रवाहित हैं। मैं आश्रम के प्रांगण में गंगा की ओर दीवार के सहारे जाकर खड़ा हो गया। प्रभात की सूर्य-किरणें कलुषनाशिनी जाह्नवी पर एक अपूर्व शोभा निरूपित किये हैं। अर्द्ध-चन्द्राकृति काशीधाम का समग्र चित्र गंगावक्ष में प्रतिलक्षित हो रहा है। दूर श्वेतवर्ण गंगा पर स्थित सेतु भी सूर्य की किरणों से चम-चम चमक रहा है। गंगा वक्ष पर नौकाएँ अचल चित्र की भाँति दिखाई दे रही हैं। मैं वहीं खड़े होकर यह सब दृश्य एक टक देखता रहा।

कम पड़ने पर बातें उत्पन्न होती हैं

कुछ देर बाद श्री श्री माँ बड़े बैठकखाने में आयीं। उस वक्त पाठ आरम्भ हो गया था। एक महिला कुछ फल ले माँ के निकट आयी। पाठ और कीर्त्तन समाप्त होने के बाद श्रीमान् भूपेन को माँ ने उन फलों को बाँट देने को कहा। फलों में केला और अमरूद अधिक थे। बैठकखाने में हम सब २५ व्यक्ति थे। भूपेन की इच्छा हुई कि फलों को काटकर बाँटा जाय, वर्ना कम पड़ जायँगे। माँ ने कहा कि तुम एक-एक कर सबको फल देते जाओ, बाद में कम पड़ने पर हिस्सा लगाना।

भूपेन और एक ब्रह्मचारी लोगों में फल बाँटने लगे। सब बाँटने के बाद ज्ञात हुआ कि एक फल कम हुआ। जब यह बात माँ से कही गयी तो जो महिला फल लेकर आयी थीं, वे बोलीं कि उन्हें गलती से दो फल दिये गये हैं। यह बात सुनते ही सभी हो-हो कर हँस पड़े। माँ उस महिला की ओर देखती हुई हँसकर बोलीं—"यदि कम पड़ने की बात न आती तो तुम दो फल पाती। कम पड़ने पर बातें उत्पन्न होती हैं, घड़ा पूर्ण रहने पर शब्द नहीं होता। जो पूर्ण नहीं है, उसी से शब्द होता है। यहाँ आकर पाठ के समीप फल न देखकर ख्याल हुआ था कि ये लोग आज पाठ के समीप फल काटकर रखना भूल गये हैं। प्रत्यह पाठ के समीप कुछ फल काटकर रखा जाता है, इसी ख्याल के साथ-साथ

फल आकर उपस्थित हो गया। जब ये लोग फल काटकर बाँटना चाहते थे तब ख्याल हुआ कि एक-एक करके सबको दिया जाय, अगर कम पड़ा तो बाद में जो लोग शेष बचेंगे, उनको काटकर दिया जायगा। अब देखा गया कि काटकर देने की जरूरत नहीं हुई।"

इस घटना को लेकर कुछ देर तक परिहास होता रहा। बाद में मैंने माँ से कहा—"माँ; मेरा एक प्रश्न है। इसका उत्तर आप इस ढंग से दें ताकि मैं उसे समझ सकूँ।"

माँ—"यह मैं नहीं कह सकती। तुम बजा कर (आजमा कर) देख सकते हो।"

मैं—"इस वक्त तो मैं अज्ञान हूँ, जब मुझमें ज्ञान उत्पन्न होगा तब क्या अज्ञान की स्मृतियाँ मुझमें रहेंगी ?"

माँ—"तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर अनेक प्रकार से दिया जा सकता है। उत्तर देने के पूर्व तुम लोगों से एक बात पूछना चाहती हूँ। तुम लोग पढ़े-लिखे हो, किन्तु पढ़ाई-लिखाई सीखने के पूर्व तुम लोगों की क्या स्थिति थी ?—क्या यह याद है ?"

प्रत्युत्तर में किसी ने कहा, 'हाँ' और किसी ने कहा; 'नहीं'। माँ हँसने लगीं, बाद में बोलीं—"एक तरह से कहा जा सकता है कि अज्ञान पहले था, अब नहीं है। जैसे हम लोग यह कहते हैं कि सूर्योदय के पूर्व अन्धकार था, अब सूर्य के उदय के बाद अन्धकार नहीं है। इसके अलावा एक बात है, जब ज्ञान प्राप्त हुआ तब लगा कि मैं अज्ञानी कब था ? मैं तो हमेशा से ज्ञानी हूँ।"

मैं—"हाँ।"

ठीक इसी समय खुकुनी दीदी माँ को भोजन कराने के लिए ले जाने आयीं। उन्हें देखकर माँ हँसती हुई बोलीं—"देखो, कैसे बातें की जाय ? यह (अर्थात् खुकुनी दीदी) हाजिर हो गयो। अब किसी और समय चर्चा चलाना।"

श्री श्री माँ के साथ-साथ मैं भी उठ खड़ा हुआ। माँ ने मुझसे पूछा—"अब तो तुम घर जाओगे ?"

मैंने कहा—"हाँ, माँ।" माँ ने सम्मति दी।

तीसरे पहर ४ बजे सपरिवार आश्रम में आते ही सुना कि इस बीच एक बार माँ मेरे बारे में पूछताछ करती रहीं। आज तीसरे पहर पाठ के समय माँ मौजूद नहीं थीं। पाठ समाप्त होने के बाद वे आँगन में आकर खड़ी हो गयीं। महिलाएँ माँ को फल देकर प्रणाम करने लगीं। माँ हाथों में फल पाकर भक्तों में बाँटने लगीं। कुल ३०-३५ भक्त इस वक्त मौजूद थे। ठीक इसी समय एक

महिला ने अनेक फल लाकर माँ को दिये । इन फलों को पाकर माँ बोलीं—"फल बाँटते समय ख्याल हुआ था कि दो-चार फल किस-किस को दूँगी । इसलिए देखो, ख्याल के साथ-साथ कितने फल आ गये ।"

श्री श्री माँ स्वयं फलों का वितरण करने लगीं । हम लोगों ने माँ के हाथ से एक-एक फल प्राप्त किया ।

"ज्ञान-लाभ के बाद क्या अज्ञान की स्थिति रहेगी ?"

शाम हो गयी है । ठण्डक बढ़ गयी है । जाड़ा लगने के कारण हम लोग बठकखाने में चले आये । इसी समय शंकरानन्द स्वामीजी ने मुझे सवेरे-वाले प्रश्न की चर्चा करने को कहा । मैंने उनसे कहा कि इतने लोगों के बीच उस बात की चर्चा ठीक नहीं होगी । स्वामीजी ने माँ से कहा तो माँ बोलीं—"ठीक है, बात चलने पर चर्चा होगी ।"

मैं—"माँ, इस वक्त आलोचना की सुविधा नहीं होगी । किसी और समय मैं अपने प्रश्न को पूछ लूँगा ।"

माँ—"ठीक है, पर इस समय जितना हो सके, चल सकता है ।"

सभी लोगों को इस बात में दिलचस्पी लेते देख मैंने माँ से कहा—"तो आप मेरे सबेरे वाले प्रश्न का उत्तर दीजिये ।'

माँ—"ज्ञान होने के बाद पूर्व के अज्ञान की स्थिति की स्मृतियाँ रहती हैं या नहीं ?—यही प्रश्न था तुम्हारा ?"

मैं—"हाँ ।"

माँ—"(शंकरानन्द स्वामीजी से) क्यों पिताजी, स्मृति रहती है ?"

शंकरानन्दजी—"नहीं रह सकती । क्योंकि स्मृति चित्त की एक वृत्ति है, चित्त की वृत्ति रहे तो ज्ञान कहाँ ?"

माँ—"अच्छा, क्या ऐसा नहीं हो सकता ? चन्द्र तो हमेशा रहता है, किन्तु उसका प्रकाश सर्वदा नहीं रहता, मेघ के कारण चन्द्र ढँका हुआ है, ज्योंही बादल हट गये त्योंही चन्द्र का प्रकाश हुआ, उसी तरह ज्ञान तो है ही । अज्ञान के कारण समझ में नहीं आता । जब वह अज्ञान दूर हो जाता है तब ज्ञान का प्रकाश होता है ।"

स्वामीजी ने अनेक तर्क प्रस्तुत किये, पर सभी बोधगम्य नहीं हुए । फिर भी मोटे तौर पर यह समझा गया कि जब जिसमें ज्ञान का उदय होता है तब उसके निकट स्थान-काल का ज्ञान या पूर्व स्मृतियाँ आदि कुछ भी नहीं रहतीं । स्वामीजी के मत से विदेह मुक्ति ही एकमात्र मुक्ति है । जीवन्मुक्ति कुछ भी नहीं है । इसी

समय परमानन्द स्वामीजी आये तो माँ ने यही प्रश्न उनसे भी पूछा। उन्होंने जो मत दिया, वह भी शंकरानन्द स्वामीजी के मत के अनुकूल रहा। अनेक वादानुवाद हुए, उसमें मैंने भी भाग लिया, वह सब उल्लेख योग्य नहीं है। इस तरह की बातचीत के बाद पाठ आरम्भ हुआ। पाठ होने के कुछ पहले शंकरानन्द स्वामीजी चले गये।

माँ ने मुझसे पूछा-- "तुम भी जाओगे क्या ?"

मैंने कहा—"हाँ, माँ, अब मुझे भी आज्ञा दीजिये।"

माँ—"बाद में चले जाना, क्या देर हो जायगी ?"

मैं—"नहीं। ठहरकर चला जाऊँगा।"

माँ—"अच्छा।"

"इस शरीर का भाव समझना कठिन है"

महाभारत का शांतिपर्व पाठ होता रहा था, आधा घण्टा से अधिक समय नहीं लगा। पाठ समाप्त होने के बाद बैठकखाना की बत्ती बुझा दी गयी। मैं रात वाले पाठ में कभी मौजूद नहीं रहा। अचानक बत्ती बुझा देने के कारण जरा चकित रह गया। बाद में समझ में आया कि अब कुछ देर तक ध्यान होगा। बैठकखाने में इस वक्त १५–२० व्यक्ति थे, सभी आँखें बन्दकर कुछ देर के लिए ध्यान करने लगे। माँ के साथ इस तरह अँधेरे में ध्यान करने का यह मेरा प्रथम अवसर था। मेरा ध्यान ठीक से नहीं जमा। अभी कुछ देर पहले जिस विषय पर बहस हो रही थी, वही बातें बार-बार स्मृति मार्ग में आकर मन को विक्षिप्त बनाने लगीं। फिर भी पारिपार्श्विक अवस्था में यह नूतनत्व जरा अच्छा भी लग रहा था। लगभग १५ मिनट तक इसी रूप में ध्यान चलता रहा। बैठकखाना प्रायः अन्धकार से आच्छन्न न होने पर भी किसी की आकृति स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं दे रही थी। छाया की भाँति मनुष्य की मूर्त्तियाँ स्थिर रूप से बैठी थीं, चारों तरफ का वातावरण निस्तब्ध था, ठीक इसी समय इस निस्तब्धता को भंग करते हुए भूपेन अत्यन्त मृदु स्वर में गाने लगा--

"हे भगवान्, हे भगवान्, हे भगवान्, हे भगवान्,
ज्ञेय भगवान्, ध्येय भगवान्, प्रेय भगवान्, श्रेय भगवान्।"

इस गीत को सुनने के बाद मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मानो हम सब भगवान् के सामने बैठकर, साक्षात् उनकी ओर देखते हुए, इस स्तव का पाठ कर रहे हैं। इस गीत के माधुर्य और गम्भीरता कुछ देर के लिये मन को भगवत् मुखी बनाये रही। गीत समाप्त होने के बाद हमने श्री श्री माँ को प्रणाम किया।

तुरत बत्ती जल उठी। इस तरह शायद आज की कार्यवाही समाप्त हुई। हम लोग आसन त्यागकर उठ खड़े हुए। श्री श्री माँ भी उठकर ऊपर की ओर रवाना हो गयीं। मैं अतुल (ब्रह्मचारी) दादा के साथ बातचीत करने लगा, ठीक इसी समय सुना कि श्री श्री माँ मुझे बुला रही हैं। यह सुनते ही मैं तुरत जल्दी से गया। श्री श्री माँ बैठकखाने के उत्तर दिशा वाले एक छोटे प्रकोष्ठ के भीतर चली गयीं। कमरा अन्धकार पूर्ण था। माँ ने बत्ती जलाने की आज्ञा दी। बत्ती जलने पर देखा—कमरे में एक छोटी खाट है, नीचे एक आसन बिछा हुआ है। माँ मुझे बैठने को कहकर स्वयं खाट पर बैठ गयीं। माँ को एकान्त में पाकर मैंने कहा—"माँ, अब मैं अपने प्रश्न के बारे में पूछूँ ?"

माँ ने सम्मति दी। मैंने कहा—"एक दिन एक प्रसिद्ध पण्डित आध्यात्मिक चर्चा करते हुए कहते रहे कि जीव देह धारण करने पर, जीव भाव व्यतीत करने के लिए साधना करनी पड़ती है; श्रीकृष्ण को भी दीक्षा ग्रहण करनी पड़ी थी। तब मैंने उनसे कहा कि श्री श्री माँ की कोई साधना नहीं देखी गयी है। माँ का कहना है—वे इस वक्त जैसी हैं, बचपन में भी ऐसी ही थीं। सिर्फ बीच में जब उनके शरीर पर साधना की क्रियाएँ होती रहीं तब एक प्रकार का अज्ञान भाव चलता रहा। वह अज्ञान भी कैसा ? जानते हुए भी न जानने की तरह। यह सुनकर वे बोले—"जब तुम्हें ज्ञान प्राप्त हो जायगा तब तुम भी इसी प्रकार कहोगे।" पण्डितजी के सिद्धान्तों को मैं उस समय ग्रहण नहीं कर सका था और प्रत्युत्तर में तुरत कहा था कि, श्री श्री माँ के आने पर उनसे पूछूँगा कि, ज्ञान लाभ होने पर मैं क्या मन में यह सोचूँगा—कि मुझमें अज्ञान की जो बातें हो गयी हैं, वह सब मेरे ज्ञान की अवस्था में हुई हैं, अर्थात् मैं सब कुछ जानते हुए भी न जानने का भान करता रहा। इसीलिए आज मैंने तुमसे प्रश्न किया था कि ज्ञान लाभ होने पर अज्ञान की स्मृतियाँ रहती है या नहीं ?"

माँ—"सबेरे तुमने यह सब बताया नहीं था। तुम्हारे प्रश्न को सुनकर उस वक्त मैंने कहा था कि एक ऐसी अवस्था है जब लगता है कि मैं अज्ञान कब था ? मैं तो सर्वदा ज्ञान स्वरूप हूँ, क्यों ठीक है न ?"

मैं—"हाँ, इसी पण्डितजी ने यह भी कहा था—'माँ सर्वदा एक अवस्था में नहीं थीं, इसके भी तो प्रमाण हैं। श्री श्री माँ की माता तो आजकल माँ को श्रद्धा की दृष्टि से देखती हैं, क्या इस तरह वे उनके बचपन में देखती थीं ? और एक ही अवस्था में रहने पर माँ के शरीर पर साधना की क्रियाएँ कैसे प्रकट हो गयी ?' जवाब में मैंने यह कहा था कि, माँ तो स्वयं ही कह चुकी हैं कि वे पूर्ण हैं, उनमें जीव भाव भी है। जीव पूर्ण होने के लिए जिस साधना की धारा

में से होकर जाना पड़ता है, वह भी उनके शरीर के भीतर से ही हो गया। पण्डितजी ने कहा—‘क्यों ? पूर्ण में क्या साधना की वह धारा नहीं है जो कि उसे पुनः देख लेना पड़ेगा ?’’

माँ—‘‘यह तो सत्य बात है। पिता जी, मुझे जो जिस रूप में समझ चुका है, वह उसी रूप में कहता है। मैं तो सर्वदा कहती हूँ—जो मुझे जैसा समझता है, मैं वही हूँ। तुम लोग मुझे एक भाव में देखते हो, सब लोग तो उस भाव में नहीं देखते। कुछ लोग सोचते हैं, मैं पूर्वजन्म में साधना में अनेक अग्रसर हुई थी। इस बार अत्यन्त अल्प समय के भीतर ज्ञात प्राप्त कर चुकी और ज्ञान प्राप्त करके ही कह रही हूँ कि मैं कभी अज्ञान नहीं थी। इस रूप में जो लोग मुझे देखते हैं, मैं उन सबसे कहती हूँ कि मैं वही हूँ। पर इसे निश्चित जान लेना कि जो कोई जब जैसी बात क्यों न कहे, मैं स्पष्ट रूप से देखती हूँ कि वह किस अवस्था से बातें कह रहा है। सब कुछ मानो स्तर-स्तर में सजाया हुआ है। किस अंश की बातें कह रहा है, मानो वह स्पष्ट रूप में अंगुली से दिखा देने की तरह होता है।’’

‘‘और साधना की जो बातें कही जाती हैं, मैंने किससे साधना प्राप्त की ? किसने मुझे मार्ग बताया ? दीक्षा भी मैंने अपने आप को दी। पूजा, मंत्रजप जो कुछ भी हुआ, सब कुछ तो मेरे भीतर से ही आया। आगन्तुक कोई आकर मुझे कुछ नहीं कह गया। अपनी साधना के बारे में अनेक बार कह चुकी हूँ कि यह खेल के अलावा और कुछ नहीं है। मैं तो सब जानती हूँ। फिर भी तुम लोगों से यह बात—वह बात पूछा करती हूँ, वह खेल के अलावा और क्या है ? अक्सर तुम लोगों से कहती हूँ कि चलो अमुक जगह घूम आयें। इसका अर्थ यह नहीं कि उस स्थान में मैं कभी नहीं गयी। परिचित स्थानों में जैसे घूमने जाया जाता है, मेरी साधना भी उसी प्रकार की है।’’

‘‘यह बात प्रकाश करने की जरूरत नहीं है, पर यदि प्रसंग उठे तब कह सकते हो। जीव भाव के बारे में जो कुछ कहा, यह जान लो कि जीव-भाव मुझमें सचमुच है, किन्तु मैं जीव नहीं एवं अज्ञानता नाश करने के लिए इस शरीर ने साधना नहीं की है। साधना की धारा के बारे में जो कुछ तुमने कहा, वह वास्तव में है। जीव जिस भाव में साधना करता है, मैं भी ख्याल वश उसी भाव में साधना करती रही। वास्तव में वह ख्याल के अलावा और कुछ नहीं है।’’

‘‘अक्सर तुम लोग देखते हो कि कोई प्रश्न होने पर मेरा उत्तर नहीं आता। इससे कुछ लोग सोचते हैं कि यह शायद मैं नहीं जानती। किन्तु वास्तव में यह सत्य नहीं है। यह कैसे होता है जानते हो ? तुमने मुझसे प्रश्न किया। मैं देखती हूँ कि मैं अपने से ही प्रश्न कर रही हूँ, कारण तुम लोगों में अपने को एवं अपने

में तुम लोगों को सर्वदा देख रही हूँ। फलस्वरूप जब कोई मुझसे कुछ पूछता है तब देखती हूँ कि मैं जैसे अपने से ही प्रश्न कर रही हूँ। अक्सर मैं जवाब नहीं देती। यहाँ किसी को कुछ से वंचित करने की बात ही नहीं है; क्योंकि मैं जानकर भी अपने को कुछ बता नहीं रही हूँ। फिर अक्सर ख्याल होता है कि मैं क्यों अपने को भूल धारणा ले जाने दूँ? इसीलिए तभी उत्तर देती हूँ। सर्वदा मैं अपने को लेकर खेलती रहती हूँ। इसलिए इस शरीर के भावों को समझना कठिन है।

मैं—"हाँ, तुम्हें समझना कठिन है।"

क्रमशः

॥ ॐ माँ ॥

मातृ-सत्संग

(४६)

स्वामी भागवतानन्द गिरि

२१ जनवरी १९४८ पौष शुक्ल १०, २००४

प्र०—परिवर्तन ही यदि जगत् का नियम है—तो यज्ञ करने से क्या लाभ होगा ?

माँ—प्रकृति में सृष्टि, स्थिति, लय इत्यादि हर समय हो रहा है। यह समस्त विश्व ब्रह्मांड भगवान् ने ही धारण कर रखा है। लेकिन लोगों को उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। यदि उनको भगवान् प्रत्यक्ष हो जायें तो सर्वत्र एकमात्र भगवान् ही दृष्टिगोचर होगा। जैसे समुद्र के तरंगों में जल और तरंगें जल ही है। लेकिन जब जल के तरंग की तरफ दृष्टि जाती है तब जल नहीं दीखता है और जब दृष्टि जल की तरफ जाती है तब जल तरंग नहीं दीखता है। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। जैसे प्राकृत जगत् है वैसे अप्राकृत जगत् भी है। प्रकृति--माने स्वभाव। स्वभाव बदलता रहता है माने अनित्य है। दृष्टान्त के तौर से--एक फूल। फूल हर समय बदल रहा। वह गति में है। गति ही उसकी स्थिति है। जो कोई अच्छे कर्म हो रहे हैं वह सब आहुतियां ही हैं। विश्व में सब कुछ आहुति का ही स्वरूप है। जसे पहले छोटा बालक था---युवक था—वह वृद्धावस्था में आहुत हो गया। अग्नि क्या चीज है ? सबके पास अग्नि है। उस अग्नि और तुम्हारे में जो अग्नि है उसमें कोई भेद नहीं है। तुम लोग जो रोज भोजन करते हो वह भी तो आहुति ही है। सब कुछ आहुति का ही स्वरूप है। अखिल विश्व ब्रह्मांड में सब कुछ आहुति से चल रहा है। आहुति में क्या होता है ? बलिदान। अपना बलिदान दे दो। बलिदान माने क्या ? अपने में जो पशुत्व है उनका बलिदान दे दो। शिर उनको दे दो। भगवान् को शिर देने से सब कुछ मिल जाता है। देना माने हो जाना। पूर्वकाल में ऋषि लोग वेद मन्त्रों के द्वारा बारिस कराते थे। मन्त्रों से वायु की प्रचण्ड आँधी को भी स्थगित कर देते थे। मन्त्रों के द्वारा जो वस्तु देवताओं को अर्पण करते थे वह उनको पहुँच जाती थी। जैसे हम लोग भोजन से तृप्ति का अनुभव करते हैं वैसे ही देवताओं को भी यज्ञों के द्वारा तृप्ति का अनुभव होता है। मिट्टी के तेल से भी दीपक जल सकता है। अच्छे तेल से भी

दीपक जल सकता है। लकड़ी में भी अग्नि है लेकिन विना लकड़ी जलाये रसोई नहीं बन सकती। यदि कोई योगी हो और वह चाहे तो लकड़ी के वर्तन में रसोई पका सकता है। पानी से आहुति दे सकता है। जैसे कोई बैलगाड़ी द्वारा, कोई रेल गाड़ी से, कोई हवाई जहाज से अपने लक्ष्य स्थल में पहुँचता है। यदि रेलगाड़ी या हवाई जहाज में अकस्मात् एक्सीडेण्ट हो गया तो बैलगाड़ी आगे पहुँच सकती है। आहुति हर समय चल रही है। भिन्न-भिन्न फलों की प्राप्ति के लिये ऋषियों ने यज्ञ का विधान किया है। तुम जब पूजा करने बैठते हो तब भगवान् को माला क्यों पहनाते हो? क्यों भगवान् को मानसिक माला नहीं पहनाते? स्थूल भोजन न मिले तब स्थूल शरीर कैसे टिकेगा? इसलिये स्थूल आहुतियों की भी आवश्यकता है? ऐसे स्थूल आहुतियाँ देते-देते अन्तर से आहुतियाँ हो जाती हैं। योगी लोग बिना भोजन भी चल सकते हैं। क्यों? कारण शरीर को जिन्दा रखने के लिये जिस शक्ति की आवश्यकता है वह शक्ति योगी लोग योग शक्ति से पैदा कर सकते हैं। उन लोगों के लिये स्थूल वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती। इसमें और भी एक बात है। तुम लोग जो यहाँ बैठे हो--सबमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी---यह पञ्चतत्त्व रहते हैं। प्रत्येक का प्रत्येक के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। जैसे डेप्युटी के साथ डेप्युटो की मुलाकात होती है वैसे सजातीय तत्त्वों के साथ सम्बन्ध होता है। कोई सकाम दृष्टि से हवन करता है तो कोई निष्काम दृष्टि से। इसमें स्थूल रूप से आहुतियाँ दी जाती हैं। यदि किसी की इच्छा न हो तो मानसिक आहुति भी दे सकता है। स्थूल पूजा के समय भी मानसिक पूजा की आवश्यकता पड़ती है। देवता होकर देवता की पूजा करनी पड़ती है। मन से देवता बनकर पूजा होती है। मन से भगवान् के श्रीचरणकमलों में सर्वस्व की आहुति कर दो। दृष्टान्त के हिसाब से---आज तुम्हारे मन में ख्याल हुआ कि मुझको खेती करनी है। पहले तुम जमीन खरीदोगे। पीछे बीज लगाओगे—पीछे फसल तैयार होगी। प्रथम तो यह विचार मानसिक ही था। कारण में से कार्य उत्पन्न हो गया। वेदों में निर्दिष्ट नियम के अनुरूप कुछ-कुछ चीजों को इकट्ठा करके अग्नि को आहुति के रूप में दिया जाता है। यह सब चीजें देवता लोग ग्रहण करते हैं। यदि तुमने मन में किसी को दान देने का संकल्प किया हो तो जरूर दान देना चाहिए। इसलिये कोई-कोई कहते हैं मन से ध्यान नहीं होता है, जप नहीं होता है। मन से ध्यान और जप शुरू करो। जो बड़े-बड़े योगी लोग होते हैं वे एक संकल्प मात्र में बड़े-बड़े बाग-बगीचे और हरेक वस्तु तैयार कर सकते हैं। मन से ध्यान करो। ध्यान करते-करते कोई ऐसा समय आ जाता है कि भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं। ऐसे ही स्थूल कार्य करते-करते भगवान् प्रगट हो जाते हैं।

इसलिये कोई-कोई स्थूल वस्तुओं को भी आहुतियाँ देते हैं। नाम कीर्तन जो होता है उसको कोई "नामयज्ञ" भी कहते हैं। जो कुछ हो रहा है—सब कुछ परिवर्तन हो रहा है। सब कुछ यज्ञमय ही है।

स्वामी शरणानन्दजी— स्थूल को बदलने के लिये अग्नि ही समर्थ है। अग्नितत्त्व व्यापक बनाता है।

माँ—शास्त्र में क्या-क्या लिखा है—वह तुम जानो।

स्वा० श०—दोनों वस्तुएँ अंक में जो रहती हैं।

माँ—संपूर्ण हिसाब को लिखा, लेकिन एक जगह में एक शून्य को बैठाना भूल गया तो सारा हिसाब में गोलमाल हो जावेगा। एक शून्य के लिये संपूर्ण हिसाब खराब हो गया। एक रेती के कण में समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड निहित रहता है। सिंधु में बिन्दु और बिन्दु में सिंधु है। सत्य वस्तु सर्वदा सत्य का ही प्रकाश करती है।

प्र०—मुद्रा—यह क्या चीज है?

माँ—मुद्रा के साथ पूजा का क्या संबंध है?

स्वा० श०—मुद्रा संयम का अंग है।

माँ—इससे संयम बनता है। वज्र मुद्रा क्यों दिखाता है? मुद्रा के साथ पूजा का संयोग है। संपूर्ण पूजा पूजा होती है तब मुद्रा होती है। श्री कृष्ण अर्जुन को जब उपदेश देते थे तब कौन मुद्रा में देते थे? प्रत्येक व्यक्ति में हर समय मुद्रा हो रही है। मुद्रा क्यों होती है? जैसा भाव प्रगट होगा वैसी मुद्रा होगी। भाव के साथ मुद्रा का संबंध है। जैसे ज्ञानमुद्रा—अंगुलियों से निर्देश का होना—मुद्रा है। भावना के साथ-साथ मुखमुद्रा बदल जाती है—यह भी एक मुद्रा है। पूजा करते समय जिसको जैसा भाव होता है उसके अनुसार उनकी मुद्रा होती है। देवता होकर देवता की पूजा होती है। बहुत किस्म की मुद्रायें होती हैं। जैसे शंखमुद्रा इत्यादि। गति में स्थिति है और स्थिति में गति है।

स्वा० श०—भाव का क्रिया में परिवर्तित हो जाने का नाम मुद्रा है।

माँ—मुद्रा का अनंत प्रकार है। आसन के साथ मुद्रा का संयोग रहता है। क्या बताऊँ? भोजन करने का भी एक आसन होता है। कमजोरी का भी एक आसन होता है। आसन देखकर पता चलता है कि यह व्यक्ति में क्या-क्या है? आसन के साथ-साथ मुद्रा रहती है। यदि कोई विषयचिन्तन करना है तो उनकी मुद्रा बदल जाती है। अनंत आसन हैं और अनंत मुद्राएं हैं। यदि दिमाग में गोलमाल हो जाये तो सर्वत्र गोलमाल हो जावेगा। यदि किसी को किसी के साथ बातें करते-करते संकोच हो जाता है तो फौरन अपना हाथ शिर के बाल में चला जाता है। मुद्रा

और आसन हर समय साथ-साथ चल रहा है। मुद्रा और आसन से जिन देवताओं की पूजा करते हो उस देवता को अपने में जागृत करो। अर्जुन को भगवान् श्री कृष्ण कैसी सुन्दर मुद्रा में समझाते हैं। इतने में घड़ी में १० बजने का आवाज हुआ। इसको १० बजने का समय कहते हैं। समय में असमय है और असमय में समय है इसलिये कहते हैं कि कालातीत हो जाओ।

प्र०—काल से क्या कोई अतीत हो सकता है?

माँ—हाँ, हो सकता है। देश, काल से अतीत हो सकता है। देश और काल तो प्रकृति के अन्तर्गत हैं।

प्र०—काल का नाम परिवर्तन होता है क्या?

माँ—प्रकृति में परिवर्तन होता है—हो रहा है यह जगत् तो काल का ही खेल है। (माँ खूब हँस रही हैं) हर समय सब बातें होती नहीं है। कोई-कोई समय कोई एकाध बात अपने आप निकल पड़ती है।

प्र०—क्या होता है?

माँ—जहाँ जैसा होना है वैसा होता है।

स्वा० श०—उपदेश दो प्रकार का होता है। एक उपदेश होता है आत्म-परिचयात्मक और दूसरा होता है साधक के संस्कार के अनुसार।

माँ—यदि उपदेश देने की बात है—तो इस शरीर को उपदेश देना आता ही नहीं है। दूसरे किसी के पास उपदेश देना होता तो न आता। यह शरीर किसी से बात करता ही नहीं। यह शरीर तो अपने माता-पिता के पास ही बातें करता है। बच्चे लोग तो मेरे दोस्त हैं। सारा सब एक भगवान् का ही घर है। अपने माता-पिता के साथ बातें करने में इस शरीर को जरा भी संकोच नहीं होता है। तुम सब लोग इस शरीर के माता-पिता हो—सर्वस्व हो। एक बिन्दु में सिन्धु है। सब में सब रहा है। इसलिये यह शरीर दूसरे किसी के घर में नहीं जाता है। किसी का खाता नहीं है। यह शरीर तो उपदेश, आदेश भी करता नहीं है। क्या तुम लोग अपने साथ बातें नहीं करते हो?—इस शरीर की बातों में से जो श्रेयकारक बातें हैं इसको लेना। प्रेय को न लेना। सिर्फ श्रेय को लेना। यह शरीर तो एक घंटा जैसा है—तुम्हारी इच्छा माफक बजा लो। जैसा बजावोगे वैसा सुनोगे।—अब गोविन्द भजन शुरू करो।

ता० २२ जनवरी १९४८, पौष शुक्ल—११,२००४ गुरुवार

सुबह प्रायः ९ बजकर २० मि० में माँ सत्संग मण्डप में आकर बिराजीं। माँ को देखकर सब भक्त लोग खड़े होकर माँ का स्वागत किये। माँ अपने

आसन पर आकर बैठ गईं। सुन्दर कीर्तन चल रहा है। जय जय माँ, जय जय माँ, जय जय माँ—का कीर्तन चल रहा है। वातावरण शांत और गम्भीर है। कीर्तन पूरा होने के बाद माँ के जीवन चरित्र का हिन्दी में पाठ हुआ। किसी भक्त ने माँ से प्रश्न किया :—

प्र०—जगन्नाथपुरी में अपमृत्यु होने से भी क्या कोई दोष नहीं लगता है ?

माँ—ना, अपमृत्यु होने के बाद भी वह वैकुण्ठ में जाता है।

प्र०—अष्टांग योग माने क्या ?

माँ—अष्टांग योग किस को कहते हैं ?

स्वामी परमानंद जी—अष्टांग योग—माने एक क्रिया जिसमें अमुक आसन के साथ-साथ भाव की गति परिवर्तित हो जाती है।

माँ—शान्त भाव से अपने आप इस शरीर में योग की सब क्रियाएँ होतीं थीं। आसन मुद्रा ?—अपने आप होते थे। तुम लोग जिसको समाधि कहते हो—वह—सर्वाङ्गी समाधि—उसकी गति भी ऐसी ही हो जाती थी कि जिसमें आसन, मुद्राओं—की गति का परस्पर प्रकाश हो जाता था।

प्र०—समाधि अवस्था में तो कोई क्रिया नहीं होती है।

माँ—समाधि अवस्था में कोई क्रिया नहीं होती है। स्थिति-स्थिति के अनुसार भेद भी होता है। आँख बन्द करके बैठे हैं—फिर आँख खुलने पावे लेकिन आँख खुले नहीं। चलना, नहीं चलना ? यह सब उस स्थिति में रहते हुए भी हो सकता है। सत्य बात यह है कि समाधि में कोई क्रिया नहीं रहती है। ऊपर सब वार्तालाप माँ बँगला में बोल रही थीं इसलिये डा० पन्नालाल ने माँ से कहा,—"माँ, यहाँ ऐसा नियम किया गया है, कि जो बंगला भाषा में बात करेगा—वह सब को रसगुल्ला खिलावेगा। हम लोग यहाँ ५८ जन हैं—५८ रसगुल्ला लाना पड़ेगा।

माँ—रसगुल्ला मन से खा लो। ५८ इष्ट नाम का जप करो।

सब भक्त लोग हँस रहे थे। डा० पन्नालाल माँ से कह रहे थे। "माँ हमारे रसगुल्ला मत मारो।"

माँ—तुम रसगुल्ला तो रोज खाते हो। (मूल बात पर आकर) अष्टाङ्ग योग सम्बन्ध में बातें भिन्न-भिन्न किसम की हैं। हरेक बात हर समय आती नहीं।

प्र०—तुम क्या अधिकारी देखकर बातें करती हो ?

माँ—तुम जैसा बजाओगे वैसा सुनोगे। तुम यदि बेसुरा बजावोगे तो बेसुरा सुनोगे।

प्र०—तुम हम लोगों के हाथ का यन्त्र मत बनो। हम सबको तुम अपने हाथ का यन्त्र बना दो।

माँ—(हँस रही हैं)—इस शरीर की बात तुम लोग छोड़ दो। तुम लोग उस भगवान् का यन्त्र हो। सम्पूर्ण रीति से भगवान् का यन्त्र बन जाओ।

प्र०—हम लोगों को अहंकार का ज्ञान रहता है।

माँ०—हाँ, तुम लोगों को ख्याल नहीं है कि तुम भगवान् के यंत्र हो यह सब बात है। "अहं" का नाश कर दो। इससे यंत्र बोध प्रकाश हो जावेगा। अरे! प्रकाश! क्या? तुम तो भगवान् का यंत्र ही हो।

ऐसे माँ बात कर रही थी इतने में सत्संग का समय भी पूरा हो रहा था। माँ ने कहा,—"क्या मैंने ठीक समय पर बात पूरा की है—क्या?"

प्र०—हा, माँ—ठीक समय सर कथा पूरी हो गई है।

माँ—Natural तुमलोग क्या कहते हो। क्या इस शरीरके योग्य शब्द का व्यवहार किया है?

× × × ×

प्र०—भगवान् राम और भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने-अपने शरीरों को छोड़ दिया था—या सशरीर से अन्तर्धान हुए थे?

माँ—यह सब बातें तो तुम्हारे शास्त्रों में लिखी पड़ी हैं।

डॉ० पन्नालाल—श्री रामचन्द्र जी तो सशरीर चले गये थे।

माँ—भगवान् कृष्ण का क्या हुआ था?

डॉ० प०—हमको क्या खबर? तुमको खबर होनी चाहिये। मेरी तो भगवान् कृष्ण से मुलाक़ात हुई नहीं है। ऐसा सुना है कि वे जब ध्यान में थे तब उनको बाण लगा था।

माँ—उनके शरीर का क्या हुआ?

स्वामी परमानन्द जी—उनको बाण लगा और शरीर का अन्त हो गया।

प्र०—श्रीकृष्ण भगवान् का शरीर का क्या हुआ?

पंडित जी—श्रीमद्भागवत में लिखा है कि भगवान् का शरीर साधारण मनुष्य की तरह नहीं छूटता है। भगवान् ने जब शरीर छोड़ा तब सब देवताओं की आँखें बन्द हो गईं। उनका शरीर जहाँ था वहाँ सिर्फ फूलों का ढेर पड़ा हुआ मालूम पड़ा। इसका मतलब यह हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण सशरीर से अन्तर्धान हो गये। भगवान् का शरीर मनुष्य शरीर जैसा नहीं होता है। उनके शरीर को सच्चिदानन्द विग्रह कहते हैं।

माँ—भगवान् के शरीर को सच्चिदानन्द विग्रह कहा जाता है। उसमें भेदबुद्धि मत करो।

प्र०—भगवान् ने अवतार ग्रहण किया था। सुना है कि माताजी ने भी एक बार ऐसा कहा था कि वे स्वयं पूर्ण ब्रह्म नारायण हैं।

डॉ० पन्नालाल—राम को तो भगवान् का अवतार मानते हैं लेकिन कोई-कोई कृष्ण को भगवान् का अवतार नहीं मानते।

प्र०—भगवान् ने अवतार लिया है तो फिर भगवान् में और अवतार में फर्क क्या है?

माँ—इस सम्बन्ध में इस शरीर से कुछ निकल नहीं रहा है।

डॉ० प०—किसी ने गोस्वामी तुलसीदास जी से कहा कि, "तुम राम की पूजा क्यों करते हो? वे तो सिर्फ आधा ही भगवान् हैं।" तुलसीदास ने कहा, "अब तक तो मुझे पता ही नहीं था कि श्री राम भगवान् हैं। मैं तो समझता था कि राम मेरे परम प्रियतम हैं।

× × × ×

शाम को ५·३० के बाद माँ का सत्संग दरबार सुन्दर चल रहा है। सत्संग भवन भक्तों से परिपूर्ण भर गया है। सुन्दर-सुन्दर आध्यात्मिक आलोचनाएँ चल रही हैं। माँ के श्री मुख से भगवतरस–अमृतरस निकल रहा है, कथा प्रसंग में माँ कह रही हैं—"माँ का खेल कहो, या माया का या महामाया का खेल कहो–यह सब एक ही है।

प्र०—महामाया के प्रभाव से हम लोग तो माया को ही सत्य मान रहे हैं।

माँ—माया तो अनिर्वचनीया है।

स्वामी दिव्यानन्द जी—आचार्य शंकराचार्य निर्विशेष ब्रह्म को मानते थे। रामानुजाचार्य सविशेष ब्रह्म को मानते थे। शंकराचार्य के मत के सामने भक्ति-मार्ग टिक नहीं सकता है।

माँ—भगवान् की यदि इच्छा होगी—भक्तिमार्ग को रखने की तो भक्ति-मार्ग अवश्य रहेगा। इन सब लोगों की किसने सृष्टि की थी?

स्वा० दि०—बेचारे भगवान् ने सृष्टि तो की लेकिन अन्त में दुर्भाग्य से हैरान हो गये।

माँ—लोगों की रक्षा कौन करता है?

स्वा० दि०—"मैं" न होता तो भगवान् को कौन पुकारता?

माँ—भगवान् यदि न होते तो जीव, जगत्... ... ...

स्वा० दि०---कुछ रहता ही नहीं।

माँ---तो फिर ?

स्वा० दि०---जीवात्मा ही परमात्मा है---कोई इसमें छोटा बड़ा नहीं है।

माँ---भगवान्---उनके खेल के लिये---लीला के लिये सब कुछ कर रहा है। और तुम कहते हो कि भगवान् हार गया है।

स्वा० दि०---मैं भी उनका ही हूँ। भगवान् तो भक्ताधीन हैं।

माँ---रामानुजाचार्य और शंकराचार्य के बीच में क्या मतभेद है।

स्वा० दि०---शंकराचार्य जगत् को मिथ्या मानते थे। और रामानुजाचार्य जगत् को मिथ्या नहीं मानते थे। राजानुज का मत था कि, यदि भगवान् सत्य है तो उनका जगत् भी सत्य होना चाहिये। माया तो भगवान् की ही है। जल की मुक्ति कहाँ ? जल नदी में से होकर समुद्र में जाता है---समुद्र में से वाष्प के रूप से बादल होता है। बारिस पड़ने से वही जल फिर नदी में आता है।

माँ---जल को मुक्ति जल में ही है।

स्वा० दि०---समुद्र में तरंगें उठती हैं और गिरती हैं। तरंग का मूल कहाँ ? जल में ? जल में से ही तरंग की उत्पत्ति और जल में ही लय।

माँ---उनका स्वभाव ही ऐसा है कि जल की तरंगों को जल में ही मिला देता है !

स्वामी परमानन्द---शंकराचार्य ब्रह्म को अनिर्वचनीय मानते थे। रामानुज ब्रह्म को अवाङ्मनस गोचर मानते थे।

माँ---दोनों में वस्तु तो एक ही सत्य है।

(क्रमशः)

योगमार्ग में ज्योति (प्रवृत्ति और निवृत्ति)

महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, एम्० ए०, डी० लिट्, पद्मविभूषण ।

प्राचीन काल से भारतवर्ष में विभिन्न प्रकार के योगमार्ग प्रचलित रहे हैं । इन सब योगमार्गों का चरम लक्ष्य कुछ अंशों में एक होने पर भी व्यवहार में विशेष पार्थक्य रहा है । हठयोग में प्रचलित मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ का सम्प्रदाय प्रसिद्ध है । किन्तु प्राचीन हठयोग की धारा मत्स्येन्द्रनाथ आदि की धारा से कई अंशों में भिन्न थी । मार्कण्डेय आदि हठयोगियों की बातें किसी किसी ग्रन्थ से जानी जा सकती हैं । किन्तु इस समय वह लुप्त हो गई हैं । राजयोग की विभिन्न धाराओं में महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रवर्तित धारा ने इस समय प्रधान स्थान पर आसन जमा रक्खा है । किन्तु राजयोग की धाराएँ भी प्राचीन काल में विभिन्न थीं । बौद्ध हीनयान और महायान सम्प्रदायों में जो योग की प्रणाली चलाई गई थी वह पतञ्जलि की धारा से बहुत अंशों में भिन्न थी । तदुपरान्त राजाधिराजयोग, शिवयोग और महायोग आदि असंख्य प्रकार की योग प्रणालियों का परिचय प्राप्त होता है । तन्त्रों में, उपनिषदों में एवं पुराण आदि में भी योग के सम्बन्ध में बहुत से तथ्य और तत्त्व जाने जा सकते हैं । वर्तमान लेख में उन सब विषयों की समीक्षा न कर केवल पतञ्जलि द्वारा प्रदर्शित मार्ग का ही मैं थोड़ा परिचय दूँगा ।

पातञ्जल योग की मूल बात है चित्तवृत्ति का निरोध एवं इस निरोध से प्रज्ञा का उदय, विवेकशक्ति का आविर्भाव एवं चरमावस्था में प्रकृति से पुरुष का पार्थक्य सम्पादन । विशेष रूप से अनुसन्धान करने पर ज्ञात हो सकता है कि निरोध पातञ्जल सम्प्रदाय का लक्ष्य होने पर भी उसके पूर्व प्रज्ञा अथवा ज्ञान का उदय आवश्यक है । क्योंकि ज्ञान का आविर्भाव अथवा निरोध गन्तव्यमार्ग का विघ्नकारक होता है, सहायक नहीं होता । क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति सर्वप्रथम आवश्यक है एवं उसके लिए ज्ञान का अनुशीलन सर्वथा आवश्यक है । यह ज्ञान लौकिक वृत्तिज्ञान नहीं है । किन्तु एकाग्र भूमि का प्रज्ञारूपी ज्ञान है । चित्त की मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त अवस्थाओं में यथार्थ ज्ञान-लाभ नहीं होता है । विक्षेप को हटाकर चित्त के एकाग्र भूमि में पहुँचने पर ज्ञान का आविर्भाव होता है एवं साथ ही साथ वह अज्ञान का नाश कर डालता है । चित्त के एकाग्र भूमि में प्रतिष्ठित होने पर वृत्ति की एकाग्रता कर इस ज्ञान का उपार्जन करना पड़ता है । यह समाधिजन्य प्रज्ञा–लौकिक ज्ञान नहीं है । चित्त के एकाग्रभूमि में स्थित हुए बिना केवल क्षणिक-

रूप से वृत्ति को एकाग्र करने पर भी वह प्राचीन सिद्धगणों के मतानुसार 'योग' नहीं कहा जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने बतलाया है कि चित्त की वृत्ति को एकाग्र कर इस ज्ञान का अर्जन करना चाहिये। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इन तीन विभागों में ही सारा विश्व विभक्त है। योगी लोग कहते हैं—सर्वप्रथम प्रमेय भूमि में ज्ञान की अभिव्यक्ति आवश्यक है; उसके बाद प्रमाण भूमि में एवं सबके अन्त में प्रमातृभूमि में। प्रत्येक भूमि में ही चित्त की विक्षिप्तता को दूर कर आलम्बन का आश्रयण कर एकमुखी (एकाग्रता) भाव का सम्पादन करना आवश्यक है। सर्वप्रथम प्रमेय भूमि के स्थूलांश का ग्रहण कर साधनमार्ग में अग्रसर होना चाहिये। तत्पश्चात् सूक्ष्म भूमि में पहुँचना चाहिये। स्थूल भूमि का दूसरा नाम वितर्कभूमि है सूक्ष्मभूमि का नामान्तर विचारभूमि है। वितर्क भूमि में किसी स्थान में अवलम्बन ग्रहण कर चित्त को एकाग्र कर सकने पर जब समापत्ति अवस्था का उदय होता है तब धारा के एकमुखी होने से एक अपूर्व अलौकिक दीप्ति का प्रकाश होता है। उसका पारिभाषिक नाम प्रज्ञाज्योति है। वह जिस किसी एक स्थूल आलम्बन का आश्रयण कर उदित होती है वह जब प्रतिष्ठित होती है अर्थात् हृदय में स्थिर अवस्था प्राप्त होती है तब इस प्रज्ञाज्योति द्वारा सारे स्थूल जगत् पर विजय की जाती है। वह जो प्रकाश है अर्थात् प्रज्ञाज्योति वह यद्यपि एकमात्र विषय में उद्भूत होती है तथापि उससे सम्पूर्ण स्थूल जगत् योगी के इच्छानुसार भासमान होता है। एक हिसाब से स्थूल जगत् का सर्वज्ञत्व इसके द्वारा निष्पन्न होता है। किन्तु यह ज्ञान समाधिजन्य प्रज्ञारूपी होने पर भी यह पहले मलिन अवस्था में ही उदित होता है, क्रमशः इसका शोधन करना पड़ता है।

इस प्रसङ्ग में यह जान रखना उचित है कि ज्ञान का उदय होने पर उसके साथ अर्थ का सम्बन्ध जानना आवश्यक है। अर्थ के साथ एक ओर ज्ञान का सम्बन्ध है एवं दूसरी ओर शब्द का सम्बन्ध है। अर्थ और शब्द का सम्बन्ध वाच्यवाचक सम्बन्ध है एवं ज्ञान और अर्थ का सम्बन्ध विषयि-विषय सम्बन्ध है। अर्थ ज्ञान का विषय है यह जैसे सत्य है वह वाचकशब्द का वाच्य है यह भी वैसे ही सत्य है। अतएव समझना होगा कि इस ज्ञान में शब्द का सम्पर्क रहता है। इस सम्पर्क से ज्ञान को मुक्त करना योगी का पहला लक्ष्य है। जब तक यह संस्पर्श रहता है तब तक यह अशुद्ध ज्ञान सविकल्पक ज्ञान कहलाता है; इस सम्बन्ध के हट जाने पर यह ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान के नाम से परिचित होता है। सविकल्पक ज्ञान अशुद्ध है। निर्विकल्पक ज्ञान शुद्ध है। परन्तु यह स्थूल जगत् का आधार है। सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध में ठीक इसी प्रकार के सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञान की संभावना रहती है। सूक्ष्म जगत् में सविकल्पक ज्ञान सवितर्क

एवं निर्विकल्पक ज्ञान निर्विचार नाम से कहा जाता है। वितर्क और विचार इन दोनों का आश्रयण कर सम्पूर्ण प्रमेयरूप जगत् का अस्तित्व रहता है। इसलिए वितर्क और विचार भूमि का अतिक्रमण करने पर ज्ञेय जगत् समाप्त हो जाता है। तब प्रमाणात्मक कारण जगत् का अवलम्बन कर समाधि का अभ्यास करना पड़ता है। इसको सानन्द समाधि कहते हैं। पहली ग्राह्य समाधि थी, यह ग्रहण समाधि है। यहाँ तक अग्रसर होने के बाद प्रमातृ स्वरूप अस्मिता का आश्रयण कर चित्त समाधिस्थ होता है। यह ग्रहीतृ समाधि कही जाती है। अस्मिता इस समाधि का अवलम्बन है। यही ग्राहकत्व है। अस्मिता समाधि को प्राप्त होकर जब इसमें स्थिति-लाभ होता है तब जिस प्रज्ञा का उदय होता है वही जागतिक दृष्टि में श्रेष्ठ ग्रहण है। इस प्रसङ्ग में यह स्मरण रखना होगा कि वितर्क समाधि की सिद्धि के समय जो प्रज्ञा-प्रकाश प्राप्त होता है वही प्रकाश क्रमशः शुद्ध और निर्मल होते-होते अस्मिता तक पहुँचता है। अस्मिता ब्रह्माण्ड की केन्द्र स्वरूप है। वहाँ पहुँच कर जो प्रज्ञालोक प्राप्त होता है उसके अधीन समग्र ब्रह्माण्ड है। वह ज्ञानांश में जैसा सत्य है क्रियांश में भी वैसा ही सत्य है। अर्थात् योगी अस्मिता समाधि प्राप्त कर अपने ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता के रूप में लक्षित होता है। समस्त ब्रह्माण्ड के केन्द्र में यह अस्मिता ज्ञान रहता है। इस ज्ञान से योगी के ऐश्वर्य का उदय होता है। इसका तात्पर्य यह है कि अष्टाङ्ग योग की साधना में सिद्ध होने पर जिस प्रज्ञा रूप ज्योति का विकास होता है वह क्रमशः विभिन्न स्तरों का भेद कर विश्व के केन्द्र में पहुँचती है। वही लौकिक दृष्टि में शुद्ध प्रज्ञा-ज्योति है। इस अस्मिता तत्त्व तक समाधि अभ्यस्त होने पर नाना प्रकार की योगविभूतियों का उदय होता है। ये सब विभूतिपाद में वर्णित हैं। किन्तु इन सब विभूतियों के लिए प्रयत्न आवश्यक है। अर्थात् धारणा; ध्यान एवं समाधिरूप संयम अत्यन्त आवश्यक है। यही योगी का ऐश्वर्य है। योगी यदि इस अस्मिता प्रज्ञा का अतिक्रमण न कर सकें तो उसी ऐश्वर्य में आबद्ध हो पड़ते हैं। इस अवस्था में आत्मस्वरूप के साक्षात्कार की कोई सम्भावना नहीं रहती। यह प्रज्ञालोक विशुद्ध चिदालोक नहीं है। कारण कि इसमें चिदालोक के साथ प्रकृति का अंश सत्त्वरूप से मिला रहता है अर्थात् चिद्भाव पुरुष सत्त्वभाव या प्रकृति अभिन्न से मिले रहते हैं। यह कहना व्यर्थ है कि यह अविवेकावस्था है। यह ब्रह्माण्ड के श्रेष्ठ ऐश्वर्यरूप में गिनी जाने पर भी आत्मज्ञान के इच्छुक योगी के लिए हेय है। क्योंकि प्रकृति से पुरुष का भेद इस अवस्था में भी सिद्ध नहीं होता।

इस बात का स्मरण रखना होगा कि जो ब्रह्माण्ड के ईश्वर हैं वे भी सम्यक् प्रकार से विशुद्ध सत्त्व नहीं हैं। उनमें योग विभूतिरूप जो ऐश्वर्य प्रकट हुआ है वह

अविवेकमूलक है। उस अवस्था में आत्मस्वरूप के साथ प्रकृति का सत्त्वांश भी अविविक्त रूप से विद्यमान रहता है।

इस प्रकार योगी पहले कल्पित योगी कहे जाते हैं। यद्यपि वे अष्टाङ्ग योग का सम्पादन कर ऐश्वर्य के अधिकारी हुए हैं तथापि उनके सत्त्व में निर्मलता इस समय में भी उदित नहीं हुई है। योगी लोग उसको प्रवृत्तमान ज्योति कहते हैं। अर्थात् इस अवस्था में ज्योति को प्रवृत्ति अथवा उदय होता है यह सत्य है तथापि यह योग की श्रेष्ठ अवस्था नहीं है। कारण कि इस ज्योति के पूर्णरूप से शुद्ध हुए बिना योगी को जीवन में चरम लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। इस अवस्था में नाना प्रकार के देवता-देवियाँ एवं शक्तिशाली जीव उसको तरह-तरह से छलने को प्रवृत्त होते हैं। उससे ये छलना या धोखा द्वारा आत्मविस्मृत हो पड़ते हैं। उसका फल होता है पथभ्रष्ट हो पड़ना। यह महापरीक्षा योग की मधुमती भूमि के नाम से प्रसिद्ध है। परीक्षा के विषय यहाँ दो हैं। एक है आसक्ति और दूसरा है अहङ्कार। योगी के अलौकिक सिद्धि सम्पन्न होने पर भी वे सब सिद्धियाँ वास्तव में विभूतिमात्र हैं। वह आत्मा का आगन्तुक धर्म है। स्वाभाविक शक्ति का प्रकाश नहीं है। वे सब विभूतियाँ पतन की हेतु होती हैं। किन्तु योगी जब आसक्ति और अहङ्कार से अपने को मुक्त कर डालते हैं तब इस मधुमती भूमि से उत्तीर्ण होकर आत्मज्ञान के मार्ग में अग्रसर होने में समर्थ होते हैं।

यदि अहंभाव का उदय न हो एवं चित्त में आसक्ति का भाव न रहे तो योगी को प्राप्त ज्योति निर्मल और शुद्ध अवस्था प्राप्त करती है। ज्योति की प्रवृत्ति प्रथमावस्था है। ज्योतिका शोधन द्वितीयावस्था है एवं ज्योति की निवृत्ति तृतीयावस्था है। ज्योति जब प्रवृत्त होती है तब उस प्रवृत्ति को ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहते हैं। उस ज्योति से आसक्ति और अहंकार या गर्वभाव के हटने पर वह शुद्ध तथा निर्मल ज्योति के रूप में परिणत होती है तब उस ज्योति के द्वारा अपनी भौतिक देह के उपादानों तथा इन्द्रियों के उपादानों का शोधन करना आवश्यक है। देह, इन्द्रिय और मन आदि कारण वर्ग समूह एकदम निर्मलता को प्राप्त होते हैं। इस अवस्था में शास्त्रों में वर्णित अष्टसिद्धि अथवा मधु प्रतीक को प्रयत्नपूर्वक आयत्त करना पड़ता है। पञ्चभूतों पर विजय करने से अणिमादि सिद्धियों का उदय होता है। देह लावण्यसम्पन्न होती है एवं वज्राङ्ग सिद्धि होती है। इनका नाम काय-सम्पद् है। इन्द्रिय-जय से जो मधुप्रतीक सिद्धि का उदय होता है उसमें मनोजवित्व, विकरण भाव एवं प्रधान या मूल प्रकृति को अपने आयत्त करना यही प्रधान है। किन्तु प्रज्ञा ज्योति के आसक्ति और अहंकार से मुक्त होकर निर्मल होनेपर एवं उसके द्वारा देह और इन्द्रियों के ज्योतिर्मय भाव को प्राप्त होने पर योगी की केवल

इच्छा ही सिद्धिरूप में परिणत होती है, उसके लिए संयम की आवश्यकता नहीं होती। शुद्ध देह और शुद्ध-इन्द्रिय योगी जो इच्छा करते हैं उसीको सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं। इच्छा के विकास के अनुसार इस सिद्धि का विकास व्यापक होता है यह जानना चाहिये। जैसे शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की कलाओं का क्रम विकास होता है यह भी ठीक वैसा ही है। पूर्ण विकास को पूर्णिमा रूपी जानना होगा। यहीं तक ज्योति का विकास होता है। इसके अनन्तर ज्योति हट जाती है। यह चन्द्रमा के कृष्णपक्ष के साथ तुलनीय है। इस अवस्था में ज्योति क्रमशः निवृत्त होती है। योगी लोग इस अवस्था का अतिक्रान्तभावनीय नाम से वर्णन करते हैं। कृष्णपक्ष के अन्त में अमावस्या में जैसे चन्द्रालोक नहीं रहता वैसे ही इस अवस्था के अन्त में प्रवृत्ति का आलोक नहीं रहता। तब यह भी निवृत्त हो जाती है। योगी की व्यक्तिगत इच्छा का यही अवसान है। इस व्यक्तिगत इच्छा की समाप्तिके साथ ही साथ योगी प्रकृति से पृथक् हो जाते हैं एवं सर्वदा आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित रहते हैं। पहले योगी की इच्छा से प्रकृति में क्षोभ होता है एवं इच्छा के अनुकूल फल प्रकृति से उत्पन्न होता है। इसलिए योगी को कुछ प्रयत्न नहीं करना चाहिये। यह एक प्रकार की योगी की स्वभाव स्थित इच्छा का फलमात्र है।

इस प्रकार देखने में आता है कि ठीक ठीक योगाभ्यास से अष्टाङ्ग योग सम्पन्न होने पर योगी को प्रज्ञाज्योति प्राप्त होती है। तब उस प्रज्ञाज्योति के अनुशीलन से संयम के प्रभाववश विविध प्रकार की विभूतियों का आविर्भाव होता है। इन सब विभूतियों के लिए योगी को प्रयत्न करना पड़ता है। इस अवस्था में योगी के ब्रह्माण्ड का ईश्वरत्व लाभ करने पर भी उसमें विभूति-मल रह जाता है। जिनमें एक आसक्ति और दूसरा अहंकार रूप में योगियों के समाज में परिचित है। यह योगी की परीक्षा का मूल है। इसके बाद इन दो दोषों के हटने पर पूर्वोक्त ज्योति विशुद्ध होती है। तब उस विशुद्ध ज्योति के द्वारा योगी अपनी देह और इन्द्रिय आदि को शोधित करते हैं। तब योगी के देह, मन आदि ज्योतिर्मय होते हैं। इस अवस्था में संयम की आवश्यकता नहीं रहती है। इस अवस्था में योगी की स्वाभाविक इच्छा ही शक्तिरूप में प्रकट होती है। एवं क्रमशः इच्छानुसार यह प्राकट्य अधिकाधिक स्फूर्ति को प्राप्त होता है। इसकी भी एक पूर्णता है। उसके बाद इच्छा भी नहीं रहती है। तब भावना का अतिक्रमण होता है। इस अवस्था की समाप्ति में वह ज्योति संकुचित हो जाती है। क्योंकि तब इच्छा सत्ता बिलकुल भी नहीं रहती। इसलिए प्रकृति योगी पुरुषों के द्वारा विक्षुब्ध नहीं होती। यही अवस्था पुरुष का निष्काम भाव मूलक कैवल्य है। इसके पहले इच्छा की पूर्णनिवृत्ति के साथ-साथ योगी को आत्मसाक्षात्कार होता है। यद्यपि इस साक्षात्कार में प्रकृति

का कुछ सम्बन्ध रहता है तथा पर अवस्था में वह भी नहीं रहता है। अतएव योगी की योग-साधना से प्रज्ञारूपी ज्योति की प्रवृत्ति होती है, बाद में उसका शोधन होता है एवं चरमावस्था में उसकी निवृत्ति हो जाती है। यही स्वाभाविक क्रम है।

——

श्री श्री माँ आनन्दमयी

त्रयोदश भाग

इस भाग को प्रमुख विशेषताएँ

• श्री श्री माँ के जीवन के बारे में विभिन्न बातें, सूक्ष्म दर्शनादि के विवरण, उड़िया बाबा का देहत्याग, सावित्री यज्ञ की पूर्णाहुति, यज्ञ कुण्ड में अलौकिक दर्शन।

• हरिद्वार में पूर्णकुंभ, काशी आश्रम में अन्नपूर्णा मन्दिर की स्थापना, पुरीधाम में माँ का शरीर त्यागने का उपक्रम करना, वृक्षरूपी महात्माओं की चर्चा।

• पंजाब में माँ का जन्मोत्सव, वृन्दावन आश्रम की भित्ति स्थापना।

• मोरवी, मण्डीराज्य, कुलू, आनन्दकाशी देहरी स्थानों की भ्रमण-लीलाएँ।

दो आकर्षक चित्र, सुन्दर गेट अप से युक्त।

पृष्ठ संख्या २८० मूल्य—तीन रुपये

प्राप्ति स्थान—श्री श्री आनन्दमयी संघ
भदैनी—वाराणसी—१

महाभारत की दृष्टि में गीता के अर्जुन

'गङ्गासमीरण'

२१ (अर्जुन महाकाल के लीलासहचर)

श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्ण ने अपने अलौकिक बाहुबल से दुष्टों का दमन किया था; किन्तु कुरुक्षेत्र-लीला में श्रीकृष्ण ने नायक भूमिका का स्वयं ग्रहण नहीं किया। अर्जुन को आगे कर "लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः" महाकाल लोगों की दृष्टि में अर्जुन के सारथि बने थे। उन्होंने युद्ध के पहले ही भीष्म को, द्रोण को, कर्ण को, जयद्रथ को एवं अन्यान्य वीरों को मार रक्खा था। अतएव युद्ध में जयलाभ के निमित्त अर्जुन की उपस्थिति अपरिहार्य नहीं थी। यहाँ तक कि अर्जुन यदि बिलकुल भी युद्ध न करते तो भी पूर्वनिश्चित घटना में कुछ भी उलटफेर न होता; जैसा होने को था ठीक वैसा ही होता—"मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।" तथापि कुरुक्षेत्र की समरभूमि में अर्जुन की बहुत अधिक सार्थकता थी। यदि अर्जुन युद्ध न करते तो श्रीकृष्ण की कुरुक्षेत्र-लीला अपूर्ण रहती।

श्रीभगवान् ने अर्जुन को कितना उच्च स्थान दिया था यह बात उनके श्रीमुखविनिःसृत वचनों से स्पष्टतया अभिव्यक्त होती है :—

"युद्ध में जो अर्जुन का सामना कर सके ऐसा पुरुष मुझे दिखाई नहीं पड़ता। दैहिक बल, मानसिक बल, धैर्य और उत्साह में अर्जुन बेजोड़ हैं, अर्जुन का कर्तव्य ज्ञान सदा जागरूक है, अस्त्र फेंकने में—निशाना मारने में—अर्जुन सिद्धहस्त हैं, विषाद करना तो अर्जुन के स्वभाव के विरुद्ध है।[१]

कहाँ ये श्रीकृष्ण द्वारा वर्णित महाभारत के युद्धवीर अर्जुन और कहाँ संजय द्वारा वर्णित युद्ध पराङ्मुख गीता के अर्जुन! गीता के अर्जुन स्वयं ही कातरभाव से, करुण भाषा में श्रीकृष्ण से निवेदन करते हैं कि मेरा देहबल, मनोबल, उत्साह और धैर्य विगलित हो रहा है।[२]

अर्जुन की एकदेशदर्शी युक्ति से सिद्ध होता है कि उन्होंने कर्तव्य ज्ञान भी खो दिया था। "निशाना मारने में सिद्धहस्त" यह कहकर भगवान् ने अर्जुन की प्रशंसा की थी; वही अर्जुन कुरुक्षेत्र में गाण्डीव को तानकर अस्त्रपात में प्रवृत्त

---

[१] महाभारत; उद्योगपर्व अध्याय ५८, श्लोक २६–२९।

[२] "वीरश्रेष्ठ अर्जुन के देह और मन अवसन्न; बुद्धि विभ्रान्त" शीर्षक प्रकरण द्रष्टव्य। 'आनन्दवार्ता' Vol. No.1 Page 29-30।

हुए थे सही, दूसरे ही क्षण में धनुष बाण त्यागकर रथ पर रो बैठे थे। श्रीकृष्ण ने कहा था "विषण्णता अर्जुन की प्रकृति के विरुद्ध है।" किन्तु संजय के वर्णन से ज्ञात होता है, गीता के प्रथम अध्याय के अर्जुन विषण्णता की मूर्ति बन गये थे।

अर्जुन यह भूल गये थे कि वे श्रीकृष्ण भगवान् के लीलासहचर हैं। और इसी बात का युद्ध आरंभ होने के पूर्व श्रीकृष्ण ने अर्जुन को स्मरण करा दिया था। धृतराष्ट्र के दूत संजय पाण्डव शिविर में आये थे। श्रीकृष्ण ने संजय से कहा– "तेजोमय दुर्धर्ष गाण्डीव जिनका धनुष है एवं मैं जिनका सहाय हूँ, देखो! उसी अर्जुन के साथ तुम लोगों की शत्रुता समुपस्थित है। अर्जुन जब मेरे साथ होते हैं तब हम लोगों के साथ कोई भी युद्ध करना नहीं चाहता। स्वयं इन्द्र भी नहीं चाहते हैं। चाहता है केवल वही व्यक्ति जिसकी आयु शेष हो आई है।"[3]

श्रीकृष्ण ने यह उक्ति अर्जुन की उपस्थिति में कही थी। इसमें स्पष्ट यह इंगित है कि धृतराष्ट्र-पुत्रों की आयु शेष हो आई है। "मैं युद्ध के बिना सुई की नोक के बराबर भूमि भी नहीं दूंगा" इस गर्वित वाक्य का दुर्योधन को फल-भोग करना होगा। श्रीकृष्ण की इस उक्ति में एक सत्य व्यक्त हो उठता है—अर्जुन महाकाल के लीलासहचर हैं।

पार्थ और पार्थसारथि का एक संग मिलित होने का अर्थ है—दैव और पुरुषकार का मणिकाञ्चन योग। इस दुर्लभ शुभ संयोग की महिमा को गीता के विषादग्रस्त अर्जुन समझ नहीं सके। वे अपने पौरुष को खो चुके थे, यद्यपि स्वयं पुरुषोत्तम उनके सहाय एवं सारथि थे।

२२ धृतराष्ट्रदूत संजय के निकट अर्जुन की प्रतिज्ञा

आसन्न कुरुक्षेत्रयुद्ध की घनघोर घटा ने जिस समय भारतवर्ष के राजनैतिक आकाश को आच्छन्न कर रक्खा था उसी समय अन्धे राजा धृतराष्ट्र ने सूक्ष्म दृष्टि से देखी थी अर्जुन की एक भीषण संहारमूर्ति। उन्होंने दुर्योधन को सतर्क कर दिया एवं कहा, "मैं देखता हूँ कि बाहुबल एव पराक्रम में कृष्ण और इन्द्र के बराबर वह महाधनुर्धर अर्जुन मानो इस भयंकर युद्ध में सबका संहार कर रहा है।"[4]

अजेय अर्जुन का इस प्रकार का संकल्प ही था। महाभारत के अर्जुन थे मानव, दानव और देवताओं के भय एवं सारे संसार में सदा दुर्जय। उस अर्जुन को छल से, कौशल से, युद्ध से विरत करने के लिए अन्धे राजा धृतराष्ट्र ने पाण्डव-

---

३. महाभारत उद्योग पर्व।

४. ,, ,, अध्याय २९, श्लोक १२-२०।

शिविर में भेजा संजय को दूत के रूप में बन्धु के कपट वेश में। सञ्जय ने लम्बी-चौड़ी वक्तृता द्वारा पाण्डवों को बहुत हित की बात सुनाई और उनकी बहुत अधिक प्रशंसा की एवं अन्त में कहा स्वजन-वध के तुल्य गर्हित कार्य करना धर्माचरण करनेवाले पाण्डवों के लिए शोभा नहीं देता।

सञ्जय के स्तुतिवचनों से अर्जुन विचलित नहीं हुए थे। क्षत्रिय वीर का क्या आदर्श है इस विषय में अर्जुन तब सतर्क थे। सञ्जय की सुचतुर युक्तियाँ अर्जुन के मन को रत्ती भर भी प्रभावित न कर सकीं। बल्कि अपना संकल्प उन्होंने अंगारवर्षी भाषा में सञ्जय को बता दिया। युधिष्ठिर ने शत्रुओं के संहार के लिए मेरा वरण किया है। मैं शत्रुओं के ऊपर महास्त्र स्थूलाकर्ण, पाशुपत, ब्रह्मास्त्र इन्द्र द्वारा प्रदत्त अस्त्र छोड़ूँगा। मैं इस प्रकार शत्रुओं का संहार करूँगा कि बचा कोई भी न रहेगा। तब मुझे शान्ति होगी। यह मेरा ध्रुव और स्थिर संकल्प है। सञ्जय! तुम दुर्योधन से यह बात कहो।"[५]

सञ्जय का दौत्य विफल हुआ। धृतराष्ट्र की दुष्ट चाल व्यर्थ हुई। इस प्रकार का ध्रुव और स्थिर संकल्प अर्जुन के ही अनुरूप था। वे असाध्य-साधन के अधिकारी थे और थे आत्मविश्वास की प्रतिमा। इसीलिए युद्ध में पाण्डवों की विजय के सम्बन्ध में उन्हें तनिक भी सन्देह नहीं था। उन्होंने सञ्जय से कहा था—"महाराज युधिष्ठिर स्वस्त्ययन कर यह निश्चय करते हैं कि विजय हमारी होगी। सर्वदर्शी भगवान् श्रीकृष्ण के मन में भी हमारी ही विजय होगी इस विषय में कोई संशय नहीं है। मैं भी इस विषय में अप्रमत्त बुद्धि की सहायता से सुविवेचित विचार रखता हूँ अर्थात् हमारी ही विजय होगी ऐसा मेरा असंदिग्ध मत है। मेरी दृष्टि सदा ही दूरदर्शी रही है। वह दृष्टि किसी भ्रम-प्रमाद द्वारा व्यर्थ नहीं होती। इसीलिए मैं कहता हूँ कि धृतराष्ट्र-पुत्र युद्ध करने पर त्राण नहीं पावेंगे।"[६]

उद्धृत उक्ति में महाभारत के अर्जुन का महान् व्यक्तित्व साफ प्रकट हो रहा है। उनकी बुद्धि प्रमादशून्य है, आत्मविश्वास अत्यन्त बलवान् है। युद्ध में पाण्डवों की कृतकार्यता उनके हस्तगत है—इस विषय में अर्जुन सावधान हैं।

२३ दुर्योधन-दूत उलूक के निकट अर्जुन की प्रतिज्ञा

कुरुक्षेत्र-युद्ध का पहला दिन है। पाण्डवों ने हिरण्वती नदी के तीर पर शिविर डाला था। वहाँ पर कौरवदूत उलूक उपस्थित हुए दुर्योधन का संदेश लेकर। वह सन्देश दुर्योधन के दम्भ, दर्प, क्रोध और कठोरता का प्रतिरूप था। उसमें रही

---

[५] महाभारत; उद्योगपर्व अध्याय ४८ श्लोक १०६–१०७।

[६] महाभारत उद्योगपर्व अध्याय ४८ श्लोक १००–१०१।

कृष्ण और अर्जुन को लक्ष्य कर उत्कट वक्रोक्ति और स्पर्धापूर्ण तद्रूपता। उलूक के प्रति दुर्योधन का यह आदेश था कि श्रीकृष्ण के समक्ष अर्जुन से यह बात कहनी चाहिये—"वीर ! तुम हम सबको पराजित कर पृथ्वी का शासन करो अथवा हमसे पराजित होकर समरभूमि पर शयन करो। पाण्डुनन्दन। पुरुष होओ। देखो, क्षत्रिय रमणी पुत्र प्रसव किसलिए करती है ? क्षत्रिय का जन्म सार्थक है, यदि वह कापुरुष न हो। कुन्तीनन्दन, तुम वृथा गर्व करते हो। संजय के निकट तुमने जो सब बड़ी-बड़ी डींग हाँकी थी, उन्हें अब कार्य रूप में परिणत करो। आत्मश्लाघा न कर युद्ध करो[७]।"

दुर्योधन की मदोद्धत ललकार का अर्जुन ने समुचित उत्तर दिया। वह उत्तर संक्षिप्त, तेज से उद्दीप्त और सांघातिक था। अर्जुन वीरोचित भाव से संयत गांभीर्य को अवलम्बन कर बोले—"कल प्रातःकाल दोनों पक्षों के सामने मैं गाण्डीव द्वारा इस गर्वित वाक्य का उत्तर दूँगा; वाक्य के द्वारा उत्तर देते हैं दुर्बल व्यक्ति।" गाण्डीवेनाभिधास्यामि क्लीबा हि वचनोत्तराः[८]।"

वह "कल" यथासमय उपस्थित हुआ। योद्धा अर्जुन ने नित्य के अनुसार गाण्डीव उठाया और शत्रुपक्ष की ओर अस्त्रपात के लिए प्रस्तुत हुए। किन्तु गाण्डीव के द्वारा दुर्योधन के गर्वपूर्ण वाक्य का उत्तर देना संभव नहीं हुआ। स्वजन-वध की आशङ्का से अर्जुन शोकग्रस्त हो गये। वे मोह से आच्छन्न हो पड़े। गाण्डीव उनके हाथ से खसक पड़ा—"गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्।" गतबल अर्जुन ने जब श्रीकृष्ण के निकट अपनी अक्षमता निवेदित की एवं युद्ध के विरुद्ध युक्तियों का वाक्यजाल बुना। अन्त में वे धनुष-बाण का त्याग कर निश्चेष्ट हो रथ पर बैठ गये। "गाण्डीवेनाभिधास्यामि" इस प्रतिज्ञा का पालन नहीं कर सके।

उलूक के निकट अर्जुन ने एक और प्रतिज्ञा की थी, विधाता का नाम लेकर। उस प्रतिज्ञा का भी वे कार्यकाल में पालन नहीं कर सके। दुर्योधन को लक्ष्य कर अर्जुन ने उलूक से कहा था, "दुर्योधन ! तुम्हारा अभिप्राय मैं समझ रहा हूँ। तुम समझते हो पाण्डव दया कर भीष्म का वध नहीं करेंगे। धार्तराष्ट्र ! तुम जिनकी शक्ति का सहारा लेकर आत्मश्लाघा करते हो, मैं उन्हीं भीष्म का पहले वध करूंगा। महान् विधाता ने निश्चय ही भीष्म के वध के लिए मेरी सृष्टि की है। अतएव मैं सब धनुर्धारियों के समक्ष तुम लोगों के द्वीपस्वरूप उन भीष्म का वध करूंगा[९]।"

---

[७] महाभारत उद्योगपर्व अध्याय १६०, श्लोक ८०—१२५।

[८] महाभारत उद्योगपर्व अध्याय १५१, श्लोक ४५।

[९] महाभारत उद्योगपर्व अध्याय १५२, श्लोक ४-६ और ४५।

किन्तु रण-क्षेत्र में जाकर अर्जुन के मन में आया, "किस प्रकार युद्ध में मैं पूज्यपाद भीष्म और द्रोण पर बाणों द्वारा प्रहार करूंगा ? इस प्रकार के महानुभाव गुरुजनों की हत्या न कर बल्कि भिक्षान्न भोजन करना भी श्रेयस्कर है [१०] ।" इस युक्ति के साथ अर्जुन की पूर्ववर्ती उक्ति का "महान् विधाता ने निश्चय ही भीष्म-वध के लिए ही मेरी सृष्टि की है ।" कोई सामञ्जस्य नहीं है ।

उलूक से अर्जुन ने अन्तिम बात कही थी :—"तुम कौरवों की सभा में उपस्थित होकर दुर्योधन से कहो कि सव्यसाची अर्जुन कहते हैं—वही होगा, अर्थात् रात्रि बीतते ही युद्ध आरम्भ होगा । उलूक मैं दूसरी बार प्रतिज्ञा नहीं करता हूँ । सत्य कहता हूँ जो कुछ इस समय मैंने कहा वह सब सत्य होगा[११] ।"

२४ धर्मराज युधिष्ठिर के निकट अर्जुन की प्रतिज्ञा

कुरुक्षेत्र में अर्जुन शत्रुओं का संहार करेंगे—यह प्रतिज्ञा उन्होंने केवल शत्रु-पक्ष के प्रतिनिधि सञ्जय और उलूक को ही नहीं जतलाई थी, उस सत्य संकल्प का उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर के निकट भी निवेदन किया था ।

युद्ध संनिकट था । युधिष्ठिर अत्यन्त उद्विग्न थे । उनके गुप्तचरों को एक भयावह संवाद का—शत्रुशिविर की अत्यन्त गोपनीय बात का—पता लगा था भीष्म कहते हैं, वे एक महीने में पाण्डव सेना का ध्वंस कर सकते हैं । द्रोणाचार्य भी वही एक ही बात कहते हैं । कृपाचार्य कहते हैं दो महीनों में । अश्वत्थामा के मत से दस दिन ही पर्याप्त हैं । कर्ण कहते हैं, पाँच दिनों से अधिक समय की आवश्यकता नहीं है ।

यह खबर पाकर युधिष्ठिर ने असहाय रूप से अर्जुन से पूछा, तुम कितने दिनों में शत्रुओं का ध्वंस कर सकते हो ? उस समय अर्जुन ने एक बार वासुदेव की ओर दृष्टि डाली । उसके पश्चात् उन्होंने युधिष्ठिर को भरोसा देते हुए कहा—"आपका उद्वेग निवृत्त हो । मैं सत्य कहता हूँ—कृष्ण की सहायता पाकर मैं अकेले ही पलक भर में संहार कर सकता हूँ—सम्पूर्ण त्रिभुवन का—देवता, स्थावर, जङ्गम सब कुछ का, एवं भूत, भविष्यत् और वर्तमान का । महादेव प्रलयकाल में समस्त भुवनों के संहार के लिए जिस अस्त्र को चलाते हैं, यह है वही अस्त्र मेरे पास । भीष्म, द्रोण, कर्ण कोई भी यह बात नहीं जानते हैं ।[१२]

---

१०. गीता अ० २, श्लोक ४-५ ।

११. महाभारत उद्योगपर्व अध्याय १५२, श्लोक ९ और २३ ।

१२. महाभारत; उद्योगपर्व अध्याय १९४, श्लोक १-१४ ।

अर्जुन असाधारण शक्तिधारी मनुष्य थे। शक्ति की महिमा उज्ज्वल होती है संयम से। वह संयम अर्जुन के चरित्र में था। उन्होंने अपनी असीम शक्ति का परिचय युधिष्ठिर को दिया; किन्तु साथ ही साथ यह बात भी कही—"पर युद्ध में दिव्य अस्त्र द्वारा साधारण मनुष्य का वध करना उचित नहीं है। हम लोग सीधा-सादा युद्ध करके ही शत्रुओं पर विजय प्राप्त करेंगे।[१३]

अर्जुन की उक्ति से अर्जुन-चरित्र की कितनी ही असाधारण विशेषताएँ साफ अभिव्यक्त होती हैं। देवप्रदत्त अस्त्र की मर्यादा की रक्षा करना वे जानते थे। प्रलयकारी शक्ति के आधार होकर भी उस शक्ति का दुरुपयोग उन्होंने नहीं किया। विपत्तिकाल में धैर्य और आत्मविश्वास उनका अनन्य साधारण था। कृष्ण उनके सहायक हैं। यह विश्वास उनकी अत्यन्त बलवती आशावादिता का मूल था। अपनी बात कहने के पूर्व उन्होंने कृष्ण के ऊपर निर्भरता का परिचय दिखाया—कृष्ण को सहायक पाकर मैं अकेले ही पलक मारने भर में त्रिभुवन का संहार कर सकता हूँ।"

कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण अर्जुन के सहायक थे। युद्ध के पहले श्रीकृष्ण ने अर्जुन को शक्तिपूजा करने का उपदेश दिया था। युद्ध की सूचना के लिए श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया था, अर्जुन के सारथि बनकर हाथ में चाबुक और छड़ी पकड़ी थी। किन्तु मोहग्रस्त अर्जुन क्षणिक रूप में आस्तिक्य बुद्धि गँवा बैठे थे। सहाय श्रीकृष्ण हैं—इस नित्य सत्य बात को अर्जुन भूल गये थे।

२५ अर्जुन ने श्रीकृष्ण की सत्यप्रतिज्ञा की मर्यादा का रक्षण नहीं किया।

महाभारत में अर्जुन के सामने श्रीकृष्ण ने दो बार द्रौपदी को वचन दिया था कि अन्याय का प्रतीकार होगा। अर्जुन ने भी उसमें सहमति प्रदान की थी। किन्तु विषादग्रस्त गीता के अर्जुन को वासुदेव की उस सत्यप्रतिज्ञा की बात विस्मृत हो गयी थी।

कपट द्यूतक्रीड़ा में शकुनि द्वारा पराजित होकर युधिष्ठिर अपने चार भाइयों और द्रौपदी को लेकर सरस्वती नदी के तट पर काम्यकवन में वास करते थे। श्रीकृष्ण एक दिन वहाँ पहुँचे। द्रौपदी ने श्रीकृष्ण से दुर्योधन की कुकीर्ति—अपनी लज्जा, दुःख, अपमान और लाञ्छना की करुण कहानी कही। क्षुब्ध और मर्माहत महारानी के विशेष दुःख का कारण यह था कि उनके उत्पीड़न के विरोध में प्रतीकार नहीं हुआ, प्रतिवाद भी नहीं हुआ; उनकी अतिदारुण व्यथा का मर्म किसी ने नहीं जाना। अभियोग के स्वर में द्रौपदी ने कहा—"नीचाशय के हाथ

---

[१३] महाभारत, उद्योगपर्व अध्याय १९४; श्लोक १५

से हुआ मेरा उत्पीड़न भीम-अर्जुन भी सहन कर रहे हैं।...हे मधुसूदन! मेरे पति नहीं, पुत्र नहीं, भाई नहीं, पिता नहीं, एवं तुम भी नहीं। क्षुद्रों ने मुझे उत्पीड़ित किया, अपमानित किया और तुम लोगों ने मेरी इस प्रकार उपेक्षा की कि मानो मुझे कुछ दुःख ही नहीं हुआ--'विशोकवत्'"[14] ।

द्रौपदी दुःख से जर्जरित और प्रियजनों द्वारा उपेक्षित थी। उनका रुका हुआ क्रोध अग्नि के तुल्य जल उठा। द्रौपदी सोचती थी मैं निराश्रय, निःसहाय हूँ। "मेरे तुम भी नहीं" यह बात अत्यन्त क्रोध से जब द्रौपदी ने कृष्ण से कही थी उस समय वह भूल गई थी कि वासुदेव नारायण निराश्रय के आश्रय हैं। दूसरे ही क्षण में अवश्य द्रौपदी को होश आया। उन्होंने अश्रुपूर्ण नमन होकर कहा—"कृष्ण! तुम गुरु हो, तुम प्रभु हो। मैं तुम्हारी सखी हूँ। मेरी रक्षा करना तुम्हारे लिए उचित है।[15]

करुणापरवश होकर श्रीकृष्ण ने द्रौपदी से कहा—"द्रौपदी! रोओ मत। मैं तुम्हारे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, तुम राजरानी होओगी। दुर्योधन आदि अर्जुन के शरों से निहत होकर रक्तरञ्जित कलेवरों से भूमि पर शयन करेंगे।[16]

कौरवों का वध करने का पूर्ण दायित्व ग्रहण कर अर्जुन द्रौपदी से बोले—"देवि! तुम रोदन मत करो। कृष्ण ने जो कहा है वही होगा। अन्यथा नहीं होगा।"[17]

उसके बाद वनवास में तथा अज्ञातवास में तेरह वर्ष का दुःख का जीवन व्यतीत हुआ। द्रौपदी चुपचाप उस दिन की प्रतीक्षा करती है जिस दिन अर्जुन श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा की मर्यादा का रक्षण करेंगे, अपनी प्रतिज्ञा को कार्य रूप में परिणत करेंगे।

युद्ध संनिकट है। युद्ध के भीषण परिणाम की कल्पना कर युधिष्ठिर में आतङ्क व्याप्त है। वे युद्ध नहीं चाहते हैं, शान्ति चाहते हैं। दूसरे पक्ष में, दुर्योधन शान्ति चाहते नहीं, युद्ध चाहते हैं। युधिष्ठिर ने कृष्ण से कहा—"युद्ध सर्वथा पापजनक है। कौन आदमी प्रहार करके प्रतिप्रहार नहीं पाता है। उसके बाद जो हत होता है उसके लिए जय और पराजय समान है।

---

[14] महाभारत वनपर्व अध्याय ११, श्लोक ५०–१२७।

[15] महाभारत वनपर्व अध्याय ११, श्लोक १२८।

[16] महाभारत वनपर्व अध्याय ११, श्लोक १३०–१३१।

[17] महाभारत वनपर्व अध्याय ११, श्लोक १३५।

×××इस क्षेत्र में सन्तोष स्वीकार कर जो शान्ति होगी, वह शान्ति ही हम लोगों के लिए उत्तम होगी[१८]।"

महाबली भीमसेन भी दुर्योधन के प्रताप से संत्रस्त थे। वे भी युद्ध के विरोधी थे। युद्ध के हित और अहित की आलोचना कर भीम ने कहा :—"कृष्ण, भले ही हम सब लोग नीचे रह कर, अवनत होकर दुर्योधन का ही अनुसरण करें; पर हमारे भरत-वंश का विनाश न हो।[१९]

द्रौपदी युधिष्ठिर और भीम की इन सब बातों को चुपचाप सुनती जा रही हैं। उनका भरोसा धनञ्जय पर रहा। किन्तु हाय! वह महातेजा अर्जुन भी मानो निष्प्रभ, भग्नमनोरथ हो गये। अर्जुन ने कहा :— "परन्तप जनार्दन! मेरा जो वक्तव्य था उसे धर्मराज ही कह रहे हैं।[२०]

कैसा सर्वनाश है! अर्जुन के मुंह से यह बात! युधिष्ठिर का मत तो शान्ति चाहता ही है अनुगमन का मूल्य देकर भी शान्ति चाहता है। अर्जुन भी ऐसी स्थिति में उसी मत का समर्थन करते हैं। द्रौपदी के ऊपर मानो अनभ्र वज्रपात हुआ। वे फिर स्थिर रह नहीं सकीं।

पाँच पतियों की ओर दृष्टिपात न कर द्रौपदी ने सीधे कृष्ण को अपना वक्तव्य जताया। उनकी भाषा मानो आग की चिनगारी थी। तेजस्विनी गर्वित कण्ठ से बोली :—"भीम और अर्जुन यदि युद्ध से पराङ्मुख हैं, वे यदि सन्धि के इच्छुक हैं तो मेरे पिता अपने महारथी पुत्रों को लेकर युद्ध करेंगे। साथ रहेंगे मेरे पाँच पुत्र और उनके आगे रहेगा अभिमन्यु[२१]।"

सन्धि का प्रस्ताव द्रौपदी को असह्य था। पाँच पतियों को सुनाते सुनाते वे श्रीकृष्ण से बोलीं :—"मैंने प्रज्वलित अग्निके तुल्य क्रोध को हृदय में रखकर समय की प्रतीक्षा की थी। उसी अवस्था में तेरह वर्ष व्यतीत हुए! इस समय भी सन्धि की बात? यह बात मेरे हृदय में कांटे के समान चुभती है[२२]।

श्रीकृष्ण को अत्यन्त आत्मीय जानकर कृष्णा ने व्यक्तिगत हृदय की बात हृदय खोल कर कह डाली :— "जनार्दन! केशव! पृथिवी में मेरे तुल्य सीमन्तिनी नारी और कौन है? मैं यज्ञवेदी से उद्गत हुई थी—मैं द्रुपद राजा की पुत्री हूँ, धृष्टद्युम्न की बहिन हूँ। सबसे बड़ी बात—मैं तुम्हारी प्रिय सखी हूँ। महात्मा

---

[१८] महाभारत उद्योगपर्व अध्याय ७६, श्लोक ६१ और ६७।

[१९] महाभारत उद्योगपर्व अध्याय ६९, श्लोक २०।

[२०] महाभारत उद्योगपर्व अध्याय ७२, श्लोक २०।

[२१] महाभारत उद्योगपर्व अध्याय ७६, श्लोक ३७-३८।

[२२] महाभारत उद्योगपर्व अध्याय ७६, श्लोक ४०-४१।

पाण्डु की पुत्रवधू मैं इन्द्रतुल्य पाँच पाण्डवों की पटरानी हूँ। तिस पर मेरे पाँच महारथी पुत्र हैं। वे सब आपके निकट अभिमन्यु के ही तुल्य हैं। किन्तु इन सबके रहते हुए भी मेरी क्या दशा हुई! पाण्डवों के सामने कौरव सभा में मेरा असह्य अपमान हुआ था। अर्जुन की धनुर्धारिता को भी धिक्कार है, भीम के बाहु-बल को धिक्कार है क्योंकि दुर्योधन अभी भी जीवित रह रहा है। हे कृष्ण! यदि मैं आपके अनुग्रह की पात्र हूँ तो धृतराष्ट्र-पुत्रों के ऊपर अपने समस्त क्रोध का प्रयोग करो[२३]।"

द्रौपदी के मन में दुःशासन द्वारा उनके केशों के खींचने की वीभत्स स्मृति उमड़ उठी। लज्जा से, घृणा से, दुःख से, अपमान से द्रौपदी का शरीर काँप उठा। नीले नेत्र प्रान्तवाली, कमल लोचना गजेन्द्रगामिनी अपने केशपाश को बाँयें हाथ में रख कर मन्थर गति से पद्मपलाशलोचन श्रीकृष्ण के निकट आगे बढ़ीं। विनती के स्वर में उनसे बोलीं :—"कृष्ण! सर्वदा ध्यान रखो दुष्ट दुःशासन ने इन केशों को खींचा था[२४]।"

श्रीकृष्ण ने देखा, अर्जुन ने देखा, मानिनी नेत्र जल से वक्षःस्थल को भिगा कर रोदन कर रही हैं सिसकियाँ भर कर। द्रौपदी के बाँयें हाथ में उनका केशपाश है। व्यासदेव ने उस देवता सुलभ केशपाश का वर्णन किया है :– "कोमल वेणी, कुटिलाग्र, मनोहर, गाढ़े कृष्ण वर्ण वाला तथा सब प्रकार की सुगन्धि से सम्पन्न, सब सुलक्षणों से युक्त, सर्प के तुल्य कान्ति सम्पन्न वह केशपाश था[२५]।"

शरणागत भक्त की व्याकुल पुकार पहुँची थी भक्तवत्सल भगवान् के निकट। स्नेह सरस भाषा में द्रौपदी को सम्बोधित कर करुणामय कृष्ण ने कहा:—"भीरु! भामिनि शान्त होओ। तुम जिनके प्रति क्षुब्ध हुई हो, उनकी भार्याएँ भी इसी प्रकार रोदन करेंगी। तुम इसे थोड़े दिनों के मध्य में ही देखोगी।" उसके बाद द्रौपदी को आश्वासन देकर परन्तप कृष्ण भगवान् ने कहा—"विधाता द्वारा सृष्ट भाग्य व्यवस्था से पाँच पाण्डवों से मिलकर मैं ही सब व्यवस्था करूंगा। धृतराष्ट्र-पुत्रों की आयु समाप्त हो आई है। अन्त में द्रौपदी के मन में विश्वास जमाने के लिए द्रौपदी के सखा सर्वलोक के महेश्वर श्री भगवान् ने कहा—हिमालय यदि स्थान भ्रष्ट हो जाय, पृथिवी यदि सैकड़ों खण्डों में विदीर्ण हो जाय, नक्षत्र मण्डल के साथ आकाश यदि टूट पड़े तो भी मेरी बात व्यर्थ न होगी। द्रौपदी! तुम धीरज

---

[२३] महाभारत उद्योगपर्व अध्याय ७६, श्लोक २०–२२।

[२४] महाभारत उद्योगपर्व अध्याय ७६, श्लोक ३५–३६।

[२५] महाभारत उद्योगपर्व अध्याय ७६, श्लोक ३३–३४।

घरों। मैं तुम्हारे निकट सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ तुम थोड़े समय में ही देखोगी तुम्हारे पांच पति शत्रुनाश कर चुके हैं और वे फिर राजलक्ष्मी युक्त हुए हैं।"[२५]

श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा की भाषा वज्र के तुल्य कठोर और नियति के सदृश अनिवार्य थी। इस श्रीकृष्ण द्रौपदी संवाद में करुण रस एवं रौद्र रस का अपूर्व समावेश है—एक ओर द्रौपदी की अश्रुधारा और एक ओर श्रीकृष्ण की वीरत्व-व्यञ्जक सत्य प्रतिज्ञा। इस करुण रस और रौद्र रस के अवलम्बन से श्रीकृष्ण की अभय वाणी व्यक्त होती है।

"पांच पाण्डवों के साथ मिलकर मैं ही सब व्यवस्था करूंगा" इस भगवदुक्ति की मर्यादा का संरक्षण गीता के विषादयुक्त अर्जुन नहीं कर सके।

२६ उपसंहार

महाभारत के वनपर्व एवं उद्योगपर्व से अर्जुन-चरित्र का जो परिचय प्राप्त होता है उसकी एक झलक दी गई है। भीष्मपर्व के अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीता के "अर्जुन विषाद-योग" नामक प्रथम अध्याय में उसी अर्जुन का कैसा रूपान्तर घटित हुआ था, उसका भी विशद वर्णन दिया गया है। अर्जुन के इस रूपान्तर के मूल में था मोह। उससे स्मृति विभ्रम और संशय की दोला हुई। भगवान् को स्थूलरूप में अति संनिकट और नितान्त अन्तरंग भाव से पाकर भी मोह ग्रस्त अर्जुन यह न समझ सके कि उनके साथसाथ रहते हैं वह सनातन ब्रह्म जो समान रूप से अर्जुन के सखा, सारथि और गुरु हैं।

अर्जुन का मोह आया था सात्त्विकता का कपट वेश धारण कर इसीलिए वह मोह अधिक सांघातिक हुआ। सांघातिक व्याधि के लिए तीव्र चिकित्सा की आवश्यकता होती है। इसलिए गीता में भगवान् का प्रथम संभाषण उच्चारित हुआ शिष्य के प्रति तीव्र तिरस्कार। धीरे धीरे, अज्ञान तिमिरान्ध अर्जुन को भगवान् ने मोह से मोक्ष मार्ग की ओर स्वयं अग्रसर किया। आद्योपान्त गीता सुनने के बाद अच्युत के प्रसाद से अर्जुन का मोह नष्ट हुआ। उन्होंने ध्रुवा स्मृति का लाभ किया, उनका संशय दूर हुआ। अर्जुन तब हुए स्थित धी।

भक्ति की प्राप्ति में सन्तों की अनुकूलता

(श्रीरामचरितमानस के अनुसार)

श्रीरामदासजी "रामायणी"

श्री गोस्वामी तुलसीदासजी अपने रामचरितमानस में लिखते हैं :—

"भगति तात अनुपम सुख मूला ।
मिलइ जो सन्त होंहि अनुकूला ॥"

हे प्यारे भाई ! यह भक्ति अनुपम सुख उत्पन्न करने वाली है लेकिन मिलती तब है जबकि सन्तजन अनुकूल हों अर्थात् उन सन्तजनों की कृपा दृष्टि जब हो जाये । इस विषय में प्रमाण यथा :—

"साधुसंगतिरेवात्र प्राप्तिहेतुरुदाहृता ।"

इस भक्ति की प्राप्ति में कारण केवल साधुसंगति ही कही गयी है ।

अन्य कुछ श्रीरामचरितमानस प्रेमी महानुभावों के मत में—

"अनुपम सुखमूला" अर्थात् प्रभु की प्रीति या कैवल्यपद की प्राप्ति में, कोई और साधन इस योग्य नहीं है कि जिससे इसकी उपमा दी जा सके । अथवा यह अनुपम सुख को उपजाने वाली है ।

"मम गुण ग्रामरत, गत ममता मद मोह ।
ताकर सुख सोई जाने, परमानन्द सन्दोह ॥"

ब्रह्म सुख से भी इसका सुख अधिक है, तभी तो कहा है कि—

"जो सुख लागि पुरारि
अशिव वेष कृत शुभ सुखद ।
अवधपुरी नरनारि,
जो सुख माँहि सन्तत मगन ॥
सोई सुख लवलेश,
बारेक जिन्ह सपनेहुँ लहेहु ।
ते नहि गनहिं खगेश,
ब्रह्म सुखहि सज्जन सुमति ॥"

(उत्तरकाण्ड)

बालकाण्ड में भी

"इनहिं बिलोकत अति अनुरागा ।
बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा ॥"

हे तात ! अनुपम सुखमूला भक्ति (अनुपम सुखमूला जिस भक्ति का विशेषण है वह) पराभक्ति सन्त कृपा से मिलती है। अर्थात् अन्य भक्ति (साधन भक्ति) तो साधनों से भी प्राप्त हो सकती है परन्तु पराभक्ति जो अनुपम सुख की मूल है, वह तो सन्त कृपा से ही प्राप्त हो सकती है ।

पराभक्ति की व्याख्या श्रीभगवान् ने स्वयं गीता के १८वें अध्याय में की है—

"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥"

अर्थात् ब्रह्मभूत (ब्रह्म में एकीभाव से स्थित हुआ) जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा है कि—

'सर्वभूतेषु येनैकं भगवद्भावमीक्षते ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥"

सरलार्थ यह है कि जिस भक्ति से यह पुरुष स्थावर-जंगम रूप सब पदार्थों में एक भगवद्भाव को ही देखता है और सब प्राणियों का जो भगवान् आत्मारूप है, उसमें सब प्राणियों को कल्पित देखता है, वह भगवान् की सर्वोपरि उत्तम भक्ति है। अथवा वह भगवान् का सर्वोत्तम भक्त है ।

ऐसा ब्रह्मभूत, प्रसन्नचित्त प्राणी, जो न किसी वस्तु के जाने का शोक करता है, न किसी वस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा करता है, जो सब प्राणियों में सम हो गया है, जो प्रत्येक प्राणी के सुख में अपना सुख और प्रत्येक प्राणी की पीड़ा में अपनी ही पीड़ा जानता है ।

एक बार की बात है परम भगवद्भक्त श्रीमाधवदासजी मार्ग में चल रहे थे, कि एक बन्जारा अपने बैलों को लेकर उसी मार्ग से आ निकला । अनेक बैलों में से एक परम वृद्ध बैल—जो चलते-चलते थक गया था—मार्ग में रुक गया, चल न सका। बन्जारे ने बड़ी निर्दयता से उस वृद्ध बैल को डंडे लगाये । श्रीमाधवदासजी उस बैल को गिरते देखकर आह करके वहीं मार्ग में गिर पड़े । बन्जारे ने कहा कि, पिटता तो बैल है, परन्तु यह बाबा क्यों आह भर रहा है। जो समीप में जाकर देखा तो बैल के ऊपर पड़े हुए सभी डंडे श्रीमाधवदासजी की पीठ पर रक्त-सहित उभर रहे थे । बन्जारा पैरों पर गिरकर क्षमा माँगने लगा और चोट उभर आने का कारण पूछने लगा तो श्रीमाधवदासजी ने उत्तर दिया कि—भाई ! यह

बूढ़ा बैल तुम्हारी मार न सह सकेगा, यह जानकर तुम्हारे डंडे मैंने ही खा लिये हैं। ऐसा ही ब्रह्मभूत प्राणी पराभक्ति को प्राप्त होता है।

भक्ति अनुपम है। तो इसकी प्राप्ति भी बड़ी कठिन होगी। उस पर कहते हैं कि "मिलै सन्त होहिं अनुकूला"—अर्थात् इसका एक ही साधन है। यथा—

"अस विचारि जोइ कर सतसंगा।
राम भगति तेहि सुलभ विहंगा॥"

और सन्त सहज ही में प्रसन्न हो जाते हैं क्योंकि—

"सन्त सरल चित जगत हित,
जानि सुभाव सनेहु।
बाल विनय सुनि करि कृपा,
राम चरन रति देहु॥"

× × × ×

"मुदमंगल मय सन्त समाजू।
जो जग जंगम तीरथ राजू॥"

अर्थात् सन्त जनों को ढूँढ़ने जाना नहीं पड़ता है, ये घर बैठे ही मिल जाते हैं। उनका तो वह सहज स्वभाव ही है कि—

"पर उपकार वचन मन काया।"

"अनुपम सुखमूला" अर्थात् पराभक्ति की प्राप्ति तो तभी होती है जब सन्त अनुकूल हों और साधारण भक्ति की प्राप्ति के साधन अब आगे कहेंगे।

प्रथम पराभक्ति की प्राप्ति में किसी साधन की अपेक्षा नहीं केवल सन्त कृपा से प्राप्य कही। यदि उसमें प्रश्न किया जाय कि—

"बिनु हरि कृपा मिलहिं नहीं सन्ता" तो उसका उत्तर यह है कि उसमें भी किसी साधन की अपेक्षा नहीं, 'मिलहिं' शब्द स्वयं इस बात का प्रमाण है। अर्थात् वे सन्त स्वयं ही मिल जाते हैं, जब भगवत् कृपा होती है।

कोई कोई श्रीराम भक्त प्रेमी महानुभाव निम्नलिखित अर्थ करते हैं—

हे तात! उपमारहित निर्वासनात्मक परम सुख है प्रेमानन्द! उसका मूल है भक्ति, वह भक्ति, जब सन्तों के संग रहकर उनकी भली प्रकार सेवा की जाय तब उनकी अनुकूलता से प्राप्त होती है।

ऊपर की व्याख्याओं में 'अनुपम' विशेषण के दो भाव लिये गये हैं। एक तो 'अनुपमसुख की मूल' 'भक्ति' और दूसरा 'सुख' की मूल अनुपम भक्ति। अब यह निर्णय कैसा चाहिये यह साधारण अपरा भक्ति है या पराभक्ति है। यदि

हम इसे साधारण भक्ति मान लेते हैं तो "जाते वेगि द्रवउँ"—"स्वतन्त्र अवलम्बन न आना" तेहि आधीन ज्ञान-विज्ञान अनुपम सुखमूला—आदि शब्द साधारण भक्ति के लिये लागू नहीं हो सकते और यदि इसे पराभक्ति मानते हैं तो आगे भगवान् कह रहे हैं कि—"भगति के साधन कहूँ, बखानी" और पराभक्ति तो—"सो स्वतन्त्र अवलम्ब न आना" है। फिर उसके साधन कैसे? इसलिये क्रम में कुछ अन्तराय सा प्रतीत होता है। उसका समाधान इस प्रकार हो सकता है। श्री भगवान ने भक्ति के तीन रूप कहे हैं। पहले तो आप ने साधारण भक्ति कही, फिर 'पुष्टि' (भक्ति) कही और फिर पराभक्ति कही। और आगे चलकर उन भक्तियों के स्वरूप तथा फल आदि का भी वर्णन किया है यथा—(१) साधारण भक्ति—

"जाते वेगि द्रवउँ मैं भाई।
सो मम भगति भगत सुखदाई॥"

इस भक्ति का स्वरूप यह है कि—

"प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीति।
निज निज धर्म निरत स्रुतिरीति॥
यहि कर फल पुनि विषय विरागा।
तब मम चरण उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं।
मम लीला रति अति मनमाहीं॥

उसका फल ऊपर ही कह चुके हैं, कि वेगि द्रवउँ—जल्दी पसीजता हूँ।

(२) पुष्टि भक्ति—

"सो स्वतन्त्र अवलम्ब न आना।
तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना॥"

इस पुष्टि का स्वरूप यह है कि :—

"सन्त चरन पंकज अति प्रेमा।
मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा।
सब मोहि कँह जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक शरीरा।
गद-गद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दम्भ न जाके।"

इस पुष्टि भक्ति का फल यह है कि--

"तात निरन्तर बस में ताके ॥"

(३) पराभक्ति--

"भगति तात अनुपम सुखमूला ।
मिलइ जों सन्त होंहि अनुकूला ॥"

इसका स्वरूप --

"वचन, करम, मन, मोरि गति, भजन करहिं निष्काम ।"

इसका फल--

"तिन्हके हृदय कमल मँह, करौं सदा विश्राम ॥"

इस प्रकार भाव लगाने से, यह चौपाई पराभक्ति में आती है और कोई शंका भी इसमें नहीं उठती ।

अब 'अनुपम सुखमूला' शब्द पर यदि विचार करें तो यह पराभक्ति स्वयं ही सुख-स्वरूपिणी है, फिर सुख का मूल (अर्थात् कारण) इसे कैसे कहा जाय। जो स्वयं ही अनुभव जन्य सुखमय है, फिर उसे सुखमूल कहने से, सुख कोई अन्य वस्तु कही जावेगी और पराभक्ति को तो सभी ने सुख ही माना है।

श्री नारदजी भक्तिसूत्र में कहते हैं--

"सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा"

वह भक्ति परम 'प्रेमरूपा' है।

"यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ।" जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध, अमर एवं पूर्णतया तृप्त हो जाता है।

"यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति ।"

जिसे जानकर मनुष्य उन्मत्त होता है, स्थिर होता है और आत्माराम हो जाता है।

इस प्रेम का स्वरूप क्या है ? तो कहते हैं--

"--अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ।"

इस प्रेम का स्वरूप कहा नहीं जा सकता है। उदाहरण देते हैं--

"मूकास्वादनवत् ।"

गूँगे के स्वाद की तरह । श्री गोस्वामीजी भी इसी भाव का कितना अच्छा दिग्दर्शन करा रहे हैं--

"रामहिं चितव भाव जेहि सीया ।
सो सनेह सुख नहिं कथनीया ॥

"उर अनुभवति न कहि सक सोऊ।
कवन प्रकार कहै कवि कोऊ॥"

उपर्युक्त उदाहरण से यही ज्ञात होता है कि—वह पराभक्ति स्वयं सुखरूप है फिर उसे सुखमूल कैसे कहें? हाँ, यदि ऐसा अन्वय लगा लिया जाय तो अवश्य सन्तोष हो सकता है।

भगति तात! अनुपम (हे तात! वह अनुपम पराभक्ति) सुख मूला, मिलहिं जो सन्त (यदि उस पराभक्तिरूपी सुख के मूल सन्त मिल जाँय तो) होहिं अनुकूला (वह पराभक्ति अपने अनुकूल है)।

इसका सरलार्थ यह है कि वह सुखस्वरूपा पराभक्ति तभी आपके अनुकूल हो सकती है, जब कि उसके मूल जन्मदाता सन्तजन मिल जाँय और वह सन्त भी कैसे हों—

"जायेंगे वहीं, श्याम के दिवाने जहाँ हों।
बैठेंगे वहीं, प्रेम के मस्ताने जहाँ हों॥
ढूँढ़ेंगे उसी वन में कहीं श्याम की झाँकी।
दिल आशिकों के बन गये बिराने जहाँ हों॥"

श्री नारदजी ने सत्संग पर ५ सूत्र कहे हैं। यथा—

—"मुख्यतस्तु महत्कृपैव भगवत्कृपालेशाद्वा। प्रेमभक्ति की प्राप्ति, प्रधानतया महत् पुरुषों (प्रेमियों) की कृपा से होती है अथवा श्री श्रीभगवान् की 'कृपालेश' मात्र से ही हो सकती है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्णजी कहते हैं—

"न रोधयति नां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो, नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि, तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वासंगापोहि माम्॥"

हे उद्धव! मुझे योग सांख्य (ज्ञानादिक) धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्टापूर्त्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम और नियम कोई भी वैसा वश में नहीं कर सकते जैसा कि मैं सर्वसंगों (कुसंगों) के नाश करने वाले सत्संग से वश हो जाता हूँ।"

श्री स्वामी मधुसूदन सरस्वतीजी भी अपने "भक्तिरसायन" ग्रन्थ में भक्ति की एकादश भूमिकाओं को लिखते हुए बतलाते हैं कि—

"प्रथमं महतां सेवा, तद्दयापात्रता ततः।
श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु, ततो हरिगुणश्रुतिः।"

पहले महत् पुरुषों की सेवा, फिर उनकी दयापात्रता, भक्ति का प्रारम्भ यहीं से होता है।

श्रीरामजी भी उत्तर काण्ड में पुरवासियों से कह रहे हैं—

"भगति स्वतन्त्र सकल गुन खानी।
बिनु सत्संग न पावहिं प्रानी॥"

इसीलिए पराभक्ति की प्राप्ति में सत्संग ही प्रधान कारण है। यदि कहे कि सन्तसंग हो कैसे ?

तो श्री नारदजी भी कहते हैं—

"महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च"

महापुरुषों का संग दुर्लभ है—अगम्य है और (यदि हो जाय तो पराभक्ति प्राप्त कराने में) अमोघ है। वह महापुरुषों का संग "लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव।" उस भगवान् की कृपा से महापुरुषों का संग भी मिलता है।

श्रीरामजी कहते हैं—

"पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता।
सत्संगति संसृति कर अन्ता।"

पुण्यपुंज भगवत्-कृपा ही तो है। श्री विभीषणजी ने कहा—

"अब मोहिं भा भरोस हनुमन्ता।
बिनु हरिकृपा मिलहिं न संता॥
जो रघुबीर अनुग्रह कीन्हा।
तो तुम मोहिं दरश हठि दीन्हा॥"

यदि कहा जाय कि भगवान् की कृपा ही तो सत्संग कर सकती है। तो इसका क्या कारण है ? श्रीनारदजी उत्तर देते हैं—

"तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।"

क्योंकि भगवान् और उनके भक्तों में भेद का अभाव है।

"सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं" श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

साधवो हृदयं मह्यं, साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति, नाहं तेभ्यो मनागपि॥

अर्थात् साधु मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और किसी को नहीं जानते और मैं उन्हें छोड़कर और किसी को नहीं जानता।

श्री गोस्वामीजी भी कहते हैं—

"भरत सरिस को राम सनेही।
जग जपु राम, राम जपु जेही॥"

कहीं-कहीं तो यहाँ तक कह गये हैं—

"मोरे मन प्रभु अस विश्वासा ।
राम ते अधिक रामकर दासा ।"

कबीरजी कहते हैं—

"साधु हमारी आत्मा, हम साधुन के जीव ।
साधु मध्य हम यों हैं, ज्यों पय मध्ये घीव ।"

इसलिये

"तदेव साध्यताम् तदेव साध्यताम् ।"

परम प्रेमरूपा—अनिर्वचनीय सुखस्वरूपा पराभक्ति प्राप्ति के लिये सत्संग कर ही साधना करनी चाहिये ।

---

* श्री श्री माँ आनन्दमयी *

[चतुर्दश भाग]

श्री श्री मां के जीवन का धारावाहिक इतिहास की अपूर्व कथा प्रकाशित हो गयी । इस भाग में श्री श्री मां के साथ साक्षात्कार, रमणाश्रम में रात्रिवास, सूक्ष्मदेही महापुरुषों का महामिलन, वृन्दावन आश्रम में शिव प्रतिष्ठा तथा दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानों की भ्रमण लीलाएँ वर्णित है ।

अक्तूबर १९५२ से दिसम्बर १९५३ तक की घटनाएँ ।

पृष्ठ संख्या २४० मूल्य—तीन रुपया

प्राप्ति स्थान
श्री श्री आनन्दमयी संघ
भदैनी, वाराणसी—१

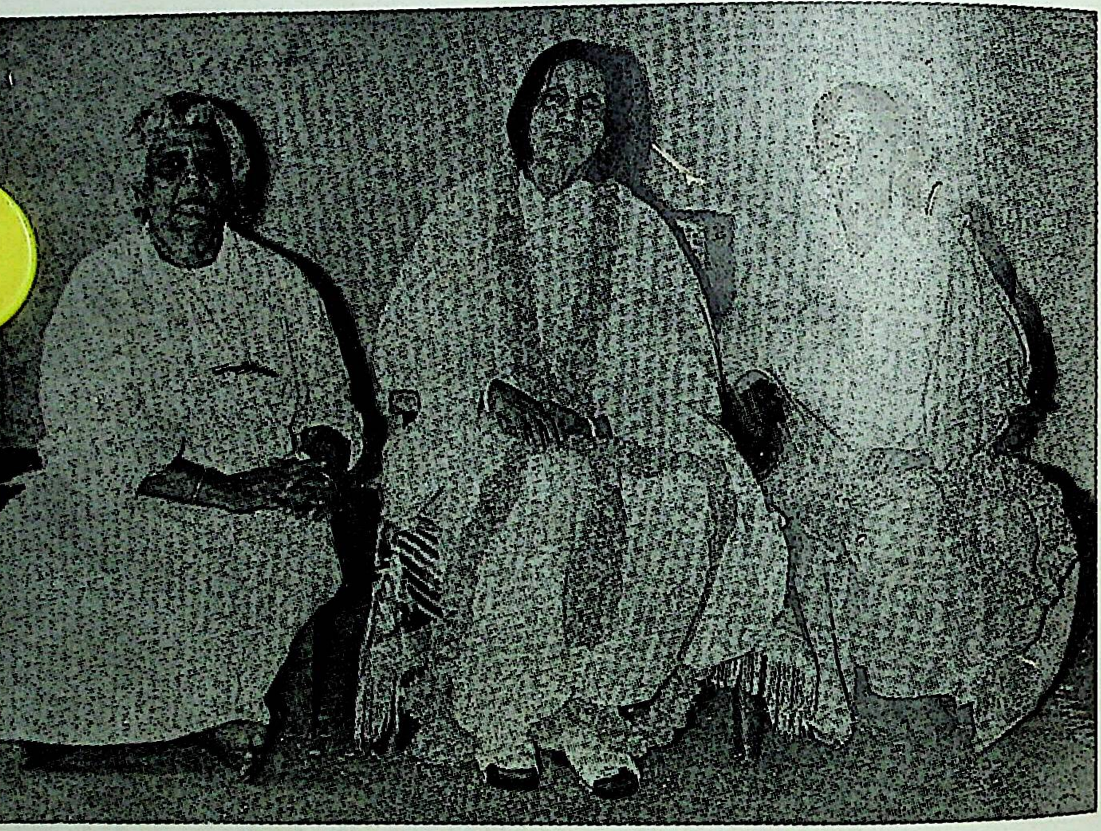

Recent picture of Mataji with her mother on the left and Didi Gurupriya on the right.

Just as there is a veil of ignorance for the individual,
So there is also a door to Knowledge.

Mātri Vāni

Without God, where are you ? That glimpse does occur in some form, in some condition or other.

* * * *

Although lacking nothing that the world can provide—is there peace ? Your true being is Knowledge, Peace—so long as you do not find if there can be no peace. It is the nature of the world to keep the sense of want burning. From the world you receive the things of the world—never supreme Peace. Therefore the awakening of your true nature is imperative. You cannot remain in the realm of want.

* * * *

Is peace possible in the domain of want ? Ever new desires will arise. Sense objects that only generate poison,* never give real peace. Caught in the round of coming and going, can one be at peace ? As long as there are two, there will be sorrow. Duality breeds conflict, pain. Sorrow arises from want. So long as you are not established in your true being you cannot possibly be at peace.

* * * *

Everyone must strive after the revelation of Eternal Truth. Endeavour to go to your own home. To live in another's house, in the company of another causes conflict and suffering—that is to say, where two are there is darkness: darkness signifies ignorance.

---

* A play upon words : *Vishay* sense object; *vish hai* is poison.

* * * *

Action is subject to one's own free will—and yet again it is not. What does "subject to one's own free will" signify? His Will alone is Will. The will by which you carry out your work, this very same will must be applied to the contemplation of God. Then only will you discover the Great Will. What is needed is the Supreme Will that takes one beyond willing and not willing.

* * * *

*Prārabdha karma** exists. But there is also a state of achievement which is beyond *prārabdha*, where the question of capacity and incapacity does not occur. When the flood comes, it washes away everything.

* * * *

Having made contact with a great spiritual being (*Mahāpurush*) there can be no more downfall. To go near fire without being affected by its heat is impossible. Those who cultivate the company of a *Mahātmā*, do so in order to be liberated from the round of birth and death. The question of birth and death does not even arise anymore. If there is birth there will be death and if there is death there will be rebirth.

———

---

* ***Prārabdha karma*** That portion of one's past actions which is bound to fructify and cannot be averted,

Conversations with Sri Anandamayi Ma

RECORDED BY PROF. B. GANGULY

(*Translated from Bengali*)

Question : Can man become absorbed in the worship and contemplation of God with every part of his entire being ?

Mataji (addressing Narayan Swami) : Where is the seat of the mind ?

Narayan Swami : The physical mind is in the heart. But the mind is also subtle. The mind is invisible.

Mataji : So long as one moves in the kingdom of the mind, whatever one may say is all right.

Narayan Swami : Names, forms, the world, are all illusory. If Reality is to be found one needs something imperishable. In order to do *sādhana*, a special subtle body has to be created.

Mataji : The subtle body that is capable of doing *sādhana* is created during *dīkṣa* (initiation), at the time when the Guru transmits power to the disciple. "My whole being cries for Him whose whole being is mine" says Radha. Real *sādhana* is practised with every part of one's whole being simultaneously.

Saswatananda Swami : When all the different parts of one's being have been made still, then there is worship. After the whole body has been fixed, *sādhana* can be performed, this is what the Upanishads teach us. Those whose mind dwells on the body, by stilling the body, can concentrate the mind on God.

Mataji : What do you take from the Ganges ?

Narayan Swami : *Brahmavāri*.*

---

* *Brahmavāri* is another name for *Gangājal* Ganges water.

Mataji : In that water one becomes immersed. *Brahmavāri* gives liberation. Who says all this ? Thus, can any part of one's being be ommitted ?

Saswatananda Swami : The ideal is to go beyond mind, intelligence and Iness. Few are capable of this. The average aspirant's duty is therefore to practise *sādhana* with all the parts of his being.

Narayan Swami : The differences between *svajāti*, *vijāti* and *svagata* are vedantic. In the Brahman there is no distinction whatever.

Mataji : Once, on receiving cardamoms as *prasāda*, Swami Akhandananda asked : "What is this ?" This body replied : "Brahman." Cordamoms, their seeds, their husks—should they not be called "Brahman ?"

Narayan Swami : Ma once said, one who has realized the Brahman does not see many, he sees one.

Mataji : If someone is established in that state then, in cardomoms, here, there, in this and that, in achievement and non-achievemt, in the individual, the world, the *sādhaka*, and so on and so forth—wherever these may be, in whatever state or condition, there itself he sees the One. Realizing the Brahman, the one Self, there is THAT and nothing else, there is no second. There, what I say and what I hear is He in that shape. One Brahman without a second. Manifestation and non-manifestation, within, without, are that one Brahman. If one's doctrine is that there is only one Brahman, then there can be no question of being able or unable to do anything. Thus : One's whole being with all its various parts can be applied to one's *sādhana*. Where questions arise, there, whatever may be said is all right; everything is possible. Theory and practice are forms of Him. You alone are and none else. Understanding† (standing under) means exchanging one burden for another. One must go beyond understanding, in other words beyond intelligence. By understanding with the mind nothing will get straight. He Himself is present in this form. Wherever a man is, there is Siva, and wherever a woman there is Gouri. You are your own manifestation and within yourself you are indeed unmanifested. In this misery His play goes on—He Himself the *līlā.*

---

† A play upon words : *Bhoja* means both burden and understanding.

Whoever speaks, what he says and to whom, all is indeed the Brahman. There is no contradiction. Everything is true. In division there is the one Brahman, and in non-division also He Himself, you. *Brahmamaya*, *Brahmamayī*, *Brahmgopal**, everything is right, nothing is excluded. There is one *Ātmā*. If a problem arises, then also.

Question : A mother does everything for her baby. Ma, you also do everything for us, please !

Mataji (laughing) : Clever baby ! Trying to teach the mother ! If you become a real child you will entirely depend on the mother and let her do as she pleases. So long as you are not truly childlike, go on doing. Tread the path to the revelation of Him.

---

* *Brahmamaya* Pervaded by the Brahman stands for the Vedantic doctrine, *Brahmamayī*, the all pervading *Śakti*, for Tantra, and *Brahmagopal* is spoken of by the *Vaiṣṇavas.*

Mātri Satsang

Recorded by Swami Bhagavatananda Giri

(Translated from Hindi)

Prayag, Ardha Kumbh Mela, January 10th, 1948.

Question : If I go to Europe, should I not eat meat and fish ? If it seems necessary, then also not ?

Mataji : If you believe that it will help you towards God-realization you may eat it.

The Questioner :—I fail to understand what you mean.

Mataji : What you do and how you do it determines the result you get. If you are not used to taking meat and fish, do not take it. If foreigners eat meat, let them do so. When the climate of a country makes meat diet advisable and its inhabitants take to it because they have been born and bred there, they are doing well. There is no objection so far as they are concerned. But you should abide by your own rules. Have there not been great men in the countries where meat and fish is eaten ? Whatever food and drink helps you in your search of God, of that you should partake. When you travel abroad, it does not mean that you are bound to adopt a non-vegetarian diet. If God's devotees visit foreign countries, there also they offer their food to God before eating it. Those who, going abroad, start taking meat and fish, do it out of greediness, to please their tongue.

While this discussion was going on, Swami Sharananandaji arrived. With great reverence he was offered an *āsana* and sat down.

Question : While walking about, is it not necessary to take care that no ant or other little creature be trodden on ?

Mataji : To feel this way is very good indeed. Still better will it be to remember that all creatures are manifestations of God. If any living being is crushed under one's foot, one should do obedience to it as a form of God.

Mataji : (turning to Swami Sharananandaji) :

Pitaji, now you say something !

Swami S. : (with the voice of a child) : Ma, Ma, Ma !

Mataji : *Pitaji*, this little girl says : Namo Narayana, namo Narayana, namo Narayana !

Swami S. : People who abstain from meat are called vegetarians. What really matters, is one's attitude of mind. Someone may not eat meat, but devour human beings. Great rulers start a world-war—is there no violence in this ? From one point of view, even to pluck a flower is an act of violence. On the other hand, people join Parliament or the Legislative Assembly and make laws by which millions of men are annihilated. What sort of non-violence is this ? One should discriminate carefully between what is beneficial and what harmful. What does beneficial signify ? You may be a general in a rightous war and put to death thousands of people without incurring sin. Yet, if out of selfishness or for pleasure you kill one little ant, there is violence in this. The man who earns money for his livelihood commits violence; the one who subsists on whatever is given to him is non-violent. From violence men gradually move towards non-violence. Someone who is really non-violent loses his pride and self-conceit. Vegetarian diet is preferable to non-vegetarian. In polar regions, where there is always ice and snow, people are forced to take fish since no other eatables are available. One should reduce grains and eat more vegetables.

Question : Milk is also a form of blood.

Mataji : One may tend cattle and drink cow's milk. One should not take milk without doing service to the cow. Drinking milk does not involve violence.

Questioner :—Violence is a very great sin.

Mataji : Great sinners are those who regard their body as their real self. *Pitaji* (Swami S.) quite rightly said that man harms himself.

Swami S. : If Mataji tells you not to indulge in violence you should obey her. But if the desire to hurt someone remains in your heart, it is not right. If you say : "If Ma tells me to be violent, I shall be", this is certainly wrong.

Dr. Pannalal : It is mostly sick people who come to Mataji.

Swami S. : After being cured they also come to her.

Mataji : This is a nice thing to say ! This body is your small child and so you affectionately address her as "Ma."

Swami S. : Those who are not good people, will not go near saints and sages. Those who seek the company of the holy and wise are good and sound people—otherwise, why should they come here ?

Mataji : When someone harbours a fault in his character he feels afraid. Faults must be destroyed from their root. When error and delusion are completely destroyed then Truth will shine forth.

Dr. Pannalal : We do not consider a fault to be a fault. When we come to Ma once by mistake, we, by mistake, come again and again to her.

Swami S. : When the moth flies to the light it is burnt to death; and yet, no sooner does it see light than it hurries towards it.

Mataji : *Pitaji* knows everything. This body is only a little child—what does it know.

Dr. P. : Mataji wants to call us all to herself.

Someone : We are all hungry.

Mataji : This is excellent. When the child is engrossed in his play, the mother calls him. At times she also slaps him. If he is dirty she washes him and takes him on her lap. The mother knows that the child will get ill if he remains dirty. She will certainly remove all impurity from her child. The child likes to wallow in filth but the mother lifts him out of it and scrubs him clean.

Question : We can neither free ourselves from our worldly ties nor do we love God; so, what will be our lot ?

Mataji : Remaining in the jungle, one has to clear it. Start clearing from where you are. By lighting a small fire the jungle will be burnt up. By coming to the Guru everything is achieved. If the disciple is patient and alert everything becomes possible.

Question : At times the mother leaves the child to himself and then again she plays with him full of affection.

Mataji : This is indeed God's play. All that you perceive is nothing but God's play. Turn your gaze towards yourself. Who are you ? I am one and I am also many. He stages the play with Himself alone.

Someone : It looks as if God has invented such a play in order to bind us all.

Mataji : Everywhere only God's play is being enacted. This should be your attitude of mind. You are yourself the One and you yourself are the uncounted many. Try to find yourself ! Seen from another angle of vision : "Lord, you are whole and I am a part of you. You are the Master, I the servant." Try to know yourself. "Who am I ? Where am I ?" Try to realise first the part and then you will be able to find the whole – the *Parmātmā*. Without knowing yourself, how will you find God ? What is to happen the next moment, whether you are aware of it or not, leave it to God's Will. Decide to follow Truth. When one resolves to follow Truth, this sometimes bears fruit. To speak of God is the only real talk, all the rest is vain and futile babble. Where Ram is there is rest and ease, where Ram is not there is restlessness and disease. (Mataji starts laughing heartily and everybody present joins in). Once upon a time sin asked God : "Lord, you have assigned their rightful places to all creatures. Please, tell me also where to dwell !" The Lord said : "Where God's name is not, there is your place !"

Question : How can one sustain the remembrance of God throughout the twenty-four hours ?

Mataji : By practice. By constant practice anything at all can be accomplished. Those who meditate, whether their mind is able to concentrate or not, they continue their meditation. Whether you like to do *japa* or not try to adhere to the practice of it all the same. Make an effort to let your mind be filled with God's name at all times. Be it at home or anywhere else, remember that nothing exists outside of God. The idea of duality is itself sorrow. Feel that you are an instrument in God's hand. To do what God makes one do is best. Truly, God alone is the manager of the whole world.

Question : Why do we fail to remember God's name ?

Mataji : You forget to remember God's name and this is why you do not find God. Always bear in mind that whatever happens in this world happens according to His Will. Everything is indeed God's. While in the waking state sustain the constant remembrance of Him. Do good works. Pray. One should practise the repetition of God's name, prayer and austerities. At night before falling asleep, think over everything good and bad you have done during the day. With a prayerful attitude of mind dedicate all your actions at the lotus feet of the Lord. Ever pray to God to bless you with the spirit of dedication. Do not think : "It does not matter if I do anything blameworthy, I shall ask God to forgive me." On the contrary, you should endeavour to engage only in the most commendable, praiseworthy deeds. You must never even give a thought to any bad or reprehensible work. Pray—surrender yourself totally at the lotus feet of God.

Question : Should office-work, business and the like also be dedicated at the Lord's lotus feet ?

Mataji : Endeavour to do all work in a spirit of dedication. The attempt to surrender, and surrender coming about effortlessly are two very different things. Just as doing *japa*, and *japa* occurring spontaneously, are not at all identical. By the constant practice of surrender, surrender will finally come about.

Question : Why is the mind unsteady even after taking *sannyāsa* ?

Mataji : Your indifference to worldly enjoyment is not yet mature, that is why ! Spend every bit of your energy and strength in the attempt to realize God. Whatever God does, He does it very well. Having been blessed with a human body, use this body to attain to God-realization. Try your utmost and you will surely be successful. Many people, while advancing are in the habit of looking back. Do not again and again turn your attention to the past, for this will arrest the speed of your progress. Go on with your work and do not keep on looking for results. Neither should you repeatedly beg from God. The fruit of your labours you will reap without a doubt. If you meditate with one-pointedness, God will certainly be revealed to you. Employ your mental powers and the power of you ego in the performance of *sādhana*. Quickly, quickly engage in spiritual exercises—light will come to you. Do not worry about the fruit of your endeavours. Just as when cooking dal, if you keep on stirring it, it will be spoiled. You must give the dal time to get boiled. Burn your desires by discrimination and dispassion or else melt them by devotion. Do one of the two !

Question : Which is the better of those two ?

Mataji : It depends on what suits each particular person. What is consumed by discrimination and dispassion can also be melted by devotion.

Question : This brother does not want to either burn or melt. What is to be done ?

Mataji : He who says he does not want, really does want. It is man's nature to want. Why do you get caught in bondage ? By bondage your want will not be appeased.

Questioner : Whatever pleases God most, that should be done.

Mataji : That's right. You ask God for something and you receive it. Obtaining some thing you get nowhere. God is whole, indivisible. If you want to beg from God, beg for complete Realization. For the Realization of THAT which is whole, unbroken, you must make a complete, uninterrupted effort. What does Enlightenment mean ? Real Enlightenment is the realization of God. Sorrow and suffering are where the vision of God is not.

Vedantic Conception of Mind

Dr. I. K. Taimni

A tremendous amount of research material about the nature of mind and its working has been collected by modern psychologists and loosely incorporated in the so-called science of psychology. Much of this knowledge is concerned with the expression of the lower concrete mind through the human brain and the behaviour of human beings under ordinary and extraordinary conditions. Although it throws some light on the working of the human mind and has been utilized for solving some superficial problems of human life it suffers from the fundamental defect that it is based upon a very partial and hazy idea of the mind itself. This is due mainly to the superficial approach of modern psychology which tries to study mind only in its physical expression and through physical instruments. As mind is an independent principle and can be expressed through the physical brain only very partially and imperfectly, it has necessarily to be studied and investigated by mental methods if we are to know its real nature and the tremendous potentialities and realities which lie hidden within it. It is only Yoga which has studied and investigated mind systematically in this manner and therefore it is only yogic psychology that gives correct and reliable knowledge with regard to the nature of mind and the methods by which it can be controlled, purified and investigated.

From a critical and careful study of the *Yoga-Sutrās* of Patanjali one can piece together the elements of yogic psychology and gain some comprehension of the real nature of mind and its function in the manifested universe. This yogic psychology is really an integral part of the philosophy of Occultism which is based upon the experiences of the highest Adepts of Occultism and gives us a total view of the universe both in its visible and invisible aspects. But we shall not attempt to consider here the nature of mind and its working as it appears from a study of the *Yoga-Sutrās*. We shall consider the vedantic conception of mind instead. This conception, though not fundamentally different from that of Yoga, formulates the essential facts which are involved in a different and simpler manner and enables us to understand the nature of mind more clearly. It also enables us to apply our knowledge in observing and controlling the mind in meditation more easily.

According to the vedantic conception, mind has four aspects, all of which are involved in its working under different conditions. These four aspects are called *chitta*, *mana* *buddhi* and *ahaṁkāra*. Let us see what is the significance of these four well-known Sanskrit words in this context and what light they throw on the anatomy of mind. We shall try to understand these things at the lowest level and in the simplest terms so that we can correlate our knowledge with our ordinary experiences and also apply it if necessary to the difficult task of inhibiting the modifications of the mind.

Chitta may be considered as the image making faculty of the mind. In its higher aspects the content of the mind, at any moment, can be anything which occupies the field of consciousness and is called *pratyaya* in yogic terminology. But it is better to consider this content as a mental image for our present purpose. Our ordinary thinking is done through mental images and the mind is really never free from such mental images. Even when we are engaged in abstract thinking, as in mathematical deduction, these mental images are always present in the background and continue to change with the processes of thinking. They are not really essential for pure abstract thinking but somehow the ordinary man working through the lower concrete mind will find it impossible to eliminate them altogether and do his thinking without them. This aspect of the mind which enables it to form these mental images either through direct contact with objects or through memory or imagiation is called *chitta*.

It is necessary to note here that in vedantic terminology, mind in its total aspect is called *antahkaraṇa* and this word therefore means practically the same thing as *chitta* in yogic terminology. It is also necessary to remember that the *pratyayas* of the subtler planes cannot be imagined on the physical plane because they involve higher numbers of dimensions. That is why in books dealing with Yoga no attempt is made to describe the phenomena of the subtler worlds. We can deal only with general principles according to which the mind functions on those planes and cannot comprehend the *pratyāyas* which occupy the field of consciousness at different levels.

Mana is that aspect of the mind which underlies the succession of mental images. A continuous stream of mental images is passing through the mind of every individual and no two images in two successive moments are exactly the same. Even when they appear to be the same as in *Ekāgratā Parināma* (*Yoga-Sutrās* III·12) they are not really the same. The fixity of mental image under these conditions is due to the reproduction of exactly similar images. That aspect of mind which has to do with the relentless succession and change of these mental images is called *mana*.

Buddhi is the light of consciousness which illuminates the mental images present in the mind. Mind in this system is considered to be *jaḍa* or insentient and it is only when it is illuminated by the light of consciousness that these mental images acquire meaning and significance. That is why mind is symbolized by the moon which shines by reflected light and the *Atmā* by the sun which shines by its own light. It should be noted that the word *buddhi* is used here in a somewhat different sense, as the illuminating light of Consciousness behind the mental images, and not in the sense of

CC0. In Public Domain. Sri Śri Anandamayee Ashram Collection, Varanasi

viveka or the faculty of discrimination. But on deeper thought the two functions will be seen to be essentially the same, *viveka* being merely perception working at a deeper level and so seeing the deeper significance of things.

Ahaṃkāra is the egoic centre from which the light of consciousness which illuminates the mind is projected. We generally refer to it as the 'I', the pivot round which our mental life revolves. *Ahaṃkāra* is generally associated in the mind of the common man with egotism or pride but this is not its real meaning in philosophy. If we examine our mental life we find that all our mental images and experiences centre round an egoic centre which relates and coordinates them into a harmonious and integrated whole. Without such a centre of consciousness there could be no meaningful and continuous mental life. All our mental images and experiences will remain scattered in a haphazard manner with nothing to bind them together into an integrated individuality. It is true that the contents of this individuality change constantly but the 'I' which binds together the memories, experiences and anticipations etc. always remains. It is this 'I', rooted in the centre of our consciousness, which illuminates our mental images and coordinates our experiences, which is called *ahaṃkāra* in Hindu philosophy. Behind this centre is the whole of Reality existing in layer after layer of unimaginable splendour.

It is necessary for the student to understand clearly the nature of *ahaṃkāra* and its real function in our mental life. It is really the centre of individualized consciousness, the very basis of our life as a separate individual. It is through this individualized centre that the Universal Spirit or *Paramātmā* expresses Itself as an individual Spirit or *Atmā*, or *Purusha* as He is called in yogic terminology. This dual character of *ahaṃkāra* must be kept in mind if we are to grasp its essential nature and not to confuse it with its lowest and frequently undesirable expressions in the form of pride, selfishness etc. On the one hand it constricts and limits the unbounded and infinite Reality which exists in its background, and on the other, it provides the very basis for the life of the Monad as a separate individual. It there were no *ahaṃkāra* or 'I' ness of the subtlest kind there would be no Monad or individual Spirit.

If we examine our mental life and analyse our mental operations we shall be surprised to find that these four aspects of mind—*chitta*, *mana*, *buddhi* and *ahaṃkāra* are present in every mental expression and the vedantic conception of mind is correct at least as far as our ordinary experiences are concerned. We are always dealing with mental images in our mind. These images are changing continuously. It is the light of our own consciousness in the form of awareness which illuminates these ever-changing images and imparts meaning and significance to them. All these mental images which constitute the basis of our experiences are centred in and are coordinated by our 'I', the centre of our individuality. This is the anatomy of our mind in a nutshell.

Our mental life can be compared to the projection of a cinematographic picture on a screen. Let us note briefly the correspondences between the different aspects of the mind referred to above and their counterparts in cinematographic projection. We see that in both cases we are perceiving images, mental images in our mind on the one hand and photographic images on the screen on the other. In both cases there is succession of images, each successive image being different from the previous one and separated from it by a gap. But the succession is so rapid that it gives an illusory impression of continuity and smooth life-like movements. In both cases the images are illuminated by an external source of light, by the light of consciousness in the case of the mind and the light within the projector in the case of a cinematographic screen. In both cases the images are projected from a centre, the centre of egoism in

CC0. In Public Domain. Sri Sri Anandamayee Aṣhram Collection, Varanasi

the case of the mind and the aperture in the case of cinematographic projection. In both cases the whole phenomenon is a play of light, light of consciousness in the case of the mind and physical light in the case of the screen. If the light disappears the whole phenomenon disappears.

The Microcosm and the Macrocosm

D. S. Mahalanobis

We have seen, in a fragmentary way, the parallelism between the origin and development of our world and of the fertilized female egg cell. That story is the story of world evolution in two series, subject and object. The analogy between the two is far more significant than one can realize in a passing review.

Ancient philosophers regarded man as an epitome of the universe. That idea originated in pre-historic India with the Sānkhyas. This was much earlier than in other countries, where however, man or human nature was thought to represent the exterior universe, their psychic background was overlooked. The Indian philosophers' view is that man and the great world have been fashioned in essential features, on the same model, physically and psychically. The model is an eternal Idea that has unrolled itself in two series, the microcosm and the macrocosm. The latter evolved first of course. In fact, the world is viewed in India as the body of the Cosmic Being. What we perceive around us as our sense objects, visible or invisible, is his gross body, behind which are the subtle and the causal bodies and the World-mind, that is, *antahkarana*. That is to say, the two series are physically and psychically related on parallel planes. Let us put the two series side by side for a closer study :

THE MICROCOSM	THE MACROCOSM
A. The Psychic Trio :	**A. The Psychic units**
1. Individual Consciousness	1. Cosmic Consciousness
2. Individual Ego	2. World-Ego
3. Individual Manas	3. World Manas

---

* *Vide* Ananda Varta. Vol. XV, No.2, "Evolution of Matter."

B. Five Subtle Sense Organs, i.e., Sensory Centres (on mental plane) :	**B. Five Tanmatras or Subtle Elements (on mental plane)**
1. Auditory Centre	1. Sound (*Śabda*)
2. Tactile Centre	2. Touch (*Sparśa*)
3. Visual Centre	3. Colour (*Rupa*)
4. Gustatory Centre	4. Taste (*Rasa*)
5. Olfactory Centre	5. Smell (*Gandha*)

C. Five Gross Sense Organs (on physical plane)	**C. Five Gross Categories of Matter *Bhutas* (on physical plane)**
1. Gross Auditory Organ (ear)	1. Ether (*Ākāsa*)
2. Gross Tactile Organ (skin)	2. Tactile Energy (*Vāyu*)
3. Gross Visual Organ (eye)	3. Luminiferous Energy (*Tejas*)
4. Gross Gustatory Organ (tongue)	4. Differential Energy (*Ap*)
5. Gross Olfactory Organ (nose)	5. Gross Inertial Matter (*Kshiti*)

D. Five Subtle Motor Organs, i. e., Motor Centres (on mental plane)

1. Vocal Centre (*Vāk*)
2. Contactual Centre (*Pāni*)
3. Locomotive Centre (*Pāda*)
4. Excretory Centre (*Pāyu*)
5. Reproductive Centre (*Upastha*)

E. Five Gross Motor Organs, i. e., End-Organs (on physical plane)

1. Physical Organ of Speech (*Vāk*)

2. Hands (*Pāni*)
3. Legs (*Pāda*)
4. Rectum (*Pāyu*)
5. Genitals (*Upastha*)

Although Consciousness, Ego and Manas have been shown as discrete units in the table, they are in reality, an inseparable trio, a single entity with three integrated functions, and none of them can act independently of the others. These three functional features are collectively known as *antahkarana*, the inner causator. *Antahkarana* is mind, which in Hindu Psychology connotes three things: (a) Consciousness, (b) Ego, and (c) *Manas*, a lower mind coordinated with the brain directly, and is known as the *Manas Indriya*, the instrumental mind. This psychic trio represents different levels of psychic materialization. The basic stuff of our consciousness, in Indian conception, is a non-material principle that is capable of grossening to any level, mind or matter. It should be remembered that the conception of consciousness as a substance is foreign to western thought, though fundamental in all Indian systems. In its higher aspects it is unknowable; the highest status is the Absolute.

From this Acosmic Source emerges Cosmic Consciousness and functions through a lower status called the Ego, i. e., the World-Ego, which is at the root of self-sense and genetic basis of the subject and the object series—the microcosm and the macrocosm. The microcosm is based on the macrocosm. It appears that the consciousness stuff descends, through grosser and grosser states, to become matter, as if in a sort of entropy, and then in a reverse order starts to evolve as body, life and mind, back again to its formless status in the Absolute: descent of the Supermind to the null-point, gross matter, and ascent of the matter-involved spirit to supramental consciousness. It is a cycle. Man is a little universe, a replica of the Cosmic Being, i. e., Cosmic Consciousness in its embodied aspectation that we call the world.

We can see in the table that there are twenty-three units in the subject series, shown under five rubrics, viz. A. B, C, D and E. These are all the essential factors the psychic being (in man) needs to function on the mental and physical planes.

Let us compare the two series, subject and object. Common to both sides are A, B and C groups, with this exception that, in the second series, the psychic units are beyond our perceptive range. It is significant to note in these three groups that every factor in the matter series is represented on the same plane by a corresponding factor in the subject series. The subject and object units are, in fact, different forms of the same principles evolved to accord the development of the two sets of reciprocal characteristics in two parallel systems, mind and matter in our conception. We cognize by our physical organs only the gross categories of the object series. The subtle units (*tanmatras*) can also be cognized, though by exceptional faculties (possessed by mystics), or by inference. The motor organs in D and E have nothing in common on the other side. The reason is that the motor organs are mere complementary units of the sensory organs, and are evolved from the *tanmatras* and *bhutas* of the cosmic series. These two sets of organs are designed, as we shall see later, to participate in the bounty of the world around us, i.e., Nature's bounty—*tanmatras* and *bhutas*, and their varied techtonics, aspected as objects. It should be observed how the units grow grosser and grosser in the matter series, and in relation to them our organs too evolve adapted to them, i. e., evolved later to suit the end. This is not to say that the whole range of sense objects can be apprehended by our senses. Our perceptions are usefully restricted between limits. That is to say, our auditory, tactile, visual, gustatory and olfactory organs have only limited ranges of perception, and we do not hear all sounds, nor see all waves of light, nor feel, taste and smell every object of perception. Were we to perceive the whole range of sense data, our familiar world would cease to exist for us and in its place would appear another universe of bizarre and abnormal phenomena, some of which could be fatal to our existence. Were we to see infra-red and ultra-violet rays and radio-active particles around objects, aspects of things would vary, changing sharply between cold and hot spells, between seasons, between night and day. Our eyes would then see nothing in clear outlines on hot days or in tropical countries; heat-rays would mask all objects with a reddish haze even in darkness. Our ears would be stormed day and night by a battery of chaotic sounds of all intensities; our tactile organ would be too sensitive to touch, to heat, cold or pain, smells of all sorts would sicken our olfactory and sicken the gustatory too, along with it. These are some of the physical and mental effects. Such a situation is unfavourable to mental growth, and would affect our organs in many ways, vitiating the body-economy. That is why man designedly is a microcosm, and what he perceives are only specimens representing the whole universe, i. e., *akāsa, vāyu, tejas*, *ap* and *kshiti*. If, however, our perceptions[2] were exalted to supernormal heights on the cosmic level, we would see through matter, perceive an ocean of ether around us, in which the world would seem an illusion caused by different modes of the ultimate substance, figured as the Cosmic Being, and we would find ourselves merged in that Unity.

Ancient sages of India teach us that the microcosm and the macrocosm are more closely related than appears on the surface. Man's physical sheath (body) is made up of the five categories of matter, *ākāsa, vāyu, tejas, ap* and *kshiti*, which represent the stuff of our universe, the gross body of the Cosmic Being. Behind his physical body man has a causal apparatus to function through his external body. The causal body is a subtle apparatus and consists of eighteen princi-

---

Extra-sensory perceptions. Sensory perceptions will always have some limit.

ples listed in groups A, B, D of the the first series and five *tanmatras* of the second series, viz., Consciousness, Ego, Manas, five subtle sense organs, five subtle motor organs and five *tanmatras*, which are also represented in a complex mode in the Cosmic Being.

The causal body, inhabited by the spirit (*jivātman*), clothes itself in the womb, motivated by past *samskāras*, by means of cells amassed by the proliferating cytula. Man's body thus formed—if it is a human body—is a model of organization and efficiency. We have seen this life-story of the fecundated cell. Do we have any justification to believe that a mass of inconscient cells can build up by itself the most perfect and complex machinery on earth ? The fact is, the causal body, helped by physical forces, does it, using the cells.

True, we know that isolated cells have a spontaneous tendency towards formation of an organ. This tendency is not inherent. Upto a stage any cell is capable of building any organ. Only when a cell has been fixed for automatic behaviour towards specialization in a direction, its role is decided. It is similar to the inherent tendencies of all ultimate particles, which are subject to very stringent rules of behaviour. "Only under exceptional conditions (in gases at very high temperatures or low densities) do they move at random, as was wrongly assumed in the dominant theories of the nineteenth century. On the contrary the typical condition is one of rather regularity, symmetry or ordering, as for example in crystaline materials, in organisms, in plastics, and in liquids—for even in liquids every small region is highly ordered. Though some prejudices remain from the last century, the facts are unmistakable, and this is the second step towards the idea of structure. *In general the particles display a high degree of ordering in space; they tend* to assume regular or ordered arrangements".* This spontaneous tendency of the material particles to fall into set patterns is ascribed by the ancients to the moulding influence of the causal frame of the World-Ego (Cosmic Being). Science will probably ascribe this tendency to the metrical field of space-time, the new "ether". Cells too obey biological instincts, i. e., Ego impulses of the individual at conception.

---

* **Lancelot Law Whyte, "Accent on Form".**

The causal body is not exactly a body as we recognize a body to be. It is somewhat of a thought-form, a material form though, or quasi-material, we may say The causal sheath is the instrument of the soul to incarnate in flesh. The causal body, however, cannot function by itself; operated by the soul, it has to use the material frame in the matter-world.

We know, the causal body is a highly tenuous thing, and the corporeal body is mere gross matter moulded to pattern. How can, then, the one be harnessed with the other ? The gross body can hardly be expected to prevent the spirit-thing from passing out any moment, as at death. They are linked up by a set of binding principles. These are the five *tanmatras*, the same that we know as matter-constituents. They are the material analogues of the causal material, on the same plane, and are subtle. Hence, they certainly are capable of acting on things of their own kind in refinement. The subtle and the corresponding gross organs are harnessed together by these binding elements, the *tanmatras*. At the time of death, the binding forces become morbid or weak at the linking points, and the causal body snaps them off and goes out, that is, the soul goes out with its causal sheath.

During the life time of a corporeal frame (of a man), the causal body acquires a personality, that is, the soul acquires a personality in the causal body, which carries the personality away, in a residual form, at physical death. Personality is built up of our empiric experiences called *sanskāras*. It is a sort of quasi-material sheath, and forms at rebirth the under-frame of our innate impulses: Sheathed in this personality garb, the causal body is known as the subtle or astral body (*sukshma-deha*). The subtle body is (the causal body is not), subject to pleasure and pain, and has to incarnate again, along with the causal core, to fulfil the urge of *sanskāras*. It is by means of this body that the spirit can temporarily go out of its physical body, when trained to do so by *yoga* practices. In exceptional cases we see a dead man revive; this is due to the return of the spirit to its body after the exit.

What is its magnitude, one may ask. Can we ask: What is the magnitude of a thought ?

Psychic entities have no measurable magnitude by our standard. Their earthly efficiency depends partly on the kind of body they occupy. Like the mind, they can be in a tiny cell or in a huge body. This is nothing extraordinary when we know that even a gross material body like our earth can be compressed into a thimble, if all space inside it could be taken out of its atoms and molecules. The comparison, however, is faulty.

If we look back to the table again, we could find that, in the two series, we have the personal Ego on the one side, and the World-Ego on the other. Ego is the factor that imposes limitation, and the Infinity is presented to us by it in finite forms and consciousness is brought to null-point involved in matter. It is the division principle, according to Sri Aurobindo. The World-Ego reaches down to our sense organs as objectified as things. The individual Ego is its perceptor through its auditory, tactile, visual, gustatory and olfactory organs. It may strike us that the subject and the object series represent, fundamentally, the configurated personal Ego and the World-Ego, or in other words, they represent the meeting of the microcosm and the macrocosm, though we hardly realize it. It is an unconscious attempt on our part to feel the unity of the universe, our identity with the Creator.

We have already pointed out that man's sense organs and motor organs are two complementary sets. Let us arrange the two series to bring out their interdependence :

	1	2	3	4	5
1.	Auditory organ	Tactile organ	Visual organ	Gustatory organ	Olfactory organ
2.	Vocal organ (*Vāk*)	Contactual organ (*Pāni*)	Locomotive organ (*Pāda*)	Excretory organ (*Pāyu*)	Reproductive organ (*Upastha*)

In the two series, the first pair of terms are complementary; so are the second, third, fourth and fifth pairs, i. e., the two terms in each are complementary to each other. (1) The auditory and vocal organs are intended for sound-reception and sound-production. What we hear we reproduce by means of our vocal organs. People born deaf are also dumb. Speech helps us to train the ear, as in music. All sounds are voices either of Nature (Cosmic Being) or of man. *Akāsa* has the attribute of 'sound', which is the earliest manifestation of form. Form is the Cosmic voice. On the *Vaikhari* plane, i. e., plane of matter, we use air for the same purpose, form-production. (2) The tactile organ, skin, is dependent for its active functioning on the contactual organ, hand, which we move to touch an object. In fact, the hand is the most efficient part of the whole tactile system. Touch is specialized as the grasping artistry of the touching hand (3) Man's visual perception of space and colour is perfected by locomotion, specialized by legs. Adaptation to visual distances and three-dimensional space requires the use of locomotive organs to aid the eyes. (4) The taste organ and the excretory organ are the two opposite ends of the alimentary canal. They function in an interdependent way. The taste organ receives food, which is digested in its passage through the alimentary canal, absorbed in the intestines and excreted by them after the intake. *Pāyu* comes from the root *pā*, to drink. The intestines 'drink' the liquid part of chyme. (5) Our olfactory and reproductive organs too, have remarkable allied functions. Olfactory is the smell sense, and smell is a biological urge for creative union. A powerful aphrodisiac, smell guides animals to track their mates. Even the human spermatozoon is supposed to be attracted to the ovum in the womb by a sort of chemical smell that can guide it to the latter. "The nuclei of both cells, of spermatozoon and of the ovum, drawn together by a mysterious force, which we take to be a chemical-sense-activity related to smell, approach each other and melt into one."[4] 'Smell' as an attribute of matter, represents gravitational forces, as has been explained in previous articles, and is a structure-building force. The function of the reproductive organs too, is to unite the male and the female gamets with an urge to organize the embryonic structure. Smell sense is the 'mass-sense'; two material bodies attract each other by 'smell', gravitation, and the two sexes are meant to do so in the biological fulfilment. This is in evidence in the animal kingdom, where the opposite sexes are not attracted until the periodic 'smell' guides them.

Apart from the utility value we impute to our different organs, they have a mystic role too. They are intended for us to realize and feel the Creator's nearness to us in His material creations. Our senses consciously or unconsciously seek Him in matter, in our love for the things of the world. And this love can only be consummated by extending it to all things, living and non-living.

The ancient Teachers of India recognized the unity of the world too well. Even today when a Hindu sits down to worship his God, he offers flowers, smoking incense, lamp-light, eatables and natural scents as tributes to his Lord. There is a beautiful verse which he utters during this service:

---

[4] Ernst Haeckel.

ॐ गन्धं दद्यान्महीतत्त्वं
पुष्पमाकाशमेव च ।
धूपं दघाद् वायुतत्त्वं
दीपं तेजः समर्पयेत् ।
नैविद्यं तोयतत्वेन
प्रदद्यात् परमात्मनें ॥

Why does he pick out these five very common things?

An ancient imagery invests the World-Being (macrocosm) with a set of five sense organs. To the worshipper the imagery is a reality, for, the Cosmic Being must be approached through a figure; our mind cannot think of a supra-mental God—formless, attributeless, beyond time, space and causality. The devotee seeks His presence in everything and chooses, out of the immensity, five symbols to represent the whole range of material things, which are, as it were, His sense objects.

Flower has the most beautiful form. And the first forms were sounds in *akāsa*—— from *sabda* the world began. *Sabda* is the property of *akāsa*; hence flower as form or *sabda* represents *akāsa*, 'sky'. Flower, therefore, carries the best offering in the 'sound' realm, for the regalement of the Lord's ear, the 'sky'. Smoking incense, like flowing air, represents the best tactile object for the Lord's touch, which is manifested to us as *vāyu*. The soft lamp fed with ghee is the most exquisite light that can be laid at His service to illuminate things for His sight represented in *tejas*. Eatables picked from the taste category, are for the gustatory, which is represented in the *toya-tattwa*, *rasa*, sap or water. Scents are offered for the olfactory. The olfactory is the 'mass-sense'; we smell the mass for its odour. Mass is the property of matter (*kshiti*), evolved out of gravitation, i.e., 'smell'. Gravitation is the 'smell' of matter, *mahi-tattwa*, as has already been shown. Hence scents are symbolic offerings for His 'mass-sense', the olfactory.

The worshipper knows that *Paramātman* is immanent in all things in the world of *pancha-bhutas.* He has become the *akāsa ;* He has become *vāyu, tejas, ap* and *kshiti.* He has become the universe, the *jivātman* (spirit), the mind and the ego. He has become our body, created out of *akāsa, vāyu, tejas, ap* and *kshiti.* Unto Him the worshipper renders the things that are His, and thus realizes that the *Paramātman* and he are one. The whole universe manifests this Unity to his exalted perception, in this worship.

The world is presented to us as insensate through our senses, a set of very crude apparatuses that can give us only an illusory view of the Reality. Man must live down this illusion, and in his small compass as microcosm, live the great life of the universe, himself united in that Unity—with the *Paramātman*, the Cosmic Soul. His worship expresses exactly these sentiments.

Sadasiva Brahmendra Yogi, A Jīvanmukta

T. Krishnaji

In the Puranik History of Bharata Varsha, we come across a few sage mystics *Jīvanmuktas*, of whom the foremost are Suka Brahman, Rishabha Deva, and Jada Bharata. They ever remained aware of the infinite Brahman, not caring for food, shelter and raiment. They are the models of an ideal ascetic life. Suka Brahman, son of Veda Vyasa, was a born mystic. He left his father and roamed in the forests and on river sides unconcerned with the world. Once he passed by a pond where women were bathing and they did not mind his presence though he was a lad of sixteen summers, going naked. The aged Vyasa came soon after him and the women, at once put on their clothes. Vyasa, in surprise, questioned them why they covered themselves at the sight of an old man when they were unashamed before young Suka. The women replied : "Revered sir, you are conscious of the distinction of sex whereas Suka has no such consciousness." Suka remained always in the awareness of the *Brahman*.

Rishabhadeva retired from his kingship to a forest to lead an austere life of meditation without bothering about food and shelter and he lived on *akāsa vritti*, or *ajagar vritti* like a python which remains fixed and feeds on what comes by chance. Rishabhadeva is also revered by the Jains as a Thirthankara. His son was Bharata, whose just rule has been commemorated by renaming this country 'Bharata Varsha', while its earlier name was 'Ajanabha Varsha'. Bharata retired from his kingdom but because of his attachment to a doe, he had to be reborn. He was utterly oblivious of his body and moved like an inert. He was forced to carry the palanquin of King Rahugana and his instructions to the King are a memorable and illuminating chapter on *advaita siddhi*, narrated in the *Bhāgavata Purāna*. These ideal sages, Suka, Rishabha and Jada Bharata belong to the realm of mythology. Sadasiva Brahmendra who possessed the sage wisdom of Suka Brahman and the extreme *vairagya* of Rishabha and Jada Bharata, lived about 250 years ago on the bank of the Kaveri river and in the forests of Tanjore and Trichynapoly districts. He will be referred to as Brahmendra.

No authentic reports of his life and time are available. Some of the traditional accounts were embodied in a lyric in his praise by H.H. Sri Narasimha Bharati, the *Jagadguru* of Sringeri, one of the great mystics and scholars of India, when he visited the *samādhi* of Sri Brahmendra at Nerur.

King Shahaji (1684-1712) was an enlightened prince of Tanjore. He had endowed all the lands situated in the village of Thiruvasanallur to forty-six Brahmins. That village was renamed in about 1695 as Shahajirajapuram. One of the donees of land was Moksham Soma Sundara Avadhani, a learned Brahmin from Andhra Desa. Parvathi Ammal was his dutiful spouse. They were blessed with a son named Sivaramakrishna. He was also called Picchu Kuppier. Probably he was named Kuppier, as he was born late in their married life or after the loss of some issues. Picchu means mad and probably that was his nickname given to him by the village boys who could not understand his precociousness.

According to the available material, we may say that he lived about 250 years ago. Malhari Pandit attached to the court of Sarabhoji Maharaj (1711-1729 A. D.) of Tanjore refers to his meeting Brahmendra in the outskirts of the village of Dipambapuram. He states that he requested the sage to bless his patron king with progeny and that the sage gave him a copy of 'Atmāvidya Vilasa' in token of his blessings and that he gave three *blikshas* to the sage*. Vijaya

---

* See the preface to the Prakaranas of Brahmendra by V.V. Press, Srirangam.

Raghunatha Tondaiman, Rajah of Padukotah (1730-1769) met the sage in a forest near Thiruverangulam and obtained blessings from him for the prosperity of his kingdom and for progeny. He received *Upadesa* written on sand. The king removed the sand with the mantra in tact to his palace and enshrined it for worship. The sage told him to learn from his class mate Mahabhasya Gopalakrishna Sastri the details of the worship. The King also installed an image of the sage near the shrine of Dakshinamurti in the Brihadambal Temple and duly worshipped it. There is a grant of the year 1738 by that King to Gopalakrishna Shastri, which confirms the traditional story. Since then Navaratri festival has been celebrated in that state on a grand scale. It is also said that Thayumanavaswami, a great Tamil mystic, met the sage in the course of that year.

The village of Thiruvasanallur, inhabited by learned Brahmins, echoed with vedic chants, learned discourses and vedantic disputations. Brahmendra, a boy prodigy, brought up in that atmosphere of learning imbibed all knowledge of scriptures quickly in company with other boys of the village some of whom grew with him to wide fame as scholars, saints and poets. Some of his class mates were: Mahabhashya Gopalkrishna Shastri, whom he recommended to the Tondaiman King. Ramabhadra Dikshitar, the author of Jankai Parinayam, Ramakarna Rasayanam etc and a great Rama Bhakta and Bridhara Venkatesa Kavi, popularly called Ayyaval. They were all grantees of lands in that village.

Ayyaval, a contemporary of Bodhendra Saraswati, was a great devotee of god Siva. He wrote Akhya Shashti, Daya Satakam, etc. He had spread the religious practice of reciting God's name. Once on Kartika Amavasya day there was a *Shraddha* ceremony in his house. He was so kind-hearted that he could not stand the sight of a hungry harijan at his door and gave away the food prepared for the Shraddha. Although fresh food was cooked, the Brahmin guests refused to participate in the ceremony unless Ayyaval had a bath in the Ganges. The saint offered prayers to Mother Ganges and water bubbled up in the well in front of his house to the astonishment of the village folk. That day is celebrated every year as a festival with a bath in the water of that well.

Brahmendra was married early in life. One day he returned home hungry and his mother told him that food was not ready, that there were guests who had come to celebrate the attainment of puberty of his wife and that he should wait. Though the incident was trivial, it became the turning point in his life. The deep struggle of the inner light with the obscuring forces around was there and intense dispassion came over him. He left home and became a wanderer. He discovered a great Teacher in the saintly scholar Parama Sivendra and sought him as his preceptor. It may be noted that at about the same age of about seventeen years Sri Ramana Maharishi left home to find his way to Thiruvannamalai, after being reprimanded by his brother for neglecting his studies and for being an introvert.

Brahmendra speaks highly of his Guru Parama Sivendra and if that Guru were identified, it would throw much light on Brahmendra's time and life. Mr. N. Venkatraman, the author of the book, "Sankaracharya the Great and His Successors at Kanchi", identifies Parama Sivendra, the preceptor of Brahmendra, with Parama Sivendra 11, an Acharya of Kanchi Pitha, who was a disciple of Sarvajna Sadasiva Bodha. Acharya Paramasiva attained Siddhi in 1586. The improbability of this identification will be obvious to anyone who notices that Shahajirajapuram and the grant of lands by Shahaji to Brahmendra's father and others occurred about 1693, roughly one hundred years after the *Siddhi* of that Acharya. Dr. E. Hultzach, Epigraphist to the Government of Madras in his reports of Sanskrit Manuscripts in South India, reproduces the colophon of the works of one Parama Sivendra Saraswati, author of Siva

Gita Tatparya Prakasika and Bhuti Rudraksha Mahatmya, a disciple of one Abhinava Narayanendra Saraswati; but there is no indication of his time. Therefore the identity of Paramasivendra, the Guru of Brahmendra is a moot point for the scholars to make research and establish the identity. Tentatively I may fix the time of Brahmendra from about 1690 to 1750 A.D.

Under the discipline of the great teacher, Brahmendra attained to *advaita siddhi* and *joga siddhi* and probably at the suggestion of his Guru he wrote a glossary on Brahma Sutra and on Yoga Sutra of Patanjali called 'Brahma Tatva Prakasika' and 'Yoga Sudhakara' respectively. He wrote 'Siddhanta Kalpavalli'*, some small works, Dakshinamurti stotra, Siva Manasa Puja and some kirtanas and Atma Vidya Vilasa†. He was not only a gifted poet but had profound knowledge of Vedanta and Yoga and of the art of music. One of his kirtanas, "Bhajare Gopalam" is included in 'Kirtana Rasa Swarupa,' P. 171, of Shree Shree Anandamayee Sangha.

The scholar in him led him to argue and dispute Vedanta with other scholars and successfully silence them. The matter reached the ears of his guru, who called him one day and asked: "Sadasiva, when will you observe silence?" Brahmendra replied: "From now on!" and kept the vow of silence to the end of his life. After some time, he took leave of his Guru to wander alone in the fields and forests, hills and river sides, without food, shelter and clothing like Jada Bharata. He was wholly absorbed in the awareness of Brahman and oblivious of his body and surroundings. Many miraculous incidents happened during that period.

Once he was sitting on a river bank and the flood water carried him away and buried him in the sand. After three months chance digging at that spot, he was found. He got up and walked away as if nothing had happened. Once he was forced to carry a bundle of fire-wood, and along with others he deposited the bundle where wood was stocked. Immediately the whole stock caught fire and was reduced to ashes. Once he was found moving near the zenana quarters of a Muslim chief, who, enraged, gave him a sharp blow on his shoulder. Blood flowed, but Brahmendra was not aware of anything at all, and surprised at his conduct, the Muslim chief followed him. After some time Brahmendra got outer consciousness and the Muslim realised that he had harmed a sage. Falling at his feet he begged his pardon. When he told the sage that blood oozed from the cut, Brahmendra touched that spot and it was healed. The Muslim sought *Upadesa* and the sage indicated to him: "Do not do what you want and then you may do what you like." Once the sage was seen near a heap of grain and in the darkness of the night the watchmen took him for a thief and raised their hands to beat him but their hands would not move till the sage left the place at dawn.

---

* Published by Achyut Granthamala, Kashi.

† All published by V.V. Press, Srirangam.

Brahmendra was not only a Jīvanmukta but also a Siddha. He was seen in distant places at the same time. Children are always the favourites of saints though they may tease them. There was a festival in the temple at Madura. Out of fun some children told him that there was Vrishabha Vāhana procession of God Sundaresa at Madura and that they desired to witness it. The sage Brahmendra told them to close their eyes and the next moment they were at Madura. They returned home in the same manner and narrated their experience to their parents. He blessed an illiterate Brahmin, Ramalinga Sastri, who became a learned Pauranika giving discourses.

Brahmendra was a *sthitaprajña* and the life of such a sage is inimitably portrayed in 65 verses called *Ātmā Vidyā Vilāsa*. In the first ten stanzas he eulogizes the grace of his Guru Parama Sivendra and the rest of that poem is devoted to the splendour of an *Atmā Jñāni*, that is himself, and his blissful life in Sat Chid-Ananda. It is a picture of himself expressing his awareness of the Brahman. It is to be read, if one desires to enjoy the description of an *Ātmāvit*, H. H. Sri Narasimha Bharati used to recite it whenever he went into solitude. Brahmendra says that the sage is free from pride, ego, and desires, realising the unsubstantiality of the world. He wanders in the outskirts of forests, free of all karma like a child or a deaf, blind or a simpleton. The king of the ascetics shines supreme in the majesty of his blissful *Atman*, with the wealth of non-attachment and free from the temptations of sense pleasures. He is not surprised at anything, he remains in a world of his own having overcome ignorance,—the enemy of mankind. Free from fear, the ascetic sports in perfect bliss, singing and dancing. He is a lion sporting in the dense forest of bliss. He shines supreme, remaining silent, resting under trees, wearing no clothes. His palms serve as a begging bowl, he is adorned with the jewel of non-attachment. He rests in the deserted bush on the river banks, sleeps on a bed of sand, ever engaged in meditation and wanders like a fool. '*Jadakriti*'. He neither praises nor derides anyone and remains always in a state of plenitude like an unruffled light. He treats the world as if it were a blade of grass, enjoys bliss though he seems a log of wood or a fool. He neither thinks of his past nor has he any care for the future, remains in perfect bliss and roams about without desire or attachment. He is lost in *Tat* in the realization of his Self, wandering as a *bhikshu*, free from all bondage. Brahmendra, an ideal sage, lived the life of the *Jñāni* he had portrayed in the Ātmā Vidyâ Vilāsa and H. H. Narasimha Bharati held him as a great exemplar of an ideal sage.

When Brahmendra wandered in Nerur, near Karur, he became aware of the approaching end of his body. He indicated a spot under a bilva tree to be dug out for his *samādhi* and also indicated that soon after his *Videha Mukti* a Brahmini from Varanasi would bring a Linga which should be installed at the place of his *samādhi*. On Jyesta Suddha Dasami, in about 1750, Brahmendra attained *Videha Mukti*. That spot is sanctified and has become a place of pilgrimage.

Brahmendra was a *Paramahamsa*, an immortal among the mystics and sages of India, revered by posterity as an ideal sage, revealer of *Brahma Jñāna* through his works, himself a *Brahma Jñāni*, indifferent to worldly life, a *Jivanmukta, absorbed* in the Eternal life of the awareness of Brahman, TRUTH.

Sacred Places of Kashmir,

JAMMU & LADHAK

By a devotee

(Continued from the April issue)

BHEDAGIRI

या कुन्देन्दु तुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता ।
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ।
या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रवृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता ।
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ।

[*May the Goddess Saraswati, who is as white as the kunda flower, the moon, the snow and the necklace of pearls, who is robed in white garments, who is holding the beautiful veena in her hands, is seated on a white lotus and always worshipped by Brahmā, Achyuta (Vishnu), Shankara and other Gods; who removes all ignorance and inertia, protect me.*]

The sacred mount called Bhedagiri has been identified with the present Budbrar lying in the hills west of Shupiyan in Kashmir Valley. It is about twenty-seven kilometers south west of Drabgram. The sanctity of the place was known to the local Brahmins but was forgotten by the rest of the world till M.A. Stein identified the spot.

At a height of about eight thousand feet above sea level, on the flat top of the hill, there is a sacred tank of limpid water forming a square of about fifty-five feet. This tank is the ancient Gangodbheda Tirtha. There is a perennial spring at the eastern side of the tank which is identified with the sin-removing stream called Abhayā. The spot is sacred to the goddess Saraswati.

Kalhana refers to this holy place in the following verse ;

देवी भेडगिरेः शृङ्गे गङ्गोद्भेदशुचौ स्वयम् ।
सरोन्तर्दृश्यते यत्र हंसरुपा सरस्वती ।

[There the goddess Saraswati herself is seen in the form of a swan in a lake situated on the summit of the Bheda Hill, sanctified by the source of the Gangā.]

It is said that in ancient times the great sage Pulastya practised austerities in this area and made the divine Gangā gush forth from the Himalayas and flow near his hermitage so that he could perform sacrifices with the holy waters. After completing his sacrifices the sage was about to discharge the waters when he heard the heavenly voice of the goddess Saraswati asking him not to stop the flow and saying that at the spot where the stream had emerged, would arise the holy Tirtha of Gangodbheda. This incident is narrated in the Gangodbheda Mahātmya (the book describing the glory of Gangodbheda) in the following verse.

उद्भिद्य पर्वतं तस्मात् प्रादुर्भुता महानदी ।
तस्माद् अत्र महत्पुण्यं गङ्गोद्भेदे भविष्यति ।
भेदाभिधाने पुण्योस्मिन् कानने नन्दनोपमे ॥

[By piercing the mountain the great river will arise. It's source will be very auspicious in the sacred forest of Bheda which resembles the Nandana Garden of the gods in heaven.]

The sage, desirous of seeing the goddess, whose heavenly voice he had heard, underwent severe penances for a thousand years. The goddess of speech and learning was pleased with his devotion and appeared before him in the form of a flamingo (Rājahamsi) as indicated in the above verse quoted from The Rājatarangini. On being worshipped by him on the eighth and ninth of the bright half of the

---

* The Rajatarangini, first Taranga, Verse 35.
** The Gangodbheda mahatmya verse 10.

month of Chaitra (March-April) the goddess revealed to him her six-fold nature. The following verses from the Nilamata tell about the origin and sanctity of this *Tirtha*.

पुलस्त्य निर्मिता देवी भुवि भेदेति विश्रुता ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विद्यामाप्नोति अनुत्तमम् ॥
गङ्गोद्भेदे नरः स्नात्वा भेदादेवी समीपतः ।
गङ्गास्नानफलं प्राप्य स्वर्गलोके महीयते ॥

[The goddess known as Bhedā in this world was enshrined by Pulastya. By worshipping her one is cleansed of all sins and acquires the highest knowledge.]

By bathing in the Gangodbheda near the shrine of the goddess Bhedā one derives the benefits of bathing in the river Gangā and thereby is glorified in heaven.]

At present Bhedā Devi is worshipped in the village called Hāl Mogulpur in Sukru, south east of Maraz by the side of Nagan. According to M.A. Stein the pilgrimage was shifted to this place as it was difficult to reach the original spot.

HEMIS GOMPA

अज्जेव बुद्धं शरणं वजाहि धम्मञ्च सङ्घञ्च प्रसन्नचित्तो ।
तथैव सिक्खाय पदानि पञ्च अखण्ड फुल्लानि समादियस्सु ॥

(Right from to-day with a serene mind take refuge in the Buddha, in Dharma and the Sangha. From this very moment act according to his five teachings without any break and omission.)

Hemis Gompa is the largest and wealthiest Buddhist monastery in Ladhak. It is situated on the top of a glen on the left bank of the river Indus at a distance of about thirty kilometers below Leh which is the headquarters of the Ladhak area of Kashmir. The place is covered with snow for nearly three months in the year.

---

* The Nilamata, verses 1010-1011. Two lines are missing.

** Ibid. Verse 1309.

Hemis Gompa is a very ancient Buddhist monastery of great fame. From an ancient manuscript written in Pali that was preserved in this monastery, Dr. Nicholas Natovitch a Russian traveller, who served in the army during the war between Russia and Turkey in 1887 A.D., came to the conclusion that Jesus Christ visited India twice. Dr. Natovitch, while travelling alone during the war, came to Ladhak after crossing Central Asia. Near Hemis Gompa he had a fall and was injured. The Lamas of the Gompā took him into the monastery and nursed him. During his stay there, he discovered the above mentioned Pali manuscript, read it with the help of an interpreter and came to learn that the young Jesus, when his parents tried to get him married, secretly went to India with a band of traders from Central Asia. Jesus was then inspired by the teachings of the Buddha. He spent about sixteen years travelling in India and visited Vārānasi, Kapilāvastu, Kumayun, Kashmir, Puri and many other places. He then began to preach the essence of Buddhism. At the age of twenty-nine he returned to Jerusalem. He was crucified, but brought back to life by his disciples who administered medicinal herbs to him. According to one version he died in Kashmir and a grave at Thana Yāri near Srinagar is pointed out as his grave. According to another version he is said to have died in Sind somewhere near Karachi. The Pali manuscript mentioned above was seen by Swami Abhedānanda, a noted saint and direct disciple of Sri Ramakrishna Paramahamsa when he visited Hemis Gompā on his pilgrimage to Tibet. Dr. Nicholas Natovitch published the above information in a book called "The Unknown Life of Jesus."

Mātri Līlā

(*July - September 1968.*)

In the last issue of Ānanda Vārtā we already reported about Mataji's sojourn in Kishenpur, Dehradun from May 18th. On July 1st and 2nd, the fourth anniversary of the consecration of Rama Mandir in Kalyanvan was commemorated by the recitation of the whole of the Ramayana for about 26 hours. Mataji was present at the *Pūrnahuti* (completion of the function.) Fruits, sweets and cooked *prasāda* were distributed to all. On July 6th Sri Haribabaji and his party left. Immediately other visitors came from various places to do *pūjā* to Mataji and Didima in anticipation of *Guru Purnima*, which was celebrated on July 10th. On that day Mataji was up and doing from early morning until late at night. Her health nowadays is not at all what we should like it to be, nevertheless on such occasions Mataji literally sparkles with energy. On *Guru Purnima* day she untiringly attended individually to every single person who approached her, distributing *prasāda* and bestowing blessings all the while. First she was besieged in her own room, later went to the temple where Didima was giving *dīkṣa* and from there to the hall. Again, at midday she saw that everyone partook of the feast that is served as part of the celebrations. In the evening she was present at the kirtan and at night, when most of the crowd had dispersed, she sat down in the hall and told us stories with a vivacity, as if she had rested all day.

On the 11th afternoon she motored to Kankhal, where she could indulge in a comparative holiday. Of course, some of the devotees who had come for *Guru Purnima* from distant places, accompanied her and remained for a few days. A few other visitors also came from far and near. Amongst them was Sri Haridatt Vasudeva of Bombay who had recently lost his wife. With deep regret we mourn the loss of two ardent devotees of many years, standing, namely Srimati Amrit Vasudeva and Smt. Lalita Deogan, who passed away in August in Dehradun. Both of them, however, must be deemed very lucky, each in her own way. Srimati Vasudeva was suffering from cancer. In spite of her really deplorable physical condition, she was, after a spell of unconsciousness for several hours, able in full consciousness to ignore completely her suffering body at the end. To the amazement of her doctors and of all present, she repeated with a clearly audible and distinct voice her *mantra* for more than an hour and literally to her last breath. A near relative, up to then a confirmed sceptic, has been converted to believe in divine power by witnessing this miracle and has since then himself taken to spiritual practices.

Srimati Deogan had the rare good fortune of discovering Mataji as far back as 1932, when Mataji was staying in a dilapidated Siva temple in Raipur (the site of the present Ashram) with Sri Bholanathji and Sri Bhaiji. Mataji was then quite unknown in the U. P. Raipur was a small village, difficult of access, with a very bad road leading to it, part of which became a surging river during the rains. But Lalita Bahin braved it, often walking the whole distance of several miles with her little daughter, bringing *rotis* and other eatables prepared by herself for Mataji and her companions. Her devotion, into which gradually the whole of her family was drawn, has never wavered. Although she had a stroke about two years ago and was partly paralyzed, she managed to come to Kishenpur for Mataji's *darsāna* during Mataji's stay there this summer. The last time she saw Mataji just before Mataji left for Varanasi in the beginning of August. Mataji gave her a lot of attention. Three weeks after that she passed away.

Mataji remained in Kankhal until July 25th. Gradually she had sent away most of her companions and at the end only a handful of people were left.

On the 25th she motored to Dehradun stopping on her way to visit a sick person, then to see the students of our Vidyapith who are at present at Baghat House, Har dwar. Nobody knew to which Ashram at Dehradun Mataji would proceed. Just before reaching the town, Mataji said she was going to Raipur. She remained there for one night, proceeing to Kishenpur on the 26th morning. On the 28th and 29th Akhanda Ramayana was held in the Ashram hall. On the 30th a new house that has been built for Mataji's use in the compound of Mr. & Mrs. M. L. Khaitan (which adjoins Kalyanvan) was ceremonially inaugurated. Mataji spent most of the day there. The morning satsang followed by kirtan was held there. In the main building in the grounds the whole of the Ramayana was chanted the whole day and night and completed in Mataji's presence the next day after midday. Durga Puja is to take place in the same compound from September 28th.

On August 2nd, Mataji boarded the train for Varanasi. In former years Mataji would be there almost regularly for the *Jhulan* and *Janmastami* festivals, while in recent years these celebrations were held mostly in Vrindaban and Dehradun. In 1960, Mataji was in Vrindaban for *Jhulan*, but went to Varanasi just for *Janmastami* at the special request of the Ashram girls. In 1956 Mataji had for the last time spent the whole of that festive time in Varanasi. A very elaborate and lively description was published in Ananda Varta immediately after. † This year the olden times seemed to have revived with additional vigour and impetus. Already Mataji had in February graced Varanasi with her presence at *Siva Ratri*, also during her birthday celebrations after the consecration of the magnificent Ananda Jyoti Mandir; now the swing festival and Krishna's birthday proved another climax. Mataji was in an excellent mood throughout. She stayed in her new room in the temple building.

---

† See Ananda Varta, Vol. VI No. 3, "Matri Lila".

From 4th to 8th August *Jhulan* was celebrated every evening in Ananda Jyoti Mandir, Sri Gopalji sat on his swing while *Pūjā* and *Ārati* were performed and Mataji would pull the cord of the swing. After 9p. m. Mataji was daily the special guest of the Kanyapith. A semi private function was arranged in their hall. They have a large swing reserved for Mataji only, which had not been used for twelve years. It was profusely and very artistically decorated in a different style every night. They then put garlands round Mataji's head, neck, wrists etc. and Mataji sat on the swing watching their dramatic performances which were alternately in Hindi, Bengali and Sanskrit. One evening on the spur of the moment, she called one of the older girls, told her an amusing incident from the lives of Sri Krishna and his brother Balaram and asked her to have it enacted. It was improvised on the spot to the amusement of the whole audience,

On the 8th of August, the full-moon night, there was as usual soft music followed by midnight meditation in Mataji's presence to commemorate the *Jhulan Purnima* night in 1922 when Mataji had given herself *dīksā.* It was held on the open terrace on the first floor of the new temple. The next day was *Raksha bandhan.* Mataji made it a point to tie a *rākhi* (bracelet) round everybody's wrist and went in person to the rooms of some patients who were too sick to walk.

The day after, Professor Tripurari Chakravarti arrived quite unexpectedly from Calcutta. He delivered talks every evening throughout his stay. Every night after supper, Brahmachari Virajananda used to read out of the newly published book "Amara Vani" in Hindi and Mataji often made long and highly interesting comments.

On August 15th and 16th *Janmastami* was celebrated in Ananda Jyoti Mandir in great style with *pūjā* and *kīrtana.* In the first floor rooms of the temple the students of the Kanyapith had with remarkable artistic skill built up a miniature landscape depicting various scenes from Sri Krishna's life, as is the tradition on that festival. There was

Gokul, Nandagram, Vrindaban, Mathura, Mount Govardhan, the river Jamuna with the snake Kaliadaman and all the rest, to capture the imagination of every onlooker. *Nandotsava*, the anniversary of the riotous rejoicing of the cowherds the morning after Sri Krishna's birth, was also celebrated on two mornings. The first day for the Ashramites and guests, starting in the house of Mataji's brother, which adjoins the Ashram. The next morning on the veranda of Gopalji's Mandir. Mataji tied a cheap towel round her head and in a hilarious mood fed all the people of the locality with curds (*dahi*) and suger puffs (*bātāsha*). She called the neighbouring fishermen, their wives and children, the labourors from the streets, the servants to join in the mirth. Mataji sang and danced and was full of fun.

On August 20th Mataji motored to Vindhyachal for a rest, with only very few companions returning to Varanasi on the 24th. The next day, Sri Swami Satchidananda, a disciple of Sri Swami *Sivananda of Rishikesh* with 25 of his American disciples, men and women, came for Mataji's darsana. He is the head of an "Integral Yoga Institute" at New York and at present is on a pilgrimage through India with his disciples. They sang Kirtana before Mataji, who showed much interest and asked many questions about their Ashram routine and similar things.

On August 27th Mataji left Varanasi by the morning train with only 3 or 4 attendants. Her itinerary was kept a closely guarded secret. She got down at Lucknow and paid a flying visit to Naimisharanya. The next day, after visiting the Ashram of Swami Naradanandji, and a few other places she left Naimisharanya by car, halting on her way at Lucknow for a few hours at the residence of Sri Rameshwar Sahai and at Kanpur to see Sri Mangturam Jaipuria, who was seriously ill. Mataji boarded the train at Kanpur on the 28th night for Mathura reaching Vrindaban the next morning.

In Vrindaban she had a fairly quiet time. On the 31st, *Rādhāstami* (the birthday of Sri Radha) was celebrated in

Chheliya Mandir in Mataji's presence at 3-30 a. m., which is supposed to be the hour when Sri Radhika was born. Later in the morning Mataji went to Sri Haribaba's Ashram, and in the evening Sri Haribabaji held his *satsang* in our Ashram. Swami Sharananandaji was also present at 3-30 a. m. in Chheliya Mandir.

On September 6th Mataji motored to New Delhi. She had come at the pressing request of the Delhi *bhaktas*, who were eager to perform *Nāma Yajña* of *Mahamantra* in Mataji's presence. The function started on Saturday, the 7th September after sunset. At about 10 p. m. the women took over and circumambulated all night round a very beautifully decorated circular altar, singing with great enthusiasm and abandon. The next morning it was again the turn of the men for the whole day. Mataji joined the Kirtan for a while and sang once in the day and also at the end. Mataji was, both on Saturday night and on Sunday, in one of her special moods which are rarely to be noticed nowadays. The devotion and sincerity of the Delhi *bhaktas*, especially of the Kirtan party, are always inspiring and their *Nāma Yajñas* unforgettable experiences. A feast was given at midday to all present. Throughout Mataji's sojourn in Delhi, the number of people clamouring for her *darśana* and for private talks was as usual enormous. Among the distinguished visitors were Dr. Triguna Sen, Education Minister to the Govt. of India and the famous Mohammedan saint Srimati Rehana Tayabji, who brought two American gentlemen with her. They also witnessed the kirtan towards the end. Two American ladies had a long interview with Mataji in Delhi.

On September 9th, Mataji left for Dehradun by the night train. On her way to the Railway station Mataji visited the Prime Minister's house at the special request of Sm. Indira Gandhi. Mataji sat on the lawn for about half an hour along with Sm. Gandhi, her two sons and daughter-in-law and was in a very jovial mood. From there Mataji paid a short visit at the house of Sri Lalit Mohan at Motibagh. Sri Lalit Mohan, a staunch devotee of Mataji, has recently suffered from a heart-attack.

Mataji alighted in Dehradun on the 10th morning. She went first to Kalyanvan and to inspect the site for the coming. Durga Puja in the adjoining grounds which was celebrated from September 28th. Divali too is to take place at Dehradun on October 21st. The next *Samyam Saptaha Mahavrata* has also been scheduled to be observed in Dehradun from October 29th to November 4th. Immediately after the conclusion of the *Samyam Saptaha* Mataji is expected to leave for Naimisaranya, where a *Bhagavat Saptaha* is to be held for a fortnight, namely, from November 21st to December 4th. Swami Akhandananda Saraswati of Vrindaban has kindly consented to give daily discourses on the *Bhagavata* during that period.

———

"Try to remove the veil of ignorance by the contemplation of God. Endeavour to tread the path of immortality : become a follower of the Immortal"

—Ma Anandamayee

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA

LIST OF PUBLICATIONS

Hindi

Mātri Darshan—"Bhaiji"	2-50
Sad Vāni „	1-00
Sri Srī Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I to XIV	37-50
Ma Anandamayee—Dr. Pannalal	3-00
Akhānda Mahāyajña—Gurupriya Devi	2-50
Kirtaṇ Rasa Swarūpa	6-00
Sankirtan, Stav, Arati	0-50
Amar Vani	6.00

Bengali

Matri Darshan—"Bhaiji"	3.00
Sad Vāni—"Bhaiji"	1-50
Mātri Vāni	0-75
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I–XIII	32-00
Ma Anandamayee Upādeshamrita Sangraha	1-50
Akhanda Mahāyajña „ „	2-50
Kirtan Rasa Swarūpa	6-00
Suno Bali Maer Kotha—Sailesh Brahmachari	1-25
Mātri Lila Sankirtan	0-31
Anandamayee Ma—Ganga Samiran	2.50
Namavali— „	0.50

Gujarati

Mātri Darshan—"Bhaiji"	1-50
Ma Anandamayee Ke Sannidhyame, Part I & II—Br. Kantibhai	
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand	2-00

English

Mother As Revealed to Me—"Bhaiji"	4.00
Mātri Vāni (Sayings)	1-50, Special edition 2-50
Words of Sri Anandamayee Ma	3-00, „ „ 5.00
Mother as seen by her devotees	5·50, „ „ 6·50

Photos etc.

Photos—various sizes	0-50 to 15-00
Lockets	1.50

श्रीश्री आनन्द मयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. N 1726/57